6719

भारतीय इतिहास का प्रवाह

संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

[HINDI VERSION OF
THE
MARCH OF INDIAN HISTORY]

पी. सरन
डी. आर. भन्डारी

471

State Museum Library Lucknow
6719

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

भारतीय इतिहास का प्रवाह

Hindi version of
'The March of Indian History'

State Museum Library Lucknow
6719

पी॰ सरन, पी-एच॰ डी॰ (लन्दन)
रीडर, इतिहास विभाग, दिल्ली यूनिवर्सिटी
डी॰ आर॰ भंडारी, बी॰ ए॰, ऑनर्स (लन्दन)
रीडर, पॉलिटिक्स विभाग, दिल्ली यूनिवर्सिटी

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो॰ बी॰ एन॰ पुरी संग्रह
लखनऊ

रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
चाँदनी चौक, दिल्ली

प्रकाशक
रणजीत प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स,
४८७२, चाँदनी चौक, दिल्ली ।
फोन : २२६१४९

सर्वाधिकार सुरक्षित

छटा संस्करण · १९६२

मूल्य—५·५० नये पैसे

मुद्रक
निरंजनस्वरूप सक्सैना,
डिलाइट प्रेस, चूड़ीवालान,
दिल्ली ।

भूमिका

इस संस्करण में आवश्यक संशोधन के साथ पुस्तक को छात्रों के लिए अधिक उपयोगी बनाया गया है। इसका आकार भी बड़ा कर दिया गया है जिससे पुस्तक अधिक आकर्षिक लगने लगी है। समस्त विषयों का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है कि हायर सेकण्डरी कक्षाओं तक के सभी स्थानों के विद्यार्थी अपने-अपने पाठ्यक्रम के अनुसार इनसे उपयुक्त रूप में लाभ उठा सकें। इस बात का भी पूरा ध्यान रखा गया है कि पाठ्यक्रमों में सम्मिलित कोई विषय ऐसा न रहे जिस पर इस पुस्तक में प्रकाश न डाला गया हो। साथ ही यह चेष्टा भी की गई है कि विद्यार्थियों की प्रत्येक समस्या को स्वतन्त्र रूप से समझने का अभ्यास हो ताकि उनका ऐतिहासिक ज्ञान उच्च कक्षाओं में इतिहासाध्ययन में सहायक हो।

पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट की और अभिवृद्धि की गई है जिससे संसार की वर्तमान गति-विधियों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

—लेखक

प्रकाशक
रणजीत प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स,
४८७२, चाँदनी चौक, दिल्ली ।
फोन : २२६१४६

सर्वाधिकार सुरक्षित

छटा संस्करण · १९६२

मूल्य—५·५० नये पैसे

मुद्रक
निरंजनस्वरूप सक्सैना,
डिलाइट प्रेस, चूड़ीवालान,
दिल्ली ।

भूमिका

इस संस्करण में आवश्यक संशोधन के साथ पुस्तक को छात्रों के लिए अधिक उपयोगी बनाया गया है। इसका आकार भी बड़ा कर दिया गया है जिससे पुस्तक अधिक आकर्षिक लगने लगी है। समस्त विषयों का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है कि हायर सेकण्डरी कक्षाओं तक के सभी स्थानों के विद्यार्थी अपने-अपने पाठ्यक्रम के अनुसार इनसे उपयुक्त रूप में लाभ उठा सकें। इस बात का भी पूरा ध्यान रखा गया है कि पाठ्यक्रमों में सम्मिलित कोई विषय ऐसा न रहे जिस पर इस पुस्तक में प्रकाश न डाला गया हो। साथ ही यह चेष्टा भी की गई है कि विद्यार्थियों की प्रत्येक समस्या को स्वतन्त्र रूप से समझने का अभ्यास हो ताकि उनका ऐतिहासिक ज्ञान उच्च कक्षाओं में इतिहासाध्ययन में सहायक हो।

पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट की और अभिवृद्धि की गई है जिससे संसार की वर्तमान गति-विधियों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

१. विषय-प्रवेश १

भारत भूमि—भारत के भौतिक विभाग—हिमालय—हिमालय के दर्रे—सिन्धु-गंगा का मैदान—मध्य मेखला—दक्षिण का पठार—सुदूर दक्षिण का प्रदेश—भूगोल का प्रभाव—हमारे देश के निवासी—पाषाण युग का मानव—उत्तर-पाषाण युग का मानव—द्रविड़—बाद में आने वाली जातियाँ—देश के निवासियों में समानता और विषमता—भारत के इतिहास के स्रोत।

२. सिन्धु-घाटी तथा अन्य तत्कालीन सभ्यताएँ १४

इस सभ्यता का समय—हड़प्पा और मोहनजोदड़ो—सिन्धु-घाटी के लोग और उनका जीवन।

३. वेद-युग १८

भारतीय आर्यों का इतिहास—आर्य कौन थे—आर्यों का मूल स्थान—भारतीय सिद्धान्त—भारत में आर्यों के आगमन की समस्या—पुराणों का काल—आर्यों का भारत में फैलना—आर्यों का सामाजिक और राजनीतिक जीवन—आर्थिक जीवन—धर्म—वैदिक वर्ण-व्यवस्था—राजनीतिक संगठन—सिन्धु कांठे और ऋग्वैदिक संस्कृतियों की तुलना।

४. वैदिक काल तथा उत्तर-वैदिक काल का साहित्य ३०

वेद—ब्राह्मण—उपनिषद—रामायण और महाभारत—पुराण—उत्तर-वैदिक काल—सामाजिक व राजनीतिक अवस्था—राजनीतिक जीवन—वर्ण-व्यवस्था—जाति-व्यवस्था की अच्छाइयाँ—जाति-व्यवस्था की बुराइयाँ।

५. नवीन धार्मिक आन्दोलन ४२

जैन मत और बौद्ध मत—भूमिका—पहले २३ तीर्थंकर और पार्श्वनाथ—महावीरजी का जीवन—दिगम्बर और श्वेताम्बर—गौतम बुद्ध का जीवन—बुद्ध की शिक्षाएँ—बौद्ध मत वास्तव में कोई नया मत न था—संघ का विभाजन : हीनयान और महायान—बौद्ध

अध्याय पृष्ठ

मत का शीघ्र प्रसार—भारत में बौद्ध मत का ह्रास—बौद्ध की देन—ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म की तुलना ।

६. **पूर्व मौर्य वंश काल** ५४

उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा—फारस तथा यूनान के आक्रमण—भारत और यूनान के प्रारम्भिक सम्बन्ध—फारस विजय का प्रभाव—सिकन्दर का आक्रमण—आक्रमण के समय भारत की अवस्था—सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर प्रभाव ।

७. **मौर्य वंश** ६४

चन्द्रगुप्त मौर्य—मौर्यवंश के इतिहास के स्रोत—चन्द्रगुप्त मौर्य का जीवन-चरित्र और विजय—चन्द्रगुप्त का शासन-प्रबन्ध—अशोक महान्—प्रारम्भिक जीवन और विजय—अशोक का शासन-प्रबन्ध अशोक का धर्म—अशोक का धर्म-परिवर्तन—अशोक के शिलालेख और स्मारक—अशोक और मौर्य वंश की कला—अशोक का चरित्र और व्यक्तित्व—मौर्य वंश का पतन—मौर्य वंश के पतन के कारण ।

८. **शुंग, कण्व और आन्ध्र (ब्राह्मणों का प्रभुत्व)** ८२

शुङ्ग—पुष्यमित्र—पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी—स्वतन्त्र राज्यों का प्रकट होना—आन्ध्रों के अधीन दक्षिणी भारत ।

९. **विदेशियों के आक्रमण तथा उनका बस जाना** ८८

हिन्द-बैक्ट्रिया निवासी—हिन्द पार्थियन—शक—भारतीय सभ्यता को यूनानियों की देन—कुशन—कनिष्क प्रथम—कनिष्क और बौद्धमत —बौद्ध मत में सुधार : महायान शाखा—अशोक और कनिष्क की तुलना—बौद्ध मत का परिवर्तित रूप—बौद्ध मत में सुधार के कारण—हीनयान और महायान में अन्तर—गांधार कलाशाला—बाद के कुशन राजा ।

१०. **गुप्त वंश** १०३

गुप्त वंश के शासक—चन्द्रगुप्त प्रथम—समुद्रगुप्त—चन्द्रगुप्त द्वितीय—फाहियान का आगमन—चन्द्रगुप्त का शासन प्रबन्ध—कुमारगुप्त—स्कन्दगुप्त—गुप्त वंश का अन्त—गुप्त वंश : स्वर्ण-युग—गुप्त काल और हिन्दुओं की जागृति—गुप्त वंश का पतन—हूण—हूणों के आक्रमणों का प्रभाव—गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण ।

११. **हर्षवर्धन** १२१

युवानच्वांग—नालन्दा विश्वविद्यालय—हर्ष—हर्ष की सफलताएँ हर्ष का धर्म ।

अध्याय पृष्ठ

१२. महान भारत १३२

भारत की सभ्यता और संस्कृति का विदेशों में फैलना—वैक्ट्रिया और खुतन से सम्बन्ध—भारत और सुदूर-पूर्व—हिन्दुओं के विस्तार का उद्देश्य।

१३. हर्ष के बाद का भारत १४०

उत्तर भारत—राजपूतों की उत्पत्ति—राजपूतों के आदर्श—राजपूतों के राज्य—रंगमंच पर विदेशियों का प्रवेश—गुर्जर प्रतिहार—मदुरा के पाण्ड्य—चौहान सेन—चन्देल—जेजक भुक्ति—गाहड़वाल—चालुक्य—राष्ट्रकूट—काकतीय—देवगिरि के यादव—सामाजिक व सांस्कृतिक अवस्था

१४. उत्तरी भारत तुर्कों के अधीन १५६

इस्लाम की प्रगति—इस्लाम का उदय और फैलाव—महमूद ग़जनवी के भारत पर हमले—महमूद का चरित्र—हिन्दुओं के पतन का कारण—ग़जनवी वंश का पतन—मुहम्मद ग़ूरी के आक्रमण और भारत में तुर्की राज्य की स्थापना—दास वंश—पृथ्वीराज का जीवन—इल्तुतमिश का शासन—रज़िया, बहराम और मसूद का शासन—नासिरुद्दीन महमूद—बलबन—बलबन के राज्य-कार्य की मुख्य घटनाएँ—बलबन के शासन की सफलता और विफलता—बलबन के उत्तराधिकारी।

१५. तुर्की साम्राज्य का विस्तार : खिल्जी और तुग़लक वंश १८१

जलालुद्दीन फ़ीरोज खिल्जी—दक्षिण की आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दशा—तुर्की हमलों के समय दक्षिण भारत की परिस्थिति—देवगिरि पर अलाउद्दीन की चढ़ाई—अलाउद्दीन का गद्दी पर बैठना और उसके शासन के आरम्भ में देश की स्थिति—अलाउद्दीन की योजनाएँ—दक्षिण भारत की विजय—अलाउद्दीन का कार्य तथा चरित्र—तुग़लक वंश—चढ़ाइयाँ और लड़ाइयाँ—गयास तुग़लक का चरित्र—मुहम्मद बिन-तुग़लक—मुहम्मद तुग़लक के शासन का पहला भाग—राजधानी-परिवर्तन—संकेत मुद्रा का संचालन—इब्नबतूता का आना—अन्य देश विजय करने की योजनाएँ—चीन आदि विदेशों से राजनीतिक सम्बन्ध—साम्राज्य का ह्रास तथा विच्छेद का आरम्भ—दक्षिण के विद्रोह—सुल्तान फीरोजशाह तुग़लक—फ़ीरोज की शासन व्यवस्था—फ़ीरोज के अन्तिम दिन व चरित्र—फ़ीरोज के उत्तराधिकारी और

अध्याय पृष्ठ

तैमूर का आक्रमण —सल्तनत का संध्या काल—सैयद वंश—लोदी वंश—बहलोल लोदी—सिकन्दर लोदी—सुलतानों की राज्य-प्रणाली ।

१६. दिल्ली की सल्तनत का विच्छेद व अन्य रियासतों का उत्थान २१४

गुजरात— मालवा— खानदेश— मेवाड़— बंगाल— बहमनी राज्य—विजयनगर—योरुप वालों की प्रारम्भिक बस्तियाँ ।

१७. समाज व सभ्यता तथा भक्ति-सम्प्रदाय २२३

कबीर और नानक—मीरांबाई व सूरदास—उत्तर में भक्ति-आन्दोलन—वल्लभ—हिन्दू भारत का पतन—भक्ति-सम्प्रदाय का कार्य—देशी भाषाओं की उत्पत्ति—सूफ़ियों का सद्भाव—साहित्य की उन्नति—ललित-कला और वास्तु-कला ।

१८. मुगलों का युग २३३

राज्य के लिए संघर्ष—बाबर के आक्रमण के समय देश की दशा—बाबर—पानीपत की लड़ाई—खानवा का युद्ध—हुमायूँ—शेरशाह का उत्थान और हुमायूँ का भागना—शेरशाह का शासन—शेरशाह के उत्तराधिकारी और हुमायूँ का फिर वापस लौटना—हुमायूँ की मृत्यु और चरित्र ।

१९. अकबर का शासन-काल २४८

पानीपत की दूसरी लड़ाई—राज्य का विस्तार—भारी संकट का समय—मेवाड़—रणथम्भौर और कालिंजर—बिहार तथा बंगाल—अकबर के प्रारम्भिक सुधार—शासन-व्यवस्था का पुनर्निर्माण—भूमि-कर—राज्य का अधिक विस्तार—अन्य सुधार और धार्मिक कार्यक्रम ।

२०. जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब २६१

जहाँगीर का चरित्र—खुसरो का विद्रोह तथा गुरु अर्जुन से कलह—नूरजहाँ से विवाह—राजनीतिक समस्याएँ और सम्राट् की नीति—जहाँगीर के शासन की आरम्भिक घटनाएँ—बंगाल और दक्षिण के विद्रोह—कांगड़ा की चढ़ाई—नूरजहाँ और शाहजहाँ का वैमनस्य—महावतखाँ का विद्रोह—नूरजहाँ का चरित्र—भारत में योरुप की शक्तियाँ—राजगद्दी के लिए संघर्ष और शाहजहाँ की सफलता—दक्षिण नीति—उत्तर-पश्चिमी नीति—गोलकुण्डा और बीजापुर—राजसिंहासन के लिए युद्ध—शाहजहाँ का चरित्र और उसके कार्य—औरंगजेब का शासन-काल—औरंगजेब की धार्मिक नीति—सिक्ख—राजपूतों से युद्ध—मरहठों का अभ्युदय :

अध्याय पृष्ठ

शिवाजी—मुगल-शिवाजी संघर्ष—शिवाजी और अफ़ज़लखाँ—शिवाजी का शासन—शिवाजी का इतिहास में स्थान—औरंगजेब और दक्षिण—औरंगजेब का चरित्र ।

२१. मुगलकालीन संस्थाएँ, समाज व संस्कृति २९२

मुगल शासन-व्यवस्था—सामाजिक व धार्मिक अवस्था—साहित्य और संस्कृति—संगीत-कला—सुलेख-कला ।

२२. राजनीतिक त्रिभुज ३०७

मरहठे, योरोपियन और मुगल—योरोप वालों का यहाँ बसना—अंग्रेज—भारत में फ्रांसीसी—मुगल राज्य का पतन—साम्राज्य के टुकड़े—मरहठे—पानीपत की तीसरी लड़ाई—सिक्खों का संगठन—पहला अंग्रेज-फ्रांसीसी युद्ध—नवाब अनवरुद्दीन और फ्रांसीसी—हैदराबाद और अरकाट में उत्तराधिकार के झगड़े—द्वितीय ऐंग्लो-फ्रैंच युद्ध : अरकाट का घेरा—डूप्ले का मूल्यांकन—फ्रांसीसी शक्ति का भारत से लोप—सप्तवर्षीय युद्ध—फ्रांसीसियों के मुकाबले अंग्रेजों की सफलता के कारण—बंगाल में अंग्रेजों की प्रगति—प्लासी का युद्ध—बंगाल में कुप्रबन्ध—मीरकासिम—बक्सर का भाग्य-निर्णायक युद्ध—नवाब, वजीर व सम्राट के साथ क्लाइव का समझौता ।

२३. परिवर्तन-युग ३२९

मुगल साम्राज्य का अन्त व अंग्रेजी राज्य की स्थापना—द्वैध शासन—क्लाइव के सुधार—बंगाल और बिहार का कुशासन—हैदरअली का अभ्युदय—मैसूर की पहली लड़ाई ।

२४. अंग्रेजी राज्य का एकीकरण व उसमें सुधार ३३४

वारेन हेस्टिंग्ज—अन्य सुधार—हिन्दू धर्म का विधान—विदेश-नीति—रुहेलों का युद्ध—रैगुलेटिंग ऐक्ट—अवध और बनारस—नन्दकुमार को फाँसी—बम्बई प्रदेश और मरहठे—सूरत और पुरन्दर की संधियाँ—प्रथम अंग्रेज-मरहठा युद्ध—द्वितीय मैसूर युद्ध—सालवाई की सन्धि—पिट्स इण्डिया ऐक्ट—वारेन हेस्टिंग्स पर दोषारोपण—लार्ड कार्नवालिस के सुधार—मैसूर की तीसरी लड़ाई—सर जॉन शोर । ३५१

२५. भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व

मरहठे और अंग्रेज—लार्ड वेलेजली—सहायक सन्धि—टीपू सुल्तान—अंग्रेज-मरहठा युद्ध—वेलेजली की नीति के परिणाम—लार्ड मिण्टो—मध्य भारत के हालात—अमृतसर की सन्धि—

अध्याय पृष्ठ

फ़ारस, काबुल व सिन्ध को राजदूत—मोरीशस व जावा पर अधिकार—लार्ड हेस्टिंग्स—नैपाल की लड़ाई—पिंडारी युद्ध—मरहठों की तीसरी लड़ाई—लार्ड विलियम बैंटिक—बैंटिक तथा देशी राज्य—सिन्ध का अमीर और रणजीतसिंह—स्थानीय शासन तथा सुधार—चार्टर में हेर-फेर—सर चार्ल्स मेटकाफ़—लार्ड ऑकलैण्ड—पंजाब और रणजीतसिंह—प्रथम अफ़ग़ान युद्ध—लार्ड एलनबरा—सिन्ध-विजय—ग्वालियर के हालात—सर हेनरी हार्डिज—सिक्खों की पहली लड़ाई—पंजाब की परिस्थिति—हार्डिज का अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध— लार्ड डलहौज़ी—सिक्खों की दूसरी लड़ाई—सिक्खों की पराजय के कारण—बर्मा की दूसरी लड़ाई—लैप्स की नीति—अन्तर्देशीय शासन।

२६. १८५७ का विद्रोह ३८८

लार्ड केनिंग—गदर : उसका रूप—इसके कारण—विद्रोह की घटनाएँ—गदर के परिणाम।

२७. हिन्द और अफगानों के सम्बन्ध ३९५

लार्ड एल्गिन प्रथम—सर जॉन लारेंस—भूटान-युद्ध—उड़ीसा का दुर्भिक्ष—काश्त में सुधार—हिन्द-अफगान सम्बन्ध : तटस्थता की नीति—लार्ड मेयो—भारत व अफगान—भारत व रूस—मेयो और देशी राज्य—मेयो के आर्थिक सुधार—शासन-सुधार—उसका वध—लार्ड नार्थब्रुक—रूस और अफगानिस्तान—गायकवाड़ बड़ौदा—लार्ड लिटन—भारत साम्राज्य—वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट—अन्य योजनाएँ—लिटन और अफ़ग़ानिस्तान—दूसरा अफ़ग़ान युद्ध—लार्ड लिटन की अफ़ग़ान-नीति की आलोचना।

२८. राष्ट्रीयता और प्रतिनिधि शासन ४०५

लार्ड रिपन—रिपन और अग़ानिस्तान—चुंगी तथा भूमि-कर नीति—स्थानीय स्वायत्त शासन—वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट का रद्द होना—हण्टर कमीशन—मैसूर की वापिसी—फैक्ट्री के मजदूरों का कानून—इलबर्ट बिल पर वाद-विवाद—लार्ड डफ्रिन—अफ़ग़ानिस्तान—बरमा—भारत में राष्ट्रीय जागृति का विकास—लार्ड लैंसडौन—मणिपुर और कलात—उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी सीमाएँ—अफ़ग़ानिस्तान से सम्बन्ध—काश्मीर—ईशाकखां का विद्रोह—फैक्ट्री ऐक्ट—रजामन्दी की आयु का कानून—इण्डियन नेशनल कांग्रेस—काउन्सिल ऐक्ट १८९२—सेवाएँ

अध्याय **पृष्ठ**

२९. लार्ड एल्गिन ४२०

उत्तर-पश्चिमी सीमा

३०. लार्ड कर्जन ४२३

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की नीति—अफ़ग़ानिस्तान—फ़ारस की खाड़ी—तिब्बत—कर्जन का आन्तरिक शासन—भूमि-कर—सेना—रेलें—शिक्षा—बंग-भंग

३१. लार्ड मिन्टो ४३४

लार्ड हार्डिंज और लार्ड चेम्सफोर्ड—अभिषेक दरबार—प्रथम विश्व-युद्ध

३२. धार्मिक और सामाजिक उन्नति ४४०

धार्मिक उन्नति

३३. महात्मा गाँधी और स्वराज्य के लिए युद्ध ४४३

१९१९ का अधिनियम—महात्मा गाँधी—जलियानवाला बाग़—असहयोग आन्दोलन—देशी रियासतें—मूडीमैन कमेटी—साइमन कमीशन—सिविल नाफ़रमानी—भारत सरकार अधिनियम, १९३५—कांग्रेस का पद ग्रहण करना

३४. द्वितीय महायुद्ध और भारतीय स्वाधीनता ४५६

अगस्त १९४० की घोषणा—क्रिप्स का प्रस्ताव—अगस्त प्रस्ताव—राजाजी का सूत्र (फारमूला)—वेवल योजना—शिमला अधिवेशन—भारत में गुर्डविल मिशन का आगमन और केबिनेट मिशन योजना—६ दिसम्बर १९४६ का बयान—विभाजन और स्वतन्त्रता—माउण्टबेटन योजना—भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम—देशी राज्यों का भारत में सम्मिलित होना—भारत का नवीन विधान।

परिशिष्ट ४६८

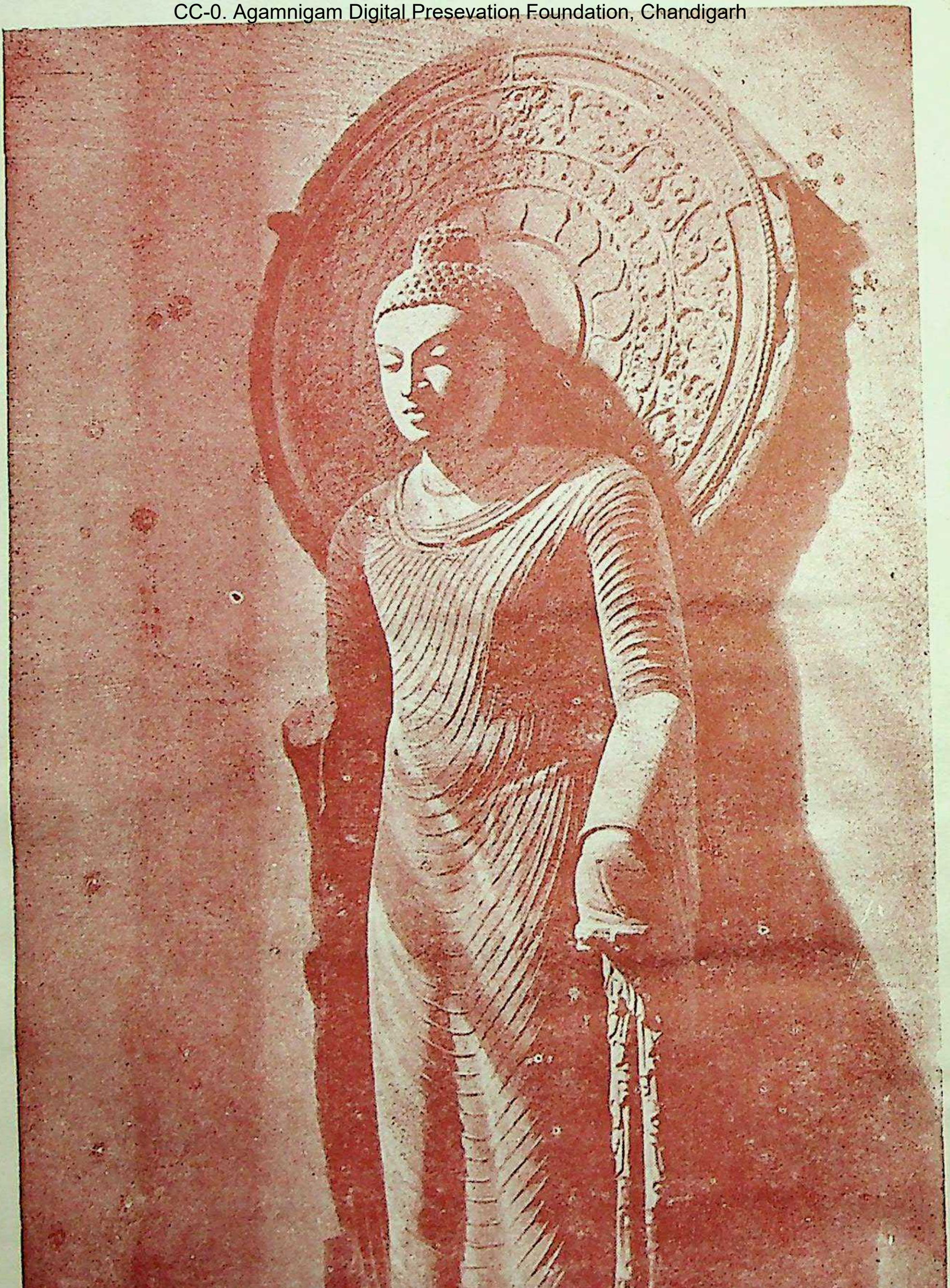

भारतीय कला का स्वर्ण युग (५वीं शताब्दी)

अध्याय १

विषय-प्रवेश

भारत और उसके निवासी

भारत-भूमि

भारत-भूमि अठारह लाख आठ हजार वर्गमील क्षेत्रफल का **विस्तृत भू-प्रदेश** है । इसकी आबादी ४३ करोड़ है । धुर उत्तर से लेकर कन्याकुमारी तक यह लगभग २००० मील लम्बा है तथा पश्चिम में काठियावाड़ से लेकर पूर्व में मनीपुर तक अनुमानतः उतना ही चौड़ा है । भारत **रूस को छोड़कर शेष योरुप के बराबर है,** और ब्रिटेन से लगभग बीस गुना है । संसार की कुल आबादी का पाँचवां हिस्सा इस देश में निवास करता है ।

संसार का सबसे ऊँचा पहाड़ हिमालय भारत को बाकी एशिया से अलग करता है । हिमालय पर्वत की श्रेणियाँ पश्चिम से लेकर पूर्व तक निरन्तर चली गई हैं जिनकी शाखाएँ क्रमशः दक्षिण-पश्चिम व दक्षिण-पूर्व में समुद्र तट तक पहुँचती हैं । दक्षिण भारत तीनों ओर समुद्र से घिरा हुआ है । पश्चिम से पूर्व तक समुद्र-तट की लम्बाई लगभग ३५०० मील है । इस प्रकार **हमारा देश विशाल पर्वत व समुद्र के परकोटे से सुरक्षित है ।**

भारत के भौतिक विभाग : भारत के पाँच मुख्य विभाग हैं—**(अ) हिमालय प्रदेश,** जिसकी घाटियाँ स्पष्टतया राजनीतिक व सांस्कृतिक जीवन का घर बनी रहती हैं; **(ब) सिंधु-गंगा का विशाल मैदान; (स) मध्य भारतीय मेखला** जो पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई है और जिसमें पर्वत-श्रेणियाँ, बन व नदियाँ सम्मिलित हैं; (द) **नर्मदा-ताप्ती तथा विन्ध्य-सतपड़ा** के दक्षिण में स्थित पथरीला व उच्च भूखण्ड जो दक्षिण का पठार कहलाता है; और **(ई) सुदूर दक्षिण** । इन पाँच विभागों के अतिरिक्त दो अन्य स्पष्ट विभाग समुद्र के तटवर्ती विशाल मैदान हैं जो **चोल मण्डल व मलाबार प्रदेश** के नाम से विख्यात हैं ।

(१) हिमालय : हिमालय पर्वत अफगानिस्तान से आसाम तक उत्तरी प्रदेश में १६०० मील लम्बी एक विस्तृत दीवार की तरह है । इसके पूर्वी भाग में खासी, लुशाई, पटकोई और जैंतिया की पहाड़ियाँ हैं जो बंगाल की खाड़ी तक फैली हुई हैं और घने जंगलों से घिरी हुई हैं । ये भारत को बर्मा से अलग करती हैं । पश्चिमी भाग, जिसमें सफेद कोह, सुलेमान और किरथर पर्वत-श्रेणियाँ शामिल हैं, भारत और

अफगानिस्तान के बीच फैला हुआ है। यह उतना ऊँचा नहीं है जितना कि पूर्वी भाग।

हिमालय के दर्रे : इस सोलह सौ मील लम्बे पहाड़ के बीच से गुजरने वाले छोटे-बड़े कई दर्रे हैं। उत्तर और पूर्व के दर्रे आमतौर से बहुत ऊँचे हैं और हर समय बरफ़ से ढके रहते हैं, इसलिए वे बड़ी भारी सेना द्वारा प्रयोग में नहीं लाये जा सकते। लेकिन पश्चिमी दर्रों में ये कमियाँ नहीं हैं। वे नीचे तथा काफी चौड़े हैं जिनमें से होकर झुण्ड-के-झुण्ड व्यक्ति प्रवेश कर सकते हैं। अतः इन्हीं दर्रों से होकर विभिन्न जातियाँ व आक्रामक सेनाएँ प्राचीन काल से भारत में आती रही हैं। **पेशावर का उत्तरी भाग** ख़ैबर दर्रे के पूर्वी प्रवेश-द्वार पर **सन्तरी का काम** करता है। इस भाग में स्वात, **बजौर**, चित्राल व अन्य नदियों की नीची घाटियाँ हैं जिनमें से होकर काफिले व आक्रांता मध्य एशिया से भारत में समय-समय पर प्रवेश करते रहे हैं। दर्रा ख़ैबर काफी नीचा है। इसकी ऊँचाई केवल तीन हजार चार सौ फुट है। यह पेशावर को काबुल से जोड़ता है जो अफ़गानिस्तान की राजधानी है। यह न केवल सैनिक दृष्टिकोण से ही **महत्वपूर्ण केन्द्र** बना रहा है अपितु पश्चिमी तथा मध्य एशिया और भारत के **बीच व्यापार की बड़ी भारी मण्डी** रहा है। सौदागरों के काफिले, बेघर जातियाँ व हमला करने वाले प्राचीन समय में ख़ैबर दर्रे से ही भारत में प्रवेश करते रहे हैं। कुर्रम, तोची (Tochi) और गोमल (Gomal) नदियाँ सुलेमान पहाड़ के बीच में होकर बहती हैं जिससे कि इस पर्वत-श्रेणी में कुर्रम, तोची और गोमल दर्रे बन गये हैं और इस प्रकार डेराजात और बन्नू का मध्य अफगानिस्तान से सम्बन्ध स्थापित हो गया है। सुलेमान पर्वत-श्रेणी के दक्षिणी सिरे पर बोलान (Bolan) दर्रा काफी चौड़ा है और इसे आसानी से पार किया जा सकता है। यह सुलेमान और किरथर (Kirthar) पर्वत-श्रेणियों के बीच में है और भारत को कंधार से मिलाता है। सीस्तान (Seistan) और फारस को जाने वाले काफिले पुराने जमाने में इसी रास्ते से जाया करते थे।

(२) सिंधु-गंगा का मैदान : हिमालय के तल में फैला हुआ यह मैदान सिंधु और गंगा का थाला (Basin) है। यह लगभग १५०० मील लम्बा और औसतन दो सौ मील चौड़ा है। संथाल परगना बंगाल को मुख्य गंगा प्रदेश से अलग करता है और जमुना नदी सिंधु के थाले को गंगा के थाले से पृथक् करती है। हिमालय से प्रवाहित होने वाली बड़ी-बड़ी नदियों—**सिंधु, ब्रह्मपुत्र और गंगा**—तथा इनकी सहायक नदियों के तल की मिट्टी से यह प्रदेश बना है। **ये** नदियाँ काफी हद तक **जहाजरानी के योग्य हैं**।

सिंधु-गंगा प्रदेश भारत का सबसे महत्वपूर्ण और घना बसा हुआ भाग है। अधिकतर प्राचीन आर्यों के सुन्दर और स्वस्थ वंशज इस प्रदेश के निवासी हैं। इस प्रदेश में कुछ बड़े-बड़े शहर हैं जो प्राचीन समय में राज्यों की सुप्रसिद्ध राजधानियाँ थीं। ये सभ्यता, संस्कृति तथा आर्थिक और व्यापारिक जीवन के केन्द्र रहे हैं। आर्यों

ने अपनी प्रारम्भिक सभ्यता का विकास यहीं किया था और इसका नाम आर्यावर्त रखा था ।

(३) **मध्य मेखला :** उन नदियों द्वारा बनी है जो विन्ध्य पर्वत की मैकल श्रेणी की चोटी, अमरकांतक तथा सतपुड़ा की पहाड़ियों से निकलती हैं, और जिसमें महाकान्तार के जंगल सम्मिलित हैं । इस प्रदेश के महत्वपूर्ण भाग में नर्मदा और ताप्ती की घाटियाँ हैं ।

(४) **दक्षिण का पठार :** जिसे नर्मदा-ताप्ती नदियाँ व सतपुड़ा की पर्वत-श्रेणियाँ शेष भारत से अलग करती हैं । कठोर चट्टानों का बना हुआ है, जिस पर कहीं-कहीं लावा की तह है और विन्ध्याचल तथा सतपुड़ा पर्वत-श्रेणियों से लेकर कावेरी नदी के उत्तर तक फैला हुआ है । इसमें बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के बीच का अधिकतर प्रदेश आ जाता है ।

(५) **सुदूर दक्षिण का प्रदेश :** कावेरी नदी के दक्षिण से समुद्र तक फैला हुआ है और तामिलनाड कहलाता है । **तटवर्तीय मैदान : चोल मण्डल अथवा कोरोमण्डल-तट** का यह प्रदेश एक चौड़ा मैदान है जो गोदावरी, महानदी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बन गया है । उत्तर-पूर्वी मानसून के कारण इस प्रदेश में सर्दियों में काफी वर्षा हो जाती है जिससे खेती अच्छी होती है । पूर्वी तट का अधिकाँश भाग आंध्र प्रदेश में पड़ता है । यह समस्त प्रदेश दक्षिण के अन्य प्रदेशों से **अधिक अपजाऊ** है, किन्तु गोदावरी नदी के कांठे में स्थित पूर्वीय गोदावरी जिले में सर्वोत्तम चावल और दालों की फसल इतनी बहुतायत से होती है कि यहाँ से चावल सुदूर दक्षिण प्रदेशों में भेजा जाता है । इसी कारण यह प्रदेश **दक्षिण का खलियान** कहा जाता है ।

पश्चिमी तट का प्रदेश भली-भाँति समुद्र तथा पश्चिमी घाट की उच्च प्राचीरों से पृथक्-सा हो गया है । कहीं-कहीं तो इसकी चौड़ाई केवल २० मील है । इसकी भूमि बड़ी उपजाऊ है । यहाँ पर गर्मियों में बहुत काफी वर्षा हो जाती है । उपजाऊ भूमि होने के कारण यह काफी घना बसा हुआ प्रदेश है ।

भूगोल का प्रभाव

भारतीय इतिहास की गति पर उसकी भौगोलिक स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ा है । प्रकृति ने देश के जो-जो प्रादेशिक विभाग कर दिये हैं उन सभी का अपना एक विशिष्ट इतिहास है । विस्तृत हिमालय, उत्तरी मैदान, मध्य मेखला तथा प्रायद्वीप के विभिन्न प्रदेश—भारतीय इतिहास की गति निर्धारित करने में इन सभी का हाथ रहा है ।

हिमालय : उत्तर का यह महान् पहरेदार भारत के इतिहास और भूगोल दोनों में ही अपना एक खास महत्व रखता है । साइबेरिया की ठंडी हवाओं से यह भारत की रक्षा करता है और साथ ही भारत को तिब्बत तथा चीन में होने वाले राजनीतिक उपद्रवों से भी अलग रखता है ।

उत्तर के दर्रे, जो कि सदा बर्फ से ढके रहते हैं, आक्रामकों के लिये दुर्गम प्राचीर बने रहे है। यही कारण है कि चीन और भारत का अपना-अपना पृथक् इतिहास है। किन्तु ये मार्ग इक्का-दुक्का यात्रियों तथा बौद्ध प्रचारकों को भारत में आने तथा दोनों देशों के बीच आत्मिक तथा भ्रातृक सम्पर्क जोड़ने से नहीं रोक सके हैं। इन्हीं सम्पर्कों द्वारा **मंगोल रक्त का सम्मिश्रण** नेपाल, भूटान तथा अन्य पर्वतीय प्रदेशों में पाया जाता है।

पश्चिमी दर्रे चौड़े तथा नीचे होने के कारण प्रायः मध्य एशिया के आक्रांताओं द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। प्रारम्भ में ये जातियाँ भारत में केवल लूट-खसोट करके वापिस लौट जाती थीं, परन्तु जब वे यहीं आकर बस गईं तो भारत की जनसंख्या में घुल-मिल गईं तथा इसी देश के धर्म और संस्कृति को अपना लिया।

इस क्षेत्र के पहाड़ों का ढाल भारत की ओर बहुत ज्यादा है। लेकिन पश्चिम की ओर का ढाल कम है। इसलिये इन दर्रों की रक्षा या तो पश्चिमी ढलानों के पार से की जा सकती है या उस जगह के पास से जहाँ पूर्व की ओर ढलान शुरू होता है। मौर्यों और मुगलों ने रक्षा के लिये पहले मोर्चों को चुना था, लेकिन अंग्रेजों ने बहुत से खर्चे और प्रयोगों के बाद दूसरे मोर्चों को ही उचित समझा।

सिंधु-गंगा के मैदान की उपजाऊ भूमि तथा उसकी समृद्धि एक के बाद एक आक्रमणकारी को आकर्षित करती रही हैं। इसी प्रकार इसकी महत्ता इस बात में भी है कि यह प्रदेश सांस्कृतिक और **राजनीतिक सरगर्मियों का केन्द्र** रहा है। इस प्रदेश के निवासियों को इतनी सुविधा और मानसिक शान्ति प्राप्त थी कि वे वैदिक और उसके बाद का साहित्य और दर्शन हमें दे सके। काशी, तक्षशिला, नालन्दा और सारनाथ के महान् विश्वविद्यालयों और पाटलिपुत्र, मगध, बनारस, इलाहाबाद, आगरा, दिल्ली, मुल्तान, लाहौर जैसे संस्कृति और राजनीति के केन्द्रों और विशाल नगरों का निर्माण कर सके। अशोक, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, हर्ष और अकबर जैसे महान् सम्राट् भी इसी प्रदेश की देन थे। आधुनिक युग में उद्योग के विकास और प्रसार के कारण भारत की समस्याओं में इस प्रदेश का प्रभुत्व सीमित हो गया है; लेकिन फिर भी यह देश के **राजनीतिक-चक्र की धुरी** बना हुआ है।

पानीपत कुरुक्षेत्र: दिल्ली इस मैदान का प्रवेश-द्वार है। महाभारत से लेकर सन् १७६१ ई० की पानीपत की तीसरी लड़ाई तक इस स्थल पर कई प्रसिद्ध युद्ध हुए हैं। भौगोलिक स्थिति ने इस इलाके को प्राकृतिक रणक्षेत्र बना दिया है, क्योंकि इस प्रवेश-द्वार पर अधिकार द्वारा ही विजेता उत्तर-पश्चिम से देश के भीतर घुस सकते थे।

मध्य का अर्द्ध भाग, जिसने भारत को उत्तरी व दक्षिणी दो भागों में विभक्त कर दिया है, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक अति विस्तीर्ण मेखला है जो पश्चिम में भड़ौंच व सूरत तथा पूर्व में राजमहल की पहाड़ियों तक फैली हुई है। इस मेखला की चौड़ाई ओर-छोर तक सौ मील से कम नहीं है अपितु कहीं-कहीं इससे भी बहुत अधिक है। यह मेखला, जिसे प्रकृति ने पहाड़ियों, नदियों और जंगलों से सुरक्षित

कर रखा है, अनेक शक्तिशाली राज्यों का घर रही है; जैसे सोलंकी, परमार, चेदि और गौंड । जब तक ये राज्य शक्तिशाली बने रहे तब तक कोई भी दक्षिण पर आक्रमण नहीं कर सका । इसके अतिरिक्त यह प्रदेश आकांक्षी योद्धाओं के मार्ग में बड़ी रुकावट रहा है, क्योंकि इस प्रदेश के दोनों ओर रहने वाले कठिनता से इसको पार करके अपना राज्य इसके पार फैला सकते थे ।

दक्षिण का पठार व पश्चिमी घाट के पर्वतीय ढलान दोनों ही बड़े शक्तिशाली राष्ट्रों के केन्द्र रहे हैं । इनमें सबसे प्रसिद्ध हुए हैं प्राचीन समय के आन्ध्र राज्य व राष्ट्रकूट तथा मध्यकालीन विजयनगर एवं बहमनी राज्य । खनिज-पदार्थों की बहुतायत तथा कई भागों की भूमि उपजाऊ होने के कारण यह प्रदेश अपनी धन, सम्पत्ति व समृद्धि के लिये विख्यात रहा है, जिसके फलस्वरूप यहाँ की कला और संस्कृति खूब उन्नत हुई थी । सुदूर दक्षिण के अपेक्षाकृत पार्थक्य के कारण भी यह सम्भव हो सका है कि यहाँ चोल जैसे विशाल और शक्तिशाली राज्य बहुत काल तक उन्नति करते रहे तथा अपनी सत्ता को कायम रख सके । इस प्रदेश के दोनों ओर समुद्र होने कारण इसका विकास, संगठन, समृद्धि और महत्ता सम्भव हो सके । इन्हीं समुद्रों के कारण दक्षिण के प्राचीन राज्यों का समुद्री मार्गों से आना-जाना बराबर बना रहता था । प्राचीन काल में इन समुद्री यात्राओं के कारण ही विदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार हुआ ।

जलवायु का प्रभाव : जलवायु का भी भारत के इतिहास पर असर हुआ है। सैनिक भरती का मुख्य क्षेत्र उत्तर-पश्चिम का पहाड़ी इलाका, पश्चिमी तट और मध्य-रेगिस्तान के इलाके रहे हैं । अस्तित्व बनाए रखने के अनन्त संघर्ष में इस प्रदेश के लोगों के प्रति प्रकृति कुछ खास दयालु नहीं रही । दूसरी ओर ंगा के थाले के उपजाऊ मैदान शान्तिप्रिय जातियों की जन्म-भूमि रहे हैं ।

हमारे देश के निवासी

प्रागैतिहासिक युग से कुछ समय पूर्व तक एक के बाद एक जाति समुद्र की उमड़ती हुई लहरों की तरह उत्तर-पश्चिमी दर्रों से होकर बराबर भारत में प्रवेश करती रही हैं, यहाँ तक कि यह देश विभिन्न प्रकार की **मानव-जातियों का एक अजायबघर-सा** हो गया है । यहाँ आपको श्वेत काकेशियन और उसके भूरे और काले उपभेद, पीले मंगोल और काले इथियोपियन सभी मिलेंगे । अत्यंत गौरवर्ण नारडिक से भी गोरे, नीग्रो से भी काले, लम्बे-से-लम्बे जर्मन, तुर्क या स्कैन्डेनेवियन से भी लम्बे और आस्ट्रेलियाई बुशमैन से भी ठिगने—सभी मेल के आदमी इस देश में मिल सकते हैं । यह सम्मिश्रण किस प्रकार हुआ ?

पाषाण-युग का मानव : ईसा से हजारों वर्ष पूर्व भारत में ऐसे लोग रहते थे जो आरम्भ में शायद बहुत-कुछ जानवरों जैसी-जिंदगी बिताते होंगे, जो खानाबदोश थे और फल या जंगली जानवरों के माँस पर जीवन-निर्वाह करते थे कुछ समय बाद इस 'आदिम-मानव' ने जानवरों को मारने के लिए पत्थर के औजार बनाये और

उनकी खाल के वस्त्र धारण किये । उस समय तक वह इतना असभ्य था कि आग का उपयोग भी नहीं जानता था । उसे 'प्राचीन पाषाण युग का मानव' कहते हैं ।

उत्तर-पाषाण-युग का मानव : उत्तर-पाषाण-युग का मानव काफी विकास कर चुका था—वह खेती करता था; **आग का उपयोग** जानता था और उसके **पत्थर के औजार काफी तेज और चिकने थे ।** वह अपने कपड़े बनाने के लिए रुई **और ऊन का सूत बनाने** लगा और अपने मृत सगे-सम्बन्धियों को बड़े पात्रों में दफनाया करता था । उत्तर-पाषाण-युग से शताब्दियों पश्चात् धातु युग आया । इस युग का मानव ताँबा, लोहा आदि धातुओं का प्रयोग जानता था और उसका रहन-सहन **अपेक्षाकृत बहुत विकसित** हो गया था । वह किस जाति का था यह मालूम नहीं . कुछ विद्वानों का कहना है कि वह प्राचीन पाषाण-युगी मानव का ही वंशज था, लेकिन एक जर्मन विद्वान् की नई खोजों से पता चला है कि इस युग के मानव की भाषा और शारीरिक ढाँचा आदिम मलय और इंडोचीनी से बहुत-कुछ मिलते-जुलते थे । नीलगिरि के टोड, पश्चिमी भारत के भील और कोल, मध्य भारत के गौंड और उत्तर-पूर्व के संथाल और नागा उसी युग के मानव के वंशज हैं । ये लोग इन प्रदेशों के जंगलों और पहाड़ों में रहते हैं । प्राचीन पाषाण-युग के मानव की तरह उत्तर-पाषाण युग का मानव भी ठिगना और काला था, लेकिन उसका सिर बड़ा, नाक चौड़ी और शरीर का रंग कम काला था । इनका **सम्बन्ध महान् 'आस्ट्रिक जाति'** से था जो प्राचीन समय में समूचे दक्षिणी एशिया में बसी हुई थी । उसने मिट्टी के पात्र बनाना भी सीख लिया था तथा वह मिट्टी की झोंपड़ियाँ बनाना भी जानता था जो छप्परों से ढकी होती थीं । कभी-कभी इस युग के मानव मृतकों को जलाते भी थे ।

द्रविड़ : प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में हमारे सामने 'द्रविड़' कहा जाने वाला एक नई किस्म का मानव आता है । द्रविड़ जाति के उद्गम के बारे में विभिन्न मत हैं, पर इतना निश्चय है कि आर्यों के फैलने से भारत पर द्रविड़ों का ही प्रभुत्व था । आर्यों का विरोध भी इसी जाति ने किया, किन्तु ठहर न सकी और धीरे-धीरे पीछे हटती हुई दक्षिण की ओर चली गई, पर अपनी **प्राचीन संस्कृति को बनाये रही ।** द्रविड़ों का **कद ठिगना**—साधारण ऊँचाई से कम; रंग **काला-सा; बाल घने,** कहीं-कही घुंघराले; **आँखें काली; सिर लम्बा; नाक बहुत चौड़ी**—कभी-कभी सिरे पर पिचकी हुई लेकिन ऐसा नहीं कि चेहरा चपटा लगे । वे लोग सभ्य थे; व्यवस्थित जीवन व्यतीत करते थे । वे धातुओं का प्रयोग भी जानते थे । **खेती और वाणिज्य उनकी जीविका के मुख्य साधन थे ।** उनकी सुगठित शासन-व्यवस्था थी । द्रविड़ों में **मातृवंशानुगत परम्परा** प्रचलित थी, यानी वंशपरम्परा और उत्तराधिकार में माता का स्थान ही मुख्य था, पिता का नहीं । वे 'धरती माता' और नागों की पूजा करते थे । उनमें कोई वर्ण-व्यवस्था नहीं थी । धुर दक्षिण के तामिल प्रदेश में और उत्तर-पूर्व के दक्खनी पहाड़ी प्रदेश में आज भी उनके वंशज रहते हैं ।

बाद में आने वाली जातियाँ : इसके बाद क्रमशः सीथियन, हूण और

मुसलमानों ने भारत में प्रवेश किया। इनका भी भारत के निवासियों के जातीय स्वरूप पर प्रभाव पड़ा। सीथियन प्रभाव गुजरात और महाराष्ट्र में दिखाई पड़ता है—अपेक्षाकृत **ठिगना कद, उठी हुई पर कम लम्बी नाक और आंखों के नीचे गड्ढे।** तुर्क और ईरानी हमलावरों के कारण भी जातीय स्वरूप पर असर पड़ा है। उत्तर-पश्चिमी सरहद और पश्चिम के तुर्क व ईरानी किस्म के लोगों का कुछ भिन्न ढाँचा है—**लम्बा कद, उजला रंग, कुछ पतली-सी नाक** लेकिन उठी हुई और उत्तर भारतीयों की अपेक्षा बहुत लम्बी।

चीन और बर्मा का पड़ौसी होने के कारण भारत में इन देशों के लोग भी आकर बसते रहे हैं, इसलिए कहीं-कहीं मंगोल प्रभाव भी दीख पड़ता है। इसीलिए आसाम, भूटान और हिमालय की तराई वाले प्रदेशों—गढ़वाल, भूटान और नैपाल—में लोगों का **रंग पीला-सा और चेहरा चपटा है।**

संक्षेप में भारत में मुख्य रूप से चार प्रकार की जातियाँ हैं—

(१) **इंडो-आर्यन :** अधिकतर उत्तर में। लम्बा कद, साफ रंग। इनकी भाषाएँ आर्य भाषा संस्कृत का विकसित रूप है—पंजाबी, हिन्दी और बंगला।

(२) **द्रविड़-भाषा-भाषी** : दकन के धुर दक्षिण में और उत्तर-पूर्वी दकनी पार्वत्य प्रदेश में। अपेक्षाकृत ठिगना कद, रंग कुछ कालेपन पर और संस्कृत से भिन्न द्रविड़ भाषाओं का प्रयोग करते हैं—तामिल, तेलुगु, कन्नड़ी और मलयालम।

(३) **आस्ट्रिक** : नीलगिरि के टोड, पश्चिमी भारत के कोल और भील, मध्य भारत के गोंड, उत्तर-पूर्व के संथाल और नागा जाति के लोग। इनका कद ठिगना, शरीर काला, चौड़ी और चपटी नाक। इनकी भाषाएँ एक तीसरे वर्ग में आती हैं।

(४) **मंगोल :** आसाम बंगाल और हिमालय की तराई वाले इलाकों में—इनका पीला रंग और चपटे चेहरे होते हैं।

देश के निवासियों में समानता और विषमता

भारत के विभिन्न प्रान्तों और उसके निवासियों में इतनी असमानताएँ हैं कि आश्चर्य होता है। यहाँ हर तरह की जलवायु मिल सकती है—मैदानों की असह्य गर्मी जो अफ्रीका के गर्म-से-गर्म भाग की तरह ही गर्म है, जैसे सिन्ध में जेकबाबाद। दूसरी ओर हिमालय प्रदेश की उत्तर-ध्रुव जैसी भयंकर सर्दी जहाँ का तापमान बर्फ जमने के तापमान से भी कम होता है। आसाम की पहाड़ियों में चेरापूंजी में हर साल ४६० इंच वर्षा होती है जबकि ऊपरी सिन्ध में केवल ३ इंच औसत वर्षा होती है। अलग-अलग भागों की मिट्टी में भी महान् अन्तर है। सिन्धु-गंगा प्रदेश अत्यधिक उपजाऊ है किन्तु सिंध और राजपूताना के लम्बे-लम्बे मैदान सूखे और बिल्कुल अनउपजाऊ हैं। जातीय विविधता के बारे में तो पहले ही कहा जा चुका है। बोलचाल में काम आने वाले सभी बड़े-बड़े भाषा-परिवारों की भाषाएँ यहाँ प्रयुक्त होती हैं। आस्ट्रिक, तिब्बती, चीनी, सैमिटिक, द्रविड़ और हिन्द-योरपीय

भाषा-परिवारों की २२० विभिन्न उपभाषाओं का प्रयोग इस विशाल उप-महाद्वीप के लोग करते हैं। मत मतान्तर भी यहाँ अनेक हैं। हिन्दू, सिख, जैन, इस्लाम, ईसाई, पारसी, बौद्ध सभी धर्मों की विभिन्न शाखाएँ और उपभेद इस देश में पाये जाते हैं। सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों के लोग यहाँ मिलते हैं। जहाँ पश्चिमी भारत के गौंड आदिम युग के मनुष्य से भिन्न नहीं, वहाँ नई दिल्ली और बम्बई में आपको अधिक-से-अधिक फैशनेबल लोग मिल सकते हैं। आर्थिक क्षेत्र में देखिए—इस देश में ऐसे लोग भी हैं जिनकी आमदनी सिर्फ कुछ पैसे प्रतिदिन है और ऐसे भी हैं जो दुनिया के सबसे अमीर लोगों में गिने जाते हैं। रक्त की **विभिन्नता और पारस्परिक विरोध, संस्कृति की अनेकरूपता और रहन-सहन के ढंगों के अलग-अलग होने के कारण ही ये विषमताएँ पाई जाती हैं।** कहा जा सकता है कि हमारा देश **युगों और मानव-जाति का एक अजायबघर है।**

सांस्कृतिक एकता : ऐसा सोचना निराधार होगा कि देश की एकता सैनिक विजयों के फलस्वरूप स्थापित होती रही है। यहाँ तो **संस्कृति की** मौलिक एकता है। जातिबन्धन, चौका, निम्न जातियों के प्रति अपमान की भावना देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सभी हिन्दुओं में पाई जाती थी। परन्तु सामाजिक सुधारकों एवं राज्य की नीति तथा प्रचार के फलस्वरूप ये बन्धन टूटते जा रहे हैं। पारिवारिक बन्धन, विवाहोत्सव, नामकरण-संस्कार, मृतों के दाह-संस्कार आदि का समूची हिन्दू जाति में एक ही-सा ढंग है—देश के किसी भी कोने में जाकर देख लीजिए, **होली, दिवाली, दशहरा—सभी त्यौहार लगभग एक ही ढंग से मनाये जाते हैं।**

धार्मिक एकता : विभिन्न सम्प्रदायों के मूल में भी एकता का स्रोत प्रवाहित होता है। राम और कृष्ण की गाथाएँ दूर दक्षिण के तमिलनाड में भी उसी भक्ति और प्रेम से गाई जाती हैं जैसे उत्तर में। **वेदों का सर्वत्र समान आदर होता है—विष्णु की उपासना दक्षिण और उत्तर में समान रूप से प्रचलित है,** यद्यपि नाम अलग-अलग हैं। हिन्दुओं के ६८ तीर्थों (मन्दिर अथवा पवित्र स्थान) की कल्पना बतलाती है कि भारत एक है, क्योंकि इनमें से कुछ सुदूर उत्तर में, कुछ धुर दक्षिण में और कुछ पश्चिमी तथा पूर्वी तटों पर हैं। ये क्रमशः कैलाश, रामेश्वरम्, सोमनाथ व जगन्नाथपुरी हैं।

एक ही पावन भाषा : यद्यपि भारत में २२० या इससे अधिक बोलियाँ बोली जाती हैं, फिर भी संस्कृत भाषा और साहित्य को हिन्दुओं के सभी वर्ग चाहे उनका वर्ण, स्तर और विश्वास कुछ भी क्यों न हो—एक स्वर से पवित्र मानते हैं। इस तरह ब्रह्मपुत्र-घाटी से सिन्धु-घाटी तक और हिमाचल से हिन्द महासागर तक सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक है और इतिहास के विभिन्न कालों में उसे सदा एक ही माना जाता रहा है।

भारत के ऐतिहासिक आधार

भारत की प्राचीन क्रमबद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को जानने के लिए सामग्री

काफी नहीं है। प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास-विषयक सिद्धान्त या दृष्टिकोण, आधुनिक दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था। शायद इसी कारण कालक्रम-शैली के इतिहास-ग्रन्थ प्राचीन काल में आधुनिक काल की अपेक्षा कम लिखे गये हैं।

रामायण और महाभारत ने कुछ महान् वीरों को सदा के लिए अमर कर दिया है, पर उनमें **घटनाएँ क्रम से वर्णित नहीं।** पुराणों में राजवंशों और राजाओं तथा उनके शासन-काल का उल्लेख है। किन्तु वे न तो तत्कालीन घटनाएँ हैं और न ही विश्वास के योग्य। तो भी १०००० ई० पू० से लेकर ३०० ई० पू० तक भारतीय समाज व संस्कृति का हाल अधिकतर पुराणों, महाकाव्यों व हर प्रकार के साहित्य, जैसे भाषा-सम्बन्धी, दार्शनिक और आध्यात्मिक आदि, से ही मालूम होता है।

यूनानियों के आक्रमण के बाद से यूनानी, चीनी, तिब्बती और मुस्लिम विद्वानों द्वारा लिखी हुई ऐतिहासिक रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनमें प्रायः केवल **राजनीतिक घटनाओं पर ब्यौरेवार प्रकाश** डाला गया है। इस तरह सिकन्दर के आक्रमण से कुशन-वंश तक और गुप्त सम्राटों से मुस्लिम-काल तक का बहुत-कुछ क्रमबद्ध इतिहास हमें प्राप्त है। **सिक्के, शिलालेख और ऐतिहासिक इमारतें उनके पूरक प्रमाण हैं।**

मुख्य आधारों का वर्गीकरण इस तरह किया जा सकता है—

(१) धर्म ग्रन्थ (i) ब्राह्मण, साहित्य, (ii) बौद्ध धर्म-ग्रन्थ।
(२) परम्पराएँ—(i) ब्राह्मण, (ii) बौद्ध और जैन।
(३) लौकिक या ऐतिहासिक साहित्य—(i) नाटक, उपन्यास (ii) जीवन-कथाएँ।
(४) विदेशियों के विवरण—(i) यूनानी, (ii) चीनी और (iii) दूसरे लोगों के।
(५) पुरातत्व-सम्बन्धी प्रमाण—(i) ऐतिहासिक इमारतें, (ii) शिलालेख आदि, (iii) सिक्के।

(१) धर्म-ग्रंथ (i) ब्राह्मण साहित्य (वेद और महाकाव्य) : यद्यपि वेद इतिहास की दृष्टि से नहीं लिखे गये, फिर भी उनसे हमें आर्यों के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के बारे में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। हमें उनसे यह जानकारी हो जाती है कि आर्यों ने किन प्रदेशों पर अधिकार कर रखा था; दस्युओं या आदिवासियों के साथ उनकी कैसे लड़ाई हुई। वे एक अनन्त और सर्वशक्तिमान भगवान् की उपासना प्रकृति के द्वारा करते थे जो परमात्मा के विविध गुणों की दर्शक है। रामायण-महाभारत में हमें **तत्कालीन जीवन और समाज का सजीव चित्रण** मिलता है। दशरथ, जनक, दुर्योधन आदि महान् सम्राटों के नामों, उनके अधिकृत प्रदेशों, पड़ौसी राजाओं के साथ उनके पारस्परिक सम्बन्धों, समृद्धि के उपायों, **स्वयंवर, बहुविवाह आदि की प्रथाओं की जानकारी** भी हमें इनसे होती है।

(ii) **बौद्ध धर्म-ग्रंथ** : यह साहित्य पाली भाषा के प्रसिद्ध 'त्रिपिटक' में संगृहीत है। बुद्ध ज्ञान-प्राप्ति के बाद ४५ वर्ष तक धर्म-प्रचार करते रहे। उनके प्रवचन इन पुस्तकों में सुरक्षित हैं। यद्यपि ये पूर्णरूपेण धर्म-ग्रन्थ हैं तथापि कहीं-कहीं तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की भी इनमें चर्चा की गई है। 'जातक' (बुद्ध से पूर्व-जन्म की कथाओं) से पता चलता है कि उस समय किन अन्ध-विश्वासों और प्रथाओं की मान्यता थी। इसी तरह जैनियों की धार्मिक पुस्तकों—द्वादश अंग—से भारतीय इतिहास के धुँधले काल के सम्बन्ध में काफी सूचना मिल सकती है।

(२) **धार्मिक साहित्य :** (i) **ब्राह्मण धार्मिक साहित्य :** अधिकतर अठारह पुराणों में मिलता है। अपने स्वरूप और वर्णित विषयों में पुराण बहुत कुछ रामायण-महाभारत से मिलते-जुलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से **विष्णु, मत्स्य और ब्रह्म पुराण अधिक महत्वपूर्ण हैं।** इनमें 'प्राचीन कथाएँ' संगृहीत हैं और इनका सम्बन्ध पाँच मुख्य विषयों से है—(१) **सृष्टि का विकास,** (२) **प्रलय के बाद सृष्टि पुर्ननिर्माण,** (३) **देवताओं, ऋषियों या गुरुओं की वंशावली,** (४) **मन्वन्तर का** और (५) **राजवंशों का इतिहास।** इतिहास के लिए अन्तिम भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके सहारे हम रामायण-महाभारत से मौर्यकाल तक के इतिहास के विच्छिन्न सूत्रों को जोड़ सकते हैं।

(ii) **बौद्ध और जैन धार्मिक साहित्य :** इनमें से प्रथम **'दीपवंश'** और **'महावंश'** हैं, जो शायद पाँचवीं शताब्दी में लिखी गई थीं। यद्यपि इनके पृष्ठ जन-श्रुतियों और कथाओं से भरे पड़े हैं, पर इनसे लंका के साथ अशोक आदि भारतीय सम्राटों के सम्बन्धों पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। जैन धार्मिक साहित्य से हमें चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्प्रति के सम्बन्ध में बहुत-सी दिलचस्प बातें मालूम होती हैं।

(३) **लौकिक या ऐतिहासिक साहित्य**—(i) **प्राचीन जीवन-कथाएँ और इतिहास :** विशाखदत्त के प्रसिद्ध नाटक **'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त और उसके मन्त्री चाणक्य द्वारा नन्दवंश के नाश का सजीव वर्णन है।** राजकवि वाण ने **हर्षचरित की विजयों और शासन-व्यवस्था का वर्णन** किया है। वाण ने सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला है। चंदबरदाई के **पृथ्वीराज रासो, में महाराज पृथ्वीराज का शौर्य-वर्णन है।** कल्हण की **'राजतरंगिणी' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।** इसमें सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक के **काश्मीर शासकों का वर्णन है।**

(ii) **काव्य-नाटक आदि :** हरिषेण, कालिदास आदि कवियों की साहित्यिक रचनाएँ तत्कालीन इतिहास के बारे में हमारी जानकारी को और पुष्ट करती हैं। **हरिषेण समुद्रगुप्त के राज-कवि थे।** उनके काव्य से समुद्रगुप्त की सफलताओं पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। **कालिदास के नाटकों** से उनके अपने समय के **सामाजिक जीवन की बहुत कुछ जानकारी** प्राप्त होती है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र और पंतजलि के व्याकरण से भी तत्कालीन जीवन एवं समाज के विषय में मूल्यवान समाचार मिलते हैं।

(४) विदेशियों के विवरण : इनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि विदेशियों ने राजनीतिक इतिहास तथा दरबारी लोगों एवं साधारण जनता का अपना देखा हुआ विवरण दिया है। सौभाग्य से कई यूनानी लेखक भारत आये और उन्होंने जो सामाजिक और राजनीतिक विवरण छोड़ा है, वह बहुमूल्य है। चीनी विद्वानों ने भी जो विवरण दिये हैं वे भी उतने ही मूल्यवान हैं।

यूनान के साथ भारत का सम्पर्क ई० पू० चौथी शताब्दी में शुरू हुआ। हीरोडोटस (Herodotus) के यूनान के इतिहास से ईरान और यूनान की लड़ाई, ईरान और भारत के सम्बन्धों और उत्तर-पश्चिमी भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उसने लिखा है कि उत्तरी भारत डेरीयस के ईरानी साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त या सत्रपी था। बाद के यूनानी लेखक स्ट्रैबो आदि ने मैगस्थनीज़ की 'इन्डिका' नामक पुस्तक से बहुत उद्धरण लिये हैं लेकिन यह पुस्तक अब खो चुकी है। **मैगस्थनीज़ चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत था और शासन-व्यवस्था, विशेषकर नगरपालिका के सम्बन्ध में उसके वर्णन बहुत सहायक हैं।** उसने देश के सामाजिक संगठन और विशेषताओं की चर्चा की है। **एरियन और टोलमी** ऐसे ही **अन्य यूनानी** लेखक हैं जिन्होंने भारत के सम्बन्ध में लिखा है। एरियन ने सिकन्दर के आक्रमण का अच्छा वर्णन किया है जो सिकन्दर की समुद्री सेना के सेनापति 'नियार्कस' से लिया गया है। टोलमी ने भारत के भूगोल की भी बहुत-कुछ चर्चा की है। किन्तु ४०० से ७०० ई० तक के समय के लिए हम मुख्य रूप से उन चीनी यात्रियों के वर्णन पर निर्भर हैं जो शाक्यमुनि बुद्ध की इस पवित्र भूमि की यात्रा करने आये थे। इनमें दो यात्रियों के नाम विशेष जानने योग्य हैं, अर्थात्—

फाहियान : जो लगभग ३९९ से ४१४ ई० तक भारत और उसके निकटस्थ देशों में भ्रमण करता रहा। पाटलिपुत्र और गुप्त शासन के लोगों के सम्बन्ध में उसके वर्णन अत्यन्त बहुमूल्य हैं।

यूवानच्वांग : जिसके वर्णनों से हमें हर्ष-कालीन (६०६—६४७ ई०) भारत की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान होता है। फाहियान पाटलिपुत्र में रहा था तथा यूवानच्वांग ने वर्षों नालन्दा विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी।

तिब्बती और मुस्लिम लेखक : तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के 'बौद्ध धर्म के इतिहास' से भी हमें महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। मुस्लिम विद्वान् अलबेरुनी ने जो गज़नी के महमूद को क्रुद्ध कर देने के कारण निर्वासित होकर भारत चला आया था—'तहकीके हिन्द' में बताया है कि उस समय **भारत बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टि से दूसरे देशों से कितना आगे था।**

(५) पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाण : (i) प्राचीन इमारतों, शिलालेखों, स्तम्भों और सिक्कों आदि से भी हमें इतिहास के निर्माण में बहुत-कुछ सहायता मिलती है। पृथ्वी के गर्भ में विलीन शहरों—**हड़प्पा और मोहनजोदड़ो** आदि—की खुदाई से हमारे देश की अति **प्राचीन सभ्यता के बारे में बड़ी दिलचस्प बातें मालूम हुई हैं।**

तक्षशिला से कुशान वंश-परम्परा की पहेली को हल करने में बड़ी सहायता मिलती है। **तक्षशिला की मूर्तियों से हमें गांधार-कला का कुछ आभास मिल जाता है** और विदेशों के मन्दिरों—जैसे कम्बोडिया में अंगकोरवट, जावा में बोरोबुदुर—से यह प्रमाणित होता है कि **भारतीयों ने विदेशों में अपनी बस्तियाँ बसाई थी और वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार किया था**। झाँसी में देवगढ़ और कानपुर के पास भीतरी गाँव के मन्दिरों में गुप्तकालीन कला पर प्रकाश पड़ता है।

(ii) **शिलालेखों से प्राप्त प्रमाण** : शिक्षाओं, स्तम्भों, गुफाओं, ताम्रपत्रों, पत्थर की मोहरों, प्रतिमाओं और इमारतों की दीवारों पर खुदे हुए लेख इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। अशोक के शिलालेखों से हमें उसके 'धर्म' एवं साम्राज्य की सीमाओं का पता चलता है। हरिषेण का इलाहाबाद-स्तम्भ लेख समुद्रगुप्त के शासन, उसकी लड़ाइयों और दक्षिण पर उसके आक्रमण के मार्गों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। **उदयगिरि की गुफाओं और सांची स्तूप के लेखों से चन्द्रगुप्त द्वितीय** अर्थात् विक्रमादित्य के शासन के सम्बन्ध में ज्ञात होता है। ताम्रपत्रों के लेख भी बड़े उपयोगी हैं। **शिलालेख बहुत बड़े ऐतिहासिक स्रोत हैं।**

(३) **मुद्राओं आदि के प्रमाण** : सिक्कों का सावधानी से अध्ययन करने पर भी बहुत-कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है। पूर्वापर क्रम निश्चित करने में प्राचीन सिक्कों के अध्ययन से बड़ी सहायता मिलती है। इंडो-बैक्ट्रियन और इण्डो-पार्थियन दो भाषाओं (यूनानी और खरोष्ठी) के सिक्कों से साबित होता है कि ये बेक्ट्रियन या पार्थियन उत्तरी भारत पर शासन करते थे। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर गरुड़ (विष्णु की सवारी) का चित्र है, जिससे उसकी धार्मिक रुचि पर प्रकाश पड़ता है। कुछ सिक्कों पर वीणा का चित्र है, जिससे पता चलता है कि वह संगीत-प्रेमी था। सिक्कों से जनता की आर्थिक दशा और राज्यों के सीमा-विस्तार पर भी प्रकाश पड़ता है। इन विभिन्न सूत्रों की सहायता से हम भारतीय इतिहास के अति प्राचीन-काल तक का इतिहास जान सकते हैं।

Questions

1. How has the Geography of India effected the course of Indian History ?
   भारत के भूगोल का भारतीय इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है ?
2. Write a critical note on the Puranas as a source of ancient Indian History.
   पुराणों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखो कि वे प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत हैं।
3. Trace Dravidian elements in Hindu-civilization.
   हिन्दू-सभ्यता में द्राविड़ तत्वों की खोज करो।

4. Which is, in your opinion, the most acceptable theory with regard to the original home of the Aryans ?
आर्यों के मूल निवास-स्थान के विषय में बतलाओ कि तुम्हारे मत में कौन-सा सिद्धान्त सर्वाधिक मान्य है ?
5. "India possesses unity in spite of diversity." Do you agree ? Give reasons.
"भारत में अनेकरूपता के होते हुए भी एकता है," क्या तुम इससे सहमत हो ? कारण बतलाओ ।
6. Write a careful note on the origin and composition of the Indian people.
भारतवासियों के विकास और बनावट पर एक विचारपूर्वक टिप्पणी लिखो ।

अध्याय २

सिन्धु-घाटी तथा अन्य तत्कालीन सभ्यताएँ

सन् १९२२ में श्री आर० डी० बनर्जी ने सिंध में एक अत्यन्त समुन्नत सभ्यता के महत्वपूर्ण अवशेषों का पता लगाया। इसके साथ ही श्री दयाराम साहनी ने पंजाब में हड़प्पा में ऐसे ही अवशेषों की खोज की। इन दोनों जगहों पर दूर-दूर तक खुदाई शुरू की गई। खुदाइयों में प्राप्त इन स्मारकों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि यह सभ्यता, जिसे **सिंधु-घाटी की सभ्यता** कहते हैं, **लगभग ३००० ई० पूर्व में थी**। किन्तु इस तिथि के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हजारों वर्ष पूर्व सिन्धु-घाटी में एक समुन्नत सभ्यता का अस्तित्व था और वहाँ पर बड़े-बड़े सुयोजित शहर बसे हुए थे। **यह सभ्यता सिंध के जिला लड़काना में मोहन-जोदड़ो से अम्बाला जिले में रोपड़ तक के प्रदेश में फैली हुई थी।** सिंधु-घाटी की सभ्यता के विषय में समस्त अनुमान तथा यह कहना कि वे लोग सुमेरियन जाति के अथवा आर्यों से पूर्व जाति के थे, निराधार है।

इस सभ्यता का समय : इसका समय निश्चित नहीं रूप से नहीं बताया जा सकता क्योंकि उस युग की लिपि अभी तक नही पढ़ी जा सकी है। लेकिन इस आधार पर कि बेबीलोनिया और मैसोपोटामिया की खुदाई की तहों में भी ऐसे ही बर्तन, मोहरें आदि निकाली हैं और उसका समय ३२०० ई० पूर्व से २७५० ई० पूर्व है, यह आम विश्वास किया जाने लगा है कि **यह सभ्यता ३००० ई० पूर्व में खूब फल-फूल रही होगी।** लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह तिथि केवल अनुमान मात्र ही है।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो : जहाँ तक हमें मालूम है वे लोग मुख्य रूप से शहरी थे और उनके ये दोनों बड़े-बड़े शहर थे। हड़प्पा लाहौर से लगभग एक सौ मील दूर **मिंटगुमरी जिले** में है। **मोहनजोदड़ो** बहुत ही **महत्वपूर्ण प्राचीन शहर** है और **उस सभ्यता का मुख्य सामाजिक केन्द्र** था। इनका शाब्दिक अर्थ है 'मुर्दों का टीला'। इसका क्षेत्रफल एक वर्ग मील है, लेकिन हो सकता है कि पहले यह अधिक रहा हो। मालूम होता है कि इसको सात बार बनाया और तोड़ा गया, लेकिन निचली तहों में पानी के जमाव के कारण सातों तहों की अभी खुदाई नहीं हो सकी।

नगर निर्माण का कौशल : मोहनजोदड़ो के वर्तमान स्वरूप को देखा जाय तो वह दो टीलों के रूप में बना हुआ है—एक तेरह सौ गज लम्बा और छः सौ गज चौड़ा है और दूसरा चार सौ गज से तीन सौ गज। उसकी बड़ी-बड़ी सड़कें साढ़े

तेरह से ३३ फुट तक चौड़ी हैं और छोटी नौ से बारह तक। सभी सड़कें सीधी हैं, उत्तर से दक्षिण की ओर या पूर्व से पश्चिम की ओर जाती हैं और एक-दूसरी को समकोण पर काटती हैं, जिससे वायुमण्डल साफ रहे।

इन नगरों में नालियों द्वारा पानी निकालने की प्रणाली : नालियाँ इस ढंग से बनाई गई हैं कि जिससे पता चलता है कि वे लोग नगर-निर्माण की कला में कितने कुशल थे। गारा तथा चूने से बनी हुई नालियाँ ईंटों से ढकी हुई थीं जिन्हें सफाई के लिए आसानी से हटाया जा सके। दोनों ओर घरों की छोटी-छोटी **नालियां आकर बड़ी नालियों में मिलती थीं।** इस बात की बड़ी सावधानी रखी जाती थी कि नालियों में राख और कूड़ा-करकट न फेंका जाय। इस सबसे पता चलता है कि वे साफ और **स्वच्छ हवादार मकान** आदि बनाने का कितना ध्यान रखते थे।

मकान : नगर में एक-एक कमरे के मकान भी हैं और विशाल भवन (११५′ × २२०′) भी। ये आमतौर से ईंटों के बने हुए हैं और सब एक ही प्रकार के हैं। इनके फर्श कच्चे हैं, बाँस से छाई हुई छतें हैं, घरों के दरवाजे छोटी गलियों की तरफ हैं। घरों में खिड़कियों के कोई चिन्ह नहीं मिलते। कई मकान दुमंजिले थे और हर मकान के कोने में रसोईघर था, जिसमें एक ऊँची थली बनी हुई थी जो शायद बर्तन आदि रखने के काम आती होगी। सभी मकानों में आँगन अवश्य बनाये जाते थे जिनमें कुआँ भी होता था। लोगों को स्नानगृह बनाने का शौक था, जिनके फर्श एक ओर को ढलवाँ होते थे जिधर होकर पानी पाखाने की ओर चला जाय। ४० फुट लम्बा और २४ फुट चौड़ा एक बड़ा सुन्दर विशाल सार्वजनिक स्नानागार अब तक मौजूद है।

सिंधु-घाटी के लोग और उनका जीवन : यह कहना बड़ा कठिन है कि ये लोग किस जाति के थे, वे मृत लोगों को जला कर उनकी भस्म नदी में प्रवाहित कर देते थे, जिससे कि कोई हड्डियाँ या खोपड़ियाँ ऐसी नहीं बचीं जिनसे उनकी मूल जातीयता का पता लगाया जा सके। कुछ ढाँचे जो मिले भी हैं उनका रूप इतना बिगड़ा हुआ है कि उनसे कुछ भी पता नहीं लगाया जा सकता। लेकिन इनकी समानता के आधार पर अनुमान किया गया है कि वे या तो **इंडो-आर्यन शाखा के थे या द्रविड़ों के वंशज थे, अथवा उनका सम्बन्ध सुमेरियन जाति से था या क्रीट-निवासियों से।**

पहनावा, गहने आदि : इन लोगों के पहनावे के बारे में भी हमें कोई विशेष जानकारी नहीं, लेकिन बहुत-सी छोटी-बड़ी मिट्टी की तकलियाँ मिलती हैं। उनसे इस बात का संकेत मिलता है कि **ऊन और रूई दोनों प्रकार का सूत बुना जाता था।** मूर्तियों और मोहरों पर बने हुये चित्रों की वेष-भूषा से पता चलता है कि **स्त्रियाँ अधोवस्त्र धारण करती थीं** और बाँहों तथा कन्धों को ढकने के लिए भी ढीला वस्त्र पहनती थीं, लेकिन स्तनों को आवृत करने के लिए नहीं। पुरुष धोती की तरह **का अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण करते थे।** पुरुषों और स्त्रियों दोनों को ही गहने प्रिय थे।

केश-कलाप आदि : मोहरें, जिनके ऊपर बालों के पिन, कंघे आदि अंकित थे, और अनेक मूर्तियों को देखने से पता चलता है कि पुरुष लम्बे बाल रखते थे और पीछे की ओर या बीच में सुमेरियन ढंग पर जूड़े की तरह बाँध लेते थे। एक मूर्ति के बाल आधुनिक ढंग से कटे हुये बालों की तरह हैं **दाढ़ियाँ** या तो अच्छी तरह काट-छाँट कर छोटी बनाकर रखी जाती थीं (आधुनिक क़ादियानी फैशन) या बड़ी, लेकिन पीछे की ओर मुड़ी हुई होती थीं, या **मौलवी फैशन की**, यानी चेहरे के बाकी बाल काट दिये जाते थे। स्त्रियों के केश-कलाप के बारे में बहुत कम ज्ञात है। शायद वे अपने बालों में खूब अच्छी तरह कंघी करके उन्हें यथास्थान रखने के लिये हड्डी, हाथीदाँत या धातु के पिनों का प्रयोग करती थीं। सम्भव है कि कंघे ही बालों में लगाकर रखे जाते हों। वे विशेष प्रकार के काजल, पाउडर, लिपिस्टिक और सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करती थीं।

खान-पान, व्यवसाय आदि : इन लोगों की नियमित खुराक साधारण थी—गेहूँ, जौ, रोटी, दूध और शायद आम तौर से मछली। खेती और पशु-पालन आदि मुख्य व्यवसाय थे। शायद हर परिवार अपने लिये कताई-बुनाई करता था, लेकिन इसके फलस्वरूप कुछ लोगों ने यही पेशा अपना लिया होगा। सुनार और कुम्हार आदि कारीगरों के आवश्यक वर्गों में से थे। ये लोग अपने बर्तनों पर केवल रंग और चित्रकारी ही नहीं करते थे वरन् उन पर चमकीली पालिश भी करते थे। कुछ ऐसे भी व्यापारी थे जो खुश्की और समुद्र के रास्ते **सुदूर सुमेरिया और बेबीलोनिया तक व्यापार किया करते थे।**

मनोरंजन : ये लोग मनोरंजन के लिए नृत्य, संगीत, द्यूत आदि को ही विशेष पसन्द करते थे, जबकि इंडो-आर्यन जाति के लोगों को शिकार, रथ हाँकना आदि विशेष प्रिय थे। ये लोग शतरंज जैसा खेल भी खेलते थे।

धर्म : अभी तक खुदाई में किसी मन्दिर का पता नहीं चला, लेकिन उनकी मूर्तियों और प्रतिमाओं से इस बात का आभास मिल सकता है कि उनका धर्म क्या था। ऐसी मूर्तियों में सबसे अधिक मूर्तियाँ 'शक्ति' की हैं जो आभूषण और पंख जैसा शिरस्त्राण धारण किये हुए हैं। कुछ मुहरों पर बकरे या सांड जैसे सींग, कसकर बाँधे हुए लम्बे बाल और बड़ी दाढ़ी वाले एक देवता, शायद शिव-पशुपति, का चित्र पाया जाता है। अतः **शिव-शक्ति की उपासना**, जो भारत में सबसे अधिक प्राचीन है, **प्रचलित थी**, ऐसा सम्भव है। लेकिन सांड, चीतों, मगरमच्छों, सापों आदि की भी पूजा होती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें देवता मानकर पूजा जाता था या देवात्मा मानकर। पक्षियों में केवल **कबूतर की पूजा होती थी।** वे लोग पीपल के पेड़ की और मनुष्य जैसे चेहरे तथा साँड-जैसे खुर और पूँछ वाले देवताओं की पूजा करते थे।

साराँश

सिन्धु-घाटी के लोगों की सभ्यता का स्तर काफी ऊँचा था। इन वाणिज्य-

कुशल, शान्ति-प्रिय और आराम से रहने वाले लोगों ने कुछ क्षेत्रों में जो उन्नति की थी, कई देश आज भी उनकी होड़ नहीं कर सकते। उन लोगों ने जो परम्परा छोड़ी, हमें उस पर गर्व है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस फलती-फूलती सभ्यता का अचानक कैसे अन्त हो गया।

विद्वानों ने आर्य लोगों तथा सिन्धु-घाटी के लोगों और उनकी संस्कृति में अन्तर बताने पर बल पर दिया है, किन्तु यह विरोध केवल अपर्याप्त सामग्री तथा जल्दीबाजी में किये हुए निर्णयों पर आधारित है। ऐसे अनुमान लगाने से पूर्व हमें उस समय तक सब्र करना चाहिये जब तक हमें पर्याप्त सामग्री व सूचनाएँ प्राप्त न हो जायँ।

Question

Bring out the most striking features of Indus valley civilization. What do you know about its age ?

'सिन्धु-घाटी सभ्यता' की विशेषताएँ बतलाओ। इसके युग के विषय में तुम क्या जानते हो ?

अध्याय ३

वेद-युग

भारतीय आर्यों का इतिहास

आर्यों के सम्बन्ध में दो प्रश्न सबसे प्रथम उठते हैं—उनका आदि-स्थान कहाँ था और उनका इतिहास कब से आरम्भ होता है ? इन दोनों प्रश्नों का अभी तक कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सका है। इन पर विद्वानों में बड़ा विवाद है।

आर्य कौन थे : आर्यों के आदि-स्थान के बारे में विचार करने से पहले संक्षेप में यह भी विचार लेना उचित होगा कि आर्य लोग कौन थे ? आर्य नाम श्रेष्ठ, धर्मात्मा तथा उत्तम मनुष्य का है। वेद से लेकर पुराणों तक समूचे भारतीय वाङ्-मय में इसी अर्थ में 'आर्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। किन्तु आधुनिक विद्वान् 'आर्य' का अर्थ **नृवंश-वाचक** (pertaining to race) लेते हैं और प्राचीन आर्यों को एक नृवंश मानकर यह खोजने का प्रयत्न करते आये हैं कि इस आर्य नृवंश का प्राचीनतम निवास-स्थान कहाँ था और भारत में ये लोग उस स्थान से कब व किन मार्गों से आये तथा किस प्रकार इस देश में फैले। इस समस्या का समाधान करने के लिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative Philology), तुलनात्मक आख्यान शास्त्र (Comparative Mythology), तुलनात्मक नृवंश-शास्त्र (Comparative Ethnology) तथा तुलनात्मक समाजशास्त्र (Comparative Sociology)– इन चार साधनों के द्वारा अध्ययन किया गया है।

मैक्समूलर आदि का मत—काफी समय तक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर का यह मत माना जाता था कि वे मध्य एशिया से आये थे। प्राचीन संस्कृत, ईरानी, यूनानी, रोमन, जर्मन और सैल्टिक भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनका प्रयोग करने वाले बहुत प्राचीन समय में एक साथ रहे होंगे। इन भाषाओं के मूल शब्द समान हैं जिनसे इन भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है। भारतीय भाषा के 'पिता', 'माता', ईरानी के 'पिदर', 'मादर', लेटिन के 'पेटर', 'मैटर', और अंग्रेजी के 'फादर', 'मदर', मूल रूप से एक ही हैं। मैक्समूलर का मत था कि आर्यों का मुख्य दल एशिया-माइनर से यूनान और इटली होता हुआ उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ा था, जबकि उनका एक दल उत्तर-पश्चिम दर्रों से होता हुआ भारत आया था। परन्तु भाषाओं की समानता पर नृवंशों के एक होने का सिद्धान्त अब किसी को स्वीकार नहीं रहा, क्योंकि भाषाएँ विभिन्न जातियों के सम्पर्क तथा

विजेताओं के प्रभाव आदि से बदलती रहती हैं। हाँ, प्राचीन भाषाओं के समर्थन में यदि अन्य प्रभाव भी प्राप्त हों तो इस प्रमाण को भी बल प्राप्त हो जाता है।

प्राचीन वैदिक व जेन्दअवेस्ता तथा अन्य पाश्चात्य धर्मों की गाथाओं व आख्यानों में समानता होने के कारण यह सार निकाला जाता है कि इन सब का **आदि स्रोत अथवा उद्‌गम-स्थान एक ही रहा होगा**। इनके आख्यानों में दिये हुये **देवी-देवताओं में बहुत-सी समानताएँ भी हैं और बहुत-सी विविधताएँ भी**। किन्तु सम्भव है कि अपने आदि मूल से हटकर सहस्रों बरस तक दूर रहने के कारण इनमें नई गाथाएँ जुड़ गई हों अथवा परिवर्तन हो गए हों।

नृवंश-शास्त्रज्ञों—ने एक अन्य विधि से इस समस्या को समझने का यत्न किया। विभिन्न जातियों के रंग-रूप, चेहरे की बनावट, आँख, नाक, कान, माथे आदि की विशेषताएँ देखकर इनकी तुलना के आधार पर प्राचीन नृवंशों का विभाजन किया। उनके अनुसार भारतवासी, ईरानी तथा यूरोपीय आर्य एक ही प्राचीन आर्य नृवंश की शाखा-प्रशाखा हैं जो विभिन्न समयों में मध्य एशिया से इन सब प्रदेशों में फैली। इसी मत की पुष्टि कतिपय सामाजिक प्रथाओं, धार्मिक रस्म-रिवाजों के आधार पर की जाती है। प्राचीन भारतीय आर्यों, ईरानी जनता तथा यूनान व रोम आदि स्थानों पर ग्राम-संस्थाएँ लगभग एक ही प्रकार की थीं। उनके **विवाह आदि के नियम भी समान थे**।

इन सब प्रमाणों से वह मत स्थिर होता है कि भारत के प्राचीन निवासी, जो अपने को आर्य कहते थे, तथा ईरान व यूरोप के निवासी किसी एक ही नृवंश की शाखाएँ थे।

आर्यों का मूलस्थान : अब प्रश्न यह है कि उनका **आदि निवास-स्थान कहाँ था**। इस विषय पर अनेक मत हैं। सबसे पहले प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर ने आर्यों का मूल-निवास मध्य एशिया में होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। इसके बाद बहुत से यूरोपीय विद्वानों ने क्रमशः उतरी अफ्रीका, दक्षिणी रूस, उत्तरी जर्मनी, स्केण्डीनेविया, हंगरी, पूर्वी यूरोप, मध्य व पश्चिम जर्मनी आदि अनेक स्थानों को आर्य जाति का मूल-निवास सिद्ध करने के प्रयास किये। अन्त में ये सब सिद्धान्त निर्बल दीख पड़े और इनकी अपेक्षा मैक्समूलर की पहली स्थापना को अधिक माननीय समझा गया।

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक का मत—तिलक ने यह विचार प्रकट किया है कि आर्य लोगों का आदि निवास उत्तरी ध्रुव खण्ड में था। भूगर्भ विज्ञान के विशेषज्ञों ने यह बात साबित कर दी है कि प्रागैतिहासिक युग में इस प्रदेश का जलवायु बड़ा सुहावना रहता था—हमेशा बसन्त का-सा मौसम रहता था। तिलक महोदय ने बड़े विद्वत्तापूर्ण ज्योतिष-सम्बन्धी प्रमाणों से दर्शाया है कि आर्य लोग किस प्रकार अपने मूल-स्थान उत्तरी ध्रुव से चलकर भारत आए। वेदों में छः महीने के लम्बे अहर्निश (दिन व रात) की चर्चा होना भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है। उषा के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन और उनकी अर्चना के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के स्तवन,

ध्रुव-प्रदेश के ग्रहों की गति, आदि भी इसी ओर संकेत करते हैं। प्राचीन ईरानी साहित्य में भी आर्यों के मूल-निवास में दीर्घकालीन शरद् ऋतु का होना लिखा है। वैदिक साहित्य में शिशिर और शरद् का संकेत है, ग्रीष्म का नहीं। इस प्रकार के अन्य प्रमाणों के आधार पर तिलक महोदय का कहना है कि **प्रायः आज से ८००० बरस-पूर्व आर्य लोग उत्तर-ध्रुव में निवास करते थे।**

मैक्समूलर की मध्य एशिया-सम्बन्धी स्थापना के आधार ये हैं कि वेद और जेन्दअवेस्ता की भाषाओं में सबसे अधिक साम्य है और सैल्टिक (Celtic) में सबसे अधिक परिवर्तन हुआ है। अतएव आर्यों का मूल-निवास इन देशों के निकट होना चाहिए। जेन्द में आर्यों के स्थान का शरद होना, उस स्थान पर वृक्षों आदि का मध्य एशिया में होना, उनका समुद्र से दूर, आन्तरिक भूभाग में होना तथा मध्य एशिया का आर्यों के बाद भी, तातार, तुर्क, मंगोल आदि जातियों का उद्गम स्थान होना—ये सब ऐसी बातें हैं जो इस सिद्धान्त का समर्थन करती हैं।

भारतीय सिद्धान्त : कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों का मूल-निवास भारतवर्ष ही था। इनमें दास महोदय ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि **आर्यों का मूलनिवास-स्थान प्राचीन 'सप्तसिंधु'** था। उनका कहना है कि ऋग्वेद और दूसरी प्राचीन पुस्तकों में जिन वनस्पतियों पशुओं आदि का वर्णन है वे सभी प्राचीन काल में इस क्षेत्र में पाए जाते थे। सिन्धु से प्राचीन सरस्वती (जो लुप्त हो गई है) नदी तक, अर्थात् पंजाब व काश्मीर तथा काबुल व गांधार भी इसके अन्तर्गत थे। अन्य भारतीय विद्वान स्वात (सुवास्तु), काश्मीर, ब्रह्मर्षि देश (हिमालय के अन्दर) आदि को आर्यों का मूलस्थान मानते हैं। कुछ विद्वान् पुराणों के आधार पर **मध्य प्रदेश** (गंगा यमुना के मैदान) को **आर्यों का मूलस्थान** कहते हैं। आर्यों के भारतीय मूल-निवासी होने के समर्थन में निम्न प्रमाण दिये जाते हैं—आर्यों का प्राचीनतम साहित्य संस्कृत में ही रचा गया था। संस्कृत के अन्दर आर्यों की आदि भाषा का सबसे अधिक शब्द-भण्डार है। भारतीय अनुश्रुतियों में भी आर्यों के बाहर से आने का कोई संकेत-मात्र तक नहीं है। आर्यों ने इसी देश का नाम आर्यावर्त्त रखा जिस पर उन्हें गौरव था। अतएव वे आर्य शाखाएँ, जो यहाँ से बाहर गईं, अन्य जातियों व संस्कृतियों से मिलकर मिश्रित हो गईं। भाषाओं पर भी इसी प्रकार का प्रभाव हुआ।

उपर्युक्त प्रमाणों के विरुद्ध श्लेगल व लासेन आदि विद्वानों का यह कहना है कि किसी भी पाश्चात्य देश में भारतीय आर्यों के-से रीति-रिवाज, बोलचाल, विचार व विश्वास नहीं मिलते। दूसरे किन्हीं जातियों का दक्षिण एशिया से उत्तर-पश्चिम की तरफ फैलना संभव नहीं है। तीसरे **भारतीय आर्यों के साहित्य में बहुत-से एशियाई पशुओं व वृक्षों आदि का निर्देश है, किन्तु कई भारतीय चीजों का नहीं।** हमारे विचार में ये तर्क कुछ सबल नहीं। किसी वस्तु का जिक्र होना या न होना यह सिद्ध नहीं करता कि या तो वे लोग अपनी जानी हुई वस्तुओं के देश के निवासी थे, या जिनका उन्होंने जिक्र नहीं किया उस देश के वे नहीं थे। इसी प्रकार के

अन्य कारण भी इस मत के समर्थन में दिए जाते हैं कि आर्य लोग किसी बाहरी देश से भारत में आए।

इस वाद-विवाद का सारांश यह है कि **आर्यों के मूलनिवास के सम्बन्ध में अब तक कोई मत निश्चित रूप से स्थिर नहीं हो पाया है।** किन्तु यह याद रहे कि भारतीय साहित्य एवं अनुश्रुति की परम्परा में लेश-मात्र संकेत भी आर्यों के विदेशों से आने का नहीं है।

भारत में आर्यों के आगमन की समस्या : उन विद्वानों में, जो आर्यों को बाहर से आया हुआ मानते हैं, उनके आने के समय आदि के विषय में बड़ा विवाद है। याकोवी और तिलक ने ऋग्वेद के ग्रहादि-सम्बन्धी उदाहरणों के आधार पर कहा है कि आर्य ४००० ई० पू० में भारत में आ चुके थे। मैक्समूलर का अनुमान है कि ऋग्वेद-काल १२०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक है। दास का कथन है कि ऋग्वेद-सभ्यता का प्रारम्भ प्राचीन पंजाब में कोई पाँच हजार वर्ष पूर्व हो गया था। इस तरह हम देखते हैं कि विद्वानों के अनुमानों में हजारों वर्षों का अन्तर है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि आर्यों के दो दल भिन्न-भिन्न समयों पर और अलग-अलग मार्गों से यहाँ आए। किन्तु यह मत अभी बहुत निर्बल है।

पुराणों का प्रमाण : हमारे प्राचीन इतिहास का हमारे **पुराणों की गाथाएँ व ख्यातें सबसे बहुमूल्य प्रमाण** हैं। 'पुराण' का अर्थ है 'पुराना'। आरम्भ में इनमें से हमारे प्राचीन राजवंशों का कालक्रमबद्ध इतिहास ही वर्णित होता था। कालान्तर में अन्य कई विषय इनमें शामिल कर दिये गये जिससे इनका आधुनिक रूप बन गया। इन विषयों में से अनेक काल्पनिक गाथाएँ होने के कारण तार्किक लोग समस्त पुराणों को ही कपोल-कल्पित मानने लगे थे। किन्तु कुछ विद्वानों ने गत ५०-६० वर्ष हुए, बड़े परिश्रम से पुराणों के ऐतिहासिक अंशों को बीनकर निकाला है। इनका ध्यानपूर्वक अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष के उन भागों में, जिनमें आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं, आर्यों के फैलने का क्रमबद्ध इतिवृत्ति जाना जा सकता है।

आर्यों का भारत में फैलना : ऋग्वेद के अन्दर जिन नदियों व भूभागों का निर्देश आया है उनसे पता चलता है कि **अफगानिस्तान से गंगा के काँठे तक आर्य लोग तभी फैल चुके थे और वहाँ उनके राज्य क़ायम** हो गए थे। कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), सुवास्तु (स्वात), गोमती (गोमल) तथा पंजाब की सब नदियों के नाम ऋग्वेद में आये हैं। साथ ही सरस्वती और दृष्टिद्वती (जो अब छिप गई हैं) और गंगा यमुना की भी चर्चा आई है। सरस्वती का विशेष रूप से स्तवन किया गया है। इनके बीच के देश को कालान्तर में ब्रह्मावर्त्त देश कहा गया। गंगा-यमुना का उल्लेख थोड़े बार आने तथा बंगाल के व्याघ्र व धान का बिलकुल उल्लेख न होने से कुछ लोगों ने यह मत प्रकट किया है कि आर्य लोग गंगा तक ही पहुँच पाये थे। परन्तु यह तर्क बहुत ही कच्चा है। ऋग्वेद में नमक का उल्लेख नहीं है,

यद्यपि पंजाब में नमक का पहाड़ है। तो क्या यह मान लिया जाय कि आर्य लोग नमक का प्रयोग नहीं जानते थे ? पुराणों से विदित होता है कि ऋग्वेदकालीन राजाओं की राजधानियाँ तथा उनके राज्यों का विस्तार नर्मदा के दक्षिण तक हो गया था। दशरथ के पिता अज का विवाह विदर्भ के राजा भोज की बहन से हुआ था। विदर्भ (बरार) पर भोज के पूर्वजों ने अधिकार करके अपना राज्य स्थापित किया था। इससे यह स्पष्ट है कि **ऋग्वेदकाल में ही आर्यों का प्रसार नर्मदा के दक्षिण तक हो गया था।** विन्ध्य पर्वत अथवा अन्य किसी स्थान का उल्लेख वेदों में न होने से यह निष्कर्ष निकालना कि उन स्थलों तक आर्य लोग नहीं पहुँचे थे, सर्वथा कुतर्क है। धान, चावल, व्याघ्र तथा अन्य वस्तुएँ, जो आज बंगाल में होती हैं, कौन कह सकता है कि उत्तर-पश्चिम या मध्य प्रदेश के वनों में भी उस समय न पाई जाती हों ? तो क्या यह मान लिया जाय कि आर्य लोग इन प्रदेशों में भी नहीं पहुँचे थे ?

आर्य आपस में लड़ा भी करते थे। ऋग्वेद में भरत-वंशी राजा सुदास के दूसरे आर्य राजाओं पर महान् विजय प्राप्त करने का वर्णन मिलता है, किन्तु दस्युओं के प्रति शत्रुता की भावना ने विभिन्न आर्य जातियों को एक सूत्र में बाँध रखा था। धीरे-धीरे समूचे उत्तर-पश्चिमी भारत पर आर्यों का प्रभुत्व हो गया और बाद में पूर्व और उत्तर की ओर आगे बढ़ते हुए उन्होंने मध्य प्रदेश और आर्यावर्त्त पर अधिकार कर हिमालय से विंध्या तक अपना अधिकार जमा लिया।

आर्यों का सामाजिक और राजनीतिक जीवन

सामाजिक जीवन : भारतीय आर्यों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में हमारी जानकारी का मुख्य आधार ऋग्वेद है जो चारों वेदों में सबसे प्राचीन माना गया है। आर्यों के सामाजिक जीवन का आदर्श था, 'हम सब मिलकर रहें, मिलकर परस्पर वार्तालाप करें व हम सबके विचार व मन एक समान हों।' सामाजिक 'इकाई' पैतृक परिवार अर्थात् कुल होता था। **परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष घर का कर्त्ता-धर्त्ता होता था** और सारे परिवार पर उसका पूर्ण अधिकार होता था। **युवक-युवतियों को स्वयं विवाह करने की पूरी स्वतंत्रता थी; स्त्रियों का बड़ा सम्मान था। उन्हें ऊँची शिक्षा मिलती थी, वे स्वयं अपना पति वरण करती थीं। वे बिना किसी तरह के पर्दे के पुरुषों के साथ कार्य करती थीं।** उन्हें 'सहधर्मिणी' कहा जाता था। कोई भी धार्मिक उत्सव तब तक पूरा नहीं समझा जाता था जब तक कि पति-पत्नी दोनों मिलकर उसे न करें। घर के **सभी कार्यों व अनुष्ठानों में स्त्री का बड़ा महत्व था।** पुरुषों की तरह वे शिक्षा भी पाती थीं। बहुत-सी स्त्रियाँ बड़ी विदुषी होती थीं। अपाला, लोपामुद्रा विश्ववारा, घोषा आदि कई नारियों के मन्त्रद्रष्टा होकर ऋषिपद को प्राप्त करने का उल्लेख हमें मिलता है। गार्गी,मैत्रेयी आदि अनेक स्त्रियाँ ब्रह्म-विद्या की बड़ी ज्ञाता मानी जाती थीं। एक से अधिक पत्नियाँ रखने की प्रथा बहुत कम थी और एक से अधिक पति रखने की बात

तो कोई जानता भी नहीं था। **बाल विवाह का सर्वथा अभाव था। विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी।**

पति और पत्नी के अतिरिक्त माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि भी गृहस्थ में रहते थे। उनका परस्पर व्यवहार 'आर्य' नाम को गौरवान्वित करता था। वे परस्पर प्रेम, सेवा-भाव और त्याग की भावना रखते थे। आर्थिक मामलों पर कभी-कभी झगड़े हो जाते थे, किन्तु वे इतने ही कम जितने किसी मानव-समाज में भी अवश्य होंगे।

खान-पान और वेश-भूषा : गेहूँ की रोटी के अतिरिक्त वे लोग दूध और दूध से बनी दूसरी चीजें खाते थे। **गाय को अवध्य माना जाता था।** गेहूँ, जौ आदि को वे किस प्रकार खाते थे यह निश्चय नहीं है। रोटी व तवे आदि का वैदिक साहित्य में कोई उल्लेख नहीं है। कुछ लोगों का मत है कि वे भेड़-बकरी आदि का मांस भी खाते थे। शाकों व फलों का भी वे खूब प्रयोग करते थे। वे लोग विशेष रूप से **'सोमरस' का आनन्द लेते थे** जो एक मादक द्रव्य था और विशेष प्रकार की पहाड़ी लता से तैयार किया जाता जा। आर्य इससे अपने देवताओं को भोग भी लगाते थे। **आर्य लोग ऊनी, सूती और रेशमी कपड़े पहनते थे।** इनके तीन भाग होते थे—नीवी (अधो वस्त्र), वास और अधिवास। वे सिर पर पगड़ियाँ भी पहनते थे और प्रायः दाढ़ी रखते थे। सोने के गहने, फूल-मालाएँ आदि भी धारण की जाती थीं। **आर्य लोग गृह-निर्माण में भी बड़े** दक्ष थे। उनके घर मिट्टी, बांस, फूस तथा काष्ठ के होते थे। वे लोग घोड़े, रथ आदि दौड़ाने तथा शिकार और जुए के शौकीन होते थे। **जुए का चलन सभी लोगों में था।** नृत्य, संगीत और चारण-काव्य भी उनके मनोरंजन के साधन थे।

जाति : ऋग्वैदिक काल में जाति-पाँति की प्रथा का नाम-निशान भी नहीं था। यह विचार कि वैदिक काल की वर्ण-व्यवस्था आधुनिक जाति-पाँति के ही समान थी, सर्वथा निराधार है। वर्ण-व्यवस्था, जिसका आलंकारिक संकेत ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में किया गया है, केवल समस्त मानव जाति के भिन्न-भिन्न स्वभावों और गुणों के आधार पर मनुष्य-समाज के वर्गीकरण करने का एक प्रयत्न-मात्र था। उपर्युक्त सूक्त में ब्रह्मा अर्थात् मनुष्य-जाति को विराट् रूप मानकर यह बतलाया गया कि ब्राह्मण वर्ग अर्थात् वे लोग जो कि बुद्धि तथा मस्तिष्क का काम करते थे, उस विराट् रूप शरीर का मुख अथवा सिर-स्वरूप हैं। इसी प्रकार वह वर्ग जो शारीरिक शक्ति के द्वारा समाज की रक्षा आदि करता हो उसकी भुजा स्वरूप है। जो लोग उस शरीर के धन-सम्पत्ति आदि को संचित करके उस समस्त शरीर के रक्षण-पोषण में व्यय करते हों वे उसके पेट-स्वरूप हैं और जो लोग समाज की सामान्य सेवा तथा चाकरी इत्यादि काम करते हों वे उसके पैर-स्वरूप हैं। **कालान्तर में समाज के ये वर्ग चार-जन्मना जातियों के रूप में बदल गए और अनेक कारणों से अनेक अन्य प्रकार की जातियाँ भी इनमें मिल गईं, जिनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते**

सहस्रों तक पहुँच गई। परन्तु वैदिक काल में इस प्रकार की कई जातियों का कोई अस्तित्व नहीं था।

आर्थिक जीवन—खेती : उनका **मुख्य धंधा खेती** करना था। आर्थिक दृष्टि से 'ग्राम' इकाई था, 'पुर' नहीं। गांव की जमीन दो भागों में बाँटी जाती थी—उर्वरा और खिल्य। उर्वरा वह भूमि थी जिसमें बैलों के द्वारा खेती की जाती थी और खिल्य भूमि पशुओं के चरने के लिए छोड़ दी जाती थी। खेती में उनकी सबसे बड़ी सहायक वर्षा ही थी, लेकिन उसकी कमी कुओं और छोटी-छोटी नहरों से सिंचाई करके पूरी कर ली जाती थी। मुख्य रूप से धान और 'यव' की फसलें पैदा की जाती थीं।

पशु-पालन : आर्यों का एक और मुख्य धन्धा था। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर लिखा हुआ है कि घोड़ों, बकरियों, भेड़ों और बैलों के अतिरिक्त गोपाल गायों के झुण्डों को चरागाहों में ले जाते थे। मालूम होता है कि **पशुधन ही उनका मुख्य धन था।**

व्यापार और उद्योग : वणिकों के हाथों में **व्यापार और उद्योगों ने भी बड़ी उन्नति की थी।** ये लोग खुश्की और समुद्र के रास्ते से मुख्यतः चीजों की अदला-बदली के आधार पर व्यापार करते थे। चीजों का मूल्य अक्सर गायों के रूप में चुकाया जाता था। मनुष्य का मूल्य भी गायों के हिसाब से लगाया जाता था। यद्यपि ऋग्वेद में अक्सर स्वर्णमुद्रा—'निष्क' की चर्चा आई है किन्तु उसका व्यवहार दान आदि में किया जाता था। बागों में वे फलों के वृक्ष भी लगाते थे। बढ़ई रथ और गाड़ियाँ बनाते थे और उनको चित्रों से सुसज्जित करते थे। सुनार सोने-चाँदी के आभूषण, लोहार लोहे, पीतल व ताँबे के बर्तन व अस्त्र-शस्त्र बनाते थे। चमड़े का प्रयोग भी किया जाता था। **ऋण लेने देने की भी प्रथा थी। नदियों में नावों द्वारा भी व्यापार तथा आवागमन होता था।**

धर्म : आजकल के विद्वानों का प्रायः मत है कि प्रकृति की कल्याणकारी शक्तियों—**सूर्य, आकाश, वर्षा, वायु और अग्नि—की देव-रूप में उपासना की जाती थी।** वरुण और इन्द्र सबसे अधिक लोकप्रिय देवता थे। 'वरुण' विश्व के स्वामी, नैतिक नियमों के संरक्षक और सर्वज्ञ समझे जाते थे। ऋग्वेद की ऋचाओं में कहा गया है—"पृथ्वी और आकाश के बीच या इनके परे जो कुछ भी है, वरुण की गति सर्वत्र है।" इसके बाद 'इन्द्र' का दर्जा था, जो युद्ध के देवता थे। "अपने युद्ध-रथ पर आसीन, वज्र से सुसज्जित इन्द्र अपने उपासकों को दस्युओं पर विजय प्राप्त करने में सहायता देते हैं और अपने उपासकों द्वारा अर्पित सोमरस का पान कर आनन्दित होते है वह मेघों को बाँध लेने वाले असुर 'वृत्र' का बध करने में समर्थ है।" किन्तु यह सब आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में **आर्य लोग विभिन्न नामों से एक ही ईश्वर की पूजा करते थे।**

आर्यों ने अपनी काव्यमयी भाषा में सूर्य का इन शब्दों में वर्णन किया है—**अपने सात घोड़ों के रथ पर चढ़कर प्रतिदिन आकाश के एक कोने से दूसरे कोने तक**

की यात्रा करने वाले सूर्य देव भी अत्यन्त लोकप्रिय देवताओं में से थे। उषा को उनकी पत्नी माना जाता था। अग्नि, सोम, वायु, रुद्र, पृथ्वी और सरस्वती नदी को भी इसी प्रकार वर्णित किया गया है। **वैदिक धर्म बहुत सरल था। उसमें उपासना प्रधान थी।** उसमें एक ही ईश्वर के अनेक रूपों का वर्णन है। कुछ पाश्चात्य इतिहासकारों ने यह मत प्रकट किया था कि आर्य लोगों का धर्म अविकसित है। यह असभ्य लोगों का धर्म है। आर्य प्रकृति की जिन शक्तियों से डरते थे उन्हीं की स्तुति के मंत्र पढ़ते थे। यह मत भ्रममूलक है और किसी प्रकार भी वेद के अध्ययन से इस की पुष्टि नहीं होती।

वैदिक देवता एक ही ईश्वर के विभिन्न रूप थे। आर्य प्रकृति की शक्तियों के उपासक न थे, बल्कि एक ब्रह्म के उपासक थे। पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक शब्दों के आधुनिक अर्थ को लेकर जो उपर्युक्त निष्कर्ष निकाला था यह उनकी भूल थी। हम नीचे कुछ वैदिक देवताओं के स्वरूपों का विवेचन देते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार आर्य लोग ईश्वर के ही विभिन्न गुणों की पूजा करते थे, न कि प्रकृति की।

वरुण : इसमें ईश्वर को धर्म का अधिपति कहा गया है। वह सत्य, पुण्य और भलाई का देवता है। वह सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है। सर्वत्र उसके दूत फिर रहे हैं। वह प्रकृति के अटल नियमों की रक्षा करता है। वह पापियों को दण्ड देता है। वरुण वैदिक साहित्य में जल का देवता नहीं है, वह **धर्म का अधिपति ईश्वर है।**

इन्द्र : इस देवता की शक्ति अपरिमित है। उसके बल से द्युलोक और भूलोक काँपते हैं। वह वृत्र (अनावृष्टि के राक्षस) का बध करता है, पर्वतों का भेदन और दासों का दमन करता है। इसमें वर्षा के देवता के रूप में शक्ति मान ईश्वर की पूजा है।

अग्नि : इसके महत्व का यह कारण था कि यह मनुष्यों की हवि देवताओं के पास पहुँचाता था। यह परमात्मा के देदीप्यमान रूप का वर्णन है।

सूर्य : इसके दूसरे नाम सविता, मित्रा, पूषा और विष्णु हैं। सविता से ईश्वर के प्रेरक स्वरूप की, मित्रा से उपकारक स्वरूप की, पूषा से प्रतिपालक स्वरूप की और विष्णु से उसके व्यापक स्वरूप की आराधना की जाती थी। सूर्य सब प्रकार की शक्ति का पुंज है।

उषा : इसमें प्रभातवेला की मनोरम छटा का वर्णन है। इसमें ईश्वर के मनोहारी सुन्दर रूप की आराधना है जिससे हमें उसके भव्य स्वरूप का कुछ आभास होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेद में किसी जड़ देवता की स्तुति नहीं है। आर्य लोग प्रकृति की सब शक्तियों को एक ही सत्ता के विभिन्न स्वरूप मानते थे। उन्होंने वेद में स्पष्ट लिखा है।

इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः
अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्नि यमं मातरिश्वान माहुः ।।

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण यम, मातरिश्वा आदि एक ही तत्व के अनेक नाम हैं ।

यजुर्वेद में भी लिखा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापति ।।

वही अग्नि, वही आदित्य, वही चन्द्रमा, वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही परमेष्ठी प्रजापति है ।

वैदिक साहित्य ऐसे प्रकरणों से भरा पड़ा है, जिनसे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि वे एक ही सत्ता को अनेक नामों से पुकारते थे । अखण्ड होने से वह अदिति था, सारे विश्व का उत्पादक था अतः हिरण्यगर्भ था और वही सत्ता समस्त ब्रह्माण्ड में फैली हुई है, अतः वह पुरुष था ।

वैदिक धर्म में न मूर्तिपूजा है, न पौराणिक देवी-देवताओं का उल्लेख । उसमें केवल एक ईश्वर की उपासना है जो सब सुखों का देने वाला है ।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था : वैदिक काल के ऋषियों और द्रष्टाओं ने **मनुष्य-समाज को चार वर्णों में विभाजित किया ।** यह विभाजन कोई कृत्रिम व्यवस्था नहीं थी जिसको वे मानव-समाज के ऊपर मढ़ना चाहते हों, प्रत्युत् यह तो सम्पूर्ण मानव-समाज एवं व्यक्ति के अन्दर जो अनिवार्य, शाश्वत, नैसर्गिक गुण हैं, उनका दर्शन तथा अभिव्यंजन था । इसमें उनका अपना कुछ नहीं था । उनकी अद्‌भुत दृष्टि ने मानव-समाज के मौलिक स्वरूप व गुण-अवगुणों को पूर्ण रूप से देखा और मनुष्य-मात्र के हितार्थ उसकी व्याख्या की । मानव-समाज के जो नियम तथा गुण उन दृष्टाओं ने बतलाये वे सार्वभौम व शाश्वत हैं इन्हीं के अनुसार समाज का संगठन करने का प्रयास व आदेश प्राचीन आर्यों ने किया था । **इसी का नाम वर्ण-आश्रम-व्यवस्था पड़ा ।** इनमें से मुख्य तथा प्रत्येक व्यक्ति के चार गुणों में से किसी एक के प्राधान्य तथा तदनुकुल कर्मों के आधार पर उसका वर्ण-निर्णय होता था । इस वर्ण व्यवस्था की आज-कल की जात-पांत की प्रथा से कोई तुलना नहीं की जा सकती । कालान्तर में शक्तिशाली वर्गों के स्वार्थ तथा अन्य इसी प्रकार के कारणों से इस व्यवस्था ने एक घातक कृत्रिम चौखटे का रूप धारण कर लिया, जिसके चारों ओर धीरे-धीरे सहस्रों जन्मना जातियाँ खड़ी हो गईं ।

राजनैतिक संगठन : ऋग्वेद-काल के आर्य 'विश' और 'जनस्' में बँटे हुए थे । वे शासन की राजतन्त्र-पद्धति से ही परिचित थे । जनता का नेता 'राजन्' कहलाता था तथा विश का 'विशपति' । राजत्व परम्परा से प्राप्त होता था । **आर्य राजा चुनने की प्रथा से भी परिचित थे, लेकिन यह प्रथा बहुत कम प्रचलित थी ।** राजा का सबसे बड़ा काम यह था कि लड़ाई के समय जन का नेतृत्व करे और उस की आक्रमण से रक्षा करे । अपने और अपने जन के लिए यज्ञ करने के उद्देश्य से

उसे पुरोहित भी रखने पड़ते थे। राजा को कई अधिकारी नियुक्त करने पड़ते थे—सेनानी, पुरोहित, जिसका राज्य में बहुत बड़ा दर्जा हो गया। पुरोहित राजा के साथ रणक्षेत्र में जाता था और उसकी विजय की कामना किया करता था। ऋग्वेद में समिति और सभा का जिक्र आया है, लेकिन इस बारे में कोई खास जानकारी नहीं कि इन समितियों और सभाओं का कार्य और संगठन कैसा था। आमतौर से यह बात स्वीकार की जाती है कि समिति की बैठक लड़ाई छेड़ने, शान्ति स्थापित करने या राजा चुनने के लिए आवश्यकतानुसार हुआ करती थी। इसमें शायद 'जन' के सभी व्यक्ति होते थे। स्त्रियों को इसमें भाग लेने का अधिकार नहीं था। **'सभा' 'समिति' से छोटी संस्था होती थी**—हर गाँव के लिए एक। **इसका काम न्याय करना और सलाह देना था**। समिति की तरह राजनीतिक या शासन-सम्बन्धी कोई काम इसके जिम्मे नहीं होता था।

राजा, उसके सलाहकार और समिति : केन्द्रीय सरकार में ये सब शामिल होते थे, लेकिन स्थानीय सरकार का महत्व अधिक होता था। कुलपति सारे परिवार (कुल) में शासन और व्यवस्था कायम रखता था। **ग्राम** (कई परिवार मिला कर) **ग्रामीण के आधीन होता था** जो युद्ध में ग्रामवासियों का नेतृत्व करता था और उनकी ओर से सभा और समिति की बैठक में भाग लेता था। **कई गांव मिला कर एक 'विश्वपति' के आधीन होते थे** जो उनका सैनिक नेता भी होता था।

सिंधु-कांठे और ऋग्वैदिक संस्कृतियों की तुलना : अब तक जितनी खोज सिंधु-कांठे की सभ्यता के बारे में हुई है और जो-कुछ उस खोज में पता चला है, उसके आधार पर उस सभ्यता के सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। न उसका समय अभी तक पूरी तरह निश्चित हुआ है और न ही यह कि वह आर्य-सभ्यता से पहले की थी अथवा पीछे की; और उन दोनों में कोई सम्बन्ध था या नहीं। अतएव हमारे विचार में सिंधु-घाटी की कही जाने वाली सभ्यता के विषय में दृढ़ निश्चयपूर्वक कोई सिद्धान्त बनाना भूल होगी। हाँ, मोहन-जोदड़ों व हड़प्पा आदि स्थानों से मिले हुए अनेक अवशेषों के सहारे उस सभ्यता के कुछ पहलुओं की तुलना आर्य संस्कृति से करने का साहस किया जा सकता है।

इसके प्रतिकूल वैदिक आर्य सभ्यता का मूल्यांकन करने के लिए वाङ्मय हमारे पास एक पूरा भण्डार है। ऋग् तथा अन्य वेदों के अंतर्गत प्रतिपादित अनेक विषयों की गूढ़ता, उनकी भाषा की सरलता व सौंदर्य तथा उनके काव्य की कोमलता विश्व के साहित्य में आज तक अद्वितीय हैं। उषा के प्रति ऋग्वेद की ऋचाओं में जो भावों से ओत-प्रोत कविता हमको आह्लादित करती है, उससे वैदिक-मँत्र-द्रष्टाओं की प्रबुद्ध शक्ति तथा अनुपम मेधा का सजीव प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार वरुण के स्तवन में गाई हुई ऋचाएँ भी तेजस्विता तथा ओज में अतुलनीय हैं। जैसा हम बतला आए हैं, **आर्य लोग अपना जीवन प्राकृतिक दृश्य व सौंदर्य एवं नैसर्गिक शक्तियों के संसर्ग में बिताते थे**। वरुण तथा इन्द्र, अग्नि, वायु व उषा आदि नैसर्गिक शक्तियों का स्तवन इसी कारण उन्होंने किया है। **वे इन शक्तियों के**

भीतर एक महान् मौलिक शक्ति का ही दर्शन करते थे। अतएव उनके लिए आध्यात्मिक व नैसर्गिक जीवन से दूर होकर कृत्रिम तथा पार्थिव जीवनादर्शों से प्रभावित होकर अपने उत्कृष्ट जीवन को नष्ट कर बैठना आसान न था। उनके इन उच्च आदर्शों के मर्म को न समझकर, प्राय: आधुनिक लेखक आर्य-संस्कृति को ग्रामीण सभ्यता बतलाकर स्वयं भी भ्रान्ति में पड़ते हैं और पाठकों को इस भ्रान्ति का शिकार बनाते हैं। आश्चर्य यह है कि आर्यों के प्राचीनतम साहित्य में उनके व्यापार, वाणिज्य, नाव चलाना तथा बड़ी विकसित व उत्तम प्रकार की सेनाएँ आदि का विवरण मिलते हुए भी उस सभ्यता को ग्रामीण अर्थात् अविकसित कहा जाता है। सम्भव है कि प्राचीनतम आर्य जाति ने अपने जीवन के प्रभातकाल में मिट्टी, बाँस तथा फूस के मकानों में रहना आरम्भ किया हो। किन्तु क्या उनके वास्तु व शिल्प में निरन्तर विकास नहीं हुआ? क्या वैदिक वाङ्मय में पुरों का संकेत नहीं है और क्या उत्तर-वैदिक काल में सूर्यवंश और चंद्रवंश के राजा-महाराजाओं ने अयोध्या, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, प्रतिष्ठान, विदर्भ आदि विशाल राजधानियाँ नहीं बनाईं? क्या शिल्प व कला की विविध सीढ़ियों पर चढ़े बिना ही इन आर्य नृपतियों को अकस्मात् ऐसे भव्य भवनों के निर्माण की बुद्धि आ गई? उत्तर-वैदिक काल के इन नगरों के भग्नावशेषों का लुप्तप्राय हो जाना भी इस बात का संकेत करता है कि वैदिक सभ्यता अत्यन्त प्राचीन रही होगी। इतना तो ऋग्वैदिक काल के विषय में भी निश्चित रूप से विदित है कि स्वर्ण, ताम्र, पीतल व लोहे आदि धातुओं का प्रयोग आर्य लोग खूब अच्छी तरह करते थे। पशुओं में घोड़े, गाय, बैल, भेड़, बकरी, मृग आदि का भी प्रयोग करते थे। उनके अस्त्र-शस्त्र भी अत्यन्त समुन्नत थे। लेखन-कला भी कम-से-कम उत्तर-वैदिक काल के आरंभ से ही आविष्कृत हो चुकी थी।

आर्यों की तुलना सैन्धव-संस्कृति से करने में हमको उनके उपकरणों व साधनों का ध्यान रखना होगा। सैन्धव-सभ्यता के नगर तथा अन्य अनेक प्राकृतिक वस्तुएँ हमको प्राप्त हुई हैं। उनकी लिपि अभी तक अपठनीय है। **सैन्धव काँठे के लोग मुख्यतया व्यापारी तथा आर्थिक जीवन में बड़े समुन्नत थे,** इसमें भी कोई संदेह नहीं। घोड़े और लोहे के प्रयोग का कोई प्रमाण इस सम्यता में अब तक नहीं मिला है किन्तु इस आधार पर यह निश्चयात्मक मत बना लेना कि उनको ये वस्तुएँ ज्ञात, नहीं थीं, उतावलापन होगा। **जहाँ आर्य-सभ्यता का साहित्य अनन्त एवं अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का प्राप्त है, सैन्धव-सभ्यता का कोई साहित्यिक अवशेष उपलब्ध नहीं है।** दूसरी ओर प्राचीनतम आर्य-सभ्यता का कोई भौतिक अवशेष निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। अतएव इन दो सभ्यताओं के सम्बन्ध में जो-कुछ उनके पृथक्-पृथक् साधनों से ज्ञात होता है, उतना ही कहना युक्तिसंगत होगा। **सांसारिक, आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में आर्य लोग किसी प्रकार सैन्धव लोगों से कम नहीं थे।** सम्भवत: उनका संगठन अधिक उत्कृष्ट तथा सुदृढ़ था, किन्तु आध्यात्मिक साधना, दार्शनिक चेतना तथा बौद्धिक प्रतिभा में वे अद्वितीय थे। सैन्धव-सभ्यता का धार्मिक विकास आर्यों की तुलना में अत्यंत हीन कोटि का प्रतीत होता है। केवल

एक-दो मूर्तियों की आकृति के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि वे शिव—महायोगी के पूर्व प्रतिरूप थे केवल कल्पना की उड़ान ही जान पड़ता है। सैन्धव-सभ्यता के लोगों को आधुनिक विद्वानों ने द्रविड़ जाति माना है और आर्य जाति से उनकी हर प्रकार से मौलिक भिन्नता होना बतलाया है। यह मत भी हमको अभी निश्चयात्मक प्रतीत नहीं होता। इन दोनों जातियों की नैसर्गिक बुद्धि व मेधा में कौन-सी अधिक तीव्र थी यह कहना तो कठिन है, किन्तु जैसा ऊपर कह चुके हैं, इस क्षेत्र में आर्य जाति की वास्तविक उन्नति तथा विकास उत्कृष्टता की उच्चतम सीमा को पहुँच गए थे।

Questions

1. Describe the political and social life of the Vedic period.
   वेद-युग के राजनीतिक व सामाजिक जीवन का वर्णन करो।
2. Compare Vedic and Indus Valley Civilizations.
   आर्य तथा सैन्धव-सभ्यताओं की तुलना करो।

अध्याय ४

वैदिक काल तथा उत्तर-वैदिक काल का साहित्य

[१]

वेद : आर्यों का सबसे पुराना साहित्य वेद है। वेदों के रचनाकाल के विषय में जितने भी इतिहासकारों के विचार हैं प्राय: कल्पना पर अवलम्बित हैं, किन्तु इतना सर्वमान्य तथा निश्चित है कि **वेद मनुष्य जाति के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं**। वेद का अर्थ है 'ज्ञान' और वह आर्यों के ज्ञान-भंडार का नाम है। वेद निस्सन्देह सम्बुद्ध मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों की आध्यात्मिक साधना के फल हैं। अतएव वेद का मनु से आज तक आर्य जाति में इतना मान है कि उन्हें अन्तिम प्रमाण (स्वत: प्रमाण) व ईश्वरीय ज्ञान माना गया है। वेद का अधिकतर भाग पद्यात्मक है। एक पद्य को ऋचा कहते हैं। जो ऋचाएँ गाने योग्य हैं उन्हें साम कहते हैं और यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले गद्यांशों को यजुष कहते हैं। अधिकतर हिन्दू वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं। ईश्वर की प्रेरणा से वेद ऋषियों द्वारा प्रकट हुए। वैदिक मन्त्रों को व्यक्त करने वाले ऋषियों को आर्य लोग मंत्र-द्रष्टा कहते थे। पौराणिक परम्परा के अनुसार **वेदों का संकलन** वर्तमान चार वेदों या संहिता के रूप में महाभारत के **महर्षि वेदव्यास ने किया था**। ये वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।

ऋग्वेद : यह दसमण्डलों या अध्यायों में बंटा हुआ है। इसमें १०२८ सूक्त हैं। दसवें मण्डल के सूक्त शेष नौ मण्डलों के सूक्तों से नये प्रतीत होते हैं। सूक्तों के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि इनके बनने में शताब्दियाँ लगी होंगी। यह किसी काल-विशेष की रचना नहीं है। **वेद की भाषा बोल-चाल की भाषा नहीं है, वह साहित्यिक है**। उसमें कहीं-कहीं कवियों की प्रतिभा और कल्पना की उड़ान का भी दर्शन होता है। मन्त्र पवित्र समझे जाने के कारण उनमें कुछ परिवर्तन न हुआ, अत: उनसे उस काल की सभ्यता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है।

यजुर्वेद : इसमें यज्ञ में पढ़े जाने वाले मन्त्रों का संग्रह है। इसका कुछ भाग गद्य में और कुछ पद्य में है : यज्ञ का पुरोहित अध्वर्यु कहलाता था। इससे आर्यों के धार्मिक वातावरण का पता चलता है।

सामवेद : ऋग्वेद की वे ऋचाएँ हैं, जो विशेष प्रकार के ताल और स्वरों में गाई जाती हैं। इनके गाने वाले उद्गाता कहलाते थे।

अथर्ववेद : इसका विषय आयुर्वेद व धनुर्वेद है। इसमें विभिन्न प्रकार के रोगों

तथा व्याधियों से बचने की औषधियाँ तथा अन्य उपाय विशद् रूप से वर्णित हैं। इसमें सूर्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति, रोगोत्पादक कीटाणुओं आदि इसी प्रकार के अनेक विषयों का वैज्ञानिक निरूपण किया गया है। पाश्चात्य विद्वान् इसके विषय को समझने में असमर्थ होने के कारण इसे जादू-टोने का भण्डार कहते हैं, परन्तु यह भ्रम है। इसमें राजनीति और समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों का भी विवेचन है।

चार वेदों के विषयों के अनुकूल चार उपवेद भी हैं, यथा—ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजु का धनुर्वेद, साम का गांधर्ववेद और अथर्व का शिल्पवेद। चार मूल वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त अन्य बहुत-से ग्रन्थ हैं जो वैदिक साहित्य में सम्मिलित हैं। ये ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। इनमें वैदिक यज्ञायाग व कर्मकाण्ड की विस्तार के साथ व्याख्या की गई है। इनमें स्थान-स्थान पर प्राचीन आख्यान व अन्य विषय भी बिखरे पड़े हैं। **उपनिषद् भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक भाग ही माने जाते हैं।**

ब्राह्मण—इनमें वेदमन्त्रों की व्याख्या है। ये कुरु-पाँचाल देश में रचे गये थे। ये वैदिक कर्मकाण्ड के बृहद् ग्रन्थ हैं। इनमें यज्ञ की विधि और यज्ञों के विविध प्रकारों का वर्णन है। इनके द्वारा मन्त्रों के अर्थ का मनन करने पर जोर दिया गया। आरण्यकों में ऋषियों ने दार्शनिक विषयों पर गम्भीर मनन किया है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजाओं के अभिषेक का विस्तृत वर्णन मिलता है। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में अनेक प्रतापी राजाओं के आख्यान हैं। उनमें राज्य के मुख्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख है। इस काल में ही वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण विकास हुआ। गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, और शूद्र चार वर्ण बन गये। **इसी समय में आर्यों की चार आश्रमों की व्यवस्था बनी—ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।** चारों आश्रमों के लिए अलग-अलग नियम निर्धारित किये गए। **इन आश्रमों का उद्देश्य पहले आश्रम में शिक्षा-प्राप्ति, दूसरे में विवाह के पश्चात् गृहस्थ का कर्त्तव्य-पालन, तीसरे में वन में संसार से विरक्त होने की तैयारी और चौथे आश्रम में परमात्मा के ध्यान में लीन होकर संसार की निःस्वार्थ सेवा करना एवं मुक्ति के लिए साधना करना था।**

उपनिषद् : ब्राह्मण-ग्रंथों ने कर्मकाण्ड पर बहुत बल दिया। इससे कुछ विचारशील विद्वानों को सन्तोष न हुआ। उन्होंने जीव, सृष्टि और ईश्वर के विषय में चिन्तन किया और अपने विचारों का दिग्दर्शन उपनिषदों में किया। इसमें प्रतिपादित दार्शनिक विचारों ने संसार के विद्वानों को इस युग में भी आश्चर्य में डाल दिया है। इन ग्रन्थों की दार्शनिक चर्चा में ब्राह्मणों व क्षत्रियों ने बराबर भाग लिया। **उपनिषदों में वर्णित है कि ब्रह्म एक है, सर्वव्यापी है, सर्वान्तर्यामी है। वही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है। उपनिषदों में हमें जीवात्मा, पुनर्जन्म, कर्मवाद तथा मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का अत्यन्त हृदयग्राही विवेचन मिलता है।** उपनिषदों में ईश, केन, कठ, प्रश्न, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक मुख्य माने जाते हैं। ब्राह्मण तथा उपनिषदों के काल में, आर्यों के

निम्नलिखित दस बड़े राज्य भारत में विद्यमान थे—गान्धार, केकय, मद्र, उशीवर, मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, कोशल और विदेह ।

वेदांग—प्राथमिक वैदिक साहित्य के अतिरिक्त भी अन्य बहुत-सी शाखाएँ अथवा ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अंग व उपांग माने जाते हैं । वैदिक साहित्य को समझने के लिए जिन विषयों का अध्ययन आवश्यक था वे वेदांग कहलाते हैं । वेदांग छः हैं—**शिक्षा** : इसमें वेदमन्त्रों के उच्चारण की विधि, **कल्प** में यज्ञ करने की विधि, **व्याकरण** और **निरुक्त** में शब्दों और उनके अर्थों का प्रतिपादन है । **छन्द** और **ज्योतिष** को भी वैदिक साहित्य का अध्ययन करने के लिए आवश्यक समझा जाता था ।

सूत्र-ग्रन्थ : इनमें वेद-विद्या के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया गया है । श्रौतसूत्रों में यज्ञों की भिन्न-भिन्न विधियों का वर्णन है और धर्मसूत्रों में सामाजिक व्यवहार के नियम बतलाए गये हैं । गृहसूत्रों में गृहस्थों के नित्य के कार्यों और जन्म से मृत्यु तक के संस्कारों का वर्णन है ।

दर्शन : ये ग्रन्थ सूत्र-रूप में बनाये गये थे । इन सूत्रों के आधार पर सांख्य, **योग, वैशेषिक, न्याय और मीमांसा तथा वेदान्त नाम के छः दार्शनिक सम्प्रदाय स्थापित हुए,** जिन्होंने अपने विचारों के अनुसार ईश्वर, जीव व सृष्टि के विषय में अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये । परन्तु ये सब वेद को ही अपने सिद्धान्तों का मूल व आदि स्रोत मानते हैं ।

स्मृतियाँ : ये धर्मसूत्रों के आधार पर लिखी गईं । इनमें देश-काल की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील धर्म व उसके मौलिक नियमों एवं सामाजिक, राजनीतिक आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । **स्मृतियों में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति बहुत प्रसिद्ध हैं** । अंग्रेजी राज्य में हिन्दू धर्म के अनुसार कानून का निर्माण अधिकतर इन दोनों स्मृतियों के आधार पर हुआ था ।

रामायण और महाभारत : आधुनिक विद्वानों की रामायण और महाभारत के बारे में यह धारणा रही है कि ये वीर-काव्य (Epics) हैं और सर्वथा काल्पनिक हैं, एवं इनका कोई विशेष काल था जिसे (Epic age) कहाजाता है । हमारे कतिपय यूनिवर्सिटियों के इतिहास का पाठ्य-क्रम बनाने वाले महानुभाव भी इस व्यापक भ्रम से न बच सके । अतएव इन काव्य-ग्रन्थों का वर्णन करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक समझा गया कि पाठकों को यह भ्रम अपने मस्तिष्क से बिल्कुल निकाल देना चाहिए कि प्राचीन भारतीय इतिहास में कोई ऐसा भी युग-विशेष था जिसे 'वीर-काव्य-युग' (Epic age) कहा जा सके ।

भारत में उत्तर-वैदिक काल में पहले आर्यों के बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे । **इनमें दो वंश सबसे प्रसिद्ध हुए—एक** मानव या **सूर्यवंश** और दूसरे ऐल या **चन्द्रवंश सूर्यवंश के प्रथम राजा इक्ष्वाकु थे** । इक्ष्वाकु के वंशज कोशल देश में राज्य करते थे । इस वंश का सबसे प्रसिद्ध सम्राट् मान्धाता था । मान्धाता ने उत्तर-भारत के बहुत-से राज्यों को जीतकर कोशल साम्राज्य को बहुत विस्तृत किया और दक्षिण में नर्मदा

तक फैलाया। इसी वंश में आगे चलकर सगर, भगीरथ, दिलीप और रघु नाम के प्रतापी सम्राट् हुए : पर सूर्य वंश के इक्ष्वाकु और राजा दशरथ के पुत्र श्री रामचन्द्र सबसे प्रसिद्ध हुए, जिनके आदर्श शासन के कारण भारतीय जनता ने उनको मर्यादा-पुरुषोत्तम के नाम से प्रतिष्ठित किया। इनकी राजधानी अयोध्या थी।

चन्द्रवंश का पहला राजा पुरुरवा था : उसकी चौथी पीढ़ी में राजा ययाति हुआ। इसके पाँच पुत्रों ने पाँच शाखा-वंश प्रचलित किये। उनमें एक यदु था, उसका वंश यादव कहलाया और पुरु का पौरव। इसी शाखा में राजा भरत हुए। कहते हैं कि **इसी भरत के नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।** इनकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पौराणिक वंशावलियों की काल-गणना के अनुसार भरत का समय लगभग २२५० ई० पू० और श्री रामचन्द्र का १६०० ई० पू० में बैठता है।

जिस प्रकार प्राचीन वैदिक सभ्यता व समाज की प्रगति की अनुश्रुति वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में सुरक्षित है, उसी प्रकार इस युग के राजवंश के वंशानुचरितों की अनुश्रुतियाँ रामायण, महाभारत व पुराणों में संगृहीत हैं। **रामायण में इक्ष्वाकु-वंशी राजा रामचन्द्र का आख्यान तथा महाभारत में पौरवों का आख्यान** उल्लिखित है। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है—

पौरव-वंशी राजा दुष्यन्त के पूर्व पौरव राजा अपना राज्य खो चुके थे। राजा दुष्यन्त ने गंगा-यमुना के दोआब में फिर अपना राज्य स्थापित किया। राजा दुष्यन्त एक बार हिमालय की तराई में शिकार खेलने गये। वहाँ मालिनी नदी के तट पर कण्व ऋषि का आश्रम था। यह आश्रम आधुनिक गढ़वाल में स्थित था। वहाँ उसे कण्व ऋषि की पुत्री शकुन्तला मिली। उसके साथ राजा दुष्यन्त का प्रेम और विवाह हो गया। इसी शकुन्तला की कोख से भरत का जन्म हुआ। उसने सरस्वती से अयोध्या तक का प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया और अपने को चक्रवर्ती राजा घोषित किया। भरत के वंशज भारत कहलाये और वे बहुत दिनों तक उत्तरी भारत में राज्य करते रहे। उनके समय में भारतीय साहित्य और संस्कृति का बहुत विस्तार हुआ।

रामायण : सूर्य-वंश में एक प्रसिद्ध राजा दशरथ हुए। उनकी तीन रानियाँ कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा थीं। रानी कैकेयी ने एक युद्ध में राजा दशरथ के रथ की धुरी से पहिया निकल जाने पर अपने हाथ से उसे रोके रखा और इस प्रकार अपनी वीरता का परिचय दिया। राजा दशरथ ने प्रसन्न होकर रानी कैकेयी को जब चाहे दो वर देने का वचन दिया। सन्तान होने पर दशरथ ने कौशल्या के पुत्र रामचन्द्र को युवराज नियुक्त करना चाहा। यह बात कैकेयी को अच्छी न लगी और उसने राजा दशरथ से अपने दोनों वर माँगे। एक वर द्वारा उसने रामचन्द्र को १४ वर्ष का वनवास और दूसरे से अपने पुत्र भरत को युवराज नियुक्त करने की माँग की। वचनबद्ध राजा दशरथ को दोनों वर देने पड़े।

भरत इस समय अपने नाना के यहाँ गये थे। वहाँ से लौटने पर वे अपनी माता के कार्य पर बहुत लज्जित हुए। इस बीच में राम के वियोग से दुखी वृद्ध

राजा दशरथ का देहान्त हो गया था भरत उनका अन्तिम संस्कार करके भाई राम को लौटा लाने वन गये किन्तु राम न लौटे। तब भरत ने उनके प्रतिनिधि के रूप में चौदह वर्ष तक अयोध्या में राज्य किया।

वन में रामचन्द्र के साथ उनकी पत्नी सीता और उनके छोटे भाई सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण भी थे। वे अयोध्या से प्रयाग पहुँचे और वहाँ गंगा पार कर वन-ही-वन गोदावरी के किनारे दण्डक वन में पहुँचे। वहाँ पंचवटी नामक स्थान में कुछ दिन रहकर वे दक्षिण की ओर बढ़े और राक्षसों की एक बस्ती जनस्थान में पहुँचे। यहाँ राक्षसों से उनकी अनबन हो गई और राक्षसों का एक राजा रावण, जो लंका में राज्य करता था, रामचन्द्र की पत्नी सीता को चुरा ले गया।

सीता की खोज करते-करते राम और उनके छोटे भाई लक्ष्मण दक्षिण की ओर बढ़े। यहाँ उन्हें किष्किन्धा का राजा सुग्रीव और उनका मन्त्री हनुमान मिले। सुग्रीव ने राम की सहायता से अपने भाई बाली को हराकर अपना किष्किन्धा का राज्य प्राप्त किया। उसकी सहायता से राम ने लंका के राजा रावण को मारकर सीता को प्राप्त किया। वहाँ से लौटकर राम ने अयोध्या में राज्य किया।

राम की इस कथा से यह ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट है कि उस समय तक आर्य लोग दक्षिण भारत में नहीं पहुँचे थे और वहाँ अनार्य लोग रहते थे। रामचन्द्र ने ही वहाँ आर्य-संस्कृति फैलाने का प्रयत्न किया।

इतिहासकारों का मत है कि रामायण की रचना महाकवि बालमीकि ने महाभारत के मूल रूप के लिखे जाने से पहले की थी। राम की कथा और रामायण के श्लोक महाभारत में बहुत-से स्थानों पर पाये जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से यह संस्कृत भाषा का अनुपम ग्रंथ है। इसे आदि-काव्य कहा जाता है। यह भाव और भाषा दोनों के विचार से श्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है। अनेक परवर्ती संस्कृत कवियों ने रामायणीय कथा का आश्रय लिया है। रामायण के पात्र केवल एक कथा के पात्र ही नहीं रह गये हैं। उनका चरित्र इतना उज्ज्वल चित्रित किया गया है कि वे प्रत्येक हिन्दू परिवार के लिये आदर्श बन गये हैं। **राम और सीता आदर्श पति-पत्नि हैं। राम, लक्ष्मण और भरत भ्रातृ-प्रेम के उज्ज्वल उदाहरण हैं।** राम का पिता की आज्ञा का पालन और सीता का पति के साथ वनवास के दुःख सहना एक कथा-मात्र न रहकर प्रत्येक गृहस्थ के लिये जीवन-संग्राम में पथ-प्रदर्शक हो गये हैं।

महाभारत : चन्द्रवंशीय राजा ययाति के पाँच पुत्रों में एक यदु थे। उनके वंशज यादव कहलाये। रामचन्द्र के पश्चात् पौरवों और यादवों की बहुत वृद्धि हुई। पौरवों में इस समय पाञ्चाल उत्तर-भारत का सर्वप्रधान राज्य हो गया। उसके राजा सुदास ने पंजाब के राजाओं के संघ को हराया। सुदास के पश्चात् उसके एक शत्रु संवरण ने उत्तर-पाञ्चाल को जीता। उसके पुत्र कुरु ने अपना राज्य प्रयाग तक फैला लिया। उसका वंश कौरव-वंश कहलाया।

कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर थी। इस वंश में दो भाई धृतराष्ट्र और पाण्डु हुए। धृतराष्ट्र अन्धे थे और उनका विवाह गान्धारी से हुआ। उनके दुर्योधन,

दुःशासन आदि बहुत से पुत्र हुए। पांडु की दो रानियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्ती का विवाह होने के पूर्व एक पुत्र हुआ जो बड़ा होकर कर्ण कहलाया। इसे उसकी माता ने लज्जावश बहा दिया था और एक सूत ने उसका पालन-पोषण किया था। पांडु के पांच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव हुए। इन पाँचों पाँडवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों में, जो कौरव कहलाते थे, बाल्यावस्था से ही बड़ी डाह थी।

पाण्डवों ने द्रौपदी से विवाह किया और कौरवों से राज्य का अपना भाग माँगा। कौरवों ने अन्त में उन्हें खाँडव वन दिया जिसे साफ कर पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया और यह थोड़े ही दिनों में एक समृद्ध नगर बन गया। उन्होंने कृष्ण की सहायता से शूरसेन के राजा जरासन्ध को मारकर उसका राज्य जीत लिया। फिर उन्होंने अपनी विजय के उपलक्ष में राजसूय यज्ञ किया। इसमें जरासंध का मित्र शिशुपाल भी आया। बात बढ़ जाने पर कृष्ण ने उसे वहीं मार दिया।

कौरवों को पाण्डवों की यह समृद्धि अच्छी न लगी। उन्होंने अपने मामा शकुनि की सलाह से पाण्डवों को जुए में हराकर उनका राज्य छीन लिया। उन्हें १२ वर्ष वनवास और १ वर्ष अज्ञातवास भी भोगना पड़ा। तेरह वर्ष पश्चात् पाण्डवों ने अपना राज्य मांगा, किन्तु कौरवों ने बिना युद्ध किये उन्हें राज्य देना स्वीकार न किया। इसी कारण महाभारत का भीषण युद्ध हुआ। कुरुक्षेत्र के मैदान में अठारह दिन के घमासान युद्ध के बाद पाण्डवों की जीत हुई। कुरु-राज्य उनको वापिस मिला और वे समस्त आर्यावर्त के सम्राट् हुए।

इस युद्ध में जन-धन की बहुत हानि हुई। यह पारस्परिक ईर्ष्या के कारण हुआ था। यह युद्ध किस काल में हुआ इस विषय में बहुत मतभेद है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार यह युद्ध आज से ५ हजार वर्ष पूर्व हुआ था। ज्योतिष, भूगर्भ आदि कई प्रकार के प्रमाणों से अनेक विद्वानों ने सिद्ध किया है कि भारतीय अनुश्रुति कल्पित नहीं प्रत्युत पूर्णतया सत्य है। परन्तु यह सिद्धान्त अभी सर्वमान्य नहीं है। पाश्चात्य शैली के विद्वान् अभी तक यही मानते हैं कि यह युद्ध ईसा से पूर्व चौदहवीं शताब्दी में हुआ था और इसके बाद भारतीय इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है। रामायण के वर्णन से महाभारत के वर्णन की तुलना करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस बीच में आर्यों का प्रदेश काफी बढ़ गया था। उनका राज्य पूर्व में मगध और अंग तक और दक्षिण में विदर्भ तक फैल गया था।

अब हम महाभारत की साहित्यिक महाकाव्य के रूप में विवेचना करेंगे। महाभारत का वर्तमान रूप किसी काल-विशेष या कवि-विशेष की रचना नहीं है। महाभारत के मूल रूप का नाम 'जय' था। इसमें महाभारत के युद्ध का वर्णन था। इसमें सम्भवतः लगभग बीस हजार श्लोक थे। कहा जाता है कि इसकी रचना महर्षि द्वैपायन व्यास ने की थी। पीछे से समय-समय पर इस मूल महाभारत में अनेक वीरगाथाओं और धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों से पूर्ण उपदेशों का समावेश कर दिया गया। इन परिशिष्टों के फलस्वरूप महाभारत का मूल रूप, जिसमें भारत

युद्ध का वर्णन था, बिल्कुल ढक गया। इसी कारण इसमें पाठकों को कहीं आदिकाल की सरल भाषा का, जैसी रामायण की है, और कहीं साहित्यिक संस्कृत के परिष्कृत रूप का, जो हमें कालिदास के ग्रंथों में मिलता है, दर्शन होता है। इतिहासकारों का मत है कि महाभारत का मूल रूप बहुत प्राचीन है और इसका वर्तमान रूप ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी तथा ईसा की दूसरी शताब्दी के बीच में सम्पादित हुआ। सम्भवतः इस ग्रंथ का निर्माण उन वीर-गाथाओं के आधार पर हुआ था जो भारत के गाँव-गाँव में चारण लोग गाया करते थे।

जो महाभारत आज हमें मिलता है, वह एक प्रकार से हिन्दू-धर्म का विश्वकोष है। उसमें १८ पर्व व एक लाख श्लोक हैं, जहाँ रामायण में केवल ७ कांड और २४०० श्लोक हैं। महाभारत का एक परिशिष्ट है जो 'हरिवंश' कहलाता है। इसमें भी १६०० श्लोक हैं। उसमें वीरगाथा, दर्शन, राजनीति, पौराणिक आख्यानोपाख्यान, राजवंशानुचरित, राजनीति आदि अनेक विषय संगृहीत हैं। ठेठ महाभारत में लगभग २४,००० श्लोक ही माने जाते हैं और आदि महाभारत में तो शायद केवल ८००० ही थे। **श्रीकृष्ण, जिनको हिन्दू लोग ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, महाभारत के मुख्य पात्र हैं।** कुरुक्षेत्र के स्थान पर **भगवान कृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया था वह 'भगवद्गीता' के रूप में महाभारत में समाविष्ट है।** अन्य विख्यात आख्यानों में, जो महाभारत में हैं, नल-दमयन्ती, शकुन्तला और सावित्री के आख्यान हैं।

पुराण : इन ग्रंथों से हमें प्राचीन भारत के इतिहास और भूगोल का बहुत पता चलता है। इनमें वर्णित प्राचीन राजवंशों का विवरण, जिसे 'वंशानुचरित' कहते हैं, हमारे प्राचीन काल के इतिहास की रूपरेखा निश्चित करने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है और यही पुराणों का मुख्य अंग है। इनमें उन सब राजवंशों का वर्णन है जिन्होंने महाभारत के युद्ध से पूर्व और उसके पश्चात् भारत में राज्य किया। पीछे से इनमें अन्य राजवंशों की वंशावलियों का भी समावेश कर दिया गया। इस प्रकार वर्तमान रूप में पुराण भी किसी काल-विशेष की रचना नहीं है। **पुराण इतिहास-निर्माण के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं,** पर उनकी सत्यता पर पहुँचने के लिए हमें अन्य साधनों का प्रयोग भी आवश्यक है। ये ग्रन्थ सम्भवतः राजाओं के यहाँ उत्सवों पर चारणों द्वारा किये जाने वंश-वर्णनों के आधार पर लिखे गये थे, अतः पूर्णतया विश्वसनीय नहीं हैं। इनमें मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत और भविष्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पुराणों में प्रतिपादित विषयों को इस प्रकार कहा गया है—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव, पुराणं पंच लक्षणम्॥

अर्थात् सृष्टि और प्रलय, वंश और मन्वन्तर तथा वंशानुचरित् ये पाँच विषय पुराणों के लक्षण हैं।

[२]

उत्तर वैदिक-काल

सामाजिक व राजनीतिक अवस्था

राजनीतिक जीवन : कालान्तर में ऋग्वेद-काल के छोटे-छोटे राजाओं की जगह सम्राटों ने ले ली। ये विस्तृत प्रदेशों पर राज्य करते थे और जिनमें कई जन शामिल हुआ करते थे। जब कभी कोई राजा कई अन्य शासकों पर विजय पा लेता था तब वह राजसूय अथवा अश्वमेध यज्ञ किया करता था। राजसूय में पुरोहित लोग राजा को तिलक करते थे और राजा बाघम्बर पर चलता था और उसको राजत्व के चिह्न के रूप में धनुष-बाण भेंट किये जाते थे। इसके बाद पांसा फेंका जाता था जिसमें राजा को विजयी घोषित किया जाता था। अश्वमेध राजा अपने एक सशस्त्र दल के साथ एक सुसज्जित घोड़े को देश के विभिन्न भागों में भेजता था। अगर कोई घोड़े को पकड़ ले तो इसका मतलब था कि उसने राजा को चुनौती दी है। अगर घोड़े को कोई न पकड़े और वह वापस लौट आये तो इसका यह मतलब होता था कि उस राजा को सभी अपना स्वामी मानते हैं।

शासन-व्यवस्था : धीरे-धीरे राज्यों में विस्तृत शासन-व्यवस्था स्थापित हुई, विभाग बढ़े और राजा के सलाहकारों की संख्या भी। वैदिक साहित्य में कई बड़े-बड़े अधिकारियों के नाम गिनाये गए हैं। राजा बहुत कुछ अपने मंत्रियों पर निर्भर रहता था।

स्थानीय शासन-व्यवस्था की इकाई तो गाँव ही बने रहे, लेकिन ग्रामणी की जिम्मेदारियाँ बहुत बढ़ गयीं। उसे आमतौर से राजा स्वयं नियुक्त करता था, वह लड़ाई **में ग्रामवासियों का नेतृत्व करता था, उनका मुख्य न्यायकर्त्ता था और शायद राजा भी अपने अधिकारों का उपयोग उसी के द्वारा करता था। राज्य-कर इकट्ठा करने का काम भी उसी पर था। न्याय-व्यवस्था भी अधिक सुस्पष्ट हो गई थी। मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता था, लेकिन अलग-अलग वर्गों के लोगों की हत्या के लिए हर्जाना निश्चित कर दिया गया था।** अगर किसी क्षत्रिय की हत्या हो, तो हत्यारे को एक हजार गायें देनी पड़ती थीं, वैश्य की हत्या पर एक सौ और शूद्र की हत्या पर दस। इसके अलावा प्रत्येक हत्या के सिलसिले में राज्य-शुल्क के रूप में एक साँड देना पड़ता था। **स्त्रियों का दर्जा बहुत-कुछ कम हो गया था।** उन्हें विरासत नहीं मिल सकती थी और न उन्हें सभा की बैठक में भाग लेने का अधिकार था। मनु ने नियम बनाया कि स्त्री को बालिग होने से पूर्व पिता की, विवाह के पश्चात् पति की और बुढ़ापे में पुत्र की आज्ञा माननी चाहिए। पर्दा, सती, बाल-विवाह, स्त्री-हत्या आदि कुरीतियाँ प्रचलित नहीं थीं। उत्तर-वैदिक काल में आर्यों को वेदोक्त विधि से कई रस्में पूरी करनी पड़ती थीं। इससे पुरोहित पद का विकास हुआ।

चार आश्रम : समाज की यह सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। मनुष्य की सामान्य आयु—१०० वर्ष—को २५-२५ वर्ष के चार खण्डों में बाँटा गया था।

पहले २५ वर्ष ब्रह्मचर्य में बिताने पड़ते थे। पाँच वर्ष का होते ही बालक को 'गुरु' के साथ रहना पड़ता था। उस पर कड़ा अनुशासन रख कर उसे कला और विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। दूसरा खण्ड यानी २५ से ५० वर्ष की आयु तक **'गृहस्थ-आश्रम'** कहलाता था। इसमें विवाह किया जाता था और परिवार का संचालन करना पड़ता था। पुत्र की उत्पत्ति का बड़ा महत्व था क्योंकि पुत्र के बिना कोई भी आर्य-परिवार पूर्ण नहीं समझा जाता था। पुत्रहीन दम्पति अपने किसी सगे-सम्बन्धी के पुत्र को गोद लेते थे। तीसरा खण्ड **'वानप्रस्थ'** आश्रम कहलाता था। इसमें व्यक्ति को अपने घर से दूर, किसी दूसरे के आसरे रह कर, अध्यात्म और दर्शन की शिक्षा लेनी पड़ती थी। संसार का अधिकाधिक कल्याण करने का प्रयास करते हुए उसे चौथे आश्रम—**संन्यास**—के लिए तैयारी करनी पड़ती थी। संन्यास के समय उसे दूर कहीं जंगल में अथवा किसी एकान्त स्थान पर कन्द-मूल या अपने शिष्यों की भेंट पर जीवन निर्वाह करना होता था। ईश्वर का चिन्तन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति ही उसका उद्देश्य था। ये चार आश्रम जीवन-यापन के लिए आदर्श माने जाते थे, लेकिन बहुत-से लोग इन पर पूरी तरह अमल नहीं करते थे।

धर्म में भी परिर्वन हुआ था। पुराने देवता—वरुण, इन्द्र, सूर्य आदि—की उपासना अब उतने उत्साह के साथ नहीं होती थी। शिव, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि नये देवताओं की उपासना होने लगी थी। उनमें सबसे महान् रुद्र थे जिन्हें शिव भी कहा जाने लगा था। **धर्म में कर्मकाण्ड और अन्ध-विश्वास का बोलबाला हो गया, इसलिए पुरोहित वर्ग का महत्व बढ़ गया।** अब वे प्रकृति की महिमा का वर्णन करने वाले मन्त्रों के बजाय यज्ञादि पर अधिक जोर देते थे। यज्ञों के साथ कुछ ऐसी क्रियाएँ जोड़ दी गई थीं जिनके बिना वे पूरे नहीं समझे जाते थे। कुछ यज्ञों में १६-१७ ब्राह्मणों की आवश्यकता होती थी। बलि-यज्ञ की अगर कोई क्रिया छूट जाय तो कहा जाता था कि देवता कुपित हो जायेंगे। जब वैदिक धर्म का सच्चा रूप विलुप्त हो गया और यज्ञों का विकृत रूप स्वार्थी पुजारियों के कारण फैला तब ऐसी दशा हुई। अन्न, चावल, दूध, आदि अब देवताओं पर चढ़ाने की चीजें न रह गई थीं। पशु और सोम का चढ़ाया जाना उनसे कहीं अच्छा समझा जाता था। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि नर-बलि भी कभी-कभी दी जाती थी। पर यह अत्यन्त संदिग्ध है।

कर्म और मोक्ष में विश्वास : पुनर्जन्म में विश्वास और भी दृढ़ हो गया था। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा गया है कि जो इस जीवन में ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है वह मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म अर्थात् विश्वात्मा में ही विलीन हो जाता है और उसे फिर कभी जन्म नहीं लेना पड़ता। लेकिन जो व्यक्ति अच्छे कर्म करता है उसे चाहे ब्रह्मज्ञान न भी हो लेकिन वह मृत्यु के बाद कुछ समय तक 'चन्द्रलोक' में निवास करने के बाद फिर मनुष्य रूप में जन्म लेता है, जब कि बुरे कर्म वालों को कुत्ते, शूकर, पक्षी, सर्प इत्यादि का जन्म मिलता है। इस तरह मृत्यु के बाद मनुष्य के भविष्य का निश्चय 'कर्म' के अनुसार ही होता है। उत्तर-वैदिक काल में यह

विचार भी काफी प्रचलित हो गया था कि भौतिक संसार 'माया' है। इस तरह आधुनिक हिन्दू-धर्म के **मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना उत्तर-वैदिक काल में हुई थी। ये सिद्धान्त हैं—आवागमन, मोक्ष, कर्म और माया।**

मन्त्र और मृतात्माओं में विश्वास : आर्यों में अन्धविश्वास भी बढ़ता जा रहा था। वे **भूत-प्रेत और देवी-देवताओं में विश्वास करने लगे थे** और उनका विश्वास था कि इन पर मन्त्र-तन्त्र और जादू-टोने से नियन्त्रण रखा जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी समय वैद्य अथर्ववेद के मन्त्रों आदि से रोगों की चिकित्सा किया करते थे।

दार्शनिक उन्नति : धर्म में दर्शन-तत्व की अभिवृद्धि हुई। उपनिषदों का सम्बन्ध नीति-शास्त्र और दर्शन से है। मननशील ऋषियों ने जीव के जन्म के उद्देश्य और आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का गहन अध्ययन और चिन्तन शुरू कर दिया था। **आर्य एक मात्र सत्य—तत्वमसि—सिद्धान्त पर पहुँच गये थे, जिसका अर्थ है कि आत्मा परमात्मा से अभिन्न है।** लेकिन सत्य का यह साक्षात्कार कुछ ही लोगों तक सीमित था। जन-साधारण प्रकृति-देवताओं की पूजा करते थे और पुरोहितों की सहायता से यज्ञ किया करते थे।

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था हमारे पूर्वज आर्यों की ही विशेषता नहीं थी; ईरानियों, यूनानियों और एंग्लो-सैक्सन जातियों में भी ऐसी ही कुछ व्यवस्था थी। लेकिन हमारे यहाँ इसका परिपालन बड़ी कठोरता से कराया जाने लगा और इसमें शनैः शनैः अस्पृश्यता की व्यवस्था भी शामिल होती गई। इन्होंने फैलते-फैलते अब तीन हजार जातियों का रूप धारण कर लिया है। **चार वैदिक वर्णों का रूप भी जातियों में परिवर्तित हो गया** और ये सब अपनी रस्मों आदि के मानने के खास नियमों के कारण दूसरी जातियों से अलग हैं। "जाति का अर्थ यह है कि एक सामाजिक वर्ग खान-पान और विवाह सम्बन्ध अपने तक ही सीमित रखता है।" हर जाति का अपना जाति-धर्म है जिस पर उसके हर सदस्य को चलना होता है। इसीलिए इस व्यवस्था को 'वर्ण-धर्म' कहा जाता है।

वर्ण और श्रम-विभाजन : सम्भवतः वर्ण-व्यवस्था का आधार श्रम-विभाजन है। ऋग्वेद-काल में 'जन' के सभी लोगों को लड़ना पड़ता था, उपासना एक साधारण कार्य था जिसमें पुरोहितों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। लेकिन ज्यों-ज्यों लड़ाइयाँ कम होती गईं, सामाजिक और राजनैतिक स्थिरता बढ़ती गई, सभी के लिए लड़ाइयों में भाग लेना जरूरी न रहा। केवल बलशाली और समर्थ पुरुषों को शस्त्र-संचालन की शिक्षा देकर युद्ध के लिए तैयार रखा जाता था। इस तरह **क्षत्रिय जाति का विकास** हुआ। इसी तरह उत्तर-वैदिक काल में जब धर्म में कर्म-कांड का बोलबाला हुआ तब पुरोहित-वर्ग यानी **ब्राह्मण जाति का विकास** हुआ। व्यापार,

उद्योग या खेती में लगे हुए लोगों का भी धीरे-धीरे एक विशेष वर्ग वैश्य बन गया। दास और निम्न काम करने वालों का एक भिन्न ही वर्ग बन गया जिन्हें शूद्र कहा जाने लगा। उत्तर-वैदिक काल में भी वर्ण-व्यवस्था इतनी कड़ी नहीं हो पाई थी। उस समय तक कर्म-भेद से वर्ण-भेद भी सम्भव था। परशुराम जन्म से ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय थे और विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण माने गये थे। वेदों के संकलन-कर्त्ता महर्षि वेदव्यास एक मछुवे की लड़की के पुत्र थे। अनार्य लोग भी विशेष कर्म सम्पन्न करने के बाद आर्यों में शामिल हो सकते थे।

लेकिन जातिगत प्रतिबन्ध कुछ हद तक शुरू हो गये थे। गौतम सूत्र में कहा गया है कि ब्राह्मण को साधारणतः शूद्र का अन्न स्वीकृत नहीं करना चाहिए—विशेष परिस्थितियों की बात दूसरी है। एक और स्थान पर कहा गया है—"किसी को भी निम्न वर्ण के लोगों को शिक्षा नहीं देनी चाहिए, न उनके लिये यज्ञ कराना चाहिए और न उनसे समागमन करना चाहिये।" इस तरह जहाँ तक शूद्र का सम्बन्ध था, नियम काफ़ी कड़े हो गये थे, लेकिन तीनों उच्च वर्णों के सम्बन्ध में अभी यह बात नहीं थी। यह निश्चित नहीं कि उत्तर-वैदिक काल में ब्राह्मण को क्षत्रिय से ऊँचा माना जाता था या नहीं, यद्यपि ब्राह्मण अपनी महत्ता की स्थापना करते थे।

धीरे-धीरे **समय के साथ जातियों का विस्तार होता गया।** बौद्ध और जैनियों के—जो पूर्ण निरामिष-भोजी थे—अपनी जातियों में ही अलग वर्ग बन गये। जब इंडो-बैक्ट्रियन और इंडो-पार्थियन भारत में बस गये और हिन्दुओं में घुल-मिल गये तो रहन-सहन की विशेषताओं के कारण उनकी अलग ही उपजातियाँ बन गईं। इसी तरह हूण जब घुल-मिल गए तो उनकी भी अलग-अलग उपजातियाँ बनीं। एक-दूसरी जाति के बीच विवाह होने से नई-नई जातियों का जन्म हुआ। वर्ण-व्यवस्था के कारण बाहर से आने वालों को रहन-सहन का एक निश्चित हिन्दू-ढंग अपनाना पड़ा, लेकिन अपने क्षेत्र में उन्हें अपने ही खास ढंग से रहने की आजादी थी। अल्पसंख्यक-समस्या को सुलझाने के लिए यह बड़ा स्तुत्य प्रयास था।

जाति-व्यवस्था की अच्छाइयां : हिन्दू-जाति हजारों वर्ष से जीवित है और अनेक विदेशी जातियाँ इसमें घुल-मिल गई हैं, जिससे इसकी उपयोगिता सिद्ध है। **जाति-व्यवस्था का मुख्य आधार व्यवसाय होने के कारण हरेक व्यक्ति बचपन से ही अपने पिता का व्यवसाय सहज ही सीख लेता था जिससे शिल्प आदि की बहुत उन्नति हुई।** इस व्यवस्था के कारण प्रत्येक जाति के रोगी व जरूरतमन्द लोगों को सहायता मिलती थी। लोगों को आत्मत्याग की व इस बात की कि समाज व्यक्ति से ऊँचा है, शिक्षा मिलती थी। उन पर जाति का सामाजिक व आर्थिक अनुशासन रहता था और अन्त में इस जाति-व्यवस्था के कारण रक्त की विशुद्धता बनी रह सकी है क्योंकि अन्तर्जातीय विवाह वर्जित हैं।

जाति-प्रथा की त्रुटियाँ : जाति-व्यवस्था का वर्तमान रूप राष्ट्रीयता के गुण से रहित है। इससे **लाभ की अपेक्षा हानियाँ ही अधिक हुई हैं।** भारत के इतिहास

में जातियों के परस्पर विद्वेष की अधिकता मिलती है। हर्षोत्तर काल में जब कभी भारत पर आक्रमण हुए, प्रायः क्षत्रियों ने ही उनके विरोध में भाग लिया। **जाति का आधार कर्म पर न होकर जन्म पर ही हुआ**, जिसके कारण नीच वंश में उत्पन्न होने के कारण बहुत-से लोगों की प्रतिभा अविकसित ही बनी रही। यही लोग उच्च वंश में जन्म लेकर देश की महान् सेवा कर सकते थे तथा अपनी अलौकिक बुद्धि से संसार को चकित कर सकते थे। इसके विपरीत उच्च वंशोत्पन्न अनेक मूर्खों को बड़ी जिम्मेदारी के काम दिये गए, जिससे उनकी अज्ञानता के कारण देश और समाज को हानियाँ उठानी पड़ीं। इसी व्यवस्था के कारण **हिन्दुओं व विदेशियों के बीच की खाई चौड़ी होती गई** और उनमें परस्पर मेल और एकता पैदा न हो सकी, जिससे देश को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। जाति-व्यवस्था से हिन्दुओं का दृष्टिकोण भी छोटा हो गया और उनके हृदय से देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना लुप्त हो गई। **छूआछूत के कारण हिन्दू समाज के एक बड़े अंग को जन्म-जात मानव-अधिकारों से भी वंचित रखा गया।** नये विधान में इस बुराई को दूर कर दिया गया है। यह व्यवस्था व्यवसाय चुनने, पति-पत्नि वरण करने तथा राजनीतिक अधिकारों के क्षेत्र में सबको बराबर अवसर नहीं देती है। परन्तु अब यह व्यवस्था पुरानी पड़ गई है। रेल, बस, नल आदि तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का संकेत स्पष्ट है कि अब यह प्रथा बहुत दिन तक प्रचलित नहीं रह सकेगी।

Questions

1. Classify and describe clearly either the Vedic literature.

   Or

   The Post-vedic literature including the Epics.

   वैदिक काल अथवा उत्तर-वैदिक काल के साहित्य का वर्गीकरण करो तथा उसका स्पष्ट वर्णन करो।
2. Write a short critical note on the Epics and Puranas as sources of ancient Indian History.

   महाकाव्य और पुराणों की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए बतलाओ कि वे भारत के प्राचीन इतिहास के स्रोत हैं।
3. Give a brief and clear description of the social life and political conditions as described in the Ramayana.

   रामायण में वर्णित सामाजिक जीवन व राजनीतिक अवस्था का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन करो।

अध्याय ५

नवीन धार्मिक आन्दोलन

जैनमत और बौद्धमत

खण्ड १ : जैनमत

भूमिका :

ज्यों-ज्यों वैदिक सभ्यता का ह्रास होने लगा धार्मिक रीति-रिवाज इतने बढ़ गये कि जनसाधारण को उनसे असंतोष होने लगा। ब्राह्मण अपने-आपको लोगों की आत्मा और उनके धर्म का एकमात्र रक्षक या अधिकारी समझने लगे थे। अतएव इस अभिमान और सत्ता को देखकर लोग उनसे चिढ़ने लगे। अपने एकाधिकार के कारण पुरोहित लोगों का धन लूटने लगे और उनके अन्दर अंधविश्वास फैलाने लगे। औसत दर्जे के लोग संस्कृत-मन्त्रों को नहीं समझते थे और वे यज्ञों में सोम दान देने तथा जीवों की बलि देने की उपयोगिता में संदेह करने लगे थे। परिणामस्वरूप ब्राह्मण धर्म का काफी विरोध होने लगा और ईसा से पांच-छ: शताब्दी पहले कई धर्म-सुधारक प्रकट हो गये, जिन्होंने वीरता और साहस से लोगों को ब्राह्मण धर्म की बुराइयाँ दिखलाते हुए नए धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने **अपने मत का प्रचार संस्कृत भाषा में न करके सरलता से समझ में आने वाली स्थानीय भाषा में किया**। इन सुधारकों में सबसे प्रसिद्ध महावीर और गौतम बुद्ध हुए। इन सुधारकों की शिक्षाओं तथा सिद्धान्तों से आकर्षित होकर बहुत-से लोग इनके अनुयायी बन गए और इस प्रकार जो दो नये मत बने वे क्रमश: जैनमत और बुद्धमत कहलाये। **जैनमत के प्रवर्तक जिन महावीर तथा बौद्धमत के प्रवर्तक बुद्ध, अर्थात** जिनको बोध हो गया था, थे।

पहले २३ तीर्थंकर और पार्श्वनाथ :

जैनी लोग **महावीरजी** को चौबीसवाँ तीर्थंकर अर्थात् अन्तिम अवतार मानते हैं। उनका कहना है कि उनके प्रथम तीर्थंकर ऋषभ थे, जो भारत के प्रथम वैदिक चक्रवर्ती सम्राट् भरत के पिता थे। बाईस तीर्थंकरों का वृत्तांत कुछ भी नहीं मिलता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे जो लगभग ईसा से आठ शताब्दी पूर्व हुए थे और जैकोबी (Jacobi) के मतानुसार जैनमत के प्रथम संचालक थे। वह बनारस के एक क्षत्री राजा अश्वसेन के पुत्र थे और तीस वर्ष तक गृहस्थ-जीवन व्यतीत करके

संन्यासी हो गए थे। चौरासी दिन तक लगातार ध्यान करने के पश्चात् उनमें सर्वोच्च ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और अपने जीवन के शेष सत्तर वर्ष उन्होंने अपने ज्ञान को लोगों में दूर-दूर तक फैलाने में बिताये। उन्होंने अपने अनुयायियों से चार प्रतिज्ञायें कराईं – (१) हिंसा नहीं करना, (२) झूठ नहीं बोलना, (३) चोरी नहीं करना और (४) धनवान नहीं होना। परन्तु उनको विवाह करने और वस्त्र धारण करने की अनुमति थी।

महावीरजी का जीवन :

अधिकांश लोग महावीरजी को ही जैनमत का प्रवर्तक मानते हैं, क्योंकि इन्होंने पार्श्वनाथ के अनुयायियों को नई प्रेरणा दी और उनका पथ-प्रदर्शन किया। इनका वास्तविक नाम वर्धमान था परन्तु लोग उन्हें ज्ञाति क्षत्रिय राजा का पुत्र होने के कारण ज्ञात पुत्र जिन और महावीर के नाम से भी पुकारते हैं। वह क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। इनकी माता नाम त्रिशला था। उनका जन्म कुण्ड ग्राम में हुआ था जो बिहार के जिले मुजफ्फरपुर में है। बचपन में ही उनका विवाह राजकुमारी यशोदा से हो गया था, किन्तु तीस वर्ष की अवस्था में वह घरबार छोड़ कर सन्यासी हो गये थे। बारह वर्ष तक वह फकीरों की भाँति वनों में घूमकर हर प्रकार की तपस्या करते रहे तथा अपनी आत्मा को अत्यन्त कष्ट देकर इच्छाओं का दमन किया। महात्मा महावीर ने लोगों के बहुत-कुछ सताने तथा व्यंग्यों की परवाह नहीं की, और घृणा तथा प्रतिहिंसा आदि के भावों को मन में नहीं आने दिया। तेरहवें वर्ष वैसाख शुक्ला दसवीं को उन्हें कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हुई और इस प्रकार वे 'जिन' (विजयी) अथवा केवलिन कहलाये, अर्थात् वे सात्विक ज्ञान, उच्चतम बोध और पूर्ण आत्मज्ञान को प्राप्त हो गये। इस प्रकार का महात्मा त्रिकालदर्शी हो जाता है अर्थात् उसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान की समस्त बातों का पता होता है। इस प्रकार अपनी आयु के ४२वें वर्ष में जिन महावीर ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि वे अपना समस्त जीवन मानव को जागृत करने तथा उन्नत बनाने में व्यतीत कर देंगे और उन्होंने अपनी नवीन शिक्षा का प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

जैनमत : महावीर स्वामी ने अहिंसा पर विशेष बल दिया, अर्थात् किसी भी जीवधारी को कष्ट न दिया जाय। हिन्दू समाज में जो पशुबलि का प्रचार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता था उसकी ही प्रतिक्रिया-स्वरूप अहिंसा का प्रचार था। **महावीर की शिक्षाओं तथा उनके सिद्धान्तों को ही जैन धर्म कहा जाने लगा।** समस्त जीवों को छः श्रेणियों में विभक्त किया गया। जैनियों का यह महान् कर्तव्य हो गया कि वे न केवल किसी जीव को सताएँ अपितु किसी भी मूल्य पर उसकी रक्षा करें। अहिंसा और दया के अतिरिक्त जैनधर्म ने कड़े अनुशासन, तपस्या व संयम पर विशेष बल दिया। मनुष्य केवल कड़ा अनुशासन-पूर्ण तथा निष्काम जीवन व्यतीत करके ही निर्वाण-पद प्राप्त कर सकता है। जैनियों के तीन रत्न सत्-विश्वास, सत्-ज्ञान तथा सत्-कर्म हैं। इनके द्वारा ही जीव जीवन-मरण के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। जैनियों के अन्य मुख्य सिद्धान्त पाँच प्रतिज्ञायें हैं, अर्थात् अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, संयम और

केवल अत्यावश्यक वस्तुओं को अपने पास रखना। सुख तथा दुःख दोनों अवस्थाओं में समान भाव रखना भी जैनियों का एक महत्वपूर्ण उपदेश है। ये उपदेश प्राचीन वैदिक शिक्षाओं की पुनरावृत्ति-मात्र हैं। जैनियों का विश्वास सर्वश्रेष्ठ देवता अर्थात् परमात्मा में नहीं है। जैनी परमात्मा की सत्ता को नहीं मानते किन्तु आत्मा ही पूर्ण आत्म-ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा हो जाती है। ब्राह्मणों के यज्ञ, बलि आदि कर्मकाण्डों को व्यर्थ समझकर महावीर ने इनको करना बन्द कर दिया था। इसके विपरीत उन्होंने लोगों को चरित्रवान बनने, तपस्या करने, उपवास द्वारा आत्मा को कष्ट देने, नंगा रहने और पवित्र रहने का उपदेश दिया तथा उनको विवाह करने से निरुत्साहित किया।

अहिंसा : को जैनियों ने सब गुणों से प्रधान माना है। महावीरजी के मतानुसार जड़ और चेतन सभी में प्राण होते हैं, अतएव किसी को नहीं सताना चाहिए।

सर्वोच्च-ज्ञान प्राप्त करना ही जैनधर्म का लक्ष्य है, क्योंकि इसके बिना वह पापों से नहीं बच सकता, जिसके परिणामस्वरूप पुनः जन्म लेना पड़ता है।

जैनियों की शिक्षायें १४ पुस्तकों में संग्रह की गई थीं, जिन्हें **पर्व** कहते थे, परन्तु ये पुस्तकें ईसा से चार शताब्दी पूर्व नष्ट हो गईं। तब नई पुस्तकों का निर्माण हुआ जो **द्वादशांग** कहलाईं। इन पुस्तकों में जैन-सिद्धान्तों व नियमों का पूरा-पूरा उल्लेख है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर :

ईसा से ३०० वर्ष पूर्व बंगाल में बारह वर्ष तक भीषण अकाल पड़ा। भद्रबाहु के नेतृत्व में अनेक जैन साधु दक्षिण भारत में चले गये। जब वे लोग लौटकर उत्तर भारत में आये तो वहाँ साधुओं ने उनको अपने में मिलाना अस्वीकार कर दिया। इस भाँति जैनी दो भागों में बँट गये—(१) दिगम्बर (नंगे), (२) श्वेताम्बर (सफेद वस्त्र धारण करने वाले)। दिगम्बर कट्टर जैनी हैं, नंगे रहते हैं और महावीरजी के उपदेशों को मानते तथा द्वादशाँग के नियमों का पालन करते हैं। श्वेताम्बर, जो भद्रबाहु के अनुयायी बने, उन्होंने पार्श्वनाथ के उपदेशों का अनुकरण किया। अब भी भारत के अनेक भागों में जैन पाये जाते हैं। ये लोग अधिकतम धनी हैं। भारत के बड़े-बड़े नगरों में जैनियों के मन्दिर, धर्मशालायें, पाठशालायें, अस्पताल तथा अन्य दान-पुण्य करने वाली संस्थायें बनी हुई हैं।

खण्ड २ : बौद्धमत

गौतम बुद्ध का जीवन : इस मत के प्रवर्तक गौतम—सिद्धार्थ थे, जिनको बुद्ध, शाक्यमुनि, तथागत आदि नामों से पुकारा जाता है। वह कपिलवस्तु नामक गणतन्त्र राज्य के राष्ट्रपति शुद्धोधन के पुत्र थे।

राजा शुद्धोधन की रानी महामाया जब अपने पिता के घर जा रही थीं तो वह मार्ग में लुम्बिनी नामक बन में विश्राम करने लगीं। वहीं बुद्ध का जन्म हुआ।

इसी स्थान पर सम्राट् अशोक ने २४९ ई० पू० में एक स्मारक-स्तम्भ बनवाया था। महामाया बच्चे को जिसका नाम सिद्धार्थ था, जन्म देने के एक सप्ताह पश्चात् परलोकवासिनी हो गई। सिद्धार्थ का पालन-पोषण महामाया की बहन प्रजावती गौतमी ने किया।

सिद्धार्थ का हृदय जन्म से ही बड़ा कोमल था और किसी भी जीव को कष्ट या पीड़ा में देखकर करुणा और दया से भर जाता था। एक बूढ़े को जिसकी कमर झुकी हुई थी, देखकर वे सोचने लगे—बुढ़ापा क्या है, यह क्यों आता है और मनुष्य को इतना दुःख देता है ? इसके पश्चात् उन्होंने एक मृतक को देखा, जिसके प्रिय सम्बन्धी उसके लिए विलाप कर रहे थे। ऐसे करुण दृश्य ने बुद्ध के हृदय को पूर्णतया हिला दिया। उनका मस्तिष्क विचार सागर में डूबने-उतराने लगा और और उनको यह जानने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई कि संसार में शोक और दुःख क्यों है और उनके होने का क्या कारण है ? जब सिद्धार्थ के पिता ने अपने पुत्र को अत्यन्त विचार-निमग्न तथा साँसारिक सुखों व भोगों से विरक्त देखा तो उसका विवाह १८ वर्ष की अल्प आयु में ही यशोधरा नामक राजकुमारी से कर दिया। उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया।

किन्तु जब बुद्ध प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुए तो मानव-कष्टों, रोगियों, बूढ़ों और दुर्बलों को देखकर उनके हृदय में दया और करुणा के भाव उमड़ पड़े। वे ऐसे साधन सोचने लगे जिनके द्वारा कष्टों, दुखों व मृत्यु से छुटकारा मिल सके। वे साँसारिक जीवन से अधिकाधिक ऊबने लगे और उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि वे संसार से वैराग्य लेकर कहीं ऐसे उपाय की खोज में बाहर निकल पड़ेंगे जिसके द्वारा संसार के शोक व कष्टों से छुटकारा पा सकें। २८ वर्ष की आयु में एक रात्रि को उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्र का अन्तिम दर्शन किया जबकि वे दोनों सोये हुए थे और राजमहल को छोड़कर निःश्रेयस की खोज में बाहर निकल पड़े। **उनके इस गृह त्याग को महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है।**

सबसे प्रथम सिद्धार्थ ने अपना सर मुड़वा लिया, सन्यासियों जैसे गेरुए वस्त्र पहने और गुरु की खोज में घूमने लगे। वे पहले वैशाली गये और फिर वहाँ से राजगृह। इन दोनों स्थानों पर इन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। अपने गुरु से सन्तुष्ट न होने पर सिद्धार्थ अपने पाँच सहपाठियों के साथ उरूबेला के वनों में चले गये, जहाँ निरंजनी नदी के तट पर उन्होंने छः वर्ष तक ऐसा उग्र तप व उपवास किया कि उनका शरीर कंकाल के समान हो गया और वे मरणासन्न हो गये। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचे कि केवल त्याग और आत्म-पीड़न से ही सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा उनके छः वर्ष व्यर्थ की तपस्या में व्यतीत हो गये। इसी स्थान पर एक कुआरी कन्या सुजाता ने इन्हें खीर दी, जिसे उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण किया और उसे खाकर वे एक पीपल के नीचे बैठ गये और प्रतिज्ञा की, "मैं उस समय तक इस स्थान को नहीं छोड़ूँगा जब तक मुझे मन

की वह शान्ति प्राप्त न हो जायगी जिसकी खोज मैं इतने वर्षों से कर रहा हूँ।" गौतम को तपस्या से डरा हुआ समझ कर उसके सहपाठी घृणा से उसका परित्याग करके बनारस चले गये। इसके पश्चात् गौतम अश्वत्थवृक्ष (पीपल) के नीचे जीवन-पहेली पर विचार कर रहे थे कि मरा नामक राक्षसी उन्हें सताने लगी, अर्थात् उनकी वासनाएँ प्रबल हो गईं। गौतम ने उन्हें शान्त करके फिर विचार किया तो उन्हें ऐसा भान हुआ कि उनको बोध अर्थात् वास्तविक ज्ञान का साक्षात्कार हो गया **तभी से वह वृक्ष बोधि-वृक्ष कहलाया और गौतम 'बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए।**

बुद्ध एक शिक्षक के रूप में : बुद्ध ने अब लोगों में अपने ज्ञान का प्रचार करना चाहा। गया से चलकर वह बनारस पहुँचे जहाँ प्रसिद्ध मृगवाटिका में उन्होंने अपना सर्व प्रथम उपदेश अपने पाँच शिष्यों को दिया जो उनकी तपस्या और उपवासों में उनके साथी रह चुके थे और उनको यह समझ कर कि वह पीड़ाओं से घबराकर अपना सत्य मार्ग छोड़ बैठे हैं, तुच्छ दृष्टि से देखने लगे थे। किन्तु अब उनका उपदेश सुनकर वे सब उनके अनुयायी बन गये और 'पाँच बड़े' कहलाये। बुद्ध का यह प्रथम भाषण **'धर्म-चक्र-प्रवर्तन'** कहलाया। उन्होंने स्थान-स्थान पर घूम कर लोगों को उन्हीं की भाषा में धर्मोपदेश दिए और घरेलू दृष्टान्तों से उनको समझाया कि त्याग और पूजा-पाठ आदि सब व्यर्थ हैं। बिना सत्कर्म किये मोक्ष नहीं मिल सकता। राजगृह में अनेक वार्तालाप हुए। कपिलवस्तु में उनके पिता, पुत्र और अन्य सम्बन्धी बौद्ध बन गए और बहुत से लोग कौशल राज्य से आकर उनके धर्म के मानने वाले बन गये। बुद्ध की इस बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर उनके चचेरे भाई देवदत्त को बड़ी ईर्ष्या हुई। दो बार उसने बुद्ध के प्राण लेने चाहे परन्तु दोनों बार किसी चमत्कार द्वारा उनकी रक्षा हो गई। बौद्ध लोगों का कहना है कि बुद्ध के जीवन के अन्तिम बीस वर्षों में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ हुईं। बौद्ध धर्म शीघ्र ही लोक प्रिय हो गया। इसके नियम साधारण थे और रहन-सहन तो जैनियों तथा आजीवकों के बताए हुए रहन-सहन से भी सादा था। ४५ वर्ष तक धर्मोपदेश देकर तथा असंख्य लोगों को अपना अनुयायी बनाकर ८० वर्ष की आयु में वह परलोक सिधारे। उनके अन्तिम शब्द थे, "सब पदार्थों का विनाश अवश्यंभावी है किन्तु सत्य अमर है।" उनके अस्थि-अवशेष उनके अनुयायियों ने आठ भागों में बाँट लिए और उन अवक्षेषों पर भारत के भिन्न-भिन्न भागों में स्तूप बनाए।

बुद्ध की शिक्षाएँ : (i) बुद्ध की शिक्षाएँ सादा और व्यवहारिक थीं। उन्होंने अपनी वाणी को वेदवाणी नहीं कहा और न कोई नवीन सिद्धान्त ही उनके सम्मुख रखे। उन्होंने अपने अनुयायियों से केवल यही कहा कि सत्य को पाने के लिए उनको भी उसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए जिस पर वह स्वयं चले थे। उनके सीधे-सादे उपदेश, जिन्हें घरेलू दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया था, उनकी

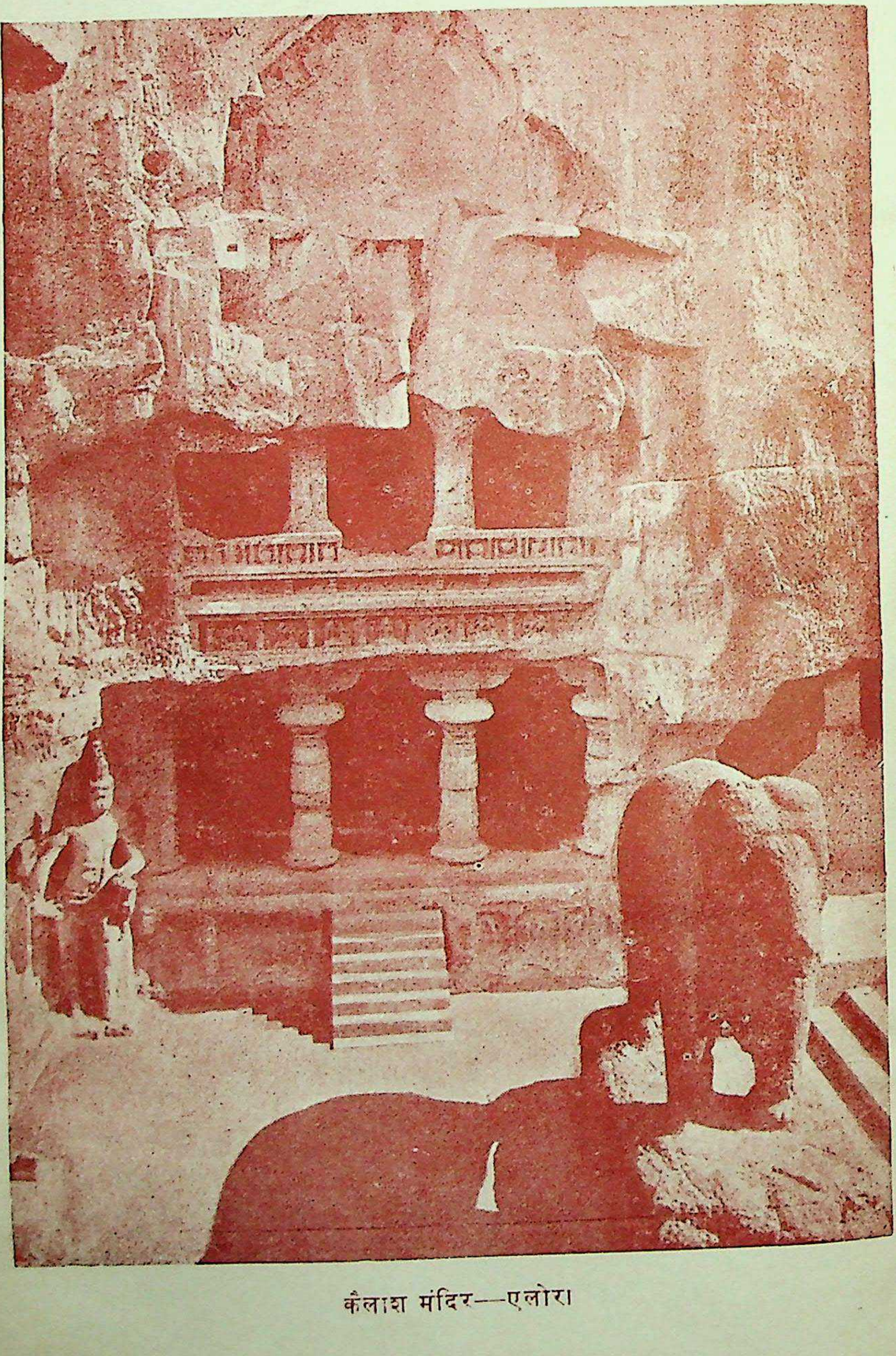

कैलाश मंदिर—एलोरा।

दैनिक बोल-चाल की भाषा में थे। वह इस बात की निन्दा करते थे कि परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए उसकी प्रार्थना की जाय।

(ii) **'चार आर्य सत्य'** : दुःख तथा शोक मनुष्य को घेरे रहते हैं, जिनसे बचने के लिए मनुष्य परमात्मा या धर्म का सहारा लेता है। **'चार आर्य सत्यों' के द्वारा ही स्वयं बुद्ध को इनसे त्राण मिला था।** प्रथम "यह सत्य है कि संसार में रोग और शोक हैं," द्वितीय "यह सत्य है कि इन रोग व शोकों का कारण भी है"···कारण तृष्णा है। जब तक मनुष्य इसका दास है तब तक वह दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता। तृतीय "यह भी सत्य है कि दुःख से छुटकारा मिल सकता है," अर्थात् इच्छाओं के दमन के द्वारा दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। अन्तिम है "इच्छाओं का दमन करने का उपाय"—इसके लिए नियमित जीवन की आवश्यकता है, जिसे 'मध्य मार्ग' अथवा 'आदर्श अष्ट मार्ग' कहते हैं।

(iii) **'आर्य अष्टाँग मार्ग'** : वह मार्ग जिस पर चलकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त करता है। उसके आठ अंग हैं : १. **'सत्विचार'**—हरएक को समझ लेना चाहिए कि जीवन में अनेक पीड़ाएँ हैं जो इच्छाओं को वश में करने से मिट सकती है। २. **"सद्भाव'**—सबको प्रण कर लेना चाहिए कि भौतिक सुखों में लिप्त नहीं होंगे और किसी से द्वेष नहीं रखेंगे। ३. **'सद्वाणी'**—प्रत्येक व्यक्ति को झूठ, गाली, बुराई, कटुवचन तथा गप्पों से दूर रहना चाहिये। **'सत्कार्य'**—प्रत्येक व्यक्ति को सावधान रहना चाहिए कि वह अपने किसी भी कार्य द्वारा अन्य व्यक्ति को मानसिक या शारीरिक पीड़ा न पहुँचाए। ५ **'सत् जीवन'**—किसी भी व्यक्ति को अपनी जीविका के लिए कसाई का, दास विक्रय का अथवा विष-विक्रय का कार्य नही करना चाहिए। ६. **'सत् श्रम'**—प्रत्येक व्यक्ति को बुरे विचारों और बुरे कार्यों का दमन करना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसके मन में सदा अच्छे विचार उत्पन्न हों और वह सदा नेक कार्य करे। ७. **सत् सावधानी'**—प्रत्येक व्यक्ति को सदा सावधान रहना चाहिए क्योंकि मन उसको बुरे मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करता रहता है। स्वाध्याय और आत्मचिन्तन द्वारा अपने मन को वश में कर लेना चाहिए। ८. **'सत ध्यान'**—इतना होने पर भी मोक्ष पाने के लिए ध्यान की आवश्यकता रह जाती है। ध्यान सब गुणों में प्रधान है।

(iv) **निर्वाण** : सत्य मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति का मन निर्मल हो जाता है। उसके हृदय में वासना, स्वार्थ, ईर्ष्या और द्वेष नहीं रहते। प्रेम और आनन्द से परिपूर्ण वह जीवन-मरण से छुटकारा पा जाता है। यही निर्वाण है और बौद्धों का चरम लक्ष्य है।

(v) **अहिंसा** : बुद्ध ने कहा कि किसी भी जीव को मारना या सताना नहीं चाहिए, अतएव उन्होंने बलि और माँस भक्षण की निन्दा की। उनके दस आदेशों में से एक था, "हिंसा से बचो।" प्रत्येक व्यक्ति को जीवों से प्रेम करना चाहिए। महावीरजी की भाँति यह जड़ पदार्थ की अहिंसा के मत में न थे। एक

बौद्ध के लिए मनुष्य ही नहीं जीवमात्र से प्रेम करना अत्यन्त आवश्यक था। कैसी भी पीड़ा पहुँचाने का बुद्ध विरोध करते थे क्योंकि यह प्रेम के सिद्धान्त के विरुद्ध है—उस प्रेम के विरुद्ध जो दिव्य है तथा अपनी ज्योति और प्रकाश हमको प्रदान करता है।

(vi) **अनत्त** : बुद्ध ने अपने अनुयायियों से पूर्ण आत्म-त्याग के लिए अभ्यास करने का आदेश दिया। 'अनत्त' पाँच नाशवान पदार्थों से बना है जिनके पीछे लोग मृगतृष्णा की भाँति दौड़ रहे हैं, जैसे (१) स्वरूप, (२) आत्म-बोध, (३) अनुभूति, (४) स्वभाव और (५) बुद्धि। बुद्ध ने उपदेश दिया, "मेरे शिष्यो! जो वस्तु तुम्हारी नहीं है उससे दूर रहो। आकृति, भाव आदि तुम्हारे नहीं हैं।"

(vii) **धर्म**: बुद्ध ईश्वर की सत्ता पर चर्चा करना निरर्थक समझते थे। वह यह उपदेश देते थे कि बिना सदाचार के प्रार्थना, उपासना आदि सब ढकोसला मात्र है और मनुष्य के स्वार्थ का चिन्ह है। देवताओं में विश्वास करना वह मनुष्य की कमजोरी समझते थे और कहते थे कि उपासक की दृष्टि से धर्म का मूल्य घट जाता है। उनका मत था कि समस्त संसार—नक्षत्रों की चाल से लेकर जीवन के छोटे-से-छोटे स्पन्दन तक—एक प्राकृतिक नियम के आधीन है, जिसे धर्म कहते हैं जो काल्पनिक अथवा विवेकरहित नहीं वरन् सत्य और वास्तविक है। इस प्रकार यह संसार सत्य से संचालित है।

(viii) **कर्म** : बुद्ध हिन्दुओं के कर्मयोग में विश्वास रखते थे। 'जैसी करनी वैसी भरनी' एक सार्वजनिक नियम का अंग है। संसार जैसा आज दिखाई देता है, अतीत के विचारों, कार्यों और भावों के परिणामस्वरूप है और हम इस जन्म में जैसे कर्म करेंगे, दूसरे जन्म में हमारा भविष्य भी वैसा ही बनेगा। कोई भी व्यक्ति अपने कर्मों के परिणाम से नहीं बच सकता, अर्थात् दुष्कर्म का बदला दण्ड और सत्य कर्म का पुरस्कार है। देवता, देवदूत तथा पशु आदि सभी इस महान् नियम के अन्तर्गत हैं।

(ix) **सदाचार पर जोर** : बुद्ध की समस्त शिक्षाओं का सार था कि सत्कार्य करो, सदाचारी बनो तथा नियमित जीवन व्यतीत करो। उसने अपने अनुयायियों से जोर देकर कहा कि वे झूठ, हिंसा, सुरापान, स्त्री-संग और चोरी से बचें।

बौद्धमत वास्तव में कोई नया मत न था : बुद्ध ने कोई नया मत नहीं चलाया। उसके समस्त उपदेश उपनिषदों में पाए जाते हैं, जहाँ वे संस्कृत भाषा में लिखे हुए हैं और जनसाधारण उनके भावार्थों को समझने में असमर्थ है। उन्होंने उपनिषदों की शिक्षाओं को सरल बना दिया है और अपने जीवन का उदाहरण लोगों के सामने रखकर उनको बतला दिया है कि उन पर चलना कितना सरल है। मनुष्य को अपने पथ से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। दूर-दूर तक अपने मत को फैलाने के लिए उन्होंने संन्यासियों का संगठन किया। इन संन्यासियों का जीवन ब्राह्मण संन्यासियों से बिल्कुल भिन्न था। धीरे-धीरे उनके रहन-सहन में भी अन्तर आता

गया और नये-नये नियमों का निर्माण होता गया। इस भाँति बौद्धमत एक नया मत बन गया।

संघ तथा संन्यासियों का पवित्र समाज : सर्वप्रथम संन्यासियों का संघ केवल पुरुषों के लिए ही खोला गया था। परन्तु बाद में कुछ सोच-विचार करने के पश्चात् उसमें स्त्रियों को भी ले लिया गया। तिस पर भी वधिक (कसाई), अपराधी, बच्चे और छूत के रोगी 'भिक्षु'-'भिक्षुणी' न बन सकते थे। नवागत को अपने परिवार तथा संसार से वैराग्य लेना पड़ता था और अपना समस्त जीवन लोक-सेवा में अर्पण कर देना पड़ता था। तब उसको दस संन्यासियों की मंडली में जाकर भिक्षु बनने की प्रार्थना करनी पड़ती थी। इसके अन्तर उसका मुण्डन किया जाता था और उसको गेरुए वस्त्र पहनाए जाते थे। वह तीन बार कहता था, "मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ'" "मैं धर्म की शरण लेता हूँ।" "मैं संघ की शरण लेता हूँ।" तब उसको संघ के नियम पढ़कर सुनाए जाते थे, विशेष करके बुद्ध के दसो आदेश, जिनमें दस बातों का निषेध था—(१) दूसरों की सम्पत्ति का लालच, (२) मदिरा (३) हिंसा, (४) स्त्रियों से सम्बन्ध, (५) असमय भोजन, (६) झूठ, (७) गाना, नाचना, या नाटक में भाग लेना, (८) फूल, गंध तथा आभूषण का प्रयोग, (९) कोमल गद्दों पर शयन और (१०) सोना, चाँदी अपने पास रखना। भिक्षुणी के लिऐ और भी विक्षेष नियम ये थे—(१) भिक्षुणी उस स्थान पर विश्राम न करेगी जहाँ भिक्षु होंगे, (२) मास में दो बार उसे चेतावनी मिलती थी, (३) भिक्षुणी को दण्ड मिला-जुला संघ देता था।

भिक्षु का जीवन :

भिक्षु का जीवन निर्धनता तथा सदाचारिता का जीवन था। वह दिन में केवल एक बार नियत समय पर भोजन कर सकता था। वह सोने-चाँदी को स्पर्श भी नहीं कर सकता था। 'स्त्रियों के साथ उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए ?' इसका ठीक-ठीक पता बुद्ध और उनके शिष्यों के सम्भाषण से मिलता है, "हे प्रभु ! हमें स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?" "उनकी ओर मत देखो," "किन्तु यदि हम उन्हें देख लें तो क्या करें ?" "उनसे मत बोलो," "किन्तु यदि वे हमसे बोलें तो क्या करें ?" "सावधान रहो।"

भिक्षु तथा भिक्षुणी वर्ष के अधिकांश भाग में विहारों में रहते थे, किन्तु गृहस्थ के घरों में निवास नहीं कर सकते थे। वर्षाकाल के तीन महीनों में वे अपने-अपने मठों में चले जाते थे और काम करने की सामग्रियाँ साथ ले जाते थे। वहीं से अगले वर्ष का कार्यक्रम बनाते थे।

संघ का विभाजन : हीनयान और महायान :

कुछ समय तक भिक्षुओं का जीवन पवित्र और नियंत्रित रहा, परन्तु धीरे-धीरे उनमें शिथिलता आने लगी। इस प्रकार जो भिक्षु पथ-भ्रष्ट हो गए उन्होंने सोचा कि बुद्ध के उपदेशानुसार जीवन बिताना असम्भव है। इस प्रकार उनमें फूट

पड़ गई और ईसा के बाद प्रथम शताब्दी में संघ दो भागों में बँट गया—(क) **हीनयान**, जो रूढ़िवादी बना रहा; (ख) **महायान**, जिसने पुराने नियमों को लोकप्रिय और सरल बनाने के लिए उनमें समयानुसार परिवर्तन कर लिए और लोगों में आकर्षण पैदा करने के लिए मूर्ति-पूजा को भी अपना लिया। (नोट—कनिष्क का परिच्छेद पढ़िए।)

खण्ड ३ : बौद्धमत का शीघ्र प्रसार

सफलता के रहस्य :

(१) **सरल उपदेश :** सहस्रों मनुष्य, जिन्होंने बुद्ध तथा उनके शिष्यों के उपदेश सुने, उनके निष्कपट और सच्चे आचरणों को देखकर बड़े प्रभावित हुए और सोचने लगे कि बड़े-बड़े यज्ञ, हवन, जीवों की बलि और जाति-पाँति के भेद-भाव से उन्हें कोई लाभ नहीं होगा जब तक वे आत्मसंयम और सदाचारिता नहीं सीखते। नए मत से आकर्षित होकर उन्होंने निकृष्ट ब्राह्मण-धर्म को तिलांजलि दे दी। (२) **बौद्ध भिक्षुओं में उत्साह और उनके शिक्षा-प्रसार के प्रयत्न**—बौद्ध मत के प्रचार में सबसे बड़ा हाथ संघ और उनके धार्मिक उत्साह पर रहा। बुद्ध ने भिक्षुओं को आज्ञा दी कि वे दो-दो या तीन-तीन की संख्या में कहीं नहीं जायँ: वरन् पृथक्-पृथक् अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करें (केवल वर्षाऋतु को छोड़कर)। भिक्षुओं ने सच्चे धर्म-प्रचारकों की भाँति पूरे उत्साह से अपना कार्य किया और विशेष करके प्रारम्भिक दिनों में जबकि उनका जीवन पवित्रता और सदाचारिता से परिपूर्ण होकर लोगों के लिए उदाहरण-स्वरूप बना हुआ था। बौद्धों के विहार शिक्षा के अपूर्व केन्द्र बन गए और ज्ञान की खोज में अनेक नर-नारी वहाँ आने लगे। (३) **बुद्ध के जीवन और व्यक्तित्व का लोगों के हृदय पर प्रभाव**—बुद्ध के कुलीन वंश में उत्पन्न होने की, त्याग की, विपत्तियों की, आत्मपीड़न की और अन्त में ज्ञान की दिव्य ज्योति पा जाने की कथाओं का उन लोगों के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा जो उनके सम्पर्क में आए। अदृश्य प्राकृतिक शक्तियों के स्थान पर वह उन लोगों के सम्मुख साक्षात् त्राता के रूप में विराजमान थे। लोगों को उनके उपदेशों में संस्कृत के रूखे मन्त्रों की अपेक्षा अधिक सान्त्वना मिली। यही कारण था कि लोग बड़ी संख्या में बौद्ध बनने लगे (४) **'सब मनुष्य आपस में समान हैं' इस सिद्धान्त से नीच जातियों को आकर्षण**—ब्राह्मणों के उच्चवर्ण होने के अभिमान तथा नीच कही जाने वाली जातियों से उनकी घृणा आदि बातों ने बौद्धमत को अधिक लोकप्रिय बना दिया जो सबको समान और भाई समझता था। बुद्ध का उपदेश था कि जन्म से नही वरन् कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण या शूद्र बनता है। इससे सामाजिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो ब्राह्मणों के लिए खुली ललकार थी। शूद्रों ने इस निमन्त्रण को बड़ी संख्वा में स्वीकार किया। (५) **लोगों की आवश्यकतानुसार धर्म में संशोधन**—धीरे-धीरे बौद्धों ने अपने कड़े नियमों में संशोधन कर लिए और कनिष्क के समय में बौद्धों की जो महायान नामक अलग संस्था बनी वह जन-साधारण की सहूलियत देखकर बनी।

अब बौद्धमत दूर-दूर तक फैलता गया और लाखों मनुष्यों ने इस मत को अपनाना आरम्भ कर दिया। (६) **अशोक और कनिष्क द्वारा सहायता**—बौद्धमत को संसार भर में फैलाने में राजाओं की सहायता का मुख्य हाथ रहा। सम्राट् अशोक ने इस मत को दूर-दूर तक फैलाने के लिए अनेक धर्म-प्रचारक विदेश भेजे और शिलालेखों द्वारा इस मत का अत्यधिक प्रचार किया। सम्राट् कनिष्क ने बौद्ध-विहारों को अपार धन दिया और भिक्षुओं का एक विशेष सम्मेलन किया, जिसमें उनको अपने धर्म-प्रचार के लिए खूब उत्साहित किया।

खण्ड ४ : भारत में बौद्धमत का ह्रास

यद्यपि संसार के एक-चौथाई मनुष्य बोद्ध हैं परन्तु भारत में, जहाँ इस मत का जन्म हुआ, कठिनता से दस लाख बौद्ध होंगे। ऐसी उल्टी गंगा क्यों वही? भारत में बौद्धमत के ह्रास के कारण निम्नलिखित हैं :

(i) भिक्षुओं का विलासपूर्ण जीवन और उनकी पारस्परिक फूट : कालान्तर में बौद्ध भिक्षु अपने उच्च आदर्शों, सदाचारी और सरल जीवन से गिर गए और ब्राह्मणों की भाँति अभिमानी और मूर्ति-पूजक बन गये, जिससे उनमें आपसी फूट बढ़ती गई। वे एक-दूसरे संघ के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगे। इन सब बातों का लोगों के मन पर बुरा प्रभाव पड़ा और बहुत-से बौद्ध लौटकर अपने पुराने वैदिक धर्म में चले गए, (ii) **हिन्दू धर्म में जागृति तथा गुप्तवंश और राजपूतों की सहायता:** हिन्दू धर्म में जागृति होने के कारण बौद्धमत का अधिक ह्रास हुआ, क्योंकि ब्राह्मणों ने बौद्धों की अच्छी बातों को अपने धर्म में शामिल कर लिया। इसके अतिरिक्त इस धर्म को गुप्तवंश के राजाओं और राजपूतों ने बहुत सहायता दी। लोगों ने अनुभव किया कि बुद्ध की अहिंसा ने हिन्दू-जाति को दुर्बल बना दिया और अशोक की मृत्यु के बाद राजनीति को काफी धक्का पहुँचा। अतएव अब न केवल बौद्धों की उठती हुई बाढ़ ही रुक गई वरन् बड़ी तेज़ी से उनकी संख्या दिनोंदिन घटती चली गई और जो लोग बौद्ध बन गये थे, फिर हिन्दू बन गए। राजपूत राजा बौद्धमत के विरुद्ध थे। आठवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत पर योद्धा जाति राजपूतों का अधिकार था और उनके लिए अहिंसा में कोई आकर्षण न था। अतएव बौद्धभिक्षु एशिया के दूसरे भागों में चले गए क्योंकि दक्षिण में कट्टर ब्राह्मणों का निवास था और वहाँ इस मत के फलने-फूलने की कोई सम्भावना न थी। (iii) **मुसलमानों की विजय से बड़ा धक्का लगा :** महमूद गजनवी, अलाउदीन, फीरोज तुगलक व तैमूरलंग इत्यादि मूर्तिपूजकों का वध करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे और बौद्धों की शिक्षाओं से कोई लाभ नहीं समझते थे। बौद्धों में उनका सासना करने के लिए वीरों का रक्त न था। इस प्रकार अनेक मार दिये गए और अनेक कमजोर दिल वाले मुसलमान बन गए। जो बचे उनमें से बहुत-से शरण लेने के लिए उत्तर की पहाड़ी रियासतों में चले गए।

खण्ड ५ : बौद्धों की देन

यद्यपि भारत से प्रायः बौद्धमत का अन्त हो चुका है तो भी उसका प्रभाव यहाँ के सामाजिक, साँस्कृलिक व राजनीतिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रहा है। जो बौद्ध पुनः हिन्दू-जाति में सम्मलित हो गए थे, उनके कारण भारत में अनेक उपजातियों ने जन्म लिया। लोग अधिकांश शाकाहारी बने। लोग मूर्ति-पूजक बन गए (यद्यपि बुद्ध ने मूर्तिपूजा नहीं चलाई थी, वरन् महायान संघ ने बोधिसत्व की पूजा करना आरम्भ किया था)। बौद्धों की देखा-देखी ब्राह्मणों ने अपने घरों में सुधार किया और गुप्तवंश के समय में जो ब्राह्मणों में जागृति आई वह बढ़ते हुए बौद्धमत की प्रतिक्रिया थी।

बौद्धों के स्तूप, विहार और बुद्ध की मूर्तियाँ प्राचीन शिल्पकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। बौद्ध-साहित्य न केवल किसी काल के विशेष इतिहास पर ही प्रकाश डालता है अपितु उसमें दार्शनिक ग्रन्थ भरे पड़े हैं, जिन पर हमको गर्व हो सकता है।

पड़ौसी देश, जैसे चीन, तिब्बत, बर्मा और लंका आदि में बौद्धमत फैल जाने के कारण बहुत से यात्री और विद्वान् इस देश में आए और इस प्रकार इस देश का विदेशों से सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हुआ।

बौद्धमत का प्रभाव भारत की राजनीति पर पड़े बिना नहीं रहा। इसने अशोक को इतना प्रभावित किया कि उसने अपने राज्य-विस्तार की नीति को ही त्याग दिया।

खण्ड ६ : ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म की तुलना

ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म :

बुद्ध ने कोई नया मत नहीं चलाया, कोई नया धर्म ग्रन्थ नहीं बनाया और न ब्राह्मणों के सिद्धान्तों की निन्दा की। कर्म का सिद्धान्त नया न था। धर्म-शास्त्रों और सूत्रों में इसकी विशद् व्याख्या मिलती है। परिनिर्वाण भी कोई नई वस्तु न थी वरन् प्राचीन वैदिक आदर्श मोक्ष का ही दूसरा रूप था। उसने जिन आठ मार्गों का प्रचार किया वे वैदिक सदाचार के अन्तर्गत हैं। प्रारम्भ में दोनों ही धर्म मूर्तिपूजा में विश्वास न रखते थे। **परन्तु दोनों धर्मों में बड़ा बाह्य अन्तर था।** ब्राह्मण देवताओं, यज्ञों और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि देने में विश्वास करते थे। बौद्ध परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि संसार एक ही शक्ति अर्थात् धर्म द्वारा चलता है। बौद्ध वर्ण-भेद और संस्कृति की पवित्रता में विश्वास नहीं रखते थे। **ब्राह्मण बलि देते थे और अहिंसा में विश्वास नहीं रखते थे।**

ब्राह्मण-धर्म और जैन-धर्म :

सूक्ष्म रूप से इन दोनों धर्मों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों कर्म और मोक्ष को मानते हैं और सदाचार पर जोर देते हैं, परन्तु बाह्य रूप में बहुत अन्तर

पड़ गया है। **जैनी ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते** तथा अहिंसा को बहुत महत्व देते हैं। उनके मतानुसार पेड़-पौधों व पत्थर तक में जान है, अतएव उनको भी नहीं सताना चाहिये। वे उपवास द्वारा मृत्यु पसन्द करते हैं और वस्त्र धारण करना अपने धर्म के विरुद्ध समझते हैं। जैन वेदों को प्रमाण नहीं मानते। ब्राह्मण-धर्मानुयायी वेद-वेदांग को धर्म का मूल-स्रोत मानते हैं। जात-पाँत की ऊँच-नीचता तथा अन्य बन्धनों को बौद्ध और जैन-धर्म के प्रवर्तकों ने मिटाया, परन्तु थोड़े समय बाद जैनों ने वे सब सामाजिक भेद-भाव ग्रहण कर लिये, जो ब्राह्मण-धर्म में आ गये थे और जिन्हें दूर करने का प्रयास महावीर ने किया था।

बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म :

इन दोनों धर्मों में विशेष समानता है। दोनों बलि और जाति-भेद को बुरा बताते हैं और अहिंसा, पवित्र तथा सादा जीवन पर जोर देते हैं और वैदिक देवताओं तथा ब्राह्मणों की उच्चवर्णता में विश्वास नहीं रखते। दोनों के प्रवर्त्तक क्षत्रिय राजकुमार थे और भौतिक जीवन की निन्दा करते थे और दोनों ने अपने-अपने धर्म के प्रचार के लिए प्रचारकों का संगठन किया। दोनों ही ब्राह्मणों के दुराचारों के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले नवीन मत थे।

तिस पर भी **दोनों धर्मों में कुछ बातों में बड़ी विषमता है।** जैनियों का चरम लक्ष्य मोक्ष है जो आत्म-पीड़न से प्राप्त होता है, जब कि बौद्धों का निर्वाणपद मध्य मार्ग के अवलम्बन से प्राप्त होता है, अर्थात् घोर तपस्या और घोर विलासी जीवन के बीच का मार्ग। जैनियों का मत है कि न ईश्वर और न अन्य कोई दिव्य-शक्ति सृष्टि का नियंत्रण करती है, परन्तु बौद्धों का विश्वास है कि कोई दिव्य-शक्ति उसका नियंत्रण करती है। जैनियों की अहिंसा बौद्धों की अहिंसा से बढ़कर है जो जड़ पदार्थों में भी प्राणों का होना मानते हैं, जब कि बौद्ध केवल मनुष्यों और पशु-पक्षियों की ही हिंसा का विरोध करते हैं। (जैन-धर्म के ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत भाषा में लिखे गये, और बौद्ध ग्रन्थ अधिकतर पाली में।) महायानों के धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये।

भिक्षुक संघ जैनियों के साधु संघ की अपेक्षा अधिक नियंत्रित और उत्साही था और कदाचित् यही कारण है कि जैन-धर्म का वर्ग छोटा है जबकि बौद्ध-धर्म दूर-दूर तक फैल गया।

Questions

1. Briefly outline the life and teachings of Buddha.
   संक्षेप में बुद्ध के जीवन तथा उनके उपदेशों की रूपरेखा दो।
2. Trace briefly the growth and decline of Buddhism in India.
   भारत में बौद्धमत की उत्पत्ति तथा उसके पतन का संक्षिप्त हाल लिखो।
3. Describe the social, economic, religious and cultural conditions prevailing at the time of the rise of Buddhism.
   बौद्धमत के उत्थान के समय देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितयों का वर्णन करो।

ध्याय ६

पूर्व मौर्य-वंश काल

(अ) उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा

वीरगाथा काल से लेकर सिकन्दर महान् के आक्रमण तक के समय का बहुत कम वृत्तान्त मिलता है। उस काल का वृत्तान्त जानने के जितने भी स्रोत हैं वे सब संदिग्ध और प्रायः परस्पर विरोधात्मक हैं, जैसे (i) उत्तर वैदिक साहित्य व पुराण, (ii) बौद्ध-साहित्य और (iii) जैन-साहित्य।

सोलह 'महाजनपद' :

बौद्ध प्राचीन कथाओं के अनुसार जिस समय का यह वर्णन है उस समय उत्तर भारत १६ 'महाजनपदों' (अर्थात् मुख्य राज्यों) में विभाजित था, जिनमें अंग, मगध, वत्स, काशी, कौशल और अवन्ति अधिक प्रसिद्ध थे। ईसा से ६०० वर्ष पूर्व विनाशकारी युद्धों के टूटे-फूटे वृत्तान्त मिलते हैं परन्तु उनमें राज्यों की एकता का कहीं भी वर्णन नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय पंजाब, दक्षिण बंगाल और सिन्ध का कोई राजनीतिक महत्व नहीं था, क्योंकि जिन १६ 'महाजनपदों' का ऊपर वर्णन है वे सब गंगा और यमुना के बीच के मैदानों में बसे हुए थे। प्राचीन पाली-साहित्य से राज्यों की दूसरी सूची मिलती है जिनमें प्रसिद्ध संघ राज्य शक, मल्ल और लिच्छवि थे। उनके राज्य-प्रबन्ध का कुछ-कुछ वृत्तान्त मिलता है किन्तु उनके राजनीतिक इतिहास का कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं है।

संघ का शासन-प्रबन्ध :

प्रजातन्त्र शासन था, जिसका प्रधान लोगों द्वारा चुना जाता था और राजा कहलाता था और वही शासन-कारिणी और न्याय-कारिणी समितियों का प्रधान होता था। न्याय और शासन-सम्बन्धी बातें एक **सभा-मण्डप** में तय होती थीं। इस मंडप में सब लोग जमा होते, विशेषकर प्रारम्भिक काल में जब सम्मेलन छोटा होता था। संघ का प्रबन्ध एक निर्वाचित परिषद् के द्वारा होता था। खास-खास अवसरों पर जन-साधारण का एक वृहद् सम्मेलन किया जाता था।

राजा का पद न तो पैतृक होता था और न जीवन-भर के लिए, किन्तु यह पता नहीं कि चुनाव कैसे होता था और कितने समय पश्चात्। राजा एक क्षेत्र के

अध्यक्ष की भांति होता होगा। स्थानीय सभाएँ अपने-अपने नगरों का प्रबन्ध करती थीं। किसी-किसी राज्य में गाँव भिन्न-भिन्न व्यवसायों के आधार पर बनाए गए, जैसे कुम्हार और सुनार पृथक-पृथक गाँवों में रहते थे। परन्तु बड़े-बड़े राज्यों के फैल जाने से, जैसे वत्स, अवन्ति, कौशल, मगध आदि, इन छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता नष्ट हो गई।

(i) **वत्स :** एक छोटा-सा-राज्य था, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी जो उज्जयिनी-विदिशा मार्ग में यमुना-तट पर बसा हुआ प्रसिद्ध नगर था। पुराणों का कहना है कि इसे जनमेजय के पौत्र ने बसाया था, अतएव इसके शासक अपने को भरतवंश का बतलाते थे। इनमें शतानीक परन्तप का पुत्र उदयन सबसे प्रसिद्ध हुआ, जो बुद्ध का समकालीन था और अनेक पाली तथा संस्कृत की वीरगाथाओं का नायक था। किन्तु उसका उत्तराधिकारी बोधिकुमार बड़ा निकम्मा निकला और उसके काल में वत्स राज्य का यश मलीन हो गया।

(ii) **अवन्ति :** अपने पड़ौसी राज्य वत्स की अपेक्षा बहुत बड़ा था और इसमें मध्य मालवा का देश शामिल था। यह दक्षिण में नर्वदा नदी तक फैला हुआ था। उत्तर में इसकी राजधानी प्रसिद्ध उज्जैन नगरी थी और दक्षिण में महिष्मती। ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व अवन्ति की बड़ी धाक थी। बुद्ध का समकालीन और उदयन का श्वसुर चन्द्रप्रद्योत इसका शासक था जो बहुत अत्याचारी और अप्रिय था।

अवन्ति बौद्धों का बड़ा जबरदस्त केन्द्र बन गया था। इस राज्य में आस-पास बोली जाने वाली पाली भाषा में बौद्धों के उपदेश लिखे गये थे। ईसा से चार शताब्दी पूर्व अवन्ति का ह्रास हो गया और इसे मगध राज्य में मिला लिया गया।

(iii) **कौशल :** जिसकी राजधानी अयोध्या थी, जो सरयू के तट पर बसी थी, वर्तमान अवध तथा शाक्य प्रदेश के एक बड़े भाग पर फैला हुआ था। ईसा से छः और पाँच शताब्दी पूर्व यह एक विशाल राज्य था जिसमें साकेत और श्रावस्ती जैसे प्रसिद्ध नगर बसे हुए थे। पुराणों में कौशल देश के राजाओं का वृत्तान्त इसके निर्माता इक्ष्वाकु से लेकर प्रसेनजित् तक मिलता है। इन शासकों का वृत्तान्त अन्य वैदिक और बौद्ध-साहित्य में भी मिलता है।

प्रसेनजित् और बुद्ध : प्रसेनजित् महान्, जिसे पाली में 'पसेनदी' कहते हैं, बुद्ध का परम मित्र था और उसके उपदेशों की सराहना करता था तथा निजी व राजसी मामलों में उसकी सलाह लिया करता था। बुद्ध का जन्म-स्थान शाक्य प्रदेश (जिसको राज्य-प्रबन्ध की स्वतन्त्रता मिली हुई थी) कौशल देश का ही भाग था।

प्रसेनजित् और अजातशत्रु : प्रसेनजित् के शासनकाल के अन्तिम दिनों में उसके भानजे अजातशत्रु ने उस पर आक्रमण किया। बाद में उसने किसी षड्यन्त्र द्वारा बदला ले लिया, परन्तु तत्पश्चात् उसको अपना जामाता बना लिया। अब

प्रसेनजित् पर दूसरी विपत्ति आई। उसकी अनुपस्थिति में उसके मन्त्रियों ने उसके पुत्र को सिंहासन पर बिठा दिया। वृद्ध राजा अजातशत्रु से सहायता लेने के लिए मगध को दौड़ा, परन्तु राज्य के सिंहद्वार तक पहुँचते ही उसकी मृत्यु हो गई। राजसी ठाट से उसकी दाह क्रिया की गई। शीघ्र ही कौशल देश को मगध में मिला लिया गया।

(iv) **मगध (आर्यों के प्रदेश से बाहर का मगध)** : अथर्ववेद के अनुसार यह प्राचीन राज्य बहुत समय तक एक छोटा-सा राज्य रहा और चेदिवंश के राजा बृहद्रथ (जो सम्भवतः महाभारत में वर्णित प्रसिद्ध जरासन्ध का पिता था) के काल में प्रकाश में आया। पुराणों में केवल जरासन्ध के पुत्र सहदेव से लेकर रिपुदमन तक के नामों की वंशावली मिलती है, किन्तु इससे कोई लाभ नहीं होता। बृहद्रथ के वंशज लगभग ६०० वर्ष ईसा से पूर्व शेषनाग द्वारा राजच्युत कर दिये गए थे और शेषनाग ने अपने नाम पर राज्य स्थापित किया था। इस वंश का प्रथम प्रसिद्ध शासक बिम्बसार था जिसने राजगृह को अपनी राजधानी बनाया था। उसने अंग देश को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया, अवन्ति राज्य से मित्रता कर ली और विवाह-सम्बन्ध द्वारा कई राज्यों से मित्रता जोड़ ली। उसने कौशल देश की कौशल-देवी, लिच्छवि वंश की राजकुमारी छलना और खेरा से, जो सम्भवतः पंजाब की राजकुमारी थी, विवाह किए। इस प्रकार कुछ युद्ध द्वारा और कुछ राजनीति द्वारा उसने अपने राज्य को बहुत बढ़ा लिया। वह लगभग ८०,००० गांवों के विशाल राज्य पर शासन करता था। बुद्ध का समकालीन होने के कारण उसने कई बार बुद्ध को अपने यहाँ निमन्त्रित किया और भिक्षुओं को बहुत दान दिया। बौद्धों की जातक कथाओं के अनुसार उसका वध उसके पुत्र अजातशत्रु ने किया, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् मगध का राजा बना।

अजातशत्रु :

यद्यपि वह अपने पिता का घातक था तो भी अजातशत्रु शीघ्र ही अपनी प्रजा का प्रिय शासक बन गया। उसने अपने मामा प्रसेनजित् से जैसा व्यवहार किया उसका वर्णन ऊपर हो चुका है। तत्पश्चात् उसने वज्जी प्रदेश को विजय करने का प्रयत्न किया, जिसके लिए पाटलिपुत्र में एक सीमाँत दुर्ग का निर्माण करवाया। षड्यन्त्र द्वारा उसने शीघ्र ही वज्जी प्रदेश पर विजय पाई और उसको अपने राज्य में मिलाकर मगध राज्य को बहुत विशाल बना दिया।

उदयिन और उसके उत्तराधिकारी :

धार्मिक कथाओं में अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों का बड़ा संदिग्ध वर्णन है। संभवतः उदयिन उसके बाद राजा बना, जिसका उत्तराधिकारी कोई योग्य व्यक्ति न हुआ। अतएव मगध की महत्ता कम होती चली गई। अन्त में उस वंश के अन्तिम राजा कालाशोक को मारकर महापद्म ने नन्दवंश की नींव डाली।

नव नन्द :

महापद्म नन्द (शूद्राणी का पुत्र) और उसके आठ पुत्र, जो क्रमशः राजा बने, शक्तिशाली नव नन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने मगध राज्य को पुनः महत्वपूर्ण बना दिया। महापद्म (जिसका वास्तविक नाम उग्रसेन था) के विषय में कहा गया है कि उसने समस्त क्षत्रियों पर विजय पाई थी। नन्दों ने 'महापद्म' की उपाधि को सिकन्दर के आक्रमण तक सुरक्षित रखा। उन्होंने मगध की सीमाओं का बड़ा विस्तार किया। यूनानी लेखक कहता है कि उनकी सेना में २०,००० घोड़े, २,००,००० पैदल और ३,००० से लगाकर ६,००० तक हाथी थे। सिकन्दर के साथ जो यूनानी सैनिक थे उन्होंने शक्तिशाली नंद के डर से व्यास नदी को पार नहीं किया था। अनुचित रीति से प्रजा को लूटने तथा पड़ौसी राज्यों के ऊपर अत्याचार करने के कारण अन्तिम नन्द राजा प्रजा के अप्रिय बन गये। नन्द वंश के प्रति प्रजा के बुरे भावों का लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने लगभग ३२० ईसा से पूर्व नन्दवंश का नाश करके मौर्य वंश की नींव डाली।

(ब) फारस तथा यूनान के आक्रमण

खण्ड १ : फारस वालों की विजय

भारत और ईरान के प्राथमिक सम्बन्ध :

बुगजगोई के शिलालेखों से पता चलता है कि अति प्राचीन काल में हिन्द-आर्य और फारस-निवासी साथ-साथ रहते थे और उस समय भी, जब कि आर्य सप्तसिन्धु में बस गये थे, उनके आपसी सम्बन्ध बहुत अच्छे बने हुए थे। अतएव दोनों के धर्म और संस्कृति मिलती-जुलती थी और दोनों की भाषाओं के अनेक शब्दों में समानता थी। निस्संदेह इस बात के काफी प्रमाण हैं कि ईरानियों के धर्म, जिसका स्थापक जरायुस्त्र (Zoroaster) था, का उद्भव वैदिक धर्म से हुआ। वैदिक असुर (अहुर) ईरानियों का सबसे महान् देवता बन गया।

उत्तर-वैदिक काल में :

बाद में ये सम्बन्ध बिगड़ते चले गये। फारस के प्राचीन देवताओं को उत्तर-वैदिक काल के लोगों ने असुर (राक्षस) समझा और उनके सबसे बड़े देवता 'अहुर' को भी असुर समझा, जबकि फारसी ग्रन्थों में इन्द्र को शैतान बताया गया। आर्यों की सभ्यता का केन्द्र भी पंजाब और उत्तर भारत से हट कर फारस से बहुत दूर मध्य देश में चला गया।

दारा प्रथम की गान्धार देश पर विजय : ईसा से छः शताब्दी पूर्व फारस का शासक साइरस महान् (Cyrus, the Great), बैक्ट्रिया (Bactria), मेदिया (Media), बेबीलोन (Babylonia), और असीरिया (Assyria) पर विजय प्राप्त करता हुआ भारत की ओर बढ़ा, किन्तु सफल नहीं हुआ। इस वंश के तृतीय राजा दारा प्रथम (Darius I) ने भारत का उत्तर-पश्चिमी

प्रदेश जीत लिया था। उसने अपने सेनापति स्काईलेक्स (Skylax) को सिंधु नदी के मुहाने की खोज में भेजा और फिर स्वयं ही जाकर गान्धार (उस समय उत्तर-पश्चिम भारत का यही नाम था) को सुलमान पर्वत तक विजय कर लिया।

फारस-विजय का प्रभाव :

(i) फारस वालों का अधिकार हो जाने से भारत का व्यापार, विचारधारा और सभ्यता पर बड़ा प्रभाव पड़ा और देश की आर्थिक अवस्था बहुत सुधरी। केवल भारत के व्यापारी ही नहीं अपितु विद्यार्थी, दार्शनिक इत्यादि भी बड़ी संख्या में फारस के राज्यों में घूमे और पश्चिमी देशों, विशेषकर यूनान से, उनके सम्बन्ध दृढ़ हो गए। (ii) फारस के संसर्ग से भारत की भाषा और कला पर भी विशेष प्रभाव पड़ा। मौर्य-वंश की बहुत-सी इमारतों में फारसी कला की झलक है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि अशोक के स्तम्भों का ढाँचा, अर्थात् गोलघण्टों की आकृति का, जिसके ऊपर बैल, सिंह अथवा पक्षी की मूर्ति हो, फारसी कला पर आधारित है। इसके अतिरिक्त भारतवासियों ने फारस वालों से 'खरोश्ती' (Kharoshti) लेखन-लिपि भी सीखी। यह लिपि उत्तर भारत में तृतीय शताब्दी तक लोकप्रिय बनी रही। (iii) चन्द्रगुप्त मौर्य ने फारस के बहुत-से रीति-रिवाजों को अपनाया, जैसे फारस के राजाओं का सिर-प्रक्षालन उसके दरबार का महत्वपूर्ण संस्कार बना। उसके मन्त्रियों की सभा जिस कमरे में बैठती थी वहाँ पवित्र अग्नि बराबर जलती रहती थी।

खन्ड २ : सिकन्दर का आक्रमण

१. आक्रमण के समय भारत की अवस्था :

सिंधु और व्यास नदी के बीच का प्रदेश अत्यन्त छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जो सदा परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। उनमें कोई भी शासक बलवान् न था। मगध के सम्राट् नन्द ने उधर की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

तीन जातियों में, जो वर्तमान उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश के पर्वतीय भागों में ईसा से चार शताब्दी पूर्व राज्य कर रही थीं, अस्सकिनी (Assakenois), में जिसकी राजधानी मलाकन्द (Malakand) के दर्रे के समीप मस्सागा (Massaga) थी, सबसे बलवान थी तथा उनकी सेना में ३०,००० पैदल और २०,००० सवार थे। पेशावर के समीप पुष्कलवती का सामान्य राज्य था।

तक्षशिला और पौरव राज्य :

उत्तर-पश्चिम में सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य तक्षशिला और पौरवों के थे। तक्षशिला का राज्य सिंधु नदी के पूर्वी तट से लगाकर जेहलम नदी के पश्चिमी तट तक फैला हुआ था। मध्य एशिया से भारत तक जो सड़क आती है उस पर इसकी राजधानी बसी हुई थी। तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में पौरवों का राज्य था, जिसका शासक शक्तिशाली पोरस था और जिसके राज्य में ३०० नगर थे। उसकी सेना में ५०,००० पैदल, ३,००० घुड़सवार, १,००० रथी और १३० हाथी थे।

तक्षशिला का राजा पौरव राज्य की अपार शक्ति देखकर जलता था। और उसने अपने पुत्र आम्भी को राजदूत बनाकर सिकन्दर के पास बैक्ट्रिया (Bactria) भेजा कि वह पोरस पर आक्रमण करे और वह स्वयं उसकी सहायता करेगा।

स्वतन्त्र राज्य मालव और क्षुद्रक : पाँच स्वाधीन वंश जेहलम और व्यास के के बीच में फैले हुए थे जिन पर सत्ताधारी छोटे-छोटे सरदारों का शासन था। मालव वर्तमान मुल्तान पर राज्य करते थे और उनकी सेना में १,००,००० सैनिक थे, जबकि क्षुद्रक वर्तमान मौंटगुमरी के जिले पर राज्य करते थे और वहाँ सार्वलौकिक राज्य था

सिन्ध का ऊपरी भाग : यहाँ भी छोटे-छोटे राज्य थे जिन पर सौद्रै (Sodrai) और मूशिक (Mousikanos) आदि जातियाँ राज्य करती थीं, जिनमें मूशिक की राजधानी आलोर (Alor) थी। सिन्ध का सबसे अधिक प्रसिद्ध नगर पट्टल (हैदराबाद) था।

मगध राज्य : महाशक्तिशाली घनानन्द पूर्व में कलिंग से लेकर पश्चिम में सतलुज तक राज्य करता था। उसकी सेना में २,००,००० पैदल, २०,००० घुड़सवार, २,००० रथी और ३,००० हाथी थे। कदाचित् मगध राज्य की शक्ति को देखकर ही यूनानी व्यास नदी के पार नहीं गए, यद्यपि सिकन्दर ने उनको बहुत झिड़कियाँ दी थीं।

सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक व्यवस्था : यूनानियों के वृत्तान्तों से पता चलता है कि समाज पतित हो चुका था। सती-प्रथा, बहुविवाह-प्रथा और कन्या-विक्रय-प्रथा चल पड़ी थी। कृष्ण और गंगा से लेकर वृक्षों तक की भी पूजा होने लगी थी। कुछ पवित्र वृक्षों का काटा जाना ऐसा अपराध समझा जाता था जिसकी सजा फाँसी थी। ब्राह्मण जो अधिकतर माँसाहारी थे, उनका समाज में महत्व बढ़ रहा था। उत्तर-पश्चिम के लोगों का व्यापार भारत के शेष भागों में काफी फैला हुआ था। वे पूर्व से हाथी, उत्तर से कम्बल, खालें और घोड़े तथा दक्षिण से हीरे, मोती, सीप इत्यादि मंगाते थे। एशिया के दूसरे देशों से भी उनका व्यापार होता था। विदेशी व्यापार बहुत-से नियमों से बाधित था, जैसे विदेश जाने वाले व्यापारियों को आज्ञा-पत्र लेना पड़ता था। भारत की मुद्रा प्रायः बड़ी निकम्मी थी। धातु के आयताकार टुकड़े होते थे जो छेद द्वारा अंकित कर दिये जाते थे।

२. सिकन्दर का आक्रमण : सिकन्दर महान् मकदूनिया के राजा फिलिप का बेटा था। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तु (Aristotle) उसका गुरु तथा उपदेशक था। किन्तु सिकन्दर को शान्ति की अपेक्षा युद्धों व विजयों में अधिक रुचि थी। ई० पू० ३३६ में जब, वह केवल २० वर्ष का था, उसके पिता की मृत्यु हो गई, किन्तु उसने विश्व-विजय करने का संकल्प किया। उसने पड़ौसी राज्यों को जीतकर यूनान में अपनी शक्ति को ठोस बनाना आरम्भ कर दिया। तब ई० पू० ३३४ में ३०,००० पैदल और ५,००० घुड़सवार सेना लेकर वह फारस जीतने के लिए चल दिया। चार वर्ष तक वह फारस वालों से युद्ध करता रहा। दुर्बल राजा दारा आगे

बढ़ती हुई यूनानी सेना को नहीं रोक सका। उसने एशिया माइनर, सीरिया और मिश्र को जीत लिया। आरबेला के अन्तिम युद्ध (३३१ ई० पू०) ने रही-सही फारस की शक्ति को कुचल डाला। दारा का वध उसी के एक सरदार बीसस (Bessus) ने कर डाला। सिकन्दर ने राजधानी पर्सीपौलिस (Persepoilis) को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और सीस्तान, अफगानिस्तान और बैक्ट्रिया पर ३२८ ई० पू० में अधिकार कर लिया।

उत्तर-पश्चिमी भारत की विजय : यूनानी दो भागों में विभाजित हुए, उनमें से एक पडिका के सेनापतित्व में हुआ।

ईसा से ३२८-३२७ वर्ष पूर्व उसने भारत को जीतने के लिए काबुल की घाटी पर अधिकार कर लिया और उसी स्थान को आक्रमण का केन्द्र बनाया। अप्रैल ३२७ ई० पू० में उसने ५०,००० सेना लेकर पहले निकाइया (Nikaia) पर अधिकार कर लिया जो आजकल जलालाबाद कहलाता है और काबुल से भारत आने वाली सड़क पर स्थित है। **यहाँ उसने सेना के दो भाग कर दिए।** सेनापति पडिका बड़ी सेना लेकर सिन्धु नदी के प्रदेश में पहुँचा और पुष्कलवती (पेशावर) पर अधिकार कर लिया। सिकन्दर स्वयं सेना के दूसरे भाग के साथ काबुल नदी के उत्तर में पर्वतीय प्रदेश में पहुँचा। उसने ईसा से पूर्व ३२७-२६ का जाड़ा कुनर और स्वात घाटियों में बसने वाली पहाड़ी जातियों को जीतने में व्यतीत किया। बहुत-से पहाड़ी राजाओं ने बिना लड़े ही आत्मसमर्पण कर दिया, किन्तु मस्सागा में अस्सिकनी ने मुकाबला किया, यद्यपि वह अन्त में पराजित हुआ। इसके पश्चात् उसने ओरोनोस, जिसे वर्तमान समय में यूना कहते हैं, विजय किया।

इसी प्रकार अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाकर सिकन्दर ओहिन्द की ओर बढ़ा जो अटक से १६ मील दूर एक गाँव था। यहाँ से उसने सिन्धु नदी पार करनी चाही। नावों का पुल बनाकर इस नदी को पार किया गया और तब उस अवसर पर उत्सव मनाया गया। उत्सव में देवताओं को बलिदान दिये गये, खेल-तमाशे हुए और थकी हुई सेना को ३० दिन की छुट्टी दी गई जिसकी उसको अत्यन्त आवश्यकता थी। ओहिन्द में ही तक्षशिला के राजा आम्भी का राजदूत आया जो राजा पोरस तथा अभिसार आदि अन्य जातियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए सहायता देने के लिए तैयार था।

तक्षशिला : आम्भी और अभिसारों का आत्मसमर्पण (मार्च, ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व)—जब सिकन्दर तक्षशिला से केवल ४ या ५ मील रह गया, आम्भी उसको अपना महाराजाधिराज समझकर सेना सहित उससे आ मिला। आम्भी का सत्कार किया गया तथा उसको अपार सोना और फारस के बहुमूल्य वस्त्र भेंट किए गये। अभिसारों ने भी तक्षशिला में इसी भाँति आत्मसमर्पण कर दिया, किन्तु जेहलम के प्रदेश के राजा पोरस ने आत्मसमर्पण नही किया।

पोरस से युद्ध: हाईडेस्पि का युद्ध, जुलाई, ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व : पोरस से युद्ध करने के लिए सिकन्दर अपनी सेना के साथ बढ़ता हुआ १५ दिन के कठिन

परिश्रम के बाद जल से परिप्लावित जेहलम नदी (हाईडैस्पि) के किनारे मई के आरम्भ में पहुँच गया। दूसरे तट पर पोरस की शक्तिशाली सेना खड़ी थी, जिसमें घोड़े, हाथी, रथ तथा पदाति मिलाकर लगभग ५०,००० सैनिक थे। सिकन्दर न तो नदी पार कर सकता था और न शरद ऋतु तक प्रतीक्षा ही करना चाहता था, अतएव उसने ऊपर से ऐसा भाव दिखाया मानो वह मौसम ठीक होने पर ही आक्रमण करेगा, परन्तु इसी बीच वह उस स्थान की परीक्षा करता रहा जहाँ से नदी आसानी से पार की जा सके और अपनी नावों को नदी के एक मोड़ पर लगाया। यह स्थान उस स्थान से १६ मील ऊपर की ओर था जहाँ पोरस की सेना डेरा डाले पड़ी थी। इस प्रकार गुप्त मार्ग पाकर उसने सहसा कर्री के मैदान में सरवाल और पकराल गाँवों के समीप भारतीयों पर आक्रमण कर दिया। वहाँ वीरता से युद्ध करता पोरस घायल हुआ और बन्दी बना लिया गया। किन्तु सिकन्दर उसकी वीरता और साहस को देखकर इतना प्रसन्न हुआ कि उसका राज्य लौटा दिया। अपनी विजय के स्मारक के रूप में उसने वहाँ दो बड़े नगर बुसेफला (Bucephala) और निकाका (Nicaca) बसाये।

यूनानियों की विजय के कारण : (क) भारत के सीमान्त देशों के राजाओं की आपसी फूट। आम्भी और अभिसार ने आक्रान्ताओं को सहायता दी। (ख) यूनानी सेना अधिक सुरक्षित, चतुर और नियंत्रित थी। (ग) यूनानी सेना अधिक फुर्तीली थी तथा उसके पैदल योद्धा अधिक बलवान थे। (घ) वर्षा होने से भूमि फिसलनी हो गई थी इस कारण भारतीय सेना बड़े-बड़े धनुष-बाणों का प्रयोग नहीं कर सकी। (ङ) भारतीय हाथी शत्रुओं के बाणों की बौछारों से आहत होकर इधर उधर भाग खड़े हुए और बहुत-से सैनिकों को कुचल डाला।

आगे प्रस्थान : पूर्व की ओर बढ़कर सिकन्दर ने चिनाब नदी पार की और चिनाव तथा रावी के प्रदेश को जीत लिया। तब उसने रावी को पार किया और काठियों (Kathis) को पराजित किया, जिन्होंने साँगला (स्यालकोट) में डटकर युद्ध किया। फलस्वरूप पड़ौसी राजाओं ने बिना युद्ध किये आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दर बढ़ता हुआ व्यास नदी तक पहुँच गया जहाँ से उसका इरादा मगध को भी जीत लेने का था। किन्तु इस स्थान पर उसकी सेना ने विद्रोह कर दिया। वे आगे बढ़ने से इन्कार करते हुए घर लौटने का आग्रह करने लगे, यद्यपि सिकन्दर ने उनको बहुत उत्साहित करना चाहा। तीसरे दिन सिकन्दर ने अपनी सेना को लौटने का आदेश दे दिया (सितम्बर, ३२६ ई० पू०)। यूनानियों ने केवल इसीलिए लौटने का आग्रह नहीं किया था कि उनको घर की याद सता रही थी, वरन् पोरस और काठी लोगों ने उनका विकट सामना किया था और वे शक्तिशाली मगध सम्राट् से युद्ध करने में भय खाते थे। सिकन्दर ने उस स्थान पर, जहाँ तक वह पहुँचा था, पत्थरों की १२ स्मारक मीनारें बनवायीं जो लगभग ७५ फुट ऊँची थीं। यह उसके वहाँ तक पहुँचने के स्मारक-स्वरूप थीं और कदाचित् वर्तमान काल के गुरदासपुर के समीप थीं, यद्यपि अब वहाँ उनका कोई चिह्न नहीं रहा।

सिकन्दर ने लौटते समय अपने जीते हुए प्रदेश का उचित शासन-प्रबन्ध किया और उसको तीन प्रान्तों में बाँट दिया। यूनानियों के मुख्य शासन-केन्द्र उस समय पुष्कलवती और तक्षशिला थे। इनके अतिरिक्त कई नये नगर भी बसाए गए जिनके द्वारा यूनानी संस्कृति का प्रचार हुआ।

सिंध—सौक्षिक। सिन्ध के मुहाने पर पहुँचते ही यूनानियों को सोक्षिक आदि जातियों से युद्ध करना पड़ा। अन्त में सिन्ध के अध्यक्ष पाइथोन ने उन सबको दबा दिया। तब सेना पट्टल (हैदराबाद) पहुँची जहाँ से उसका एक बड़ा भाग नियारकस की अध्यक्षता में समुद्र द्वारा भेज दिया गया और दूसरा भाग सिकन्दर के साथ-साथ बिलोचिस्तान के रेगिस्तान से होकर फ़ारस की ओर चल पड़ा। ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व वह बेबीलोन (बगदाद) पहुँचा और ३३ वर्ष की आयु में मर गया।

खंड ३ : सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर प्रभाव

भारत में यूनानी सभ्यता फैलाने का यत्न असफल : सिकन्दर डाकू, लुटेरा अथवा हत्यारा नहीं था। यूनानी सभ्यता को श्रेष्ठ समझकर उसने भारत में उसका प्रचार करना चाहा। यद्यपि वह भारत में दो वर्ष से भी कम ठहरा, तो भी उसने इसी उद्देश्य से बुसेफला और निकाका नामक दो नगरों का निर्माण किया। यूनानी लेखकों का कहना है कि उसके आक्रमण से भारतवासियों के जीवन और सभ्यता पर काफी प्रभाव पड़ा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हुआ और यूनानी सभ्यता, कला खगोल विद्या आदि बाद में आए जबकि बैक्ट्रिया और पार्थिया के लोग यहाँ आकर बस गये थे।

किन्तु पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क बढ़ने का भारत पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। पश्चिमी देशों के लिए तीन नये मार्ग खुल गये—मुल्ला का दर्रा, काबुल की घाटी और मेकरान तट से होकर समुद्री मार्ग। अब व्यापारी, विद्यार्थी, साधु-संन्यासी आदि पूर्व से पश्चिम जाने और पश्चिम से पूर्व आने लगे। (ii) यद्यपि सिकन्दर का राज्य अधिक समय तक न रह सका तो भी मौर्यवंश का पतन होने पर बैक्ट्रिया और पार्थिया निवासी यूनानियों ने उत्तर-पश्चिमी भारत में छोटी-छोटी रियासतें स्थापित कर लीं जिन्होंने भारत में यूनानी सभ्यता फैलाने में भाग लिया, जिसके फलस्वरूप गान्धार में कला का विद्यालय खोला गया खगोल विद्या और मुद्रा में उन्नति हुई। इन राज्यों की उन्नति सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप ही थी, जिसने पश्चिमी तथा मध्य एशिया में कई उपनिवेश स्थापित किए थे। इनको स्थापित करने में उसका उद्देश्य विजित देशों में यूनानी सभ्यता और यूनानी शिक्षा फैलाना था (iii) सिन्धु नदी की उपत्यका में बसने वाली वीर जातियाँ, जैसी काठी पौरव और मल्लोई आदि की सिकन्दर द्वारा पराजय ने भारत में राजनैतिक एकता का मार्ग तैयार कर दिया और चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस कार्य को पूर्ण किया। सैल्युकस को हराते ही उत्तर-पश्चिमी भारत अफगानिस्तान तक एक ही बार मौर्यों के हाथ लग गया। (iv) साधारण लोगों के विश्वास के विरुद्ध अन्य भारतवासियों ने ही

नहीं वरन् मौर्वों ने भी प्राचीन सेना-प्रणाली अपनाई जिसमें प्रधान हाथ पैदल सैनिकों का रहता था (v) सिकन्दर के समय से भारत के इतिहास में काल-निर्णय सुगम हो गया और तिथियों का ठीक-ठीक हाल मिलने लगा। पुराणों में दी हुई तिथियाँ संदिग्ध हैं, किन्तु इस तिथि (३२६ ई० पू०) से दूसरी तिथियों का अनुमान लगता है—उन घटनाओं की तिथियों का जिनका वर्णन यूनान वालों ने किया है कि अमुक घटना सिकन्दर के आक्रमण के इतने वर्ष पहले हुई और इतने वर्ष बाद।

सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव क्यों महत्वपूर्ण नहीं हुए:

सर्वप्रथम सिकन्दर की अल्पायु में मृत्यु प्रधान कारण है। दूसरे, वह पूरे दो वर्ष भी भारत में नहीं रहा और जितने समय रहा उसका अधिकाँश भाग युद्धों में व्यतीत हुआ। तीसरे, उसने देश के केवल एक कोने पर ही (व्यास नदी तक) अधिकार किया, जबकि भारत के एक बड़े भाग पर कोई प्रभाव न पड़ा। भारत की संस्कृति एवं सभ्यता यूनानियों की सभ्यता से श्रेष्ठ थी। यूनान के दर्शन, कला और विज्ञान में भारत के सीखने योग्य कम था। देश के केवल एक छोटे-से हिस्से तक ही सीमित रहने के कारण सिकन्दर का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा।

Questions

1. Write a note on the ancient republics of India.
   भारत की प्राचीन गणतन्त्र प्रणाली पर टिप्पणी लिखो।
2. Give an account of the invasion of India by Alexander. How far did it influence the political, social and religious life in India?
   भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का हाल लिखो। उसके आक्रमण का भारत के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर कितना प्रभाव पड़ा ?

अध्याय ७

मौर्य-वंश

(क) चन्द्रगुप्त मौर्य

खंड १ : (ईसा से पूर्व ३२२ वर्ष से २९८ वर्ष तक)

मौर्य-वंश के इतिहास के स्रोत :

भूमिका : मौर्य-वंश की समृद्धि भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण है। उनके शासनकाल में भारत को एकता, वैभव और सम्मान प्राप्त हुए। मौर्य-वंश के समय राजा चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को पराजित करके अपने राज्य की सीमा हिन्दूकुश से भी आगे तक बढ़ा ली। उसके पुत्र अशोक ने भारत को शाँति और आदर्श शासन-प्रणाली प्रदान की। यहीं से वास्तविक इतिहास आरम्भ होता है। घटनाओं के काल निर्णय पर जो अज्ञानता का पर्दा पड़ा हुआ था वह हट गया और उस समय से तिथियों का ठीक-ठीक निश्चय होता गया। यह ठीक ही कहा गया है कि मौर्य-वंश के साम्राज्य ने इतिहासकारों को अँधेरे से उजाले में लाकर खड़ा कर दिया। **मौर्य-वंश काल पर मुख्य-मुख्य मौलिक प्रमाण निम्नलिखित हैं।**

(i) **मेगस्थनीज़ की 'इण्डीका' नामक पुस्तक :** सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यूनानी स्रोत मेगस्थनीज़ है जो चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में राजदूत था और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में पाँच वर्ष रहा था (ईसा से ३०२ वर्ष पूर्व से २९८ वर्ष पूर्व तक)। उसकी विशद मूल पुस्तक 'इण्डीका' जिसमें भारत की प्राकृतिक बनावट, मिट्टी- जलवायु, पशु, पौधे, शासन-प्रणाली, धार्मिक सम्प्रदाय, व्यवहार तथा कला आदि का वर्णन था. नष्ट हो गई है, परन्तु उस पुस्तक के अनेक लेख कहीं-कहीं ग्रीक और रोम के वृत्तान्तों में मिलते हैं, जैसे स्ट्रेबो (Strabo) एरियन (Arrian) और जस्टिन (Justin)। मेगस्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त के जीवन और उसके राज्य-प्रबन्ध का विस्तृत वृत्तान्त दिया है। सम्राट प्रायः अपना शयनकक्ष और शय्या बदला करता, जिससे कोई गुप्त रूप से सोते में उसकी हत्या न कर डाले। जब वह आखेट के लिए जाता तो सैनिक स्त्रियाँ रथों, घोड़ों और हाथियों पर सवार होकर उसकी रक्षा करती हुई साथ-साथ जातीं। सम्राट् महल से केवल पूजा करने, दरबार में महत्त्वपूर्ण अभियोग सुनने तथा युद्ध में सेना का नेतृत्व करने के लिए बाहर निकलता था।

(ii) **कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र'** : यह पुस्तक दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत है। इसको चन्द्रगुप्त के प्रधान मंत्री (जो चाणक्य या विष्णुगुप्त के नाम से प्रसिद्ध है) ने बनाया था, जो नन्दवंश से शत्रुता रखने के कारण उसके विरुद्ध चन्द्रगुप्त से मिल गया था। यह राजनीति तथा कूटनीति पर आदर्श पुस्तक है जिसे पढ़ कर कोई भी राजा अपने राज्य को दृढ़ बना सकता है। यह अमूल्य अमर ग्रन्थ भारतीय इतिहास में अतुलनीय है।

(iii) **विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस'** : चन्द्रगुप्त के जीवन-वृत्तान्त को जानने का अच्छा स्रोत है। यद्यपि यह समकालीन नहीं है परन्तु पाँचवीं शताब्दी (गुप्तवंश) में लिखे गये इस नाटक में चन्द्रगुप्त के विद्रोह की घटनाओं का विस्तृत वर्णन है कि किस प्रकार चाणक्य की सलाह से उसने पहले पौरवों को अपना मित्रराष्ट्र बनाया और नन्दों का विनाश कर जब मगध का साम्राज्य मिल गया तो किस प्रकार पौरवों के राजा को भी मरवा डाला।

(iv) **जैन और बौद्धों की कथाओं** से भी मौर्य-वंश का बहुत-कुछ वृत्तान्त मिलता है। जैन कहते हैं कि जीवन के अन्तिम काल में चन्द्रगुप्त कट्टर जैनी हो गया था और राज्य त्यागकर जैन आदर्शों के अनुसार उपवास रखकर जीवन का अन्त कर दिया था। दिव्यदान तथा अन्य बौद्ध ग्रंथ, जो परम्परागत कथाओं से भरे हुए हैं, मौर्य-इतिहास-सम्बन्धी सूचनाओं के महत्वपूर्ण स्रोत हैं, किन्तु वे सर्वथा विश्वास के योग्य नहीं हैं।

(v) **पुराण** भी मौर्यवंश के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। मौर्य साम्राज्य को बहुत विस्तृत तथा शक्तिशाली बतलाया गया है।

(vi) **पुरानी इमारतों के खण्डहर** : विशेषतया अशोक की लाट तथा चट्टानों के शिलालेख कुछ अंशों में मौर्यवंशीय इतिहास के सर्वाधिक विश्वास योग्य तथा बड़े स्रोत हैं। रुद्रदमन के जूनागढ़ के शिलालेख से चन्द्रगुप्त की सिंचन-पद्धति पर प्रकाश डाला है और अशोक के शिलालेख ने उसकी धर्म-नीति का पता चलता है और इस बात में सहायता मिलती है कि उसका राज्य कहाँ तक फैला हुआ था और कला का कहाँ तक विकास हुआ था। कुछ शिलालेख अशोक की शासन-प्रणाली पर प्रकाश डालते हैं।

खंड २ : चन्द्रगुप्त मौर्य का जीवन-चरित्र और विजय

प्रारम्भिक जीवन : चन्द्रगुप्त के वंश और उसके बचपन के विषय में बहुत कम वृत्तान्त मिलता है। पूर्व-प्रचलित मत है कि वह मुरा नाम की एक शूद्रा का पुत्र था, अब अमान्य हो गया है और अब ऐसा मत है कि वह एक शक्तिशाली क्षत्रिय राजा का पुत्र था, जिसको नन्द ने पराजित कर दिया था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त मगध के राजदरबार का एक कर्मचारी था और राजा को मारने का यत्न करने के कारण देश से निकाल दिया गया था। वह पंजाब चला गया और चाणक्य से भेंट की, जो स्वयं नन्द से अपमानित होने के कारण प्रतिहिंसा की अग्नि से जल रहा था। दोनों ने

मिलकर पंजाब में एक छोटी-सी सेना एकत्रित की, और यूनानियों को उत्तर-पश्चिम भारत से निकाल दिया। तब नैपाल के राजा से संधि करके उसने मगध पर चढ़ाई कर दी। मगध एक विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य था, परन्तु चाणक्य ने शत्रुओं में फूट डलवा दी और उन पर विजय प्राप्त कर ली। चन्द्रगुप्त अब समस्त उत्तरी भारत का राजा बन बैठा (ईसा से ३२२ वर्ष पूर्व)।

सैल्यूकस से युद्ध (ईसा से ३०५ वर्ष पूर्व) : सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् सैल्यूकस ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और बैबीलोन, बैक्ट्रिया और अफ़गानिस्तान का स्वामी हो गया। ईसा से ३०५ वर्ष पूर्व उसने सिकन्दर के उन प्रदेशों को जीतने के लिए चढ़ाई कर दी, जिनको चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य में मिला लिया था। युद्ध का वृत्तान्त ज्ञात नहीं है, किन्तु यूनानी लेखक कहते हैं कि सैल्यूकस को अपनी बेटी चन्द्रगुप्त को देनी पड़ी थी और इसके अतिरिक्त हिरात, कन्धार, काबुल और बिलोचिस्तान के प्रान्त भी देने पड़े थे। इस भाँति यह सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त के हाथों यूनानियों की विकट पराजय हुई। चन्द्रगुप्त ने अपने पराजित शत्रु का बड़ा सम्मान किया और उसको ५०० हाथी भेंट में भेजे। इसके बदले सैल्यूकस ने अपना राजदूत मैगस्थनीज पाटलिपुत्र भेजा। वह विजय बड़ी महत्वपूर्ण थी। इससे भारत की सीमा हिन्दूकुश से परे तक फैल गई।

चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमाएँ : उसका विशाल साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश से भी परे तक फैला हुआ था, पूर्व में बंगाल तक और पश्चिम में अरब सागर तक। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि दक्षिण में इसका राज्य विन्ध्याचल के पार भी फैला था। इस भाँति काश्मीर और कलिंग प्रदेश को छोड़कर समस्त भारत, अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान उसके राज्य के अन्तर्गत थे। शासन-प्रबन्ध के लिए चन्द्रगुप्त के चार प्रान्त उज्जैन, मगध, तक्षशिला और स्वर्णनगरी थे।

चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिन : बौद्ध तथा पौराणिक दोनों सूत्रों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज्य किया। जैन-कथाएँ बतलाती हैं कि वह अपने अन्तिम समय में जैन हो गया, राज्य छोड़कर दक्षिण में चला गया और जैनियों की भाँति अनशन करके उसने लगभग २९८ ई० पू० में अपना प्राणान्त किया।

खण्ड ३ : चन्द्रगुप्त का शासन-प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त केवल वीर योद्धा ही न था वरन् श्रेष्ठ शासक भी था। **शासन-प्रबन्ध में उसे चाणक्य की अपूर्व सहायता प्राप्त थी** जो कि उसका गुरु, मंत्री और पथ-प्रदर्शक था और जिसने अपने ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना की थी।

केन्द्रीय सरकार : सम्राट् राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। वास्तव में वही प्रधान शासक, विधान-निर्माता व प्रधान न्यायाधीश था। स्त्रियाँ उसकी अंगरक्षक होती थीं। वह प्रजा को सदा प्रसन्न रखना अपना कर्त्तव्य समझता था और उच्च आदर्शों का पालन करता था। वह कदापि अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करता

था। मंत्री उसके मुख्य परामर्शदाता होते थे, जिनमें मुख्य समाहर्तृ थे (देश तथा अर्थ मंत्री), सन्निधातृ (श्रम मंत्री), दौवारक (राज-भवन का प्रधान अधिकारी) और सेनापति। इन मन्त्रियों की सहायता के लिए राज्य-कार्यालय में अध्यक्ष होते थे। अमात्य भिन्न-भिन्न कार्यालयों के प्रधान संचालक होते थे। राज्य की एक परिषद् होती थी। इसके सदस्य मंत्री, अमात्य तथा राज्य के दूसरे मुख्य व्यक्ति होते थे। यह एक प्रकार की संसद थी, जो सम्राट् को युद्ध और सन्धि-सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषयों पर परामर्श दिया करती थी।

प्रान्तीय शासन : राज्य के चारों ओर के प्रान्तों में से मगध का शासन-प्रबन्ध सीधा सम्राट् के हाथों में था। उत्तर-पश्चिमी प्रदेश की राजधानी तक्षशिला, पश्चिम की उज्जैन और दक्षिण की स्वर्णनगरी थी। प्रत्येक का शासन-कर्त्ता प्राय: राजवंश का ही व्यक्ति होता था, जिसकी सहायता के लिये दुर्गपाल नियत किए जाते थे जो भिन्न-भिन्न नगरों और जिलों की देख-भाल करते थे।

स्थानीय शासन : बड़े-बड़े नगरों का शासन नागरिक करते थे और उनकी सहायता के लिए स्थानिक और गोप होते थे। परन्तु स्थानीय शासन में महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात यह थी कि ३० व्यक्तियों की एक समिति होती थी, जो पाँच-पाँच व्यक्तियों की छोटी-छोटी उपसमितियों में बँटी होती थी, जिसका दैनिक कार्य अध्यक्ष करते थे।

मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की नगर-प्रबन्धकारिणी समिति की छहों उपसमितियों का वर्णन इस प्रकार किया है—

पहली उपसमिति उद्योग-धन्धों को देखती, उनका प्रबन्ध करती तथा उन्नति के उपाय सोचती, शिल्पियों की देख-भाल करती और उनका पारिश्रमिक नियत करती, और राज्य के नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती थी। दूसरी समिति विदेशियों के ठहरने, उनके भोजन तथा चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करती थी और किसी की मृत्यु हो जाने पर उसकी अन्तिम क्रिया तथा उसकी सम्पत्ति का प्रबन्ध आदि कार्य करती थी। तीसरी समिति नगर में होने वाली जन्म-मरण की संख्या दर्ज करने का कार्य करती और इस बात का ध्यान रखती थी कि गणना में भूल न हो। चौथी समिति मण्डियों का प्रबन्ध करती और देख-भाल रखती थी कि कोई दुकानदार नकली बाटों का प्रयोग न करे, और उनको आज्ञा-पत्र देती थी। पाँचवीं समिति उत्पादनों की देखभाल करती थी और पुराने माल को बिकवाने का प्रबन्ध करती थी और देखती थी कि किसी ने धोखे से नई वस्तुओं में तो पुरानी वस्तुएँ नहीं मिला दी हैं। छठी समिति कर-संग्रह करती थी जो लाभ का १०% होता था। कर देने से बचने का तथा बिलकुल न देने का जो प्रयत्न करता उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। **सामूहिक रूप से ये सब उपसमितियाँ उद्यानों, चिकित्सालयों, पाठशालाओं, मन्दिरों और बन्दरगाहों इत्यादि सार्वजनिक कार्यों की देखभाल करती थीं।**

इस प्रकार मौर्य-काल में म्युनिस्पिल शासन उस आदर्श को पहुँचा हुआ था

जिससे वर्तमान नागरिक संघ का कोई भी चतुर अधिकारी संतुष्ट हो सकता है।

ग्राम शासन-प्रबन्ध : स्वाधीन था। पंचायत सब बातों का निर्णय करती थी, जैसे गाँव के नाइयों, धोबियों, कुम्हारों आदि के कर्त्तव्य और अधिकार। गाँव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था, गाँवों के समूहों पर गोप होता था और बहुत-से गोपों के ऊपर स्थानिक होता था जो समाहर्तृ के अधीन होता था।

चन्द्रगुप्त के अधीन मौर्यों की सेना विशाल थी। युद्ध के समय सेना की बाग़डोर स्वयं राजा के हाथ में होती थी, यद्यपि सेना का एक स्थायी सेनापति होता था जिसका वेतन प्रधान मन्त्री के बराबर होता था। सेना का शासक बालाध्यक्ष कहलाता था। **सेना चार प्रकार की थी, अर्थात् हाथी, अश्व, रथ और प्यादा सैनिक।** सेना में ९,००० हाथी, ८,००० रथ, ३०,००० घोड़े तथा छः लाख प्यादे होते थे। उनको राजकोष से बराबर वेतन मिलता था और मैगस्थनीज के अनुसार उनकी संख्या कृषकों को छोड़कर सब श्रेणियों से अधिक थी। इस विशाल **सेना का शासन ३० सदस्यों की समिति को सौंपा गया था** जो पाँच-पाँच सदस्यों की छः उपसमितियों में विभक्त थी।

प्रथम सैनिक उपसमिति नौकाओं व जलयानों की देखभाल करती, समुद्री डाकुओं को दण्ड देती और व्यापारियों से कर लेती थी। दूसरी उपसमिति सेना के यातायात का प्रबन्ध करती जिसके लिए उसके पास बहुत-सी बैलगाड़ियाँ होती थीं। तीसरी उप-समिति पैदल सेना की देखभाल करती थी। चौथी, पाँचवीं और छठी उपसमितियाँ क्रमशः घुड़सवार, हाथी और रथ-सेनाओं की देखभाल करती थीं। प्रत्येक उपसमिति का एक अध्यक्ष होता था जो बोर्ड का दैनिक कार्य-संचालन करता था।

अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-कौशल : यूनानी स्रोतों से पता चलता है कि प्रत्येक पदाति सैनिक के पास उसकी लम्बाई के बराबर धनुष होता था। उसे भूमि पर रखकर बाएँ पैर से दबाकर वह बाण छोड़ता था और भारतीय धनुर्धारी के बाण को न ढाल रोक सकती थी और न कवच। प्रत्येक पदाति के पास तीन हाथ लम्बी और काफी चौड़े फल वाली तलवार भी होती थी, और घुड़सवार सैनिक के पास दो भाले और एक ढाल होती थी।

न्याय-प्रणाली : चन्द्रगुप्त न्याय करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता था और कभी-कभी अभियोगों को सुनने के लिए सारे दिन बैठा रहता था। भिन्न-भिन्न भागों में छोटे-छोटे न्यायालय बने थे और प्रत्येक में छः न्यायाधीश होते थे—तीन धर्मिष्ठ और तीन अमात्य। अपील की रीति प्रचलित थी, गवाह बुलाए जाते थे, गवाहियाँ दर्ज होती थीं और अन्त में नियमानुसार निर्णय दिया जाता था। अर्थदण्ड ९६ पण (एक मुद्रा) से १,००० पण तक दिया जाता था तथा कठोर दण्ड, जैसे सिर मुड़वा देना, जनता के सामने तिरस्कार करना, अंग-भंग करना अथवा प्राण-दण्ड भी दिया जाता था। प्रबन्ध इतना अच्छा था कि मैगस्थनीज के वृत्तान्त के अनुसार पाटलिपुत्र की बहुत बड़ी जनसंख्या में चोरी **केवल नाम-मात्र को ही होती थी।**

आय और भूमि-कर : प्रधान मंत्री कौटिल्य शासन-प्रबन्ध के लिए आय के साधनों का होना बहुत आवश्यक समझता था, अतएव उसने समाहर्तों की नियुक्ति की कि वे खानों तथा वनों से कर, पशु-कर, पथ-कर, जल-कर तथा भूमि-कर इकट्ठा करें। भूमि-कर उपज का एक-चौथाई भाग होता था। राज्य की आय को बहुत सोच-विचार के बाद उत्तम-उत्तम कार्यों में व्यय किया जाता था।

गुप्तचर विभाग : प्रत्येक विभाग में गुप्तचरों का कार्य पूर्ण रूप से सुसंगठित था। गुप्तचर स्थायी और इधर-उधर घूमने वाले होते थे और भिन्न-भिन्न विभागों में काम करने वाले अफसरों के समाचार तथा जनता के विचार लिखित भेजते रहते थे। ये गुप्तचर विश्वसनीय होते थे और बहुत-कुछ राज्य का प्रचार करते फिरते थे।

चन्द्रगुप्त का मूल्यांकन : चन्द्रगुप्त मौर्य प्राचीन भारत का एक अत्यन्त महान् राजा हुआ है। वह आरम्भ में एक बेघर मनुष्य था और ऐसी अवस्था से उठकर उसने एक इतने बड़े राज्य की स्थापना की कि जिसकी सीमाएँ भारत के बाहर तक फैल गई थीं। इसने यह कार्य नंदवंश को नष्ट करके व सिकन्दर (Alexander) के उत्तराधिकारी को पराजित करके सम्पन्न किया था। उसने समस्त विदेशी शासकों को भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों से मार भगाया और **विदेशी पंजे से देश को छुड़ाया।**

प्राचीन भारत और विदेशों के समस्त लेखकों ने उसको महान् योद्धा, राजनीतिज्ञ तथा शासक कहा है, जबकि 'मुद्राराक्षस' ने उसको एक देवता माना है जो अपने देश की रक्षा करने के लिए स्वर्ग से उतरा था। मैगस्थनीज और एरियन उसको शान्ति का सन्देश देने वाला कहते हैं। उसके हृदय में अपनी प्रजा की भलाई भरी हुई थी, जिसके फलस्वरूप उसका शासन-प्रबन्ध इतना उत्तम था। वह एक शक्तिशाली राजा था जिसने अपने पूर्वजों की अपेक्षा बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना की और लगभग समस्त देश को एक झंडे के नीचे खड़ा कर दिया।

(ख) अशोक महान् (ईसा) से पूर्व २७३ से २३६ तक

खण्ड १ : प्रारम्भिक जीवन और विजय

ईसा से २९८ वर्ष पूर्व में चन्द्रगुप्त के राज्य त्याग देने पर उसका बेटा बिन्दुसार 'अमित्रघात' की उपाधि से उसी वर्ष गद्दी पर बैठा और उसको अनेक शत्रुओं से युद्ध करना पड़ा। वह महान् शासक माना जाता है जिसने दक्षिण के एक भाग को जीत कर अपने राज्य की सीमा दक्षिण में पन्नार नदी तक बढ़ा ली और नए जीते हुए प्रदेश को एक प्रान्त बनाकर स्वर्णनगरी को उसकी राजधानी बनाया। सैल्यूकस के उत्तराधिकारी ऐन्टियोकस से उसकी मित्रता थी, जिसका पता इस बात से चलता है कि बिन्दुसार ने उससे अंजीर, मुनक्के, मीठी शराब और एक दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। ऐन्टियोकस ने अन्य वस्तुएँ भेज दीं, किन्तु शोक प्रकट

किया था कि यूनान में दार्शनिक नहीं बिकते । उसका राज्य ईसा से २७३ वर्ष पूर्व तक रहा ।

अशोक का पूर्व वृत्तान्त : कहा जाता है कि बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक राज्य किया, जिसके बाद उसका बेटा अशोकवर्धन अथवा अशोक गद्दी पर बैठा जो उसके १०१ बेटों में से एक था । उसको देवानाम्प्रिय, प्रियदर्शन आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता था । अपने पिता के राज्यकाल में अशोक उज्जैन का शासक था । शीघ्र ही उसको तक्षशिला में एक विद्रोह को दबाकर शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा गया था । लंका की कथाएँ उसको महत्वाकांक्षी, निर्दय और लहू का प्यासा बताती हैं जो अपने मंत्री राधागुप्त की सहायता से ९९ भाइयों को मारकर गद्दी पर बैठा और केवल तिष्य नामक एक भाई को जीवित छोड़ा था । बौद्धों ने जान-बूझकर उसको अत्यन्त अधम बतलाया है, क्योंकि वे इस बात से अपने धर्म की महत्ता दिखलाना चाहते थे कि उनके धर्म ने उसको चण्ड-अशोक अर्थात् निर्दयी अशोक से धर्मात्मा अशोक बना दिया ।

राजगद्दी (२७३ ई० पू०) और राज्याभिषेक (२६९ ई० पू०) :

उसके गद्दी पर बैठने और राज्याभिषेक होने में जो चार वर्ष का लम्बा समय लगा उसका कारण या तो यह था कि वह चार वर्ष तक बराबर युद्ध में लगा रहा अथवा राज्याभिषेक के लिए इस बात की प्रतीक्षा की गई कि वह २५ वर्ष का हो जाय । अशोक की समस्त राजाज्ञाएँ उसके अभिषेक के समय से निकलीं न कि गद्दी पर बैठने के समय से, जिससे ज्ञात होता है कि वह अभिषेक का कितना महत्व समझता था ।

कलिंग-युद्ध (२६१ ई० पू०) : आरम्भ में उसने भी अपने पूर्वजों की भाँति साम्राज्य बढ़ाने के लिए युद्ध किये, किन्तु उसके पिता तथा दादा ने उसके जीतने के लिए बहुत कम प्रदेश छोड़े थे । अभिषेक होने के आठ वर्ष के पश्चात् उसने कलिंग जीतने के लिए चढ़ाई कर दी । मैगस्थनीज के वृत्तान्त के अनुसार कलिंग के राजा की सेना में ६०,००० पैदल, १,००० घोड़े और १०० युद्ध के हाथी थे । किन्तु तेरहवें शिलालेख के अनुसार कलिंग के १,५०,००० सैनिक बन्दी बनाए गए और १,००,००० सैनिक मारे गए, जिससे ज्ञात होता है कि उसकी सेना बहुत बड़ी थी । कलिंग-युद्ध के भयानक हत्याकाण्ड को देख कर अशोक का हृदय पश्चाताप, शोक और दुख से भर गया । युद्ध की भीषणता ने उसके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में बड़ा आन्दोलन मचा दिया । कलिंग का युद्ध उसका प्रथम और अन्तिम युद्ध हुआ है । यहीं मौर्यों की विजय का अन्त हो गया । इस युद्ध से अशोक के समस्त जीवन और चरित्र पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा ।

उसने अभ्युदय की नीति सदा के लिए त्याग दी और दिग्विजय के स्थान पर वह धर्म-विजय अर्थात् आत्मिक विजय की आकांक्षा करने लगा । युद्ध समाप्त होते ही वह प्रेम और धर्म का पाठ सीखने लगा । उसने सोचा था कि सच्ची विजय अस्त्र-शस्त्र से नहीं वरन् धर्म से ही प्राप्त हो सकती है । केवल युद्ध के हत्याकाण्ड

से नहीं, हर प्रकार की हिंसा से अशोक को घृणा हो गई। उसने आखेट बन्द कर दिया और आज्ञा दी कि राजभवन के भोजन के लिए पशुओं का वध न किया जाय। युद्ध से उसमें धर्म-परिवर्तन भी हुआ। अभी तक वह केवल बौद्ध धर्म का उपासक ही था परन्तु अब संघ का सक्रिय सदस्य बन गया और बौद्धमत के प्रचार के लिए राज्य से हर प्रकार की सहायता दी। शासन-प्रबन्ध में भी काफी अन्तर आ गया। हर प्रकार से प्रजा के दुख और शोक को घटाने का प्रयत्न किया गया। लोगों के चरित्र को सुधारने के लिए धर्मोपदेशकों की नियुक्ति की गई तथा अशोक स्वयं प्रजा के हित-कार्यों में अधिक ध्यान देने लगा।

साम्राज्य की सीमाएँ : कलिंग-विजय से मौर्यों की सीमा बंगाल की खाड़ी तक फैल गई। नैपाल और काश्मीर भी राज्य में सम्मिलित थे। दक्षिण में उसके राज्य की सीमा पन्नार नदी तक थी, उत्तर-पश्चिम में उसके राज्य की सीमा ऐन्टियोकस द्वितीय के राज्य की सीमा से मिलती थी, जिसमें अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान के प्रान्त शामिल थे। पश्चिम में सीमा पश्चिमी समुद्रतट तक फैली हुई थी। इससे पूर्व किसी सम्राट् ने इतने बड़े भाग पर शासन नहीं किया।

खण्ड २ : अशोक का शासन-प्रबन्ध

उसका आदर्श—प्रजा की दिन-रात सेवा : अशोक को अपने पूर्वजों से एक सुसंगठित शासन-प्रणाली मिली थी जिसमें उसने कुछ संशोधन किये। वह अपने पितामह की भाँति विजेता सम्राट् नहीं बनना चाहता था वरन् प्रजा का पालक पिता बनना चाहता था। कलिंग राजाज्ञा द्वितीय में लिखा है, "सब मनुष्य मेरे बच्चे हैं और जिस भाँति मैं अपने बच्चों की सुख और समृद्धि इस लोक तथा परलोक में चाहता हूँ, उसी भाँति सब लोगों की चाहता हूँ।" उसका सारा दिन प्रजा के हित में व्यतीत होता था, न कि आखेट या आमोद-प्रमोद में। राज्य-कार्य के लिए उससे हर समय और हर स्थान में मिला जा सकता था। उसने अपने छठे शिलालेख में कहा है, "हर समय, चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ, चाहे रनिवास में हूँ, चाहे शयनकक्ष में हूँ, चाहे बाग में हूँ और चाहे धार्मिक उपदेश सुन रहा हूँ—प्रत्येक स्थान में प्रतिवेदक (पेशकार) मुझसे प्रजा के समाचार बताने के लिए मिल सकता है। मुझे सदा परिश्रम और कर्त्तव्य पालन की भूख बनी रहती है। जनता की भलाई के लिए मुझे अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि उससे अधिक आवश्यक और कोई काम नहीं है।" वह अपने आदर्शों को केवल कहता ही नहीं था वरन् उनको व्यवहार में भी लाता था। सेना का व्यय घटा दिया गया और इससे जो बचत हुई थी उसको चिकित्सालयों, विहारों तथा अन्य सार्वजनिक कामों में लगा दिया गया। उन्नति तथा सुख के हेतु प्रजा की अवस्था को वास्तविक रूप से जानना आवश्यक था और इस उद्देश्य से अशोक देश-भर में घूमा करता था।

उसने राज्य-कर्मचारियों को मनमानी नहीं करने दी, बल्कि उनको इस आदर्श-पालन का अभ्यासी बना दिया कि प्रजा की भलाई का सर्वथा ध्यान रखें। चतुर्थ

स्तम्भ में लिखा है, "जिस भाँति कोई व्यक्ति अपने बच्चे को किसी योग्य धाय को पालने के लिए सौंप देता है कि वह बच्चे को सदा सुखी रखे, इसी भाँति मैंने अपने प्रान्तों को गवर्नरों को सौंप दिया है कि वे प्रजा को सुखी रखें।"

अशोक के साम्राज्य के चार प्रान्त : राजाज्ञाओं ने चार प्रान्तों का वर्णन किया है जो कुमारों अर्थात् आर्यपुत्रों के अधीन थे—

(१) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश, जिसमें गान्धार देश और पंजाब शामिल थे (राजधानी—तक्षशिला), (२) कलिंग तथा अन्य पूर्वी प्रदेश (राजधानी—तोसाली), (३) पश्चिमी भारत और सौराष्ट्र (राजधानी—उज्जैन), और (४) दक्षिणी भारत (राजधानी—स्वर्णनगरी)। प्रान्तीय शासकों के अधिकारों और शक्ति को परिमित सीमा में रखा जाता था और उनके कुछ अधिकार महामात्रों को दे दिये गये थे।

प्रादेशिक, राजुक और युक्त : कुमारों को प्रान्तों के गवर्नर बनाने के अतिरिक्त प्रादेशिकों को प्रदेश का अधिकारी बनाया था। राजुक अन्य महत्वपूर्ण राज्य-कर्मचारी था, जिसके अधीन राज्य की आय और उसका प्रबन्ध था। युक्त प्रायः कोषाध्यक्ष होते थे जो राज्य की सम्पत्ति का प्रबन्ध करते, उसकी आय का हिसाब रखते और उसे उन साधनों में व्यय करते जिनसे राज्य की आय बढ़ सकती थी। सीमा प्रदेश सारा अन्त-महामात्रों की देखभाल में था।

महामात्र—धर्म-महामात्र : किन्तु वास्तविक शासन महामात्रों के हाथ में था। स्त्रियों की देखभाल के लिए विशेष महामात्र होते थे, जिलों की देखभाल के लिये प्रादेशिक महामात्र तथा सीमा प्रदेशों की देखभाल के लिए अन्त-महामात्र थे और इसी भाँति और भी थे। परन्तु धर्म-महामात्र सबसे प्रधान थे जिनको अशोक ने ईसा से २६० वर्ष पूर्व नियुक्त किया था। वे बराबर यह देखने के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे कि अन्य कर्मचारी अपने-अपने क्षेत्रों में ठीक काम कर रहे हैं, न्याय में पक्षपात तो नहीं होता और बन्दियों के आश्रितों की उचित देखभाल की जाती है या नहीं। लोग धर्म का पालन करते हैं या नहीं। उन लोगों को राज्य से सहायता दी जाती है या नहीं जो बुढ़ापे के कारण अथवा अन्य परिस्थितिवश उसके इच्छुक हैं। विद्वान् और धर्मात्माओं का उचित सत्कार होता है और योग्य पात्रों को दान दिया जाता है या नहीं। रनिवास की स्त्रियों का आचरण धर्मानुसार है या नहीं।

भ्रमण : राजकर्मचारियों के कर्त्तव्य का एक अंग : अशोक अपने कर्मचारियों को उत्साहित करता था कि वे समय-समय पर अपने क्षेत्र का दौरा करते रहा करें जिससे वे अपने अधीन लोगों के सम्पर्क में आते रहें। कुमारों को भी तीन या पांच वर्ष में एक बार अपने प्रान्त का दौरा करना पड़ता था। स्वयं भी दौरे पर जाना अशोक अपना कर्त्तव्य समझता था और प्रायः अपने सम्पूर्ण राज्य का दौरा किया करता था। इन दौरों का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता था। समस्त शासन-प्रबन्ध का

चित्र उसके सम्मुख आ जाता और राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध और भी निकट हो जाते थे।

सार्वजनिक कार्य : देश की भलाई के लिए अनेक सार्वजनिक कार्य किये गए और अनेक वस्तुओं का निर्माण हुआ। सप्तम लेख में लिखा है, "सड़कों पर मनुष्यों के हेतु छाया करने के लिए पीपल तथा आम के वृक्ष लगाए हुए थे और आधे-आधे कोस पर कुएँ खुदे थे, विश्रामघर बने थे, अनेक जलाशय थे, मनुष्यों तथा पशुओं के लिए अस्पताल थे, औषधियाँ उत्पन्न की जाती थीं तथा उनका वितरण होता था।"

इस भाँति अशोक प्रजा के लिए दिन-रात, परिश्रम करता, अपने कर्मचारियों से आशा रखता कि वे अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहें, उनको अपना कर्त्तव्य सुझाने के लिए विशेष व्यक्तियों को लगाता और समय-समय पर आज्ञापत्र निकालकर अपने उच्च आदर्शों को लोगों को बताता था जिससे वे धर्म-पथ से भटकने न पायें। सारे देश में स्वतन्त्रता, शान्ति तथा भलाई की स्पष्ट उच्च ध्वनि उठकर स्तम्भों और पर्वतों में गूँजती थी। युद्ध के नगाड़े की ध्वनि नीरव थी।

खण्ड ३ : अशोक का धर्म

धर्म का अर्थ : 'सदाचार सुखों की जननी है', इसके आधार पर उसने भिन्न-भिन्न धर्मों के अच्छे-अच्छे सिद्धान्तों को चुन लिया था। इन सबके संग्रह को उसने धर्म माना, जो न तो निरा बौद्धमत था और न कोई अन्य मत। इसमें न अष्ट मार्ग का वर्णन है और न चार बड़े सत्य का ही। यह सब धर्मों का निचोड़ था, एक नियम-संहिता थी जो शुद्धाचरण के आधार पर बनी थी। इसमें न कोई आध्यात्मिक विषय था, न सिद्धान्त थे और न रीति-रिवाज, वरन् सर्वमान्य गुणों का संग्रह था जो केवल बौद्धमत ही से नहीं लिया गया था। अशोक ने कोई नई बात नहीं कही, किन्तु केवल दया, दान, शौच, मार्दव आदि उत्तम गुणों की बड़े उत्साह से व्याख्या की और उनका प्रचार किया।

अशोक की बड़ाई इस बात में है कि उसने अपने आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक विशाल तथा चतुर ढंग अपनाया। बुद्ध के वास्तविक उपदेश के अनुसार उसने धर्म के सिद्धान्तों की अपेक्षा उसकी व्यावहारिकता पर विशेष बल दिया। व्यावहारिक धर्म में ये बातें थीं—माता, पिता, गुरु तथा अपने से बड़ों की आज्ञा-पालन तथा सम्मान; सब सम्बन्धियों से नम्र व्यवहार; छोटों पर दया तथा नम्रता का व्यवहार, जैसे आश्रित, निम्न कर्मचारी, भृत्य, दास, कंगाल। सम्बन्धी तथा जान-पहचान वाले आदि कर्मचारियों को अपने नीचे काम करने वालों से घमण्ड का नहीं वरन् दया का बर्ताव करना चाहिए। संन्यासियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के साथ उदारता का व उचित व्यवहार करना चाहिए। सर्वसाधारण को आदेश दिया गया कि वे सदा सत्य बोलें; चाहे उसमें धन की हानि ही क्यों न हो, दान दें तथा दूसरों की सेवा में आत्म-त्याग करें।

धर्म का सिद्धान्त अहिंसा में निहित था, अर्थात् किसी जीव को न सताना चाहिए, धार्मिक सहिष्णुता होनी चाहिए और सदाचार द्वारा सांसारिक दुःखों से छुटकारा यानी मोक्ष पानी चाहिए। इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए उसने शाही शिकार बन्द कर दिया था और पशुओं के लिए अस्पताल खोले थे तथा राजगृह के भोजनालय के लिए पशुओं का वध बन्द था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वह अधिकाधिक अहिंसा का पक्षपाती बनता गया। २४३ ई० पू० में उसने ऐसी घोषणा की जिसके अनुसार वर्ष में ५६ दिन ऐसे रखे गये जिनमें जीव-हत्या बिलकुल बन्द कर दी गई और शेष दिनों में कुछ विशेष जीवों की हत्या बन्द कर दी गई। ऐसा उपदेश भी दिया गया कि अन्य मत-मतान्तर वालों से सहिष्णुता का व्यवहार करना धर्म का मुख्य अंग है। ऐसी शिक्षा भी दी गई जिसे अशोक सदाचार समझता था। लोगों को उपदेश दिया गया कि इसी धर्म के द्वारा वे परलोक में स्थायी सुख और स्वतन्त्रता प्राप्त करें।

धर्म-प्रचार के उपाय : पहले अशोक ने व्यक्तिगत उदाहरण लोगों के सम्मुख रखा कि वह आमोद-प्रमोद के लिए नहीं वरन् धर्म प्रचार के लिए यात्रा करता था। दूसरे, शारीरिक तथा सेना-सम्बन्धी आज्ञाओं के साथ-साथ धर्म-सम्बन्धी आज्ञाएँ भी निकालता रहता था। तृतीय, उसने धर्म के सिद्धान्तों को अपने राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों में चट्टानों तथा स्तम्भों पर खुदवा दिया था। अन्तिम, उसने विशेष धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की थी, जिनको कहा गया था कि इधर-उधर भ्रमण करके लोगों के सदाचार को ऊँचा करें और लोगों को उपदेश दें कि वे सम्राट् द्वारा बताये गए धर्म का पालन करें।

अशोक का धर्म-परिवर्तन

अपने प्रारम्भिक जीवन में अशोक ब्राह्मण धर्म में श्रद्धा रखता था और ब्राह्मणों का बड़ा भक्त था। वह पशुओं तथा यदि आवश्यक हो तो मनुष्य के वध के भी विरुद्ध न था। नित्य हजारों पशु-पक्षियों का वध राजकीय पाकशाला के लिए किया जाता था। कलिंग-युद्ध तक अशोक का यही व्यवहार रहा। किंतु युद्ध के भयंकर हत्याकाण्ड ने उसके मस्तिष्क तथा चरित्र दोनों को ही बदल दिया। बहुत खून-खराबा देखकर तथा मृतकों के सम्बन्धियों का हाहाकार तथा करुण पुकार से उसका हृदय पश्चाताप एवं दया से परिपूर्ण हो गया और उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य में युद्ध नहीं करेगा और **बौद्धमत ग्रहण कर लिया।** यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि उसके बौद्ध होने का कोई प्रमाण नहीं, किन्तु अशोक की कतिपय राजाज्ञाएँ मिली हैं जिनमें स्पष्ट रूप से वर्णित है कि वह बुद्ध धम्म और संघ में विश्वास रखता था। इससे स्पष्ट है कि वह बौद्ध था। इसके अतिरिक्त अशोक द्वारा बौद्धों के तीर्थस्थानों की यात्रा, जैसे उस स्थान पर जाना जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था, उसका बुद्ध की शिक्षाओं का प्रसार, सारनाथ की राजाज्ञा में उसकी उन लोगों को चेतावनी जो संघ में फूट डलवाना चाहते थे, उत्सवों पर उसका पशु-बलि

बन्द कर देना, बाद की समस्त परम्परागत कथाओं में उसको बुद्ध का भक्त बतलाया जाना तथा इन सबसे बढ़कर उसका बौद्धों की तीसरी सभा (संगति) बुलाना जिसमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों व नियमों का निर्णय किया गया और उसका दूर-दूर देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए प्रचारकों को भेजना आदि ऐसे प्रबल प्रमाण हैं जिससे उसके बौद्ध बनने के विषय में किसी शंका को स्थान नहीं रह जाता।

२६१ ई० पू० में संघ में शामिल होने के बाद उसने बौद्ध मत के प्रचार के लिए राज्य के समस्त साधनों का प्रयोग किया। वह बौद्धों के तीर्थ-स्थानों में जाने लगा और इस प्रकार उसकी प्रजा को इस मत से अधिकाधिक दिलचस्पी होती गई। २६० ई० पू० में वह गया पहुँचा और बोधि-वृक्ष की पूजा की जहाँ बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उसने अन्य धार्मिक यात्राएँ भी कीं। बहुत-से बौद्धों और बौद्ध भिक्षु उपगुप्त को लेकर वह नैपाल में लुम्बिनी ग्राम के उद्यान में पहुँचा जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था, कपिलवस्तु गया जहाँ बुद्ध ने वैराग्य लिया था, सारनाथ गया जहाँ बुद्ध ने पहले-पहल उपदेश दिया था, कुशीनगर गया जहाँ बुद्ध का देहान्त हुआ और प्रत्येक स्थान पर स्मारक 'चैत्य' बनवाए और बहुत-सा दान दिया। इन यात्राओं के कारण बौद्ध मत अधिक लोकप्रिय होता चला गया।

अशोक के धम्म (धर्म) का प्रकाशन : (१) उसका धर्म पूर्ण रूप से बौद्ध धर्म न था किन्तु अधिकांश में उससे मिलता जुलता था। उसने अपनी प्रजा को बाध्य किया कि बौद्धों द्वारा बतलाये गए सदाचरण पर चलें और शिलालेखों द्वारा अपने धर्म का खूब प्रकाशन किया जिससे लोगों को सम्राट् की इच्छाओं का पता लग जाय। (२) धर्म-महामात्र विशेष कर्मचारी थे जो लोगों को राजाज्ञा मानने के लिए विवश करते थे कि जीवों पर दया करें और माता-पिता के भक्त बनें। उनको इस बात के लिए वेतन मिलता था कि वे न केवल उसके राज्य में ही धर्म का प्रचार करें वरन् पड़ौसी देशों में भी जाकर उसका प्रचार करें। (३) आगे चलकर अशोक बौद्ध संघ का प्रधान बन गया। भब्रू के शिलालेख में उसने अपने भिक्षु तथा भिक्षुणियों के नित्य पाठ करने के लिए एक लेख लिखा था। वह अन्य मत वालों को दण्ड भी देता था, इस प्रकार उसने एक तरह से बौद्ध मत को अप्रत्याशित रूप से सारे राज्य का मत बना दिया था। (४) ईसा से २५२ वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में बौद्धों का तृतीय सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन बौद्धों के आपसी मतभेद को मिटाने के लिए बुलाया गया था। इसकी बैठक नौ मास रही और मतभेद बहुत-कुछ मिट गया। कथावस्तु नामक एक आदर्श धर्म-ग्रन्थ बनाया गया और धर्म प्रचारकों में प्रचार-कार्य करने का उत्साह बढ़ा। (५) बौद्ध मठों को अपार आर्थिक सहायता दी गई और विद्वानों तथा धर्मात्माओं का वेतन नियुक्त कर दिया गया। महावंश की कथा में लिखा है कि अशोक ने देश के विभिन्न मुख्य-मुख्य नगरों में ८४,००० विहार बनवाए। फाहियान कहता है कि बुद्ध के अवशेष के ८४,००० भाग किये गए और प्रत्येक पर स्तूप बनवाया गया, किन्तु यह अतिशयोक्ति है। आज-

कल साँची और भारहूत के सर्वसुन्दर स्तूप शेष हैं। (६) बौद्धों की जातक कथाओं में यह वर्णन मिलता है कि उसके प्रचारक पड़ोसी राज्यों व दूर देशों, जैसे मिस्र और मकदूनिया आदि में भी पहुँचे थे और अपने गुरु का सन्देश उन तक पहुँचाया था। सबसे सफल प्रचार लंका और हिमालय प्रदेश में हुआ। इन दो बड़ी प्रचारक संस्थाओं के द्वारा लाखों अन्धविश्वासी और अज्ञान मनुष्यों ने बौद्धमत अपनाया और हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत पहुँच गए। आज भी वे पूरे बौद्ध बने हुए हैं। बौद्धमत का प्रचार काश्मीर, निम्न बर्मा और कुछ एशिया के पश्चिमी देशों में भी हुआ था और वहाँ भी इसने काफी उन्नति की थी।

विदेशों में धर्म-प्रचारक संस्था का महत्त्व

इन संस्थाओं का असभ्य लोगों पर काफी प्रभाव पड़ा। उन्होंने कर्म का सिद्धान्त लोगों को समझाकर देवता और असुरों आदि में उनके अन्धविश्वासों को दूर कर दिया और पुराने व्यर्थ के जातीय रीति-रिवाजों के स्थान पर आदर्श सदाचार सिखलाया। जहाँ कहीं भी धर्म-प्रचारक गये, भारतीय संस्कृति को साथ लेते गए और यही कारण है कि एशिया के कुछ देशों में अब भी भारतीय सभ्यता के चिह्न पाए जाते हैं; जैसे इमारतें, स्तूप, मठ आदि भारतीय ढंग पर बने हैं। भारत अब अन्य देशों से अलग नहीं रहा और समुद्र-यात्रा को प्रोत्साहन मिला।

अशोक के शिलालेख और स्मारक

(i) **चौदह वृहद् शिलालेख** : अशोक के शासन-काल का बहुत कुछ समाचार उन राजाज्ञाओं से प्राप्त होता है जो चट्टानों, पत्थ गुफाओं की दीवारों अथवा स्तम्भों पर खुदी हुई हैं। सबसे प्रसिद्ध राजाज्ञाएँ वे चौदह आदेश हैं, जो चट्टानों पर खुदे हुए हैं, जो सम्भवतः २५७-२५६ ई० पू० में दिये गए थे। ये सब लेख सीमान्त नगरों में पाए जाते हैं, जैसे मानसेहरा (ऐबटाबाद के समीप) और शाहबाजगढ़ी (पेशावर के समीप)। ये खरोष्टी लिपि में हैं (जो दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है)। दूसरे ब्राह्मी लिपी में हैं जो काठियावाड़ गिरनार में, धौली (जिला पुरी) में और दक्षिण में मास्की में पाए जाते हैं। उनमें अशोक के धर्म के मुख्य उपदेश लिखे हैं। (१) पशु-बलि की निन्दा करता है, (२) मनुष्य और पशुओं के चिकित्सा-प्रबन्ध का वर्णन है, (३) राजकर्मचारियों को आदेश देता है कि हर पाँचवें वर्ष दौरा करें, बड़ों का सम्मान करें तथा छोटों से दया का बर्ताव करें, (४) धर्म के अन्य सिद्धान्तों को बतलाता है, (५) धर्म-महामात्रों की नियुक्ति के विषय में है, (६) आत्मा-संयम पर जोर देता है, (७) और (८) अशोक की तीर्थयात्राओं का वर्णन है, (९) सच्ची भेंट और सच्चा शिष्टाचार बतलाता है, (१०) आदेश देता है कि राजा तथा उच्च राजकर्मचारियों को सदा प्रजा की भलाई में लगा रहना चाहिए, (११) बतलाता है कि धर्म का वरदान सबसे बड़ा है, (१२) आदेश देता है कि सब मतों का आदर करना चाहिए, (१३) कलिंग-

विजय और उसके हत्याकाण्ड का वर्णन है, और (१४) कहता है कि राजा का सन्देश बार-बार दोहराया गया है जिससे लोग धार्मिक जीवन बितायें ।

(ii) **लघु शिलालेख** : ये सम्भवतः ईसा से २३३-२३२ ई० पू० के लगभग प्रकाशित हुए थे । इनमें अशोक के बौद्ध बनने का वर्णन है और उसने धर्म के सिद्धान्तों को बारम्बार दोहराया है । ये लघु शिलालेख सहसराम (बिहार), रूपनाथ (मध्य प्रदेश) और वैराट (राजपूताना) में पाए गए हैं ।

(iii) **दो कलिंग-विषयक राजाज्ञाएँ** : इनमें कलिंग के शासन-प्रबन्ध की नीति का वर्णन है । कदाचित् ये आदेश २५६ ई० पू० में निकाले गए थे और चौदह आदेशों के पूरक थे । इनको उन चट्टानों पर दोहराया है जो धौली और जौगड के समीप पाई जाती हैं ।

(iv) **गुफा के प्रसिद्ध शिलालेख** : सम्भवतः ये शिलालेख २५७-२५६ ई० पू० में गया जिले की पहाड़ियों की तीन गुफाओं की दीवारों पर अंकित किये गए थे । इनसे पता चलता है कि इन गुफाओं को अशोक ने आजीवक जैनियों को दे दिया था, जिससे ज्ञात होता है कि अशोक बौद्धमत के अतिरिक्त दूसरे मतों के प्रति भी सहनशील था ।

(v) **सात स्तम्भ-लेख** : ये स्तम्भ सम्भवतः २४३-२४२ ई० पू० में राज्य के बीचों-बीच अर्थात् दिल्ली, मेरठ, इलाहाबाद, लौरिया, नन्दगढ़ आदि में निर्मित किए गए थे और उनमें धर्म की परिभाषा की गई थी । पाँचवें स्तम्भ-लेख में आदेश किया गया है कि पशुओं का वध न किया जाय । सातवें स्तम्भलेख में उन उपायों का वर्णन है जो अशोक ने सदाचार फैलाने के लिए बरते ।

(vi) **नैपाल की तराई के स्तम्भों पर लेख** : इनमें से एक पदरिया गाँव में और दूसरा निगलीवा (नैपाल) में स्थित है । ये संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण शिलालेख, जो सम्भवतः २४९ ई० पू० में लिखे गए थे, अशोक की उस यात्रा के विषय में बतलाते हैं जिसमें वह बुद्ध का जन्मस्थान देखने गया था ।

(vii) **भब्रू का शिलालेख** : यह लेख राजपूताना में वैराट पर्वत की चोटी पर एक चिकने पत्थर पर अंकित है । इसमें भिक्षुओं और साधारण शिष्यों को उपदेश है तथा धार्मिक ग्रन्थों के सात अंगों की प्रशंसा है ।

शिलालेखों का मूल्य : जनसाधारण की भाषा प्राकृत में लिखे गए तथा २५७ से २३१ ई० पू० में प्रकाशित समस्त शिलालेख उन समाचारों के अमूल्य स्रोत हैं जिनसे अशोक के धर्म, उसकी गृह-सम्बन्धी नीति, शासन-प्रबन्ध तथा बौद्धमत के प्रचार में उसने जो कदम उठाए, आदि बातों का पता चलता है । चट्टानों पर खुदे आदेशों से मालूम होता है कि उसका राज्य कहाँ तक फैला हुआ था और इस बात का भी पता चलता है कि लोगों की आध्यात्मिक उन्नति का वह कितना इच्छुक था ।

अशोक और मौर्य-वंश की कला

बौद्ध कथाओं से पता चलता है कि अशोक ने दो बड़े-बड़े नगर बसाए (श्रीनगर काश्मीर की राजधानी और देवपाटन नैपाल में); अनेक स्तूप, विहार

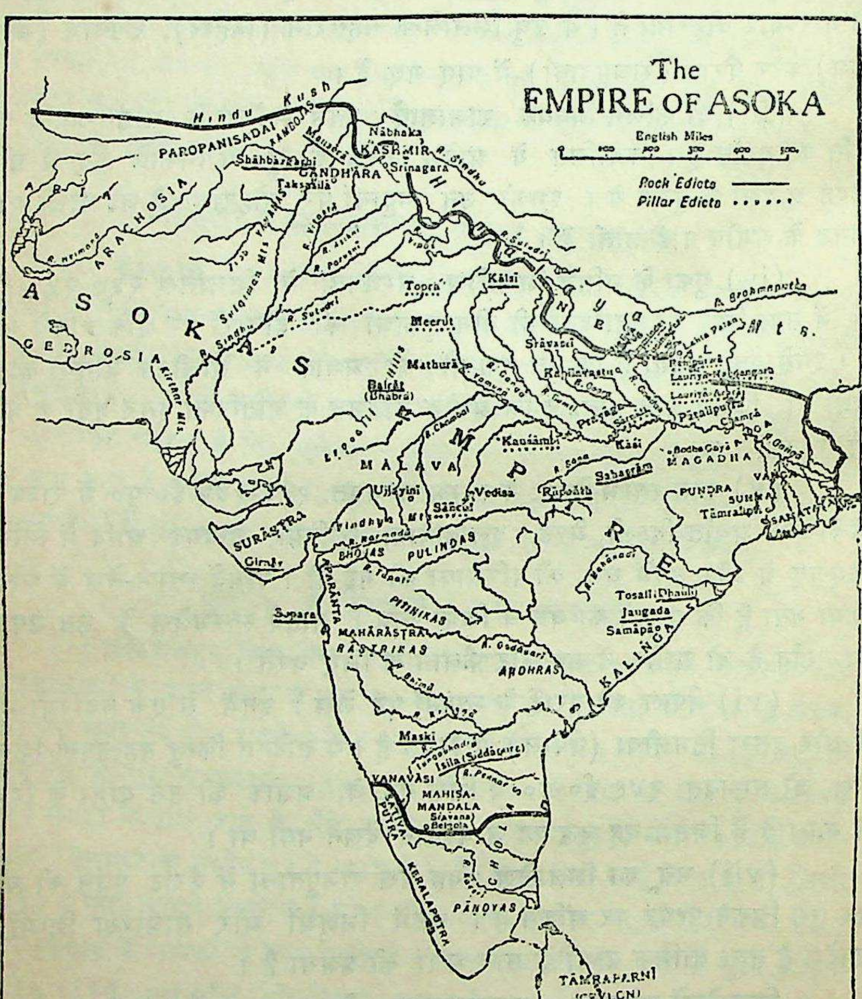
The
EMPIRE OF ASOKA
English Miles
0 100 200 300 400 500
Rock Edicts
Pillar Edicts
Hindu Kush
PAROPANISADAI
KAMBOJAS
ARIA
ARACHOSIA
ASOKAS EMPIRE
GEDROSIA
Nabhaka
KASHMIR
Srinagara
Shahbazgarhi
Mansera
GANDHARA
Taksasila
Topra
Kalsi
Meerut
Mathura
Bairat (Bhabra)
Sravasti
Rummindei
Lauriya-Nandangarh
Lauriya-Araraj
Pataliputra
Prayaga
Kasi
Kausambi
Bodhe Gaya
MAGADHA
ANGA
Champa
Sahasram
Rupnath
Vedisa
Sanchi
Ujjayini
MALAVA
Vindhya Mts
SURASTRA
Girnar
BHOJAS
PULINDAS
APARANTA
Supara
PITINIKAS
MAHARASTRA
RASTRIKAS
ANDHRAS
KALINGA
Tosali (Dhauli)
Jaugada
Samapa
PUNDRA
SUHMA
VANGA
Tamralipti
Maski
Isila (Siddapura)
VANAVASI
MAHISA-MANDALA
Sravana Belgola
SATIYAPUTRA
KERALAPUTRA
CHOLAS
PANDYAS
TAMRAPARNI (CEYLON)
Himalaya Mts.
R. Brahmaputra
R. Sindhu
R. Vitasta
R. Asikni
R. Parusni
R. Sutudri
R. Yamuna
R. Ganga
R. Chambal
R. Sona
R. Narmada
R. Tapti
R. Godavari
R. Mahanadi
R. Krishna
R. Pennar
R. Kaveri
Sulaiman Mts
Kirthar Mts
Aravalli Hills

और स्तम्भ बनवाए जिन पर शिलालेख अंकित थे। काश्मीर में ५०० विहार बनवाये। अशोक ने अनेक स्तूप बनवाए जिनमें से कुछ इतने ऊँचे थे जितनी पहाड़ की चोटियाँ, जो अब तक शेष हैं, जिनमें साँची का स्तूप, जो प्राचीन विदिशा (वर्तमान भूपाल में भेलसा) के समीप है, सबसे अधिक प्रसिद्ध है और उसकी ऊँचाई ५६ फुट तथा व्यास ११० फुट है। उसकी चोटी पर पत्थर का छत्र है जो

राजा का चिह्न-स्वरूप है। इसके चारों ओर छोटे-छोटे अन्य स्तूप, स्तम्भ और मन्दिर बने हुए हैं। द्वारों और छतों पर जो पत्थर की मूर्तियाँ खुदी हैं उनसे उस समय के रीति-रिवाज और वस्त्रादि का पता चलता है। दूसरा प्रसिद्ध स्तूप भड़ौत में है इसका व्यास ६८ फुट है।

अशोक के स्तम्भ : कठोर पत्थर से बने हुए ४० से ५० फुट तक ऊँचे अनेक सुन्दर स्मारक-स्तम्भ, जिनकी चोटी घण्टे के आकार की है और ऊपर शेर, घोड़े या हाथी की मूर्तियाँ हैं, रम्मिनदी, सारनाथ, साँची और निगलीवा में पाए जाते हैं। मुकर्जी कहते हैं, "ये स्तम्भ, मौर्य-कला कितनी उन्नत हुई थी, इसके चिह्न-स्वरूप हैं।" कुछ विद्वानों का कहना है कि घण्टे का आकार फारस की कला पर आधारित है और परसोपौलिस के महलों में ऐसे बहुत-से घण्टों के आकार बने हुए हैं। किन्तु हैवेल (Havell) के कथनानुसार वह विष्णु के पुष्प, आकाश-कमल के अनुरूप है, अतएव पूर्णतः भारतीय कला का नमूना है।

अशोक का चरित्र और व्यक्तित्व

संसार में कदाचित् ही कोई सम्राट् इतना महान् हुआ हो जितना अशोक था। दूसरे महान् शासकों, जैसे सिकन्दर, कैसर, नेपोलियन तथा हिटलर ने अपनी-अपनी वीरता का सिक्का लोगों के दिलों पर जमा दिया है, किन्तु जब उनकी तुलना अशोक के कामों, जैसे मनुष्य-मात्र के लाभार्थ कार्य, प्रजा की भलाई के कार्य और उसके ठोस कार्यों से की जाती है तो वे सब बुरी तरह पिछड़ जाते हैं। अशोक का उद्देश्य संसार को सत्य द्वारा जीतना था न की खड्ग द्वारा। प्रसिद्ध लेखक एच० जी वेल्स कहते हैं कि "इतिहास में वर्णित लाखों राजाओं के बीच में अशोक का नाम तारे की भाँति जगमगाता है। बोल्गा से लगाकर जापान तक उसका नाम अब भी आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत (यद्यपि उसने उसके सिद्धान्तों को छोड़ दिया है) आज भी उसको महान् बतलाते हैं। जितने मनुष्यों ने कौन्सटेन्टायन (Constantine) अथवा चार्लमैन (Charlemagne) का नाम सुना होगा, उनसे अधिक मनुष्य आज भी उसका नाम याद करते हैं। अशोक का राज्य मनुष्य-मात्र के लिए आपत्तिपूर्ण इतिहास में एक छोटा-सा आनन्दपूर्ण विराम था।"

उसका आदर्श—मनुष्य-मात्र की सेवा : वह पूर्वी जगत् का साधारण सम्राट् नहीं था। कलिंग-युद्ध के पश्चात् उसने ऐश्वर्य की वस्तुएँ, मांसाहार, आमोद-प्रमोद के लिए यात्रा, मृगया आदि त्याग दिए और धर्म-प्रचार के लिए धार्मिक यात्राओं पर जाने लगा। उस धर्मात्मा तथा अपूर्व राजा ने देश की सेवा को अपना आदर्श बनाया। अशोक की तुलना कौन्सटेन्टायन (Constantine) से की जाती है कि वह भी रोम का सम्राट् था जिसने ईसाई मत के प्रचार के लिए राज्य से प्रचारक भेजे थे। परन्तु यह तुलना अत्यन्त निकृष्ट है क्योंकि रोम का सम्राट् रूढ़िवादी, निर्दयी और पर-छिद्रान्वेषी था और दूसरे सम्प्रदायों से केवल राजनीति के कारण ही विद्वेष नहीं रखता था, जबकि अशोक आदर्श तथा उच्च विचारों के

कारण अन्य सम्प्रदायों का आदर करता था। अशोक की तुलना सेन्ट पॉल (St. Paul) से हो सकती है। अशोक केवल बौद्धमत का समर्थक ही न था वरन् उसका सच्चा प्रचारक था। इसी भाँति सेन्ट पॉल ने छोटे-से ईसाई मत को संसार-भर में फैला दिया। अशोक ने अपने विश्वास को चरम सीमा तक पहुँचा देने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। अशोक एक आदर्श राजा था जिसने भली-भाँति समझ लिया था कि राजा का उद्देश्य प्रजा-पालन तथा उसकी भलाई है। वह अपनी प्रजा को सन्तान के समान समझता था। उनकी आर्थिक और आध्यात्मिक भलाई में उसने अपना तन-मन अर्पण कर दिया था। उसमें संन्यासियों के पवित्र आचार और राजाओं की चतुरता का सम्मिश्रण था। उसने प्राचीन काल में उस धर्म-विजय को प्राप्त किया जिसे यू० एन० ओ० (U. N. O.) आज तक प्राप्त नहीं कर सका। उसने संसार को दिखा दिया कि आध्यात्मिक विजय देशों की विजय से उत्तम है। यदि उसके उत्तराधिकारी व अन्य राजाओं द्वारा उसकी नीति का प्रयोग नहीं किया गया तो इसमें उसका कुछ भी दोष न था। उसने सिद्ध कर दिया कि राजा अपनी प्रजा का पालन उसी प्रकार कर सकता है जैसे कि उसको करना चाहिए। वह वास्तव में अपने समय के लोगों से बहुत ऊपर उठ गया था।

मौर्य-वंश का पतन

अशोक के उत्तराधिकारी : अशोक के बाद उसका पौत्र दशरथ गद्दी पर बैठा, जिसके राज्यकाल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। उसका राज्य आठ वर्ष तक रहा। दशरथ के बाद उसके चार उत्तराधिकारी नाम-मात्र के राजा हुए और उनका शासन-काल भी बहुत अल्प था। वे सब-के-सब अयोग्य थे। चन्द्रगुप्त (३२२ ई० पू०) से लेकर वृहद्रथ (१८४ ई० पू०) तक मौर्य-वंश का शासन १३८ वर्ष रहा। मौर्य-वंश के अन्तिम राजा वृहद्रथ को उसके मन्त्री पुष्यमित्र ने मारकर शुंग वंश का राज्य स्थापित किया।

मौर्य-वंश के पतन के कारण

अशोक के निर्बल उत्तराधिकारी : हर प्रकार की शासन-प्रणाली में एक तरह की घातक अनिश्चितता विद्यमान रहती है, जिसकी सफलता शासक के व्यक्तिगत गुणों पर आधारित होती है। चन्द्रगुप्त तथा अशोक के शासन-काल में मौर्यों की शासन-प्रणाली बहुत ही श्रेष्ठ बनी रही। किन्तु अशोक के पश्चात् अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में वही शासन-प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई। जब पाटलिपुत्र का केन्द्रीय शासन दुर्बल हो गया और शान्ति की नींव हिलने लगी, उसी समय शनैः शनैः अन्य प्रान्तों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

सेना का पतन : कलिंग युद्ध के पश्चात् जब अशोक ने दूसरे राज्यों को विजय करने की नीति को छोड़ दिया था उस समय से मौर्यों की सेना की शक्ति क्षीण होती चली गई थी। जब सैनिकों में युद्ध का उत्साह जाता रहा तो वे घरेलू झगड़ों तथा बाह्य आक्रमण को रोकने में असमर्थ हो गए।

ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया : ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया मौर्य-वंश के पतन का मुख्य कारण बनी। अशोक ने जो बड़े उत्साह से बौद्धमत का समर्थन किया था उससे ब्राह्मणों की सत्ता बहुत घट गई थी। पशु-बलि के निषेध तथा अन्य और बातों से ब्राह्मण चिढ़ गए थे और उनमें बहुत असंतोष फैल गया था। जब शासन-दण्ड अशोक के हाथों से दुर्बल शासकों के हाथों में चला गया तो उन्होंने विद्रोह खड़ा कर दिया। पुष्यमित्र, जिसने मौर्य-वंश के अन्तिम शासक को मारकर शुंग वंश की नींव डाली थी, ब्राह्मण था और ब्राह्मणों के विद्रोह का सरदार था।

Questions

1. Write a brief note on the achievements of Ashoka.
   अशोक की सफलताओं का संक्षिप्त वर्णन करो।
2. Write a brief note on the administration of the Mauryan Empire.
   मौर्य-वंश की शासन-व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन करो।
3. Write a brief note on the character and achievements of Chandragupta Maurya.
   चन्द्रगुप्त मौर्य के चरित्र व उसकी सफलताओं पर एक संक्षिप्त लेख लिखो।
4. Explain the causes of the rise of the Maurya Dynasty.
   मौर्य-वंश की उन्नति के कारणों को समझाकर लिखो।
5. Give an idea of the civil and military administration of the Mauryas.
   मौर्यों के असैनिक तथा सैनिक शासन के सम्बन्ध में अपने विचार लिखो।
6. Describe the services rendered to Buddhism by Ashoka.
   अशोक ने बौद्ध धर्म की क्या सेवाएँ कीं ?
7. Determine the place of Asoka in History.
   इतिहास में अशोक का क्या स्थान है ?
8. What light does Megasthenes throw on life in ancient India ?
   मैगस्थनीज ने भारत के प्राचीन जीवन पर क्या प्रकाश डाला है ?
9. Show in what sense Asoka may be called one of the greatest kings of the world ?
   अशोक को विश्व के महानतम बादशाहों में से एक किस अर्थ में कहा गया है ?

अध्याय ८

शुंग, कण्व और आन्ध्र

(१८४ ई० पू० से २३६ ई० तक)

ब्राह्मणों का प्रभुत्व

शुंग (१८४–७३ ई० पू०)

मौर्य-वंश का अन्त १८४ ई० पू० में हो गया जब उसके प्रधान सेनापति पुष्यमित्र ने वृहद्रथ को सेना के निरीक्षण के लिए बुलाया और छल से उसका वध करके नवीन-राज्य शुंग-वंश की नींव डाली। उसमें दस शासक हुए किन्तु पुष्यमित्र ने केवल मगध प्रांत और मौर्य राज्य के केन्द्रीय भागों पर ही शासन किया, क्योंकि सीमान्त प्रदेश जैसे पंजाब, राजपूताना और पश्चिमी भारत, यूनानी राजाओं के अधीन स्वतंत्र बन बैठे। नर्वदा के दक्षिण में आन्ध्रों का राज्य हो गया था और पूर्वी भारत में चेदि वंश ने कलिंग प्रदेश जीत लिया। इस प्रकार मगध का आधिपत्य समाप्त हो गया।

पुष्यमित्र, शुंग वंश की नींव डालने वाला : यह युवा ब्राह्मण शक्तिशाली और प्रबल राजा था। १५५ ई० पू० में उसके राज्य में एक प्रसिद्ध घटना यह हुई कि काबुल और पंजाब के यूनानी शासक मैनाण्डर अथवा मिलिन्द ने जबरदस्त आक्रमण किया। आरम्भ में उन्होंने मथुरा, अयोध्या और माध्यमिका को जीत लिया तथा पाटलिपुत्र को भी ललकारने लगे, परन्तु अन्त में बुरी तरह पराजित हुए और अपने देश को वापस लौट जाने के लिए विवश हुए।

(i) **यूनानियों से युद्ध :** कुछ समय पश्चात् पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को यवनों ने रोक लिया, जिनको पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने युद्ध के लिए ललकारा। वसुमित्र घोड़े का रक्षक था। उसने सिंधु नदी के तट पर यूनानियों को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया।

(ii) **विदर्भ से युद्ध :** यह युद्ध पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने, जो दक्षिणी प्रान्त विदिशा का गवर्नर था, विदर्भ के राजा यज्ञसेन से किया। यज्ञसेन ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था और अग्निमित्र की माँगों को अस्वीकार कर दिया था। यज्ञसेन पराजित हुआ और उसको अग्निमित्र की प्रभुता स्वीकार करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त उसके राज्य का बहुत-कुछ प्रदेश अग्निमित्र के प्रान्त में मिला लिया गया।

(iii) **खारवेल से पराजय :** परन्तु चेदिवंश के राजा खारवेल ने कई बार मगध पर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र में लूट-मार की तथा अपने साथ जैनियों की एक मूर्ति को भी ले गया जिसे राजा नन्द कलिंग से जीतकर लाया था।

(iv) **अश्वमेध यज्ञ :** पुष्यमित्र ने चक्रवर्ती राजा की उपाधि ग्रहण करने के लिए अश्वमेध यज्ञ करने का विचार किया। अतएव उसने एक विशेष रंग का घोड़ा अपने पौत्र वसुमित्र व एक बड़ी सेना की सुरक्षा में, देश-भर में एक वर्ष तक स्वतन्त्र भ्रमण करने के लिए छोड़ दिया। यवनों ने युद्ध के लिए ललकारा। सिन्धु नदी के तट पर उनको पराजित करके घोड़ा वापस लाया गया तथा यज्ञ में उसकी बलि दी गई।

(v) **ब्राह्मणों का पौरुष :** पुष्यमित्र के राज्य में पाटलिपुत्र, अयोध्या तथा विदिशा सम्मिलित थे और कुछ लोगों के मतानुसार जालन्धर और शाकल (स्यालकोट) भी। दो प्रान्त थे—विदिशा तथा कौशल। विदिशा का शासन पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के अधीन और कौशल का शासन संभवतः पुष्यमित्र के किसी आत्मीय के अधीन था। बौद्ध कथाओं ने पुष्यमित्र को विषम पीड़क बतलाया है जो बौद्धमत का लोप करना चाहता था। उसने अनेक मठ नष्ट कर दिये और कहा जाता है कि वह बौद्ध विहारों को नष्ट करने के लिए शाकल तक पहुँचा था और एक भिक्षु का सिर लाने वाले के लिए १०० दीनार देने की घोषणा की थी। किन्तु ये आक्षेप निराधार जान पड़ते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि वह कट्टर हिन्दू और ब्राह्मणत्व का पूर्ण पक्षपाती था। सूर्य और अग्नि की पूजा होने लगी, बलि और यज्ञादि जैसे अश्वमेध यज्ञादि होने लगे। उसके संरक्षण में संस्कृत भाषा, जो कुछ समय से प्रयुक्त नहीं की जाती थी, प्रयोग में आने लगी।

पुष्यमित्र ने, जो शिक्षा का ज़बरदस्त समर्थक था, ३६ वर्ष राज्य किया और बहुत वृद्धावस्था में १४९ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र, जिसने विदिशा का शासन करते समय विदर्भ देश को जीता था, पुष्यमित्र के बाद गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था अधिक हो चुकी थी। उसके शासन-काल के आठ वर्षों का विशेष समाचार ज्ञात नहीं, परन्तु उसके पश्चात उसका पुत्र सुज्येष्ठ गद्दी पर बैठा जो अत्यन्त तुच्छ था। दूसरा प्रसिद्ध उत्तराधिकारी वसुमित्र था जिसने यवनों को पराजित किया था। वसुमित्र भी पुष्यमित्र की भाँति विद्वानों का बड़ा पोषक था। उसने प्राचीन संस्कृत तथा संस्कृत के ग्रन्थों को बहुत प्रोत्साहित कर इस भाषा की उत्तरोत्तर प्रगति की। नाट्यशाला में उसका वध मित्रवेद ने कर डाला जो संभवतः उसका मन्त्री था। इसके पश्चात् प्रसिद्ध शुंग राजा भग या भगवत हुआ। यह नवां राजा था। उसने ३२ वर्ष राज्य किया। उसके शासन-काल में भारतीयों तथा यूनानियों के सम्बन्ध

दृढ़ हो गये और वैष्णव मत की-खूब जागृति और उन्नति हुई। देवभूति दसवाँ और अन्तिम शुंग राजा था। वह अत्यन्त दुराचारी था। उसके मंत्री वसुदेव ने, जो कण्व ब्राह्मण था उसको उसकी दासी से उत्पन्न कन्या को रानी का भेष बनाकर, उसके द्वारा मरवा डाला। इतिहास में शुंगों का शासन-काल बहुत प्रसिद्ध है, क्योंकि शुंग राजाओं ने गंगा की घाटी की यूनानियों कें आक्रमणों से रक्षा की। पूर्व तथा मध्य भारत के इस शक्तिशाली राज्य ने यूनानियों की बाढ़ को रोके रखा अन्यथा भारत में सर्वत्र यूनानी सभ्यता फैल जाती। दूसरे, शुंगों के शासन-काल में धर्म, कला और विद्या का वैसा ही विकास हुआ जैसा कि गुप्तवंश के शासन-काल में हुआ। विदिशा और भारहूत में ब्राह्मणत्व की पुनर्जागृति हुई। इस काल को गुप्तवंश के स्वर्ण-युग की भूमिका कहा जाता है। इतिहास-लेखक स्मिथ का कहना है कि पुष्यमित्र का प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया का आरम्भ था जो पाँच शताब्दी पश्चात् समुद्रगुप्त और उसके वंशजों के काल में पूरी हुई।

शुंगों के पश्चात् कण्व का राज्य स्थापित हो गया। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, अंतिम शुंग राजा देवभूति को मारकर उसका मन्त्री वसुदेव स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया। कण्वों के विषय में बहुत कम मालूम है।

चार राजाओं के नाम व उनके शासन-काल के अतिरिक्त उनका कुछ हाल नहीं मिलता। इनके नाम हैं: वसुदेव (९ वर्ष), भूमिमित्र (१४ वर्ष), नारायण (१२ वर्ष) तथा सुशर्मा (१० वर्ष)। सुशर्मा का राज्य वर्तमान बिहार और उत्तर प्रदेश तक ही सीमित रह गया था। शेष प्रदेश धीरे-धीरे स्वतंत्र हो गये थे। सुशर्मा को सिमुक नामक आन्ध्रों के प्रधान ने गद्दी से उतार दिया। कण्वों ने सब मिलाकर ४५ वर्ष राज्य किया। वे ब्राह्मण थे तथा ब्राह्मण धर्म के परिपोषक। कुछ भी हो, वे दुर्बल शासक थे तथा उनके शासन का अन्त होते ही देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया जो परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे।

स्वतन्त्र राज्यों का प्रकट होना

अशोक की मृत्यु के पश्चात् कलिंग स्वतन्त्र हो गया था। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार खारवेल ने पुष्यमित्र शुंग को हराकर उड़ीसा में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। वह जैनी था। उसने भुवनेश्वर के समीप खंडागिरि तथा उदयगिरि की पहाड़ियों में जैन भिक्षुओं के लिए अनेक गुफायें खुदवाईं। उदयगिरि की गुफा में खारवेल का एक बहुत लम्बा अभिलेख खोज में मिला है, जिसके द्वारा हमें उसके लेखक होने के विषय में बहुत विस्तृत तथा मूल्यवान समाचार मिलता है। इस अभिलेख से हमको ज्ञात होता है कि खारवेल ने दो बार मगध पर आक्रमण किया था और पाटलिपुत्र से जैनियों की एक मूर्ति वापस ले गया था। उसने आन्ध्र राजा सातकर्णी से भी युद्ध किया था। उसका दबदबा और प्रतिष्ठा समस्त दक्षिण में फैल गई थी।

किन्तु खारवेल केवल एक योद्धा और एक विजेता ही न था। वह बड़ा भवन-

निर्माता तथा विद्वानों का पोषक भी था। मठों व महलों के अतिरिक्त उसने एक नहर भी बनवाई। उसका राज्यकाल दूसरी सदी ई० पू० के लगभग था।

आन्ध्र—हम ऊपर कह आए हैं कि अन्तिम कण्व राजा सुशर्मा को सिमुक नामक आन्ध्र सरदार ने ४५ ई० पू० में परास्त किया था। आन्ध्र वंश वाले सातवाहन कहलाते थे। कहा जाता है कि प्राचीन काल में महाराष्ट्र में शासन करते थे बाद में उन्होंने आन्ध्र प्रदेश जीत लिया और आन्ध्र कहलाये। यह वंश बहुत चिरस्थायी हुआ। इसका राज्य ४५० वर्ष रहा। उनके शासन में दक्षिण भारत ने अपार ऐश्वर्य, धन-सम्पति और प्रभुता प्राप्त की तथा सुख-समृद्धि का जीवन व्यतीत किया। इसी कारण उस काल को सातवाहन युग कहा जाता है।

ये लोग तैलगू बोलने वाले द्राविड़ थे (राय चौधरी के मतानुसार ये ब्राह्मण और नाग जाति के वर्णसंकर थे), जिनका वर्णन पहले 'ऐतरेय ब्राह्मण' में आया है। मौर्यों के बाद उनका साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। उनका प्रदेश गोदावरी और कृष्णा के बीच में स्थित था। उनके राज्य के प्राचीरों से सुरक्षित ३० नगर थे। १,००,००० पैदल, २,००० घोड़े और १८० हाथी थे। अशोक की मृत्यु के उपरान्त सिमुक स्वतन्त्र राजा वन बैठा और आँध्र वंश के राज्य की नींव डाली। उन्होंने ४५६ वर्ष राज्य किया और उस वंश में ३० या ३१ राजा हुए। उनकी राजधानी श्रीकाकुलम थी। अधिकांश राजाओं की उपाधि सातकर्णी थी। २८ ई० पूर्व तक उनका राज्य दक्षिण तक ही सीमित रहा था। इसके बाद उन्होंने कण्व राजा को मारकर उत्तर में भी अपनी सत्ता जमा ली। उनमें से अधिकांश कट्टर हिन्दू थे, परन्तु सहनशील थे, अतएव साथ-साथ बौद्धमत भी फैलता रहा। समस्त आन्ध्रकाल में उनके युद्ध पश्चिमी भारत के शकों से होते रहे जिनमें कभी एक की और कभी दूसरे की जीत होती रही। इस राज्य के संस्थापक सिमुक ने २३ वर्ष राज्य किया (२२० ई० पू० से १९७ ई० पू० तक)। उसने दक्षिण को मौर्यवंश के पंजे से मुक्त किया और नर्वदा के दक्षिण में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। कुछ लोगों का विचार है कि वह उसके बाद भी काफी दिनों तक शुंगों के काल में जीता रहा।

कृष्ण : सिमुक के पश्चात् उसका छोटा भाई कान्हा अथवा कृष्ण गद्दी पर बैठा, जिसने अपना राज्य समस्त दक्षिण में फैला लिया। उसने दक्षिणापति का विरुद धारण किया। उसने नासिक के समीप एक गुफा-मन्दिर बनवाया जिससे सिद्ध होता हैं कि उसका राज्य नासिक और पश्चिमी तट तक फैला हुआ था।

सातकर्णी के पश्चात् उसके दोनों पुत्र अल्पवयस्क थे। अतः उनकी माता नागनिका ने राज्य-प्रबन्ध किया। नागनिका के बाद का आन्ध्र वंश का इतिहास ज्ञात नहीं है। पुराणों में २९ राजाओं के नाम दिए हैं और लिखा है कि उन्होंने ४५० वर्ष राज्य किया। इस बीच में शकों ने महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया था। ये शक क्षहरात कहलाते थे। इनका आन्ध्रों से बराबर युद्ध होता रहा।

श्री सातकर्णी : कृष्ण के बाद सिमुक का पुत्र सातकर्णी गद्दी पर बैठा जो

आन्ध्रों के आदि राजाओं में अधिक प्रसिद्ध हुआ । वह कट्टर हिन्दू और शक्तिशाली राजा था तथा पुष्यमित्र (शुंग) और खारवेल (कलिंक) का समकालीन था । उसने उत्तर तथा दक्षिण दोनों में युद्ध किये और आन्ध्रों की महानता सिद्ध की । श्री सातकर्णी ने दो अश्वमेध यज्ञ किये जिनमें उसने अपनी शक्ति और बड़प्पन का प्रदर्शन किया । उसका राज्य महाराष्ट्र, मालवा, विदिशा तक और गोदावरी तथा कृष्णा के काँठे पर फैला हुआ था ।

हल : अगला महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली आन्ध्र राजा हल हुआ जिसका दक्षिण के सांस्कृतिक इतिहास में मुख्य स्थान है । वह साहित्य-प्रेमी था और 'गाथा सप्तशती' (प्रेम के ७०० दोहें) का प्रसिद्ध लेखक था जिसे उसने मराठी भाषा में लिखा । 'वृहद कथा' (जो पैशाची भाषा में है) उसके समय में लिखी गई थी । उसके मंत्री ने प्रसिद्ध संस्कृत का व्याकरण 'कातंत्र' बनाया था ।

गौतमी सातकर्णी ने सन् ११३ से १३८ तक राज्य किया । यह आन्ध्रों का सबसे बड़ा राजा था । उसकी प्रशंसा में कहा जाता है कि वह शक, यवन, पल्लव और क्षहरात वंश का नष्ट करने वाला और आन्ध्रों के गौरव का पुनरुद्धारक एवं अपने वंश को उन्नति के शिखर पर ले जाने वाला एक ऐसा अद्वितीय ब्राह्मण था जिसने क्षत्रियों का मद मर्दन किया । उसकी सबसे बड़ी विजय मालवा के शासक क्षहरात वंश के नाहपान पर हुई । उसने शकों और यवनों से युद्ध करके उनको पश्चिम से निकाल दिया और उस प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया । उसके राज्य में महाराष्ट्र, काठियावाड़, बरार, पश्चिमी राजपूताना ओर मध्य गुजरात शामिल थे । यद्यपि वह कट्टर हिन्दू था और वर्णभेद तथा बलिदानों में विश्वास करता था, तो भी अन्य सम्प्रदायों को सहन करता था और बौद्ध भिक्षुओं को भूमि दान देता था । **पुलमावी द्वितीय वा वशिष्ठपुत्र** उसके बाद गद्दी पर बैठा । उसने शकों से अनेक युद्ध किये, जिसके कारण उसको अपने बहुत-से पश्चिमी प्रदेशों से हाथ धोना पड़ा । अन्त में शकों के प्रधान रुद्रदमन ने विधाह में उसको अपनी कन्या दे दी ।

यज्ञश्री : अन्तिम प्रसिद्ध आन्ध्र राजा था, और अन्तिम सात राजाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली और महान् था । उसने ३० वर्ष राज्य किया और उसकी सबसे बड़ी सफलता अपने पूर्वजों, पुलमावी तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा खोया हुआ प्रदेश पुनः शकों से प्राप्त करना था । उसकी मुद्रा पर जलयान का चिह्न यह सूचित करता है कि उसका राज्य समुद्र के पार भी था, जैसे मलाया के उपनिवेशों पर ।

आन्ध्रों का पतन : यज्ञश्री के बाद आन्ध्रों का पतन होता गया । उसके दुर्बल और चंचल शासक विरोधी शक्तियों को रोकने में समर्थ नहीं हुए और सन् २०६ में समस्त राज्य छिन्न-भिन्न हो गया । शकों से निरन्तर युद्ध करते रहने कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गई थी । यज्ञश्री के बाद कोई ऐसा बलवान शासक नहीं हुआ जो विरोधियों का दमन कर सकता । आन्ध्रों के वंश के पतन का अन्तिम कारण था प्रान्तीय शासकों की परस्पर फूट, जिससे प्रत्येक गवर्नर स्वतन्त्र होता

गया और राज्य के अनेक छोटे-छोटे टुकड़े हो गए।

आन्ध्रों के अधीन दक्षिणी भारत

राज्य : शिलालेखों से, मुद्राओं से तथा समकालीन प्राकृत साहित्य से आन्ध्र-कालीन जनता के जीवन का चित्र समझ में आ सकता है। प्रजा के दैनिक जीवन में राजा कोई बाधा नहीं डालता था और सामन्तों, संघों तथा प्रजातन्त्र-ग्राम-सभाओं को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे गुप्तवंश के शासकों की भाँति बड़ी-बड़ी उपाधि नहीं धारण करते थे, वरन् केवल राजा कहलाते थे।

धर्म : राजा हिन्दू धर्म के समर्थक थे, अतः हिन्दू धर्म अधिकाधिक लोक-प्रिय बनता जा रहा था; किन्तु साथ-ही साथ बौद्धमत भी फूल रहा था। नवीन ब्राह्मण धर्म के उत्कर्ष के साथ ही जाति-पाँति के भेद भी बढ़ते जारहे थे। आन्ध्र यज्ञादि करते थे और ब्राह्मणों को धन तथा भूमि उदारतापूर्वक दान करते थे। इन्द्र, वसुदेव और शिव अधिक प्रिय देवता थे और ब्राह्मणों को संरक्षण मिलता था। बौद्धों के बहुत से मठ चट्टानों को काट-काटकर बनाए गए और समुद्रतट पर गुफाओं में खोद कर बनाए गए। आन्ध्रों ने बौद्ध भिक्षुओं को भी कई गाँव प्रदान किये थे। वे अन्य सम्प्रदाय वालों से असहिष्णु नहीं थे।

व्यापार और शिल्प-कला : आन्ध्रों के शासन-काल में देश धन-धान्य से पूर्ण था और मलाया के उपनिवेशों से व्यापार द्वारा दिनों-दिन उन्नत हो रहा था। मलमल, गर्म मसाले, रुई आदि का निर्यात होता था और शराब, कांच और दूसरे ऐश्वर्य के पदार्थों का आयात। आन्ध्रों का पश्चिमी देशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध था, विशेषकर रूस से। शिल्प, उद्योग-धंधे काफी विकसित थे, जिनका प्रबन्ध व्यापार मण्डल करते थे जो अपना कार्य-सम्पादन करने के अतिरिक्त बैंक का काम भी देते थे।

कला, साहित्य और सभ्यता : आन्ध्र शासक साहित्य और कला के बड़े संरक्षक थे। हल ने 'सप्तशतक' लिखा। उसके मन्त्री ने संस्कृत व्याकरण 'कातन्त्र' बनाया। 'वृहद्कथा' भी हल के समय में लिखी गई। अनेक सुन्दर मन्दिरों, मठों और गुफाओं का भी इसी समय में निर्माण हुआ।

सामाजिक सुधार : दक्षिण का समाज चार वर्णों में विभक्त था—(१) उच्चपदाधिकारी और सामन्त, (२) निम्नपदाधिकारी और धनी व्यवसायी, (३) कलाकार और (४) व्यापारी। सब लोग समृद्ध थे। जैसा कि आन्ध्रों ने स्थानीय भाषाओं को बड़ा प्रोत्साहन दिया, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने लोकप्रिय विद्या को प्रोत्साहन दिया।

Question

What do you know about Southern India under the Andhras ?

आन्ध्र वंश के अधीन दक्षिण भारत के विषय में तुम क्या जानते हो

अध्याय ६

विदेशियों के आक्रमण तथा उनका बस जाना

हिन्द-बैक्ट्रिया निवासी : सिकन्दर बहुत बड़ा राज्य छोड़कर मरा था (मकदूनिया, सीरिया, बैक्ट्रिया, पार्थिया, अफ़गानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत), जिसमें से अधिकाँश भाग सैल्यूकस के अधीन रहा, यद्यपि विवश होकर उसको कुछ भाग (अफ़गानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत) चन्द्रगुप्त मौर्य को देना पड़ा था। सैल्यूकस का बेटा ऐन्टियोकस भी योग्य शासक था, जिसके दूरस्थ प्रदेश बैक्ट्रिया (बलख और पार्थिया (फारस) शान्त बने रहे। किन्तु ऐन्टियोकस द्वितीय (सैल्यूकस का पौत्र) के सिंहासनारूढ़ होते ही राज्य के टुकड़े होने लगे, क्योंकि वह शराबी और विलासी था। लोग उसे ईश्वर के समान पूजते थे। उसके शासनकाल के अन्तिम समय में बैक्ट्रिया-निवासी डियोडोटस के अधीन और पार्थिया-निवासी औरसेक्स के अधीन स्वतन्त्र बन बैठे। इस बीच में मौर्य-वंश का ह्रास हो चुका था और भारत में कोई शक्तिशाली राजा न था। इसलिए बैक्ट्रिया तथा पार्थिया के यूनानियों को दक्षिण-पूर्व में बढ़ने का अवसर मिल गया। उन्होंने उत्तर-पश्चिम भारत में छोटे-छोटे राज्य स्थापित किए जो हिन्द-यूनानी अथवा हिन्द-बैक्ट्रीय और हिन्द-पार्थीय राज्य कहलाए।

हिन्द-बैक्ट्रीय राज्य का उदय : बैक्ट्रिया, जो हिन्दूकुश पर्वत के उस पार बसा हुआ था, समृद्धिशाली देश था जिसमें औक्सस नदी बहती थी और जो सिकन्दर का मुख्य प्रान्त था। सैल्यूकस के समय में इस प्रान्त में पूर्णतः यूनानी सभ्यता और यूनानी संस्कृति फैल चुकी थी। २५० ई० पू० इसके गवर्नर डियोडोटस ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और डियोडोटस प्रथम के नाम से राजा हुआ। उसके वंशज डियोडोटस द्वितीय और यूथीडिमस मध्य-एशिया में अपनी स्थिति ठोस बनाने में व्यस्त रहे। किन्तु चोथे शासक डिमित्री (Demetrios) ने भारत पर आक्रमण करके उत्तर-पश्चिमी भारत में हिन्द-बैक्ट्रीय राज्य की नींव डाली और शाकल (स्यालकोट) को राजधानी बनाया।

डिमित्री (२२०-१७५ ई० पू०) ने अपने श्वसुर ऐन्टियोकस का, जो सीरिया-निवासी था, अनुकरण करके भारत पर आक्रमण किया और एक भाग जीत लिया। भारत उस समय दुर्बल और छिन्न-भिन्न था तथा वहां कोई योग्य शासक न था, अतएव डिमित्री को सरलता से विजय मिल जाने के कारण और भी देश

जीत लेने का लालच हुआ। दूसरे, भारत अपनी अपार धन-सम्पत्ति के लिए प्रसिद्ध था। डिमित्री सिकन्दर का स्वप्न पूरा करना चाहता था। इस बड़े विजेता ने समस्त अफ़गानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत को जीतकर भारतीयों के राजा की उपाधि धारण की। यूनानी तथा खरोष्ठी दो भाषाओं वाली मुद्रा चलाकर उसने अपनी सत्ता का प्रदर्शन किया। उसके अन्तिम काल में बाल्हीक (बल्ख) वालों ने विद्रोह खड़ा कर दिया और उसको अपने निजी देश का बहुत-सा राज्य खोना पड़ा। यूक्रेटायडीज़ ने, जब डिमित्री भारत को विजय करने में लगा हुआ था, साहस और वेगपूर्वक बाल्हीक पर अधिकार कर लिया और खयाल किया जाता है कि बाद में वह भारतीय प्रदेश भी ले लिया जिसको डिमित्री ने विजय किया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् समस्त उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। इनके शासक या तो डिमित्री के और या यूक्रेटायडीज़ के वंशज थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध मैनान्डर या मिलिन्द (१६०-१२० ई० पू०) हुआ जो संभवतः डिमित्री का वंशज था। वह सिन्धु नदी की घाटी को पार करके सिन्ध प्रान्त में पहुँचा और काठियावाड़ को विजय किया, किन्तु उसकी सबसे बड़ी विजय गंगा की घाटी की विजय थी। पुष्यमित्र शुंग ने उसको पाटलिपुत्र से आगे बढ़ने से रोक दिया। उसका राज्य काबुल से मथुरा और काठियावाड़ तक था और उसमें अफ़गानिस्तान, पंजाब, राजपूताना और मथुरा तक के पूर्वी प्रदेश शामिल थे। उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) शिक्षा का बड़ा केन्द्र बन गई और शान-शौकत तथा सुन्दरता में पाटलिपुत्र का मुकाबला करने लगी। बौद्ध कथाओं से पता चलता है कि ५०० सभासदों के साथ मिलिन्द बौद्धों के सर्वोच्च विद्वान नागसेन से शास्त्रार्थ करने गया। वाद-विवाद के अनन्तर उसने बौद्ध धर्म पर विश्वास कर लिया और बौद्ध बन गया और इतना कट्टर बना कि लोग उसकी ईश्वर की भाँति पूजा करने लगे और जब वह मरा तो उसके अवशेषों को बाँटने के लिए बौद्ध भिक्षुओं में परस्पर झगड़ा हुआ। वह केवल महान् विजेता ही न था अपितु न्यायशील और दानी भी था। वह 'मैनान्डर न्यायकारी' के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी प्रजा उसकी भक्त थी। केवल एक वही हिन्द-यूनानी राजा था जिसका नाम भारत के प्राचीन साहित्य में अमर है। मैनान्डर के उत्तराधिकारियों में सबसे प्रसिद्ध ऐन्टीएलकीड्स था जो यूक्रेटायडीज़ का वंशज था। सम्भवतः उस समय हिन्द-बैक्ट्रीय राज्य के दो टुकड़े हो गए थे और तक्षशिला तथा शाकल उनकी राजधानियाँ थीं। ऐन्टीएलकीड्स तक्षशिला का राजा था और उसने अपना राजदूत मगध के शुंग राजा भागभद्र के पास भेजा था। ईसा से लगभग ५० वर्ष पूर्व हर्मीज अन्तिम हिन्द-बैक्ट्रीय राजा था, जिसके छोटे-से राज्य को कुशानों के राजा कजुल कैडफीसस ने अपने राज्य में मिला लिया था।

हिन्द-बैक्ट्रीय राज्य के ह्रास के कारण : १३० ई० पू० बैक्ट्रीय राज्य की अवनति होने लगी, क्योंकि वह डिमित्री तथा यूक्रेटायडीज के प्रतिद्वन्द्वी वंशजों में विभक्त हो गया और दोनों में परस्पर युद्ध होते रहे। उनमें से एक की राजधानी तक्षशिला और दूसरे की शाकल रही। उत्तर से शकों और पश्चिम से फारस वालों

के आक्रमणों ने इस राज्य की जड़ें हिला दीं। यूची और कुशन जातियों के हमलों ने रही-सही शक्ति को जीर्ण-शीर्ण कर दिया। मैनान्डर के उत्तराधिकारी अयोग्य और निर्बल निकले। इस कारण ईसा से ५० वर्ष पूर्व इस साम्राज्य का अन्त हो गया, यद्यपि सिन्धु नदी के उस पार के प्रदेशों में हिन्द-बैक्ट्रीय राजाओं ने कुछ काल तक और राज्य किया।

हिन्द-पार्थियन

औरसेक्स ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया (लगभग ईसा से २५० ई० पू० से सन् २२६ ई० तक) : पार्थिया में फ़ारस के अतिरिक्त कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व के सब प्रदेश शामिल थे, जिनमें खानाबदोश गड़रिये तथा जंगली घुड़सवार रहते थे। २५० ई० पू० तक यह प्रदेश यूनानियों के आधिपत्य में था, किन्तु लगभग उसी समय जब बैक्ट्रिया स्वतन्त्र हुआ, एक राष्ट्रीय वीर औरसेक्स ने इसे भी स्वतन्त्र कर दिया और लगभग पाँच शताब्दी तक उनका राज्य रहा।

हिन्द-पार्थियन (ईरान) वासियों की उत्पत्ति के बारे में एक मत तो यह है कि ईरान के गवर्नरों ने ईसा से दो शताब्दी पूर्व से एक शताब्दी बाद तक यही उपाधि ग्रहण की थी। दूसरा मत है कि उस समय शकों का राज्य था किन्तु वे अपने-आपको हिन्द-पार्थियन कहते थे, क्योंकि वे ईरानी नामों और ईरानी लिपि का प्रयोग करते थे। उनका प्रथम प्रसिद्ध शासक मित्रदत्त प्रथम—Mitradata I (१७१-१३६ ई० पू०) था, जो सम्भवतः यूकेलिया का समकालीन था। उसने जेहलम और सिन्धु के बीच का प्रदेश जीत लिया था। दूसरा प्रसिद्ध शासक माउज़ अथवा मोगा हुआ, जिसने तक्षशिला को राजधानी बनाकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और यूनानियों का राजाधिराज कहलाया। मित्रदत्त द्वितीय भी शक्तिशाली राजा था जिसने शकों से युद्ध करके उन्हें दबा दिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके प्रान्तों के गवर्नर स्वतन्त्र बन बैठे थे। अयस प्रथम और द्वितीय भी प्रसिद्ध शासक थे, परन्तु उनका कुछ विवरण विदित नहीं। हिन्द-पार्थीय शासकों में सबसे शक्तिशाली गुदुफर (सन् २०-४१) था जिसने भारत में अपनी राज्य-शक्ति को ठोस बना लिया। इसके समय में भी हिन्द-पार्थियनों के दो वर्ग थे—(१) शक जो ईरानी बन गये थे, (२) शुद्ध ईरानी रक्त। प्रथम शताब्दी में इनको कुशन जाति से निरन्तर युद्ध करने पड़े। अन्त में कुशनों ने इनकी शक्ति को क्षीण कर दिया। यद्यपि शताब्दियों तक ये भारत की सीमा पर पड़े रहे परन्तु इनकी राजनीतिक शक्ति समाप्त हो चुकी थी।

शक : यह एक खानाबदोश (भ्रमण करने वाली) जाति थी जिसको ईसा से लगभग १६५ वर्ष पूर्व दूसरी खानाबदोश जाति यूची ने उसके देश मध्य एशिया से मार भगाया। बैक्ट्रिया के यूनानियों से लड़ते-भिड़ते ये दक्षिण-पश्चिम के देशों में चले गए। उनमें से अधिकांश हैलमण्ड की घाटी की एक छोटी-सी रियासत में बस गए, जिनमें से एक अब भी सीस्तान के नाम से प्रसिद्ध है। और शक भी मध्य एशिया

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से आते रहे और प्रथम आने वाले शक हिन्दूकुश और सुलेमान को पार करके उत्तर भारत में बस गए जहाँ उन्हें ईरानियों से युद्ध करना पड़ा। इस जाति के शासक अपने को राजा न कहकर 'क्षत्रप' (गवर्नर) कहते थे। इन क्षत्रपों के दो वर्ग थे जिनमें तक्षशिला और मथुरा का उत्तरी वर्ग अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध है, परन्तु नासिक और उज्जैन का पश्चिमी वर्ग अधिक प्रसिद्ध था।

उत्तरी क्षत्रप—(१) तक्षशिला के, (२) मथुरा के : तक्षशिला का प्रथम क्षत्रप सम्भवतः माउज़ था जो प्रसिद्ध ईरानी शासक था। उसके उत्तराधिकारी अयस प्रथम और द्वितीय बड़े शक्तिशाली हुए, जिन्होंने अपने राज्य को बढ़ाया। मथुरा के प्रथम क्षत्रप का नाम ज्ञात नहीं परन्तु उसका प्रसिद्ध क्षत्रप राजुल था।

पश्चिमी क्षत्रप : कुछ शक राजा यूची तथा कुशनों के आक्रमणों के फलस्वरूप दक्षिण में चले गए और ईसा के पूर्व १०० वर्ष से सन् १०० ई० तक मालवा, गुजरात, कच्छ, काठियावाड़ और महाराष्ट्र का बहुत-कुछ भाग जीत लिया। इनकी दो शाखाएँ चलीं—(१) भूमिक की शाखा, जिसकी राजधानी नासिक थी; (२) चस्टन और रुद्रदमन की, जिसकी राजधानी उज्जैन थी।

नासिक के क्षत्रप : इस वंश में नहपना (Nahapana) सबसे प्रसिद्ध हुआ, जिसने महाराष्ट्र तथा मालवा का बड़ा भाग जीतकर महाक्षत्रप की उपाधि ग्रहण की थी।

उज्जैन के क्षत्रप : इस वंश की नींव चस्टन ने डाली जिसने शक सम्वत् चलाया (सन् ४८ ई०)। उसने भी महाक्षत्रप की उपाधि धारण की थी। इस वंश में रुद्रदमन महाप्रतापी राजा हुआ जिसने यौधेयों से भयंकर युद्ध किया और दक्षिणी-पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध के उत्तर का प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया। आन्ध्रों के साथ भी उसका महान् युद्ध हुआ और उनका बहुत-सा देश जीतकर उनसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसने प्रजा पर भारी कर नहीं लगाये। वह बड़ा विद्वान था और व्याकरण, राजनीति, संगीत-विद्या तथा तर्कशास्त्र का धुरन्धर पण्डित था। उसने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील की मरम्मत करवाई थी जो बाढ़ से ध्वंस-प्रायः हो चुकी थी। उसने एक बांध तैयार करवाया था जो प्राचीन बांध से तिगुना मजबूत था।

रुद्रदमन का उत्तराधिकारी : रुद्रदमन के उत्तराधिकारियों ने, जिनकी संख्या १७ थी, उसके राज्य को कायम रखा, परन्तु अन्त में उसका साम्राज्य छोटा होता चला गया था। इस वंश के अन्तिम राजा रुद्रसिंह तृतीय को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पराजित किया था और उसके राज्य को गुप्तवंश के राज्य में मिला लिया था।

भारतीय सभ्यता को यूनानियों की देन

भारत पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव सिकन्दर के कारण नहीं वरन् बाद के दूसरे शासकों के कारण पड़ा था : सिकन्दर, सैल्यूकस तथा ऐन्टियोकस के आक्रमण केवल सैनिक लूटमार थी, जिनका भारत की सभ्यता पर तनिक भी प्रभाव नहीं

पड़ा था। ये हमले ३२६ ई० पू० से २०० ई० पू० तक हुए थे। किन्तु ईसा से २०० ई० पू० से प्रथम शताब्दी तक पंजाब तथा उत्तर पश्चिमी भारत पर पार्थियन तथा बैक्ट्रिया वालों का अधिकार रहा था जो यूनानी सभ्यता में पले थे। उनकी शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव भारत पर पड़े बिना नहीं रह सका। उनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा खगोल विद्या, मुद्रा, मूर्तिकला, धर्म और साहित्य पर। किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि भारत के साहित्य, विशेषकर दर्शनशास्त्र और नाटकों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

विदेशियों के सम्पर्क से खगोल विद्या पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। 'ग्रहसंहिता' में लिखा है कि खगोल विद्या की उत्पत्ति यूनानियों से हुई, अतएव उनको देवताओं की भांति पूजना चाहिए। ग्रहों के नामों तथा अन्य वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग यूनानी भाषा से भारतीय खगोल विद्या में निरन्तर होता रहा तथा यूनानियों के ढंग पर जन्मपत्री बनाना भारतीयों ने उन्हीं से सीखा था। मुद्रा निर्माण का कार्य भी भारतीयों ने बहुत-कुछ यूनानियों से ही सीखा था। पहले भारतीय मुद्राएँ भद्दे ढंग से काटी जाती थीं तथा उनमें छेद कर दिये जाते थे। उन पर पालिस का भी प्रायः अभाव होता था और वे एक ही ठप्पे से दबाए जाते थे। यूनानियों की देखा-देखी दो ठप्पों का प्रयोग हुआ अर्थात् एक ओर राजा का नाम, उपाधि आदि अंकित होते थे और दूसरी ओर किसी पशु आदि का चिह्न। भारतीयों ने मूर्ति-निर्माण-कला भी बहुत-कुछ यूनानियों से सीखी। उनके आगमन से पूर्व भारहूत और साँची कला के केन्द्र बन चुके थे किन्तु उनकी मूर्तिकला निकृष्ट थी। यूनानी मूर्तिकला से वे इतने प्रभावित हुए कि शीघ्र ही उनका अनुकरण करने लगे। इस प्रकार प्रसिद्ध गांधार कलाशाला, जिसे यूनानी बौद्ध कला भी कहा जाता था (क्योंकि इसमें अधिकतर बुद्ध या बोधिसत्व की मूर्तियों का निर्माण होता था), अथवा हिन्दू-यूनानी कला भी कहा जाता था (क्योंकि ढाँचा भारतीय होता था और अन्तिम झलक यूनानी होती थी), खोली गई। उसके केन्द्र तक्षशिला, मथुरा और गान्धार बने। साँची और भारहूत की कला बुद्ध के लिए चिह्नों का प्रयोग करती थी, किन्तु अब यूनानी ढंग पर मूर्तियाँ और चित्र बनने लगे। गान्धार की कला में विचार तथा व्यक्ति भारतीय होते थे जबकि आकृति और वेषभूषा यूनानी ढंग पर। बौद्धों की मूर्ति-पूजा और तत्पश्चात् हिन्दुओं की भी मूर्तिपूजा यूनानियों के फलस्वरूप थी। भारतीय नाटक हिन्द-बैक्ट्रियन और हिन्द-पार्थियन राजदरबारों में खेले गए होंगे, परन्तु संस्कृत नाटकों में दुखान्त घटना का अभाव प्रगट करता है कि उन पर यूनानियों का प्रभाव नहीं पड़ा। जहाँ तक दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध है भारतीय तथा यूनानी विचारों में बहुत-कुछ समानता है, किन्तु यह समानता भारतीयों के यूनानियों से सम्पर्क में आने से पूर्व विद्यमान थी। कुछ लोगों का मत है कि दशमलव की प्रणाली यूनानियों से ली गई थी, किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह मूल में भारतीय ही है।

सबका सार : इसमें संदेह नहीं कि यूनानी सभ्यता तथा यूनानियों का भारतीय

प्रदेशों पर आधिपत्य अपेक्षाकृत अल्प और महत्वहीन है, किन्तु उनके सम्पर्क से भारतीय मुद्रा में वहुत सुधार हुआ। खगोल विद्या की उन्नति हुई और कला-कौशल में वृद्धि हुई। वास्तव में जो यूनानियों के श्रेष्ठ गुण थे उनको अपनाने में हिन्दू कभी आगा-पीछा नहीं सोचते थे और बहुत-सी बातों को उन्होंने इतनी अच्छी तरह अपना लिया कि यह कहना कठिन हो गया कि किन-किन बातों के लिए वे यूनानियों के आभारी हैं।

(द) कुशन

खण्ड १ : प्राथमिक कुशन

यूची और कुशन : कुशनों की उत्पत्ति उस महान् यायावर (भ्रमणशील) यूची जाति से हुई जो चीन की सीमा पर बसे हुए थे। १५० ई० पू० में उनको पड़ौसी जंगली जाति हूण से युद्ध करना पड़ा, जिन्होंने यूचियों के राजा को मार कर उसकी खोपड़ी को मदिरा पीने का पात्र बनाया था। विधवा रानी इस अपमान को सहन न कर सकी और विजेताओं को आत्म-सर्म्पण न करके अपने लोगों के साथ दक्षिण-पश्चिम की ओर चली गई। इली की घाटी के समीप यह जाति दो भागों में बँट गई—(अ) नीच यूची तिब्बत चले गए और (ब) महान् यूची पश्चिम की ओर गए, जहां उन्होंने बैक्ट्रिया-पार्थिया-निवासियों और शकों को पराजित किया और भ्रमणशील स्वभाव को त्याग कर भारत के उत्तर-पश्चिम में बस गए।

ईसा से एक शताब्दी पूर्व यह जाति पांच उपजातियों में विभाजित हो गई जिनमें से एक कुइ-श्वांग अथवा कुशन थी, जो शनैः-शनैः दूसरी जातियों से अधिक वलवान हो गई थी और जिसने कुशन साम्राज्य की नींव डाली।

कजुल कैडफिसज़ अथवा कैडफिसज़ प्रथम (Kajula Kadphises or Kadphises I) **(सन् ४०-७८ तक) :** वह प्रथम महान् कुशन था जिसका कुछ वृत्तान्त मिलता है। उसकी तिथियाँ संदिग्ध हैं क्योंकि कुछ लोगों का कहना है कि वह सन् २५ के लगभग हुआ था। वह महान् यौद्धा था और उसने शेष चारों यूची जातियों को हराकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की। उसने काबुल, कन्धार और अफगानिस्तान में भी अपनी स्थिति दृढ़ बना ली। यह पता नहीं कि उसने सिन्ध नदी पार करके कुछ भाग भारत का भी जीता था या नहीं। उसकी मुद्रा पर कोई बड़ी उपाधि अंकित नहीं थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अपने राज्य के अन्तिम दिनों में वह बौद्ध हो गया था। कहा जाता है कि उसने अन्तिम यूनानी राजा हरमीअस को हराकर उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया था।

विम कैडफिसज़ अथवा कैडफिसज़ द्वितीय (सन् ७८-११०) : कजुल कैडफिसज़ का पुत्र विम कैडफिसज़, जो प्रथम कुशन सम्राट था (अन्य कनिष्क, हुविष्क और वसुदेव थे), पिता के राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। कहा जाता है कि वह प्रथम भारतीय सम्राट था जिसने मुद्रा ढलवाई और अनेक उपाधियां ग्रहण कीं, जैसे 'देवपुत्र', 'महाराजाधिराज', 'महाप्रभु' आदि।

उस महान् विजेता ने अपना साम्राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत के सब गवर्नरों को हराकर, हिन्दूकुश के पार, बनारस और नर्वदा तक बढ़ा लिया।

तब उसने चीन के सम्राट की कन्या से विवाह करना चाहा, किन्तु चीन के सम्राट ने उसके राजदूत को अपमानित किया। इस पर कुपित होकर विम ने चीन पर चढ़ाई कर दी, किन्तु बुरी तरह पराजित हुआ और उसको बड़ी अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े और उसको इस बात पर राजी होना पड़ा कि वह चीन के सम्राट को वार्षिक भेंट दे।

रोम के राज्य के साथ विम के सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। कुशन सम्राट तथा रोम के गवर्नरों से परस्पर कुशल-क्षेम तथा मित्र-भाव का आदान-प्रदान होता रहता। कुशनों की मुद्रा रोम वालों की अनेक मुद्रा की नकल थी तथा भारत के भिन्न-भिन्न भागों में रोम की मुद्रा उस काल की पाई गई है, जिससे सिद्ध है कि दोनों के परस्पर सम्बन्ध अच्छे थे। उत्तर-पश्चिमी भारत और योरुप में व्यापार होने लगा और भारतीय रेशम, गर्म मशाले और अन्य ऐश्वर्य के पदार्थों के बदले रोम का सोना भारत में प्रचुर मात्रा में आने लगा।

विम का मत : विम के मत का ठीक पता नहीं चलता, परन्तु उसकी मुद्रा पर बैल के समीप शिव की मूर्ति अंकित है, जिससे जान पड़ता है कि उसने अवश्य हिन्दू धर्म को अपना लिया होगा।

खण्ड २ : कनिष्क प्रथम

कुशनों का सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ। वास्तव में कुशन राज्य को उसी ने महानता दी। उसके बिना कुशन राज्य का अध्ययन नगण्य है।

माता-पिता : उसके माता-पिता का, उसके बचपन, राजगद्दी पर बैठने तथा विम से उसका क्या सम्बन्ध था, विशेष समाचार ज्ञात नहीं। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि यह यूची जाति की उस शाखा में से न था जिससे विम था।

कनिष्क की तिथियाँ अत्यन्त संदिग्ध हैं : चूँकि कनिष्क के राज्यकाल का बहुत-कुछ वृत्तान्त किसी विशेष संवत् (यह भी पता नहीं कि इस संवत् को किसने चलाया था) की मुद्रा से पता चलता है, अतएव उसकी तिथियों के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ उसका शासन-काल सन् ७८ से १२३ तक मानते हैं, जबकि अन्य लोगों का कहना है कि यह सन् १२० से पूर्व गद्दी पर नहीं बैठा था।

कनिष्क की लड़ाइयाँ : जिस समय वह गद्दी पर बैठा, उसके पास केवल अफगानिस्तान, सिन्ध का बड़ा भाग, पार्थिया और बैक्ट्रिया के कुछ भाग और पंजाब थे। विम को चीन के सम्राट से जो पराजय मिली थी उसने उसका बदला लेना चाहा।

मगध से युद्ध : इसका ठीक-ठीक प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु चीनी कथाओं से पता चलता है कि उस समय का सबसे बड़ा बौद्ध सन्यासी अश्वघोष कनिष्क के हाथ लग गया था, जिसको वह पाटलिपुत्र विजय करने के पश्चात् अपने राज्य में ले

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आया था। वास्तव में अश्वघोष उसके दरबार का चन्द्रमा था। अतएव कनिष्क ने मगध का कुछ भाग अवश्य जीता होगा। सम्भवत: बोधगया, मथुरा और बनारस उसके राज्य में थे। काश्मीर उसके राज्य का एक भाग था और ग्रीष्म ऋतु में उसके भ्रमण का एक स्थान था। बौद्धों का चौथा सम्मेलन यहीं पर हुआ था और कनिष्क की बहुत-सी इमारतें काश्मीर में अब शेष हैं। उसने काश्मीर को अवश्य जीता होगा, यद्यपि युद्ध का वृत्तान्त अज्ञात है। शक गवर्नरों से जो युद्ध हुए उनमें सम्भवत: चस्टन नरेश की पराजय हुई जिसने उज्जैन के क्षत्रपों की नींव डाली थी। शकों ने कनिष्क का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और उसको मालवा का कुछ भाग दे दिया। उसके युद्धों में चीन का युद्ध सबसे प्रसिद्ध है। अपने पूर्वजों का प्रतिशोध लेने का निश्चय करके उसने चीन को वार्षिक भेंट बन्द कर दी और 'देवपुत्र' की उपाधि ग्रहण करके चीन को युद्ध के लिए चुनौती दी, क्योंकि इस उपाधि पर चीन का सम्राट् अपना एकाधिकार समझता था। युद्ध बहुत काल तक चलता रहा, जिसमें कनिष्क के ७०,००० सैनिकों को जनरल पान-चाओ ने हरा दिया। कनिष्क इस हार से भयभीत नहीं हुआ और उसने पुन: तैयारी करके दूसरे युद्ध में चीन को पराजित कर दिया (जिसका एक कारण यह भी था कि पान-चाओ मर चुका था और उसके बाद का जनरल पान-शियांग इतना योग्य न था) और चीन के तीन प्रान्त ताशकन्द, खुतन और यारकन्द अपने राज्य में मिला लिये।

कनिष्क की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। भारत के किसी शासक ने इससे पूर्व व पश्चात् पामीर के परे तक शासन नहीं किया था।

उसके राज्य का विस्तार : उसका विशाल राज्य—जिसमें चीन और पार्थिया के कुछ भाग, सारा अफगानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी भारत का बड़ा भाग सम्मिलित थे—उत्तर में बुखारा से लेकर दक्षिण में उज्जैन तक और पश्चिम में हैदराबाद नदी से पूर्व में मथुरा तक फैला हुआ था। उसके मुख्य-मुख्य प्रान्त थे पंजाब, सिन्ध, काश्मीर, मथुरा, अफगानिस्तान और चीन के तीनों प्रान्त। उसने पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया क्योंकि वह उसके राज्य के मध्य में था। उसने वहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें और बिहार बनवाये, जिनमें एक ४०० फुट ऊँचा स्तम्भ सबसे उत्तम था, जिसे देखकर चीनी और मुस्लिम यात्री विस्मय करते थे।

उसका मत : कनिष्क की मुद्राएँ और उसके शिलालेख उसके मत पर प्रकाश डालते हैं। अशोक की भाँति वह भी प्रारम्भिक दिनों में निर्दयी लहू, का प्यासा कहा जाता है। उसकी प्रारम्भिक मुद्रा प्रकट करती है कि वह पारसियों के मत का अनुयायी था, अर्थात् अग्नि और सूर्य की पूजा करता था। किन्तु आरम्भ से ही वह पक्षपातरहित था, क्योंकि उसकी मुद्राओं पर पारसियों के देवताओं के साथ-साथ यूनानी, हिन्द और बैबीलोनिया वालों के देवताओं की भी मूर्तियाँ अंकित हैं।

कनिष्क और बौद्ध मत : ठीक-ठीक नहीं कहा का सकता कि वह कब बौद्ध बना। सम्भवत: अपने शासनकाल के मध्य में वह अश्वघोष से प्रभावित होकर बौद्ध बना था। तिस पर भी वह अन्य मतों से सहनशील था और उनके देवताओं का

आदर करता था, यद्यपि वह स्वयं बड़े मनोयोग से बौद्धमत के प्रचार में लग गया था। उसने प्राचीन मठों की मरम्मत करवाई, नयों का निर्माण करवाया, जिनमें बुद्ध की बड़ी-बड़ी मूर्तियां रखी गईं, विदेशों में प्रचारक भेजे, भिक्षुओं की आजीविका के लिए अपार धन दिया, आपसी मतभेदों को दूर करने के लिए सब बौद्धों का एक सर्व-साधारण सम्मेलन किया और बौद्धमत को सारे विश्व का मत बनाने का भरसक यत्न किया। उसने बौद्ध धर्म में परिस्थिति के अनुसार सुधार किये और कला के द्वारा उसका प्रचार किया।

चौथा बौद्ध सम्मेलन : अशोक का अनुकरण करते हुए उसने समस्त विद्वान बौद्धों का एक आम सम्मेलन बुलाया। इसमें ५०० सन्यासी सम्मिलित हुए, जिनमें नागार्जुन, पार्श्व, अश्वघोष और वसुमित्र भी थे। इस सभा ने बौद्ध-साहित्य की भली भाँति जांच की और 'त्रिपिटकों' पर जो मीमांसाएँ की गईं उनका 'महाविभाष' नामक संग्रह किया जो बौद्ध दर्शन-शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रंथ है और जिसे बौद्ध मत का विश्वकोष कहा गया है। सभी की आज्ञाएँ ताम्रपत्र पर लिखकर पत्थर के सन्दूकों में बन्द करके विशेष ढँग से बने हुए स्तूप में रख दी गईं। कहा जाता है कि इस सभा ने बौद्धों के १८ कट्टर वर्गों में आपसी झगड़ों को मिटा दिया था।

बौद्धमत में सुधार—महायान शाखा : प्राचीन बौद्धमत लोगों को अरुचिकर हो चला था। अधिक संख्या में लोग आत्मपीडन, तपस्या और ध्यान आदि का पूर्णतः पालन करने में असमर्थ थे और एक सीधा-सादा परन्तु रीति-रिवाजों से पूर्ण मत चाहते थे। अतएव बौद्ध सन्यासियों ने नागार्जुन के नेतृत्व में एक नवीन सुधार आन्दोलन किया और प्राचीन हीनयान मत को त्याग कर नवीन महायान मत ग्रहण किया। महायान उत्तरी बौद्धों की सूझ थी जो उसे संसार सागर को पार करके निर्वाण पद तक पहुँचने के लिए द्रुतगामी अथवा महान् जलयान (जहाज) समझते थे। इस सुधार से बौद्धमत शीघ्र ही फैल गया।

कला द्वारा प्रचार : कनिष्क गान्धार की कलाशाला का संरक्षक था, अतएव मूर्तिकार तथा चित्रकार बड़े उत्साह से बौद्धमत के प्रचारक बन गये। बुद्ध के अनेक चित्र और मूर्तियाँ बनीं, जिससे बौद्धों की भी संख्या बढ़ने लगी।

अशोक की भाँति प्रचारक विदेशों में भेजे गये और बौद्धमत का प्रचार चीन, जापान, तिब्बत, मध्य एशिया आदि में किया।

बौद्ध संन्यासियों तथा विहारों को जो अपार धन दान दिया गया उससे भी बौद्धमत के फैलने में सहायता मिली।

अशोक और कनिष्क की तुलना

दोनों अपने जीवन के आरम्भ में बड़े निर्दयी थे, किन्तु बाद में बौद्ध बन गए। दोनों ने संघ के आम सम्मेलन किए। दोनों ने अपना समय और शक्ति अपने राज्य-भर में स्तूप और विहार बनवाने में व्यय किए। दोनों ने बौद्धमत को विदेशों में फैलाने का सेवा-कार्य किया।

किन्तु दोनों में असमानता समानता की अपेक्षा अधिक थी—

अशोक हीनयान का अनुयायी था और कनिष्क महायान का। कनिष्क अपने जीवन में कभी भी अहिंसक नहीं बना और अन्त में व्यर्थ की लड़ाइयाँ लड़ता रहा। कनिष्क का व्यक्तित्व इतना महान् न था जितना अशोक का। वह निःसंदेह अशोक से कम सदाचारी था और उसको अशोक के समान समझना उस महान् धर्मात्मा मौर्य सम्राट की अवहेलना करना है। किन्तु उत्तरी देशों, जैसे चीन, तिब्बत, जापान और मध्य एशिया के लिए **कनिष्क उतना ही महान् है जितना अशोक**—क्योंकि यदि वह न होता तो उन देशों में बौद्धमत उतना नहीं फैलता।

कनिष्क—शिक्षा का पोषक : कनिष्क विद्वानों का बड़ा पोषक था और बड़े-बड़े विद्वान् आकर उसके पास इकट्ठे होते थे। राजकीय संरक्षण पाकर धार्मिक तथा साँसारिक दोनों प्रकार का बहुत उच्चकोटि का संस्कृत-साहित्य प्रचुर मात्रा में तैयार हुआ। उसके दरबार में सबसे बड़ा साहित्यिक चतुर्मुखी प्रतिभा वाला अश्वघोष था। (जो भाँति भाँति का उच्चकोटि का साहित्य बना कर मिल्टन, गेटे, कैन्ट तथा वॉलटेअर की याद दिलाता है)। वह कवि, दार्शनिक नाट्यकार, गायक तथा लेखक आदि सब कुछ था। दूसरा महान् व्यक्ति **नागार्जुन** था जिसने महायान की नींव डाली और जो दार्शनिक और वैज्ञानिक था। युवानच्याँग (Hiuen Tsang) ने उसको संसार के चार आलोकों में से एक कहा है। **वसुमित्र** उसके दरबार का एक और तारा था जो बड़ा महात्मा था और बौद्धों के चौथे सम्मेलन का प्रधान बना था। चरक, जो भारत का सर्वश्रेष्ठ वैद्य हुआ है, कहा जाता है कि वह भी कनिष्क के दरबार में था। उसकी प्रसिद्धि आयुर्वेदिक औषधियों के विषय में एक ग्रन्थ लिखने के कारण हुई।

कनिष्क—एक महान् निर्माणकर्त्ता : उसकी राजधानी पेशावर में एक स्मारक बुर्ज है जिसे 'शाहजी की देहरी' कहते हैं। यह नगर के सिंहद्वार पर स्थित ४०० फुट ऊँचा महान् स्तूप और मठ है। यह विशाल इमारत सदियों तक आश्चर्य की वस्तु बनी रही और देखने वाले इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे। उसने अपने नाम पर एक बड़ा नगर कनिष्कपुर (जो काश्मीर में बारामूला के समीप है) बसाया, जो सिद्ध करता है कि वह एक महान् निर्माणकर्ता था। विश्वास किया जाता है कि तक्षशिला का सिरमुख नामक नगर अनेक विहारों और इमारतों सहित उसी ने बसाया था। मथुरा उसके राज्य में कला का बड़ा केन्द्र था जो मठों तथा मूर्तियों से सुशोभित था। सबसे प्रसिद्ध स्मारक कनिष्क के सिर रहित धड़ की प्रतिमा है। उसके संरक्षण में कला ने अपार उन्नति की। इन कलाओं का ढाँचा भारतीय था, परन्तु अन्तिम पुट यूनानी कला को देकर उसकी सुन्दरता में चार चाँद लगा दिए थे।

व्यापार और व्यवसाय : कुशनों का राज्य आन्ध्र चीन तथा पार्थिया की सीमाओं को छूता था, अतएव उन देशों से कनिष्क के व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अच्छे थे।

कहा जाता है कि कनिष्क ने कोई सम्वत् भी चलाया, परन्तु पता नहीं कब

और न यह पता है कि उसकी मुद्रा और शिलालेखों पर जो २ से ९९ तक के संवत् दिए गये हैं वे शक अथवा किसी अन्य संवत् से सम्बन्धित हैं। इस अनिश्चितता के कारण उसके राज्य की ठीक-ठीक तिथि नहीं दी जा सकती। दन्तकथाओं से पता चलता है कि उसकी युद्धनीति से तंग आकर, जब वह चीन से युद्ध करने की दोबारा तैयारी कर रहा था, किसी सैनिक अधिकारी द्वारा उसकी मृत्यु हुई। यह तिथि सन् १४५ अथवा १६२ थी।

कनिष्क का स्थान : महान् योद्धा और एक महान् राज्य की नींव डालने के नाते इतिहास में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। चीन की विजय तथा शक गवर्नरों की विजय उसकी महान् विजयें थीं। वही अकेला भारतीय शासक था जिसके राज्य की सीमा पामीर से परे तक थी। वह अपने राज्य को दृढ़ बनाना भी जानता था और उसके राज्य में कभी विद्रोह नहीं हुआ, यह उसकी कुशल राजनीति के फलस्वरूप ही था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य के टुकड़े नहीं हुए। यह सिद्ध करता है कि उसने उसे कितना ठोस बना दिया था। किन्तु लोग उसे युद्ध में विजयों के कारण स्मरण नहीं करते हैं वरन् उसके बौद्धमत तथा विद्या के पोषक होने के कारण। उसने चीन, तिब्बत और जापान में बौद्धों का महायान मत फैलाकर अशोक के उद्देश्य को पूरा कर दिया और इसी कारण प्रायः उसको दूसरा अशोक कहा जाता है। कला और विद्या को संरक्षण देने में उसकी तुलना महमूद गजनवी से की जाती है। उसकी राज-सभा में बड़े-बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् आकर्षित होकर पहुँचते थे और गान्धार कलाशाला आज भी उसकी पोषकता का प्रमाण देती है।

खंड ३ : बौद्धमत का परिवर्तित रूप अथवा महायान शाखा

कनिष्क के राज्य की मुख्य घटना बौद्धमत का हीनयान तथा महायान नामक दो बड़ी शाखाओं में विभाजित हो जाना था। हीनयान अर्थात् मोक्ष तक जाने का छोटा वाहन 'दक्षिणी बौद्धमत' भी कहलाता था और महायान को 'उत्तरी बौद्धमत', 'वृहद वाहन' अथवा 'महानपथ' भी कहते थे, जो बौद्धों की अपेक्षा ब्राह्मणों के मत से विशेष मिलता था। यह शाखा अधिकतर मध्य एशिया के उत्तरी देशों में फैली जबकि दूसरी शाखा, जो कट्टर और शुद्ध थी, दक्षिणी देशों, जैसे लंका आदि में फैली।

बौद्धमत के रूपान्तर के कारण

(१) उत्तर-पश्चिम के यूनानी और पार्थियन वेदान्तियों के सम्पर्क में आने से बौद्धों के बड़े-बड़े संन्यासियों के मत में परिवर्तन हो गया। बौद्ध-संन्यासियों ने विचार किया कि यदि इस मत को फलते-फूलते देखना है तो यूनानी ब्रह्मज्ञान का भी समावेश करना चाहिए।

(२) प्रारम्भिक कठोर बौद्धमत पालन करना अत्यन्त कठिन था और उसमें आकर्षण कम था। उसमें न तो कोई रक्षक था, न रस्में थीं, न पूजा थी और न प्रार्थना थी। अतएव इसमें सर्वसाधारण के लिए कोई आकर्षण न था और सुधार की आवश्यकता थी।

(३) हिन्दुओं में नवीन मतों का प्रादुर्भाव हुआ, जैसे वैष्णवमत और शैव-मत आदि, जिनका आधार भक्ति और श्रद्धा थी। इससे बौद्ध-संन्यासियों के मन में प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने भी अपने मत को सर्वसाधारण के लिए आकर्षित बनाना चाहा।

(४) पाटलीपुत्र में, जो कट्टर बौद्धमत का दुर्ग बना हुआ था, उस समय तक कुछ भी परिवर्तन न आ सका जब तक कि वह राजनीति का केन्द्र बना रहा, किन्तु ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में मगध साम्राज्य का अन्त होते ही पाटलीपुत्र की महत्ता लुप्त हो गई और तक्षशिला तथा पेशावर, जहां उदार बौद्धों का निवास था, अधिक महत्वशाली बन गए।

(५) किन्तु सुधार का सबसे बड़ा कारण नागार्जुन था जो उस काल का सर्वश्रेष्ठ बौद्ध-संन्यासी था। उसने खुले रूप से प्राचीन बौद्ध-सिद्धान्तों का विरोध किया और नवीन महायान शाखा स्थापित की। इसी कारण उसको बौद्धमत का लूथर (Luther) कहा जाता है। **जिस प्रकार लूथर ने ईसाई मत में एकदम परिवर्तन कर डाला था, उसी भाँति नागार्जुन ने भी बौद्धमत में परिवर्तन किया था।**

महायान शाखा : इसके मुख्य सिद्धान्त ये थे—

(१) यह मत मूर्तिपूजा और बुद्ध की मूर्ति में श्रद्धा रखता था। इस भांति बौद्धमत में मूर्ति-पूजा का जन्म हुआ। (२) पहले बौद्ध बुद्ध को न ईश्वर का अवतार मानते थे और न उनको अनुयायियों के निर्वाण पद की प्राप्ति में सहायक ही समझते थे। किन्तु बौद्ध बुद्ध को ईश्वर मानने लगे। (३) महायान शाखा वाले एक कदम और आगे बढ़ गए और 'बोधिसत्व' की पूजा करने लगे। ये बुद्ध के ही अनुरूप थे जिन्होंने पर्याप्त आत्म-नियन्त्रण का प्रयत्न किया था परन्तु जो निर्वाण पद को प्राप्त नहीं हुए थे। (४) बुद्ध के अनुसार चरम लक्ष्य निर्वाण था अर्थात् जन्म-मरण के सम्बन्ध से मुक्ति, किन्तु महायान वाले उससे भी आगे स्वर्ग में जाने का प्रयत्न करने लगे। (५) आदि बौद्धों का विचार था कि अपने लक्ष्य निर्वाण तक पहुँचने के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है वरन् उस व्यक्ति के प्रयत्न ही पर्याप्त हैं। तपस्या और आत्म-त्याग का अभ्यास आवश्यक था। किन्तु नवीन बौद्ध प्रार्थना और रस्मों पर जोर देने लगे और इस प्रकार महायान शाखा बुद्ध और बोधिसत्व की उसी भांति पूजा करने लगे जैसे हिन्दू अपने देवताओं की पूजा करते थे। (६) प्राचीन मत का पाली में प्रचार किया जाता था और हीनयानों के धार्मिक ग्रन्थ प्रायः पाली भाषा में थे, किन्तु महायान वालों ने इस कार्य के लिए संस्कृत का प्रयोग किया।

और न यह पता है कि उसकी मुद्रा और शिलालेखों पर जो २ से ९९ तक के संवत् दिए गये हैं वे शक अथवा किसी अन्य संवत् से सम्बन्धित हैं। इस अनिश्चितता के कारण उसके राज्य की ठीक-ठीक तिथि नहीं दी जा सकती। दन्तकथाओं से पता चलता है कि उसकी युद्धनीति से तंग आकर, जब वह चीन से युद्ध करने की दोबारा तैयारी कर रहा था, किसी सैनिक अधिकारी द्वारा उसकी मृत्यु हुई। यह तिथि सन् १४५ अथवा १६२ थी।

कनिष्क का स्थान : महान् योद्धा और एक महान् राज्य की नींव डालने के नाते इतिहास में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। चीन की विजय तथा शक गवर्नरों की विजय उसकी महान् विजयें थीं। वही अकेला भारतीय शासक था जिसके राज्य की सीमा पामीर से परे तक थी। वह अपने राज्य को दृढ़ बनाना भी जानता था और उसके राज्य में कभी विद्रोह नहीं हुआ, यह उसकी कुशल राजनीति के फलस्वरूप ही था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य के टुकड़े नहीं हुए। यह सिद्ध करता है कि उसने उसे कितना ठोस बना दिया था। किन्तु लोग उसे युद्ध में विजयों के कारण स्मरण नहीं करते हैं वरन् उसके बौद्धमत तथा विद्या के पोषक होने के कारण। उसने चीन, तिब्बत और जापान में बौद्धों का महायान मत फैलाकर अशोक के उद्देश्य को पूरा कर दिया और इसी कारण प्रायः उसको दूसरा अशोक कहा जाता है। कला और विद्या को संरक्षण देने में उसकी तुलना महमूद गजनवी से की जाती है। उसकी राज-सभा में बड़े-बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् आकर्षित होकर पहुँचते थे और गान्धार कलाशाला आज भी उसकी पोषकता का प्रमाण देती है।

खंड ३ : बौद्धमत का परिवर्तित रूप अथवा महायान शाखा

कनिष्क के राज्य की मुख्य घटना बौद्धमत का हीनयान तथा महायान नामक दो बड़ी शाखाओं में विभाजित हो जाना था। हीनयान अर्थात् मोक्ष तक जाने का छोटा वाहन 'दक्षिणी बौद्धमत' भी कहलाता था और महायान को 'उत्तरी बौद्धमत', 'वृहद वाहन' अथवा 'महानपथ' भी कहते थे, जो बौद्धों की अपेक्षा ब्राह्मणों के मत से विशेष मिलता था। यह शाखा अधिकतर मध्य एशिया के उत्तरी देशों में फैली जबकि दूसरी शाखा, जो कट्टर और शुद्ध थी, दक्षिणी देशों, जैसे लंका आदि में फैली।

बौद्धमत के रूपान्तर के कारण

(१) उत्तर-पश्चिम के यूनानी और पार्थियन वेदान्तियों के सम्पर्क में आने से बौद्धों के बड़े-बड़े संन्यासियों के मत में परिवर्तन हो गया। बौद्ध-संन्यासियों ने विचार किया कि यदि इस मत को फलते-फूलते देखना है तो यूनानी ब्रह्मज्ञान का भी समावेश करना चाहिए।

(२) प्रारम्भिक कठोर बौद्धमत पालन करना अत्यन्त कठिन था और उसमें आकर्षण कम था। उसमें न तो कोई रक्षक था, न रस्में थीं, न पूजा थी और न प्रार्थना थी। अतएव इसमें सर्वसाधारण के लिए कोई आकर्षण न था और सुधार की आवश्यकता थी।

(३) हिन्दुओं में नवीन मतों का प्रादुर्भाव हुआ, जैसे वैष्णवमत और शैव-मत आदि, जिनका आधार भक्ति और श्रद्धा थी। इससे बौद्ध-संन्यासियों के मन में प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने भी अपने मत को सर्वसाधारण के लिए आकर्षित बनाना चाहा।

(४) पाटलीपुत्र में, जो कट्टर बौद्धमत का दुर्ग बना हुआ था, उस समय तक कुछ भी परिवर्तन न आ सका जब तक कि वह राजनीति का केन्द्र बना रहा, किन्तु ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में मगध साम्राज्य का अन्त होते ही पाटलीपुत्र की महत्ता लुप्त हो गई और तक्षशिला तथा पेशावर, जहां उदार बौद्धों का निवास था, अधिक महत्वशाली बन गए।

(५) किन्तु सुधार का सबसे बड़ा कारण नागार्जुन था जो उस काल का सर्वश्रेष्ठ बौद्ध-संन्यासी था। उसने खुले रूप से प्राचीन बौद्ध-सिद्धान्तों का विरोध किया और नवीन महायान शाखा स्थापित की। इसी कारण उसको बौद्धमत का लूथर (Luther) कहा जाता है। **जिस प्रकार लूथर ने ईसाई मत में एकदम परिवर्तन कर डाला था, उसी भाँति नागार्जुन ने भी बौद्धमत में परिवर्तन किया था।**

महायान शाखा : इसके मुख्य सिद्धान्त ये थे—

(१) यह मत मूर्तिपूजा और बुद्ध की मूर्ति में श्रद्धा रखता था। इस भांति बौद्धमत में मूर्ति-पूजा का जन्म हुआ। (२) पहले बौद्ध बुद्ध को न ईश्वर का अवतार मानते थे और न उनको अनुयायियों के निर्वाण पद की प्राप्ति में सहायक ही समझते थे। किन्तु बौद्ध बुद्ध को ईश्वर मानने लगे। (३) महायान शाखा वाले एक कदम और आगे बढ़ गए और 'बोधिसत्व' की पूजा करने लगे। ये बुद्ध के ही अनुरूप थे जिन्होंने पर्याप्त आत्म-नियन्त्रण का प्रयत्न किया था परन्तु जो निर्वाण पद को प्राप्त नहीं हुए थे। (४) बुद्ध के अनुसार चरम लक्ष्य निर्वाण था अर्थात् जन्म-मरण के सम्बन्ध से मुक्ति, किन्तु महायान वाले उससे भी आगे स्वर्ग में जाने का प्रयत्न करने लगे। (५) आदि बौद्धों का विचार था कि अपने लक्ष्य निर्वाण तक पहुँचने के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है वरन् उस व्यक्ति के प्रयत्न ही पर्याप्त हैं। तपस्या और आत्म-त्याग का अभ्यास आवश्यक था। किन्तु नवीन बौद्ध प्रार्थना और रस्मों पर जोर देने लगे और इस प्रकार महायान शाखा बुद्ध और बोधिसत्व की उसी भांति पूजा करने लगे जैसे हिन्दू अपने देवताओं की पूजा करते थे। (६) प्राचीन मत का पाली में प्रचार किया जाता था और हीनयानों के धार्मिक ग्रन्थ प्रायः पाली भाषा में थे, किन्तु महायान वालों ने इस कार्य के लिए संस्कृत का प्रयोग किया।

हीनयान और महायान में अन्तर

हीनयान अर्थात् प्राचीन बौद्धमत	महायान अर्थात् नवीन बौद्धमत
(१) निर्वाण के लिए परमात्मा में विश्वास रखना आवश्यक नहीं था।	(१) बुद्ध को ईश्वर के स्थान पर मानना।
(२) मूर्तिपूजा का अभाव केवल पद-चिह्नों अथवा रिक्त चौकी से बुद्ध के जीवन का संकेत करना काफी माना जाता था।	(२) बुद्ध के चित्रों और मूर्तियों की पूजा करना।
(३) निज के प्रयत्न, अष्टांग मार्ग और अहिंसा के द्वारा ही दुखों का निवारण हो सकता है।	(३) पूजा, प्रार्थना और बुद्ध एवं बोधिसत्वों को प्रसन्न करने से मोक्ष प्राप्त हो सकती है।
(४) चरम लक्ष्य निर्वाण है, अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति।	(४) स्वर्ग की कल्पना और उसकी प्राप्ति के उपाय।
(५) पाली, प्रचार की तथा धार्मिक ग्रन्थों की भाषा थी।	(५) धार्मिक ग्रन्थों की भाषा संस्कृत थी।
(६) इस प्रचार दक्षिण में अधिक हुआ। इसका पोषक अशोक था।	(६) इसका प्रचार उत्तरी देशों में अधिक हुआ। इसका पोषक कनिष्क था।

6719

महायान का महत्व : बौद्धमत में सुधार होने से यद्यपि उसको बुद्ध के कई सिद्धान्तों को त्यागना पड़ा, तो भी इससे बौद्धमत को बहुत लाभ पहुँचा। सुधारों के परिणामस्वरूप लाखों मनुष्य बौद्ध बन गये जो अन्यथा कभी भी इस मत में प्रवेश न करते। इसने बौद्धमत को स्थायी और उत्साही मत बना दिया। इसकी अपेक्षा हीनयान काल्पनिक और कठोर मत था और प्रतिभा-रहित तथा अरुचिकर था।

दूसरे, इस परिवर्तन से मध्य एशिया की बेघर अस्थिर जातियों के लिए यह मत बड़ा आकर्षक बन गया और मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, जापान के लोगों ने खुशी से इस मत को अपनाया।

तीसरे, गान्धार शाला के कलाकारों को मूर्तिकला और चित्रकला के लिए विस्तृत क्षेत्र मिल गया। यदि बुद्ध की मूर्ति और उसके चित्रों में श्रद्धा उत्पन्न न की गई होती तो गान्धार-कला ने उससे आधी भी उन्नति न की होती जितनी कि उसने की थी।

खंड ४ : गान्धार-कलाशाला

इस शाला का भारतीय सभ्यता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इसको हिन्दू-यूनानी कला भी कहते हैं, क्योंकि भारतीय विचारों और धार्मिक विश्वासों को

दर्शाने के लिए यूनानी कला का प्रयोग किया गया था। इस प्रकार इसका आधार गौतम बुद्ध का जीवन और उनसे सम्बन्धित कथाएँ थीं तथा मूर्तियों की चेष्टा, आकार, वस्त्र आदि यूनानी ढंग पर होते थे। यह शाला भारत की प्राचीन साँची और भारहूत की शालाओं से भिन्न थी, जो बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों का प्रयोग नहीं करती थी तथा इतनी सुन्दर और चिकनी नहीं होती थी। प्राचीन कलाकार मूर्तियाँ नहीं बनाते थे वरन् केवल चिह्न बनाते थे, जैसे बुद्ध चरण-चिह्न। इस भांति **गान्धार-कलाशाला ने मूर्तिकला में अपार उन्नति की थी।**

खंड ५ : बाद के कुशन राजा

हुविष्क : कनिष्क के दो पुत्र थे। वशिष्क जो सम्भवतः बड़ा था, अपने पिता के शासन-काल में कई वर्ष तक मथुरा का गवर्नर रहा, किन्तु कनिष्क से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाने के कारण दूसरा पुत्र हुविष्क उसके बाद गद्दी पर बैठा, जिसने सम्भवतः १४५-१७५ ई० तक राज्य किया। वह भी एक शक्तिशाली राजा था और अनेक वर्षों तक अपने राज्य को उसने सुरक्षित रखा था। अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में कदाचित् रुद्रदमन से पराजित होने के कारण उसको मालवा का प्रान्त छोड़ना पड़ा था। अपने पिता की भाँति उसने भी बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माण करवाया। हुविष्क-बिहार मथुरा में और हुविष्कपुर काश्मीर में अब भी शेष हैं। वह धार्मिक विषय में अपने पिता की भाँति उदार था और यद्यपि उसका बौद्धमत की ओर अधिक झुकाव था, फिर भी वह अन्य सम्प्रदायों के देवताओं का भी आदर करता था।

वसुदेव प्रथम : लगभग १४ वर्ष के अन्तर से वसुदेव गद्दी पर बैठा और ३० वर्ष तक राज्य किया। वह भी एक महान् कुशन सम्राट् था और सम्भवतः उसी ने अपनी राजधानी पुरुषपुर से हटाकर मथुरा में बनाई थी। उसके नाम से ही प्रकट है कि उसके समय तक अथवा **दूसरी शताब्दी के मध्य तक कुशन पूर्णतः हिन्दू बन चुके थे।** वह अपने पूर्वजों की भांति बौद्ध न था वरन् विष्णु और शिव का उपासक था। किन्तु उसने हिन्दुकुश से परे का बहुत-कुछ राज्य खो दिया था और उसके शासन-काल में कुशनों का ह्रास होना आरम्भ हो चला था।

कुशन राज्य के पतन के कारण : वसुदेव के उत्तराधिकारियों (वसुदेव द्वितीय, कनिष्क द्वितीय और वसुदेव तृतीय) में से कोई भी इतना योग्य न था जो राज्य के पतन को रोकता। छोटे-छोटे कुशन राजा फिर भी उस समय तक राज्य करते रहे जब तक हूणों के आक्रमण आरम्भ होने लगे। कुशन वंश के पतन के मुख्य कारण ये थे—

(क) तीसरी शताब्दी में उत्तर-भारत में नागों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और कुशन उनके सामने ठहर न सके।

(ख) उत्तर-पश्चिमी भारत और फारस में सासानीय वंश की शक्ति बढ़ गई और उन्होंने भारत की सीमा से परे कुशन राज्य का अन्त कर दिया।

(ग) वसुदेव प्रथम का कोई भी उत्तराधिकारी बलवान और तेजस्वी न था। वे दुर्बल शासक राज्य को टुकड़े-टुकड़े होने से न रोक सके।

Questions

1. Write a brief but careful account of the period of the Indo-Greek kings.
   हिन्दू-यूनानी बादशाहों के काल का संक्षिप्त किन्तु सतर्क हाल लिखो।
2. What has India borrowed from the Greeks ?
   यूनानियों से भारत ने क्या-क्या सीखा है ?
3. Describe briefly the achievements of Kanishka.
   कनिष्क की सफलताओं का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखो।

अध्याय १०

गुप्त-वंश

(अ) गुप्त-वंश के शासक (सन् ३२०-४८०)

गुप्त-वंश के प्रारम्भिक शासक

उनकी उत्पत्ति : गुप्त सम्राट कौन थे और वे किस कुल व जाति के थे इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं । यद्यपि पुराणों तथा स्मृतियों आदि में वैश्यों की उपाधि गुप्त कही गई है तथापि वास्तव में इस विधान का पालन सदैव नहीं हुआ । अन्य वर्णों के लोगों के नाम भी गुप्तान्तक होते थे, जैसे प्रख्यात ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त जो ब्राह्मण थे । डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार गुप्त लोग जाट थे, परन्तु इस मत के प्रमाण भी काफी नहीं हैं । भारतीय जनश्रुतियों के अनुसार गुप्त सम्राट सदैव क्षत्रिय माने गए हैं और जब तक इस प्रमाण के विरोध में पर्याप्त सामग्री न मिले तब तक उनको क्षत्रिय ही मानना उचित होगा ।

इलाहाबाद का शिलालेख निर्देश करता है कि चन्द्रगुप्त के पितामह श्रीगुप्त थे—कदाचित् वही श्रीगुप्त जिसके विषय में चीनी ई-चिंग (I-Tsing) ने लिखा है कि उसने मृगसिखावन के समीप एक मन्दिर बनवाया था और उसको दान में चार गाँव दिये थे । वह मगध का अति सामान्य राजा था और उसके तथा उसके पुत्र घटोत्कच के विषय में विशेष समाचार ज्ञात नहीं हैं ।

चन्द्रगुप्त प्रथम (सन् ३२०–३३५)

घटोत्कच के पश्चात् उसका बेटा चन्द्रगुप्त प्रथम संभवतः ३२० ई० में गद्दी पर बैठा । अपने बाप-दादा की उपाधि 'महाराजा' को त्याग कर उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि ग्रहण की । वैशाली के शासक लिच्छवि वंश की कन्या कुमारदेवी से उसका विवाह हो जाने के कारण उसको पाटलिपुत्र मिल गया । बाद में उसने जो मुद्रा अंकित कराई उस पर कुमारदेवी का नाम तथा उसकी मूर्ति थी और उसके पुत्र समुद्रगुप्त को इस बात का गर्व था कि वह लिच्छवि वंश की कन्या का पुत्र है ।

चन्द्रगुप्त को पड़ोसी राज्यों के जीतने में लिच्छवियों ने काफी सहायता दी, किन्तु उन विजयों का विस्तृत वृत्तान्त अज्ञात है । तब भी इतना ज्ञात है कि आरम्भ में चन्द्रगुप्त प्रथम को मगध का छोटा-सा राज्य मिला था, परन्तु अन्त में उसका

राज्य बढ़कर मगध के अतिरिक्त अवध, तिरहुत, बिहार और इलाहाबाद तक फैल गया था। **उसने फरवरी सन् ३२० में नवीन संवत् चलाया जिसे गुप्त संवत् कहते हैं।** इसी वर्ष उसका राज्याभिषेक हुआ था। (कुछ लोगों का मत है कि इस संवत् को लिच्छवियों ने चलाया था।)

समुद्रगुप्त (३३५–३७५)

समुद्रगुप्त के पूर्वज : वह चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्रों में सबसे योग्य था। उसके प्रारम्भिक जीवन का वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। कुछ लोगों का मत है कि चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के लिए युद्ध हुआ था और काच, जो ज्येष्ठ था, ने समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी बनने में रोड़ा अटकाया होगा। किन्तु काच मारा गया। सन् ३३५ में समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा और उसने लगभग चालीस वर्ष राज्य किया। जिस समय वह सिंहासन पर बैठा था, भारत के अनेक टुकड़े हो रहे थे और न उत्तर में और न दक्षिण में कोई शक्तिशाली राजा था। आन्ध्र और कुशन राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर अनेक छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो गये थे जो परस्पर निरन्तर लड़ते रहते थे। हर ओर अशान्ति और अराजकता फैली हुई थी। समुद्रगुप्त ने देश की इस अशान्ति को दूर कर नियंत्रण स्थापित किया और मगध के खोये हुए वैभव को पुनर्जीवित कर दिया।

उसकी सफलताएँ : समुद्रगुप्त प्राचीन काल के सर्वोत्तम शासकों में से एक था। उसका यश अशोक की भाँति फैला, यद्यपि दोनों के चरित्रों में आकाश-पाताल का अन्तर था। अशोक शान्ति और अहिंसा का प्रतीक था, समुद्रगुप्त युद्ध और आक्रमणों का। अशोक को राज्य-विजय से घृणा हो गई थी, समुद्रगुप्त उसका आकांक्षी था। **समुद्रगुप्त नैपोलियन अथवा सिकन्दर के समान विजेता था।** लोग ठीक ही उसे 'भारत का नैपोलियन' कहते हैं।

उसकी विजयें : सिंहासन पर बैठते ही वह दिग्विजय करने चल दिया और उस समय तक चैन से नहीं बैठा जब तक कि उसने समस्त भारत को विजय नहीं कर लिया। इलाहाबाद के शिलालेख से पता चलता है कि सिंहासन पर बैठने के बाद कुछ काल तक उसको उत्तर तथा मध्य भारत के पड़ौसी राज्यों से युद्ध करना पड़ा था। उत्तर में सबसे शक्तिशाली नागों के तीन राजा थे—नागसेन, गनपतिनाग और अच्युतनाग। तीनों ने संगठन करके अपनी रक्षा के लिए समुद्रगुप्त से युद्ध किया, किन्तु कौशाम्बी (इलाहाबाद के समीप) के युद्ध में वे पराजित हुए और उनका राज्य गुप्तवंश के राज्य में मिला लिया गया। दूसरा युद्ध कोट राजाओं से हुआ जो सम्भवतः उत्तरी राजपूताना में शासन करते थे। उनका भी वही परिणाम हुआ जो नागों का हुआ था। समुद्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिमी भारत की भारतीय तथा विदेशी जातियों से भी युद्ध किया और मालवों अर्जुनेयों तथा यौधेयों को पराजित किया। **विजित प्रदेशों को अपने राज्यों में मिला लिया और उनके प्रान्त बना दिए, जिन**

भुवनेश्वर का मंदिर

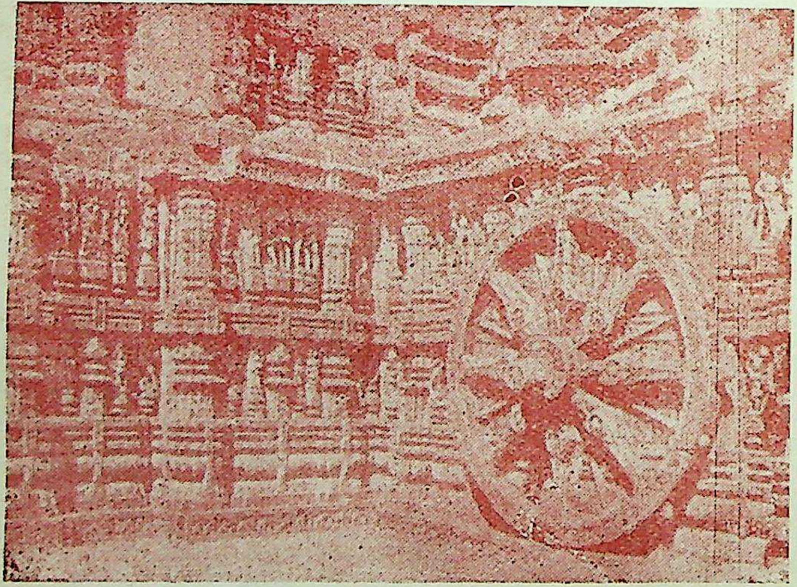

कोणार्क मंदिर, (उड़ीसा)

पर राजकर्मचारियों का सीधा शासन होता था। उसका सबसे साहसपूर्ण कार्य दक्षिण की चढ़ाई थी, जिसमें उसको घने जंगलों में होकर ३,००० मील की यात्रा करनी पड़ी थी और वह प्रदेश उसका देखा हुआ नहीं था। इस चढ़ाई की तुलना सिकन्दर की चढ़ाई से हो सकती है, केवल अन्तर इतना ही है कि सिकन्दर की चढ़ाई बड़े पैमाने पर हुई थी और उसका क्षेत्र बहुत बड़ा था, अन्यथा साहस, संगठन और कार्य करने की क्षमता में कोई अन्तर न था। समुद्रगुप्त ने इस चढ़ाई में दक्षिण के बारह राजाओं पर विजय पाई।

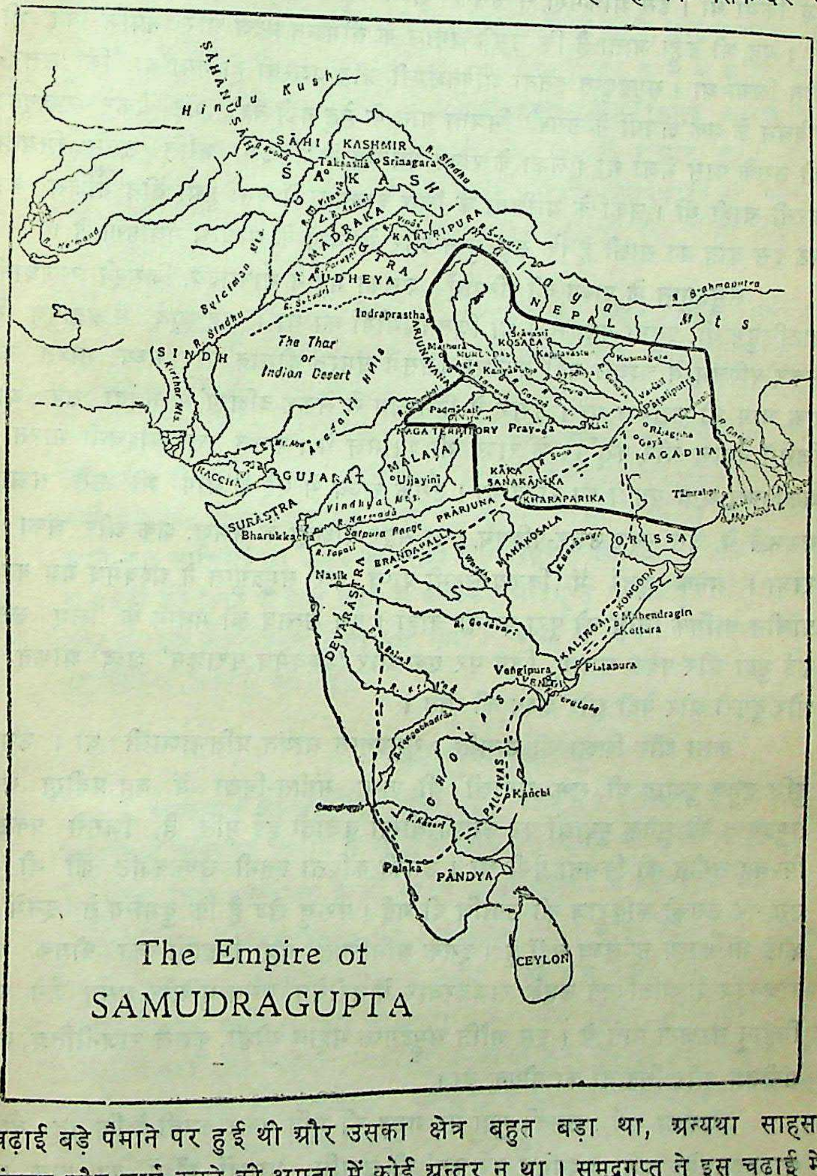
SAHANUSAHI
Hindu Kush
SAHI
KASHMIR
Takṣaśilā
Srinagara
R. Sindhu
SAKASHI
R. Vitastā
MADRAKA
KARTRIPURA
R. Satadri
R. Helmand
Sulaiman Mts.
YAUDHEYA
Himalaya Mts
R. Brahmaputra
NEPAL
Indraprastha
ARJUNAYANA
Śrāvasti
KOSALA
Mathura
MURUNDAS
Agra
Kapilavastu
Kanyākubja
Ayodhya
Kuśinagara
Vaiśāli
Pātaliputra
SINDH
Kirthar Mts.
The Thar or Indian Desert
R. Chambal
Padmāvati
NAGA TERRITORY
Prayāga
Kāśī
Rājagṛha
Gayā
MAGADHA
Mt. Abu
Aravalli Hills
KACCHA
GUJARAT
MALAVA
Ujjayinī
R. Sona
KĀKA
SANAKĀNIKA
KHARAPARIKA
Tāmralipti
Vindhya Mts.
SURAŞTRA
Bharukkacha
R. Narmadā
Satpura Range
PRĀRJUNA
MAHĀKOSALA
R. Mahānadi
ORISSA
R. Tapati
BRANDAVALLA
R. Wardha
Nasik
DEVARĀṢTRA
R. Godāvari
KONGODA
Mahendragiri
Kottura
KALINGA
Pistapura
Vengipura
VENGI
R. Krishna
R. Tungabhadra
CHOLAS
PALLAVAS
Kānchi
R. Kāveri
Palaka
PĀNDYA
CEYLON

The Empire of
SAMUDRAGUPTA

दक्षिण में उदार नीति : उसने दक्षिण में उदार नीति का पालन किया जितने राज्यों को उसने जीता उनमें से किसी को भी अधिकृत नहीं किया। केवल

उन शासकों को अपना प्रभुत्व स्वीकार कराकर छोड़ दिया। यह नीति अत्यन्त दूरदर्शिता की थी।

कहा जाता है कि समुद्रगुप्त ने पूर्वी बंगाल के सीमान्त प्रदेश के राजा से भी युद्ध किया था। इस आक्रमण से उसके राज्य की सीमा ब्रह्मपुत्र तक फैल गई थी। यह भी कहा जाता है कि उसने बंगाल के सीमान्त प्रदेश और नैपाल को भी जीत लिया था। समुद्रगुप्त इतना शक्तिशाली और यशस्वी हो गया था कि उत्तर-पश्चिम के शक क्षत्रपों ने उसकी मित्रता पाने के हेतु बड़ी-बड़ी भेंट देकर राजदूतों को उसके पास भेजा था। लंका के राजा मेघवर्ण ने भी इसी भाँति उससे मित्रता करनी चाही थी। लंका के यात्रियों के लिए बोधगया में बना हुआ तीन मंजिल का मठ इस बात का साक्षी है कि समुद्रगुप्त और मेघवर्ण के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे।

समुद्रगुप्त के राज्य की सीमाएँ : उसका महान् साम्राज्य, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, इतना बड़ा नहीं था जितना मौर्यों का था। वह पूर्व में ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम में चम्बल नदी तक था, जिसमें समस्त दोआब और मध्य भारत का एक भाग भी शामिल था। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्वदा तक था, जिसमें नैपाल और कर्तृपुर के राज्य भी शामिल थे। परन्तु उत्तर-पश्चिमी भारत में शकों तथा अन्य यवनों का राज्य था। उसके राज्य से परे के लोग भी उसे सम्राट समझते थे, जैसे सुदूर उत्तर-पश्चिम तथा सुदूर दक्षिण के क्रमशः शक और लंका के राजा। अनेक युद्धों में विजय-लक्ष्मी प्राप्त कर समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करके प्राचीन धार्मिक विधि को पूरा करना चाहा। इस उत्सव को मनाने के लिए उसने कई मुद्रा और पदक चलाए, जिन पर एक ओर 'अश्वमेध पराक्रम' शब्द अंकित थे और दूसरी ओर वेदी और अश्व की मूर्ति।

कला और शिक्षा की उन्नति : समुद्रगुप्त अत्यंत प्रतिभाशाली था। उसकी बुद्धि बहुत कुशाग्र थी, सूझ अनोखी थी तथा संगीत-विद्या में वह प्रवीण था। समुद्रगुप्त की अनेक मुद्राओं पर उसकी वीणा बजाती हुई मूर्ति है, जिससे प्रकट है कि वह संगीत का कितना प्रेमी था। उसकी कविता इतनी उच्चकोटि की थी कि उस पर उसको कविराज की उपाधि दी गई। परन्तु खेद है कि दुर्भाग्य से इनमें से कोई भी काव्य उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त वह विद्वानों का पोषक था। राजकवि के अतिरिक्त उसके राजदरबार में हरीसेन, वसुबन्धु और असंग जैसे बौद्ध विद्वान् संरक्षण पाते थे। इस भाँति समुद्रगुप्त महान् योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ, कवि, संगीतज्ञ और विद्वानों का पोषक था।

उसका धर्म : उसकी मुद्रा पर गरुड़ की मूर्ति प्रकट करती है कि वह वैष्णव था। अश्वमेध यज्ञ, 'अश्वमेध पराक्रम' की उपाधि, 'लाखों गौओं का दान करने वाला', ब्राह्मण को दान देना और संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन देना, ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि वह कट्टर हिन्दू था, किन्तु वह अन्य मतों का भी समुचित आदर करता था। उसने लंका के राजा मेघवर्ण को बोधगया में मठ बनाने की अनुमति दे

दी तथा बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु और असंग को अपने राजदरबार में संरक्षण दिया था। समुद्रगुप्त भारत के सबसे महान् शासकों में से एक था और वह विजय करने वाले सिकन्दर और नैपोलियन जैसे महान् नेताओं की पंक्ति में गिना जाता है। उसने एक ऐसे सुदृढ़ राज्य की स्थापना की जो लगभग २०० वर्ष कायम रहा। कला और विद्या में अनुराग रखने, विद्वानों का पोषण करने, संस्कृत भाषा से प्रेम करने, हिन्दू धर्म का पुनरुद्वार करने, अन्य धर्मों का आदर करने के अतिरिक्त उसने भारतीय **संस्कृति और सभ्यता का ऐसा भवन तैयार किया जिसके कारण गुप्तकाल स्वर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध है**। इस भांति वह आदर्श सम्राट था। वह इतना शक्तिशाली था कि प्रजा उसका आदर करती थी और आज्ञाकारी थी और उदारचित भी इतना था कि इस बात को कभी नहीं भूलता था कि राज्य का एकमात्र उद्देश्य जनता की भलाई है।

रामगुप्त (सन् ३७५-३८०) : समुद्रगुप्त के पश्चात् रामगुप्त गद्दी पर बैठा। उसके राज्य में सबसे बड़ी घटना यह हुई कि किसी एक शक राजा ने उस पर आक्रमण कर दिया। रामगुप्त बड़ा अभिमानी, कायर और नीच था। शक राजा ने रामगुप्त से उसकी रानी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) को मांगा। दुर्बल और साहसहीन रामगुप्त ने इस लज्जाजनक माँग को स्वीकार कर लिया, परन्तु उसका भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय उस शक राजा की छावनी में एक स्त्री का वेष बनाकर तथा अपने कुछ साथियों को लेकर घुस गया और उसका वध कर दिया। इस प्रकार ध्रुवदेवी को शकों के हाथ पड़ने से बचाकर चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र लौटा और रामगुप्त का वध करके स्वयं राजा बन गया। बाद में उसने रामगुप्त की विधवा ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय

फाहियान का आगमन (सन् ३९९-४१४) : मुद्राओं और शिलालेखों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य का वृत्तान्त जानने का सबसे उत्तम स्रोत चीन का बौद्ध यात्री फ़ाहियान है जो भारत में बौद्ध-तीर्थों के दर्शनों के लिए आया था, लगभग ३९९ में उसने अपना घर (पश्चिमी चीन) छोड़ा और गोबी के मरुस्थल से होता हुआ खुतन, ताशकन्द इत्यादि पहुँचा। वह कुछ समय ठहरकर, पामीर पर्वत को पार करके स्वात के मार्ग से भारत पहुँच गया और उत्तर-भारत के समस्त प्रसिद्ध नगरों, जैसे पेशावर, तक्षशिला आदि के दर्शन करता हुआ मथुरा और उसके बाद मालवा की ओर बढ़ गया। उसने बौद्धों के समस्त तीर्थस्थान, जैसे कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर देखे और पाटलिपुत्र में तीन वर्ष तक रहा। इसके बाद वह ताम्रलिप्ति (वर्तमान तमलूक) पहुँचा, जहाँ वह दो वर्ष तक ठहरा और वहाँ से लंका, जावा, सुमात्रा होता हुआ चीन लौट गया। उसकी समस्त यात्रा में १५ वर्ष लगे, जिसमें ९ वर्ष उसने भारत में व्यतीत किए। जिस समय वह भारत में

भ्रमण कर रहा था उसने इस देश के विषय में, विशेष करके बौद्धों के पवित्र स्थानों के विषय में, अपने विचार प्रकट किए।

भारत के विषय में फ़ाहियान का वृत्तान्त : उसने अपने कथन में राजा का नाम नहीं बतलाया है, यद्यपि उसने बतलाया है कि किन उपायों से बुद्धिमान और और उदार राजा अपनी प्रजा की भलाई के कार्य करता था। वह पाटलिपुत्र का विस्तृत वृत्तान्त देता है जो विशाल और समृद्धिशाली नगर था जिसके मध्य में अशोक का प्राचीन अद्भुत महल था। धनी और ऐश्वर्यवान नागरिक दान देने और सच्चरित्रता में एक-दूसरे से स्पर्धा करते थे। अष्टमी के दिन वे मूर्तियों का एक जलूस निकालते थे। दो बड़े-बड़े मठ थे जिनमें एक हीनयान का था और दूसरा महायान का। प्रत्येक में लगभग ६०० श्रमण थे। **सबसे प्रसिद्ध श्रमण महायान विहार का मंजुश्री था।** संसार के भिन्न-भिन्न भागों से विद्यार्थी इन विहारों में आते थे। बड़े-बड़े चिकित्सालय थे जिन को धनी लोग चलाते थे और जहाँ मुफ्त चिकित्सा होती थी और मुफ्त भोजन मिलता था।

फ़ाहियान द्वारा चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य का वर्णन : चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन का वर्णन जो फ़ाहियान ने किया है वह मौर्यों के शासन से बिल्कुल विपरीत है। उसके राज्य में गुप्तचरों का कोई संगठित विभाग न था। दण्ड बहुत साधारण दिया जाता था। अपराधों की गुरुता को देखकर जुर्माना किया जाता था तथा विद्रोही और विश्वासघाती का दाहिना हाथ काट दिया जाता था। कर सामान्य थे और उनके संग्रह करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। राज्य ने लोगों को पूरी छूट दे रखी थी और लोगों के सामाजिक जीवन में विशेष हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। मार्ग सुरक्षित थे और चिकित्सालयों, विश्रामगृहों और कुओं का प्रबन्ध था। राजा के अंगरक्षकों और अनुचरों को नियत वेतन मिलता था।

फ़ाहियान द्वारा भारतीय समाज का चित्र : देश की जलवायु समशीतोष्ण थी, जनसंख्या घनी और खुशहाल थी तथा लोग पूर्ण सदाचारी थे। देश-भर में कोई किसी जीव का वध नहीं करता था, न मदिरा पीता था, और न कोई प्याज तथा लहसन खाता था। कोई व्यक्ति सूअर तथा पक्षी नहीं पालता था और न पशु, मांस और मदिरा का क्रय-विक्रय करता था, केवल उन चाण्डालों को छोड़कर जो नगर से बाहर रहते थे तथा नगर में प्रवेश करते समय लाठी से शब्द करके अपने आने की सूचना देते थे। कौड़ियों से वस्तुओं का विनिमय होता था। बौद्धमत उस समय भी खूब फैला हुआ था। पाटलिपुत्र में बौद्धों के अनेक विहार थे और मथुरा के आस-पास २० और विहार थे जिनमें ३,००० भिक्षुक निवास करते थे और लोग अधिकतर अहिंसक और शाकाहारी थे। विहारों को राज्य से आर्थिक सहायता मिलती थी। यद्यपि फ़ाहियान ने कहीं भी स्पष्ट नहीं बतलाया है कि उस समय बौद्धमत का ह्रास होने लगा था, किन्तु हम उसके वृत्तान्तों से इस परिणाम तक पहुँचते हैं कि बौद्धों के पवित्र स्थान, जैसे कपिल-वस्तु, सारनाथ और कुशीनगर, अवनत हो रहे थे और उसने जो मध्य देश के ब्राह्मणों की भूमि का विवरण दिया है उससे प्रकट है कि

बौद्धमत की अवनति और हिन्दू धर्म का उदय हो रहा था। मालवा प्रदेश की फ़ाहियान ने प्रशंसा की है। उसने उसकी सम जलवायु, प्रसन्न तथा समृद्धिशाली प्रजा और सुन्दर तथा उदार शासन-प्रवन्ध की अत्यन्त सराहना की है। संक्षेप में फ़ाहियान के कथनानुसार भारत के शासक अपराधों के लिए हल्का दण्ड देते थे और अन्य मतों का आदर करते थे।

फ़ाहियान के वृत्तान्त का ऐतिहासिक मूल्य : इस यात्री का उद्देश्य सर्वतः धार्मिक था, अतएव उसके वृत्तान्त में चिकित्सालयों, मठों, भिक्षुओं, भिक्षुणियों, तीर्थस्थानों, चमत्कारों और असुरों का विशेष प्रकरण मिलता है। वह प्रत्येक वस्तु को एक कट्टर बौद्ध की दृष्टि से देखता था। वी० ए० स्मिथ कहता है कि उसके वृत्तान्त में विशिष्टता की आवश्यकता है तथा जहाँ-तहाँ उसने राजनीतिक मामलों पर संकेत किए हैं वे सब आकस्मिक हैं और पूर्ण रूप से ठीक नहीं हैं। किन्तु उसके कथन का सबसे बड़ा मूल्य इस बात में है कि उसने पक्षपातरहित होकर प्रतिदिन के समाचार लिखे हैं जो सर्व साधारण थे अर्थात् किसी विशेष उद्देश्य से नहीं लिखे गये थे। दूसरे, चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य के विषय में उसने जो-कुछ अनुभव किया वह इस कारण बहुमूल्य है कि उस युग का कोई और स्रोत ऐसा नहीं है जो उसके समय पर प्रकाश डाले।

चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा विक्रमादित्य

(सन् ३८०—४१४)

वह अनेक नामों से प्रसिद्ध है, जैसे नरेन्द्रचन्द्र, सिंहचन्द्र, देवगुप्त, देवराज। वह अपने योग्य पिता समुद्रगुप्त का योग्य पुत्र था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी विक्रमादित्य अपना नाम रखा हो ऐसा तो सम्भव है, किन्तु विद्वानों की यह धारणा कि ५७ ई० पू० में शकों को भारत से निकालकर अपना सम्वत् चलाने वाला कोई विक्रमादित्य नहीं था, और वह चन्द्रगुप्त ही वह शकारि था, सर्वथा भूल है। ५७ **ई० पूर्व वाला शकारि विक्रमादित्य एक वास्तविक महाराजा उज्जैन का शासक था।** यह मत भी कि महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त के दरबार में था, भ्रमात्मक है। कालिदास का समय पहली शती ई० पू० है। समुद्रगुप्त की मृत्यु ३७५ ई० में हुई थी और वह ३८० ई० में सिंहासन पर बैठा था, अतएव सम्भव है कि वह बड़े भाई रामगुप्त को मारकर गद्दी पर बैठा हो। अपने पिता की ही भाँति चन्द्रगुप्त द्वितीय भी महान् विजेता था। और दिग्विजय की लालसा रखता था। उसके सिक्कों से प्रकट होता है कि वह अपना बल और साहस दिखलाने के लिए सिंह से युद्ध किया करता था। क्योंकि उसको विशाल और दृढ़ साम्राज्य मिला था, अतएव उसको अधिक युद्ध नहीं करने पड़े। उसकी प्रसिद्ध विजयों में एक तो वंग (वंगाल) विजय थी। उसने पश्चिम के सत्रपों पर विजय पाई जो ३०० वर्ष से मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र अथवा काठियावाड़ पर शासन करते थे और आन्ध्र, नाग अथवा कुशन जातियों से पराजित नहीं हुए थे। इस प्रकार समस्त पश्चिमी भारत उसके

राज्य में मिल गया था। सन् ३८९ में अपने पिता के भारत-विजय के प्रयत्न को पूरा करने के लिए वह अपने सेनापति वीरसेन के अधीन अपार सेना लेकर शकों को जीतने के लिए चल पड़ा। छः वर्ष के घोर युद्ध के पश्चात् उसने अपने हाथ से पश्चिमी सत्रप के अन्तिम प्रधान रुद्रसिंह तृतीय का वध कर डाला और तब 'शकारि' की उपाधि धारण की। यह विजय अत्यंत महत्वपूर्ण थी क्योंकि इस विजय ने उसके यश को सर्वत्र फैला दिया और उसके राज्य की सीमा ठेठ अरब सागर तक फैल गई। उसको पश्चिम के तीन बन्दरगाह भृगुकच्छ, खम्बात और सुपारा मिले, जिससे रूम के साथ उसका व्यापार सीधा होने लगा। दूसरे, पश्चिमी भारत का सबसे बड़ा नगर उज्जैन उसके हाथ लगा जो सभ्यता का केन्द्र बना और उसके राज्य के व्यापार में अपार उन्नति हुई। इस विजय से राष्ट्रीय पुनरुत्थान का वह राजनीतिक पहलू परिपूर्ण हो गया जो गुप्तकाल की विशेषता थी।

वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना गुप्त वंश की वैदेशिक नीति का मुख्य अंग था। लिच्छवि वंश की कन्या से विवाह करके चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपनी शक्ति को किस भाँति बढ़ाया, यह सबको विदित है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पितामह का अनुकरण करके दो महत्वपूर्ण वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। उसने नागों की कन्या कुबेरनाग से अपना विवाह किया और अपनी लड़की प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से किया जो मध्य-भारत का शासक था और जो चन्द्रगुप्त के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता था और उत्तरी प्रदेश की शक राज्य के आक्रमण से रक्षाकर सकता था। इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध से चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने राज्य को सुदृढ़ बना लिया था। ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य के विस्तार के कारण पाटलिपुत्र से राजधानी हटाकर पहले कन्नौज और फिर उज्जैन को राजधानी बनाया। जो हो, निःसन्देह पाटलिपुत्र का प्राचीन गौरव इस समय कम हो रहा था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन-प्रबन्ध : उसके समकालीन फ़ाहियान ने उसके शासन-प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है। अपराध कम होते थे, लोग राजाज्ञाओं का पालन करते थे, न्यायाधीश ईमानदार और दयालु होते थे, दण्ड साधारण दिया जाता था और कर बहुत कम लगाया जाता था। कोई व्यवस्थित गुप्तचर विभाग न था। ये बातें चन्द्रगुप्त द्वितीय की महानता के प्रमाण हैं। उसका विशाल साम्राज्य प्रान्तों में बँटा हुआ था जिनको देश या भुक्ति कहते थे। इनके शासक गोपत्रय होते थे जो प्रायः राजकुल में से ही कोई होते थे। देश भी 'विषयों' में विभक्त थे और इनके शासक विषयपति कहलाते थे। पिता की भाँति चन्द्रगुप्त द्वितीय भी पक्का वैष्णव था। ब्राह्मणों को प्रचुर दान देता था, संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन देता था, किन्तु अन्य मतों का उचित आदर करता था। फ़ाहियान कहता है, "विहारों को राजकीय सहायता मिलती थी और बौद्ध भिक्षुओं को बिना रोक-टोक दान दिया जाता था।" इसके अतिरिक्त बिना भेदभाव के सब सम्प्रदाय वालों को राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद दिये जाते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति एक बौद्ध था। चन्द्रगुप्त

द्वितीय ने साहित्य और कला की अपार उन्नति की थी। यद्यपि वर्तमान खोजों से सिद्ध हो चुका है कि उसके नवरत्न समकालीन नहीं थे तो भी प्रायः विद्वानों का मत है कि कालिदास, जिसे भारत का शेक्सपीयर कहा जाता है, उसी समय में हुआ था और चन्द्रगुप्त उसका बड़ा सम्मान करता था। चन्द्रगुप्त का स्थान भारत के इतिहास में बहुत ऊँचा है, क्योंकि उसने अपनी प्रजा को सुखी और धनवान बनाने में कोई कसर न उठा रखी थी। फ़ाहियान पर उसके सुशासन और प्रजा की खुशहाली का बड़ा प्रभाव पड़ा था। **समुद्रगुप्त ने गुप्तवंश की महानता की नींव डाली थी और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उस नींव पर गुप्तवंश के स्वर्णयुग का महल तैयार किया था।** वीरता में वह अपने पिता से कम न था। और फ़ाहियान का वृत्तान्त इस बात का साक्षी है कि वह सफल शासक था। वह कैसा राजनीतिज्ञ था, इसके लिए उसके वैवाहिक सम्बन्ध प्रमाण हैं।

कुमारगुप्त (सन् ४१४-४५५) : चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त गद्दी पर बैठा। वह भी महान् शासक था, जिसने अपने विशाल राज्य को सुरक्षित रखा, अश्वमेध यज्ञ किया और 'महेन्द्रादित्य' अथवा 'श्री महेन्द्र' की उपाधि धारण की। उसके समय में साहित्य और कला विकास की चरम सीमा को पहुँच गए थे, अतएव उसका समय भी गुप्तवंश के स्वर्णयुग का ही भाग था। पाँचवीं शताब्दी के मध्य में गुप्तवंश के शान्तिपूर्ण राज्य में दो विघ्न उठ खड़े हुए—(i) पुष्यमित्र के वंशजों द्वारा विद्रोह, तथा (ii) हूणों के आक्रमण। प्रथम जाति सम्भवतः मूल में ईरान से आई विदेशी जाति थी जो उत्तर-पश्चिमी भारत में बस गई थी। कुमारगुप्त ने अपने बेटे स्कन्दगुप्त को लगभग सन् ४५० में इस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा, जिसको उसने बहुत काल तक युद्ध करके दबा दिया। इस राजकुमार ने हूणों को भी पराजित कर दिया।

स्कन्दगुप्त (४५५-६७) : कुमारगुप्त के ४० वर्ष के शासन में गुप्त-वंश का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वैभव अटूट बना रहा। सन् ४५५ में उसकी मृत्यु होने पर उसका पुत्र स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा, जो इस वंश का अंतिम राजा हुआ। स्कन्दगुप्त बहुत अभागा था क्योंकि उसके शासनकाल में बराबर हूणों के आक्रमण होते रहे। उसने कई बार उनको मार भगाया था और लगभग सन् ४५८ में महती विजय प्राप्त की थी, जिसकी स्मृति में उसने बनारस के समीप भीतरी-गाँव में एक विष्णु-स्तम्भ बनाया था। पुष्यमित्र की जाति ने पुनः विद्रोह किया परन्तु उनका दमन कर दिया गया। लगभग ४६७ ई० में हूणों ने बड़ी विशाल सेना के साथ पुनः भारत पर आक्रमण किया और स्कन्दगुप्त उनके विरुद्ध लड़ा, परन्तु उन्हें पीछे न हटा सका। उसने एक वीर योद्धा की भाँति युद्ध में प्राण दे दिये।

गुप्त-वंश का अन्त : इस प्रकार गुप्त-वंश की महिमा का अन्त हो गया। स्कन्दगुप्त का कोई भी उत्तराधिकारी, जैसे पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और बुद्धगुप्त, हूणों

के आक्रमण को न रोक सके। अब गुप्तवंश के शासक साधारण राजा-मात्र रह गए और छठी शताब्दी के मध्य तक टूटी-फूटी अवस्था में शासन चलाते रहे।

गुप्त-वंश—स्वर्ण-युग

महान् गुप्तवंश-काल (सन् ३३०-४६७), जिसमें समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य), कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त का शासनकाल सम्मिलित है, प्राचीन भारतीय इतिहास में सबसे अधिक वैभवपूर्ण है। भारत के कला-कौशल के इतिहास में गुप्तकाल वैसा ही है जैसा प्राचीन यूनानी इतिहास में पैरीक्लियन युग (Periclean Age)। इस काल की विशेषताएँ हैं पूर्ण शान्ति, ऐश्वर्य, एकता और कला, साहित्य तथा धर्म का फूलना-फलना। इस युग में सभी प्रकार की—जैसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक—उन्नति चरमसीमा पर पहुँच गई थी।

आधुनिक लेखकों ने गुप्तवंशीय काल को स्वर्णयुग का नाम दिया है और ठीक ही दिया है, क्योंकि महान् गुप्त शासकों का संरक्षण पाकर तथा दीर्घकालीन शान्ति व समृद्धि से देश-भर में बौद्धिक विकास हुआ। किन्तु यह एक मनगढ़न्त कहानी है (यद्यपि सर्वसाधारण में यह मत मान्य हो गया है) कि इस वंश के पूर्व या पश्चात् देश में कभी बौद्धिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक उन्नति हुई ही नहीं। यह बात याद रखने योग्य है कि उन नवरत्नों में से कम-से-कम कुछ तो इस वंश से बहुत पहले भारतमाता को सुशोभित कर चुके थे, जिनके विषय में विद्वानों का मत है कि वे चन्द्रगुप्त द्वितीय के राजदरबार की शोभा थे। वास्तव में बात यह है कि हमें गुप्तकाल के विषय में उनके पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सूचनाएँ प्राप्त हैं। किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कई कालों में गुप्त-वंश से पहले तथा बाद में भी अनेक महानुभावों ने जन्म लिया है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यन्त प्रतिभाशाली थे; उनमें धुरन्धर विद्वान्, साहित्यक, कवि, दार्शनिक, वैयाकरण सभी थे। जिन्होंने देश को सभ्य तथा सांस्कृतिक बनाने में चिरकालीन तथा अद्वितीय देन प्रदान की है। उनके नामों की संख्या बहुत ज्यादा है और यहाँ गिनाने की आवश्यकता नहीं। अतः दूर-दूर तक फैला हुआ यह विचार कि भारतीय इतिहास में गुप्तकाल ही ऐसा युग था जिसने बड़े-बड़े प्रतिभाशाली लोगों को जन्म दिया, निराधार और निर्मूल है।

राजनीति के विचार से यह युग एकता, उत्तम शासन और राष्ट्रीयता का था : गुप्तवंश के सम्राटों की भारत को देन अपरिमित थी। कुछ शताब्दियों से भारत टुकड़ों में बँटा हुआ था, जिनके छोटे-छोटे राजा परस्पर लड़ते रहते थे। समुद्रगुप्त ने देश को राजनीतिक इकाई का रूप दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को देश से निकालकर आर्यावर्त को विदेशी पंजों से स्वतन्त्र किया और इस प्रकार राष्ट्र की जागृति का कार्य पूर्ण रूप से संपादित कर दिया।

शासन-प्रबन्ध भी आदर्श था, राज्य-कर हल्के थे, मार्ग सुरक्षित थे, गुप्तचर

विभाग अनावश्यक था, न्यायाधीश पक्षपातरहित और न्यायकारी थे, और अपराधों के दण्ड का नियम साधारण था।

सामाजिक विचार से देश समृद्धिशाली और सुखी था : उस काल के समाज का चित्र अत्यन्त मनोहर था। लोग पूर्ण सदाचारी थे, जैसा कि फाहियान के वृत्तान्त से स्पष्ट है। जनता ईमानदार, दयालु, दानी और अतिथि का सत्कार करने वाली थी। जनता की ओर से बड़े-बड़े चिकित्सालय दरिद्र एवं अपाहिज लोगों की चिकित्सा के लिए बने हुए थे।

मनोरंजक साहित्य का महान् युग : यह युग साहित्य के विकास के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। शनैः-शनैः प्राकृत भाषा को हटाकर संस्कृत भाषा गुप्त-काल की राज-भाषा बन गई थी। शिलालेख और बड़े-बड़े ग्रन्थ बड़ी सुन्दर संस्कृत भाषा में थे, जब कि पुराण और दूसरे प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करके उनको नवीन रूप दिया गया। फलस्वरूप संस्कृत साहित्य की बड़ी उन्नति हुई, जिसकी भाषा गठित और मँजी हुई थी और विषय विस्तृत था। अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों, लेखकों, कवियों, नाटककारों, वैज्ञानिकों, ज्योतिषियों आदि का निम्न-वर्णन सन् ३०० से ६०० तक के अन्तर्गत है। इनमें से कई महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति निस्संदेह गुप्तवंश के समकालीन थे। इनमें से कई छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए, जबकि हूणों के १०० वर्ष के निरन्तर हमलों से गुप्त साम्राज्य लुप्तप्राय हो चुका था।

कालिदास : बहुत से लोगों का विश्वास है कि कालिदास, जो भारत का सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार माना जाता है, इसी युग में हुआ। उसने 'शकुन्तला' 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशी' आदि नाटकों, 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसंहार' नामक गीतिकाव्यों, 'रघुवंश' (जिसमें सूर्यवंशीय राजाओं का इतिहास वर्णित है) तथा 'कुमारसम्भव' ('युद्ध के देवता का जन्म'), जिसमें पर्वतराज की कन्या उमा का महादेव शिव के लिए प्रेम की कथा वर्णित है, आदि महाकाव्यों की रचना की।

विशाखदत्त : उस समय का दूसरा महान् कवि और नाटककार था, जिसने 'मुद्राराक्षस' (जिस नाटक का नायक चाणक्य है) और 'देवी चन्द्रगुप्त' दूसरा ऐतिहासिक नाटक चन्द्रगुप्त द्वितीय और रामगुप्त के बाल्यकाल के विषय में लिखा है। 'किरातार्जुनीय' का लेखक भारवि भी, कहा जाता है, इसी युग में हुआ। 'किरातार्जुनीय' एक महान् वीरगाथा है जिसमें शिव व अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। इसका महत्व प्रकृति-वर्णन में है जो सुन्दरता में कालिदास के वर्णन के समान है। दण्डी, शूद्रक और हरिषेण उस काल के अन्य महान् कवि और लेखक थे। दण्डी के बड़े ग्रन्थ 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' थे, जिनमें से दूसरे में उसने दस राजकुमारों के जीवन की घटनाओं का बड़ा रोचक वर्णन किया है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में एक धनी ब्राह्मण चारुदत्त और एक कुलीन स्त्री से उसके प्रेम की कथा है। हरिषेण (समुद्रगुप्त का राजकवि) की 'प्रशस्ति', जो उसके इलाहाबाद के स्तम्भ पर लिखी है, कवि की योग्यता का परिचय देती है। 'पंचतन्त्र' का, जिसमें बच्चों के लिए अनेक शिक्षाप्रद और चरित्र-निर्माण करने वाली कहानियां हैं, अनुवाद संसार की जितनी

भाषाओं में हुआ है कदाचित् बाइबिल (Bible) को छोड़कर किसी भी ग्रंथ का न हुआ होगा।

धार्मिक साहित्य की उन्नति : उस युग का धार्मिक साहित्य भी बहुत प्रसिद्ध है। प्राचीन शास्त्र तथा ग्रन्थों का अध्ययन करके उनको सुन्दर रूप देकर पुनः रचा गया। बहुत से पुराणों, विशेषकर वायु, विष्णु और मत्स्य को नया रूप दिया गया। रामायण और महाभारत को पुनः लिखा गया और मनुस्मृति का नया संस्करण बना। याज्ञवल्क्य और नारदस्मृति भी इसी युग में लिखी गयीं। वैज्ञानिक साहित्य में भी पर्याप्त उन्नति हुई। बड़े-बड़े वैज्ञानिक, जैसे आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और वृहद वाग्भट्ट भी इसी काल में फूले-फले थे। महान् ज्योतिषी तथा गणितज्ञ आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीय' और 'सूर्य-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ बनाए, जिसमें उसने प्रथम बार बतलाया कि पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के कारणों की व्याख्या की। वराहमिहिर ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वृहद् संहिता' लिखा जो प्राचीन भारत की विद्या, खगोल विद्या, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, नारियां, पशु-गण, विवाह आदि का विश्वकोश है। नक्षत्रों की विद्या और गणित विद्या के साथ-साथ आयुर्वेद की भी उन्नति हुई। वृहद् वाग्भट्ट उस समय का सर्वोच्च चिकित्सक था। चरक के बताए हुए सिद्धान्तों पर आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती थी। शून्य (०) के सिद्धान्त का आविष्कार तथा दशमलव-पद्धति का विकास भी इसी युग में हुआ था।

गुप्तकाल के कला-कौशल : कला-कौशल में भी यह युग अत्यन्त सम्पन्न था। कला की प्रत्येक शाखा, जैसे चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला, संगीत-कला, धातु-शोधन विद्या, उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँच गईं।

चित्रकला : अजन्ता की गुफाओं में जो चित्र बने हुये हैं वे दीवार के ऊपर अंकित चित्रकला के सर्वोत्तम नमूने हैं। डैनमार्क के एक चित्रकला के विशेषज्ञ का मत है कि "इन चित्रों का प्रत्येक अंग, क्या उनका सामूहिक स्वरूप और क्या एक छोटे-से-छोटा फूल-पत्ता, सभी इस बात के प्रमाण हैं कि इसके बनाने वाले में हृदय की गहराई के साथ-साथ अपूर्व दक्षता भी थी।" चित्रकार भावपूर्ण थे और अपनी कला में पूर्णतः दक्ष थे।

शिल्पकला : इस युग के कलाकारों ने गान्धार कला-शाला की विदेशी मूर्तिकला का उपयोग नहीं किया। गुप्तकाल के मूर्तिकारों ने नवीन विचारों, सुडौलता, अंग-प्रत्यंगों की स्वाभाविक बनावट का प्रदर्शन किया और गान्धार की वेष-भूषा तथा आभूषणों को त्याग दिया। गान्धार मूर्तिकला के केन्द्रों, जैसे तक्षशिला और मथुरा की महिमा कम होती गई और बनारस तथा पाटलिपुत्र ने उनका स्थान ले लिया, जिनमें मध्य कलिंग, बंगाल, बिहार और मध्य भारत के चन्देल और धार की शालाओं की उत्पत्ति हुई। इन नवीन शालाओं ने मूर्ति-निर्माण का विषय बुद्ध की मूर्तियों से नहीं लिया, वरन् पौराणिक कथाओं से लिया। इस भाँति कला पूर्णतः हिन्दू संस्कृति से परिपूर्ण हो गई तथा अधिक स्वाभाविक बन गई। स्मिथ ने ठीक ही लिखा है कि गुप्तवंश की कला हिन्दुओं के कला-कौशल का सर्वोत्तम नमूना थी।

वास्तुकला : चित्रकला और मूर्तिकला के समान वास्तुनिर्माण-कला ने भी खूब उन्नति की। शिखर-कलश, जो मन्दिर-निर्माण का एक विशेष गुण है, इस युग में पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ। सुन्दर मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें से दो अब भी शेष हैं—भूमार (नागौड़ रियासत) में शिवजी का मंदिर और नाचना-कुठार (अजयगढ़ रियासत) में पार्वती का मंदिर। देवगढ़ (झांसी) में पत्थर का बना हुआ दशावतार का प्रसिद्ध मन्दिर तथा कानपुर के समीप भीतरी गाँव का ईंटों का मंदिर भी इसी काल के बने हुए बताते हैं। संगीत कला का भी खूब विकास हुआ और विशेषकर समुद्रगुप्त ने इसके लिए अपार धन व्यय किया। वह स्वयं भी कुशल संगीतज्ञ था। धातु-शोधन विद्या में भी बड़ी उन्नति हुई। दिल्ली के समीप महरौली में बना हुआ लोहे का स्तम्भ और नालन्दा में बनी हुई आठ फुट ऊँची बुद्ध की ताँबे की मूर्ति इस बात का प्रमाण हैं कि गुप्तकाल में धातु-कला भी कितनी विकसित हुई थी। उस काल की मुद्रा भी उत्तम धातु की बनी हुई होने के साथ-साथ उत्तम कला का भी नमूना है।

हिन्दुओं की जागृति और ब्राह्मणों का प्रभुत्व : बौद्ध धर्म का स्थान अब ब्राह्मण धर्म ने ले लिया। समुद्रगुप्त के बाद प्रत्येक गुप्त सम्राट् वैष्णव हुआ और उनके युग में वैष्णव मत का खूब प्रचार किया गया। बुद्ध के सिद्धान्तों के विरुद्ध कृष्ण की शिक्षाओं को लोगों के आगे रखा गया। प्राचीन हिन्दू ग्रंथों को नवीन रूप दिया गया और कला तो अब बौद्धों की दासी न रहकर हिन्दुओं की दासी बन गई। प्राचीन संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन मिला और शिव, विष्णु और सूर्य के सुन्दर-सुन्दर मन्दिर बने। शिखर के चिह्नों ने स्तूप के चिह्नों का स्थान ले लिया। इस भाँति गुप्त सम्राटों ने हिन्दुओं के प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित किया। ब्राह्मणों का फिर आदर होने लगा और उनको खोया हुआ प्राचीन पद पुनः प्राप्त हो गया। अब वे सभी धार्मिक संस्कारों को कराने वाले बन गए और उनको अपार धन तथा भूमि दान में दी गई। बौद्ध काल से पूर्व जो उनका उच्च स्थान था उसे उन्होंने पुनः प्राप्त किया।

व्यापारिक उन्नति का काल : राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के व्यापारों और व्यवसायों ने भी इस युग में अपार उन्नति की। भड़ौंच के बन्दरगाह से समुद्र द्वारा माल रोम राज्य में जाता था और ताम्रलिप्ति (तमलूक) से पूर्वी द्वीप-समूहों को। शान्ति और सुरक्षा के कारण व्यापार में बहुत उन्नति हुई। व्यापारियों और प्रचारकों द्वारा भारतीय सभ्यता अन्य देशों में फैली। उन्होंने पर्वतों और सागरों के पार उपनिवेश बनाए और इस भाँति भारत का विस्तार किया।

सारांश : इस प्रकार इस युग ने अनेक क्षेत्रों में और राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक भाग में गौरव और महानता प्राप्त की। गुप्त सम्राटों ने भारत को शान्ति, वैभव, सुन्दर साहित्य, सुन्दर कला, सुधरा हुआ और जागृत हिन्दू-धर्म और अनेक उपनिवेश प्रदान किए। भारतवासी सदा इस स्वर्ण-युग पर गर्व करते रहेंगे।

गुप्तकाल और हिन्दुओं की जागृति

गुप्त सम्राटों ने ब्राह्मण धर्म को पुनर्जीवित किया और संस्कृत भाषा को संरक्षण दिया : गुप्तवंश के सम्राट् हिन्दू-धर्म और संस्कृत भाषा के बड़े पोषक बने। इस युग में हिन्दुओं के बड़े-बड़े मन्दिर बने और शिव और सूर्य की पूजा होने लगी और विष्णु अधिक लोकप्रिय बने। रामायण और महाभारत को नया रूप दिया गया तथा राम और कृष्ण को लोग देवताओं की भाँति पूजने लगे। राजाओं की कृपा से ब्राह्मण मौज करने लगे और बौद्ध भिक्षुओं का स्थान छीनने लगे तथा सांस्कृतिक जागृति के अगुआ बन गए। संस्कृत भाषा जो बौद्धकाल में अपनी महत्ता खो चुकी थी, पुनः अपने वैभव को प्राप्त हुई। समस्त धार्मिक तथा सांसारिक ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए। भारत के इतिहास में और किसी भी काल में हिन्दू-धर्म, ब्राह्मण और संस्कृत भाषा इतने लोकप्रिय नहीं बने।

पुनर्जन्म नहीं वरन् विकास : इतिहासज्ञों ने हिंदू-धर्म और प्राचीन ब्राह्मण संस्कृति की इस उन्नति और लोकप्रियता को ब्राह्मण धर्म का पुनर्जन्म कहा है। किन्तु संस्कृत भाषा अथवा आर्य संस्कृति का पुनर्जन्म नहीं हुआ क्योंकि ये दोनों किसी काल में भी मृत नहीं हुए थे। अशोक का अन्त होते ही शुङ्गों, आन्ध्रों और कण्वों ने ब्राह्मण धर्म को उठाया था। बौद्धों ने तो अपना मत (मध्य मार्ग) प्राचीन आर्य धर्म का अनुकरण करके ही बनाया था। यदि पुनर्जन्म से उनका आशय इन दोनों के फूलने-फलने से है तो इस शब्द का प्रयोग ठीक समझा जा सकता है। अतएव इस युग को पुनर्जन्म का युग न कहकर विकास का युग कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि गुप्तकाल में हिन्दू संस्कृति उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई।

गुप्त वंश का पतन

हूण

हूण एक भीषण यायावर (बेघर) जाति थी जो आरम्भ में मध्य एशिया के वृक्षहीन विस्तृत मैदान में रहती थी। कुछ तो ऊजड़ भूमि के कारण, कुछ चीन राज्य के फैल जाने से और कुछ उनकी संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से, इस जाति को अपना देश छोड़कर अन्यत्र जाने के लिये विवश होना पड़ा। कुछ लोग तो योरुप के पूर्वी और मध्य भाग में बस गये और कुछ फारस तथा अफगानिस्तान होकर भारत में घुस आए। इन लोगों के मुंह पर बाल नहीं होते थे, कन्धे चौड़े होते थे, नाक छोटी और चपटी होती थी तथा आँखें काली और गढ़े में घुसी होती थीं। वे राक्षसों की भाँति भयावह थे तथा लूटमार करने, आग लगा देने और हत्या करने में उनको अपार आनन्द मिलता था। जहाँ-कहीं भी इस जंगली जाति का आक्रमण होता, वहीं लूट-मार, हत्या और अग्निकाँड दिखाई देता। लगभग ४०० ई० में घर से चलकर वह फारस पहुँचे और वर्षों वहाँ युद्ध करते हुए अन्त में उसे विजय कर लिया। तब वे अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत में बढ़े और छोटे-छोटे राज्य जीत लिये।

सन् ४५५ ई० में उन्होंने भारत पर आक्रमण किया परन्तु स्कन्दगुप्त ने उनको पराजित कर दिया। लगभग दस वर्ष के बाद उन्होंने जबरदस्त आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त ने उनका कड़ा मुकाबला किया परन्तु अन्त में वह मारा गया। अपने जीवन-काल में उसने हूणों को राज्य की सीमा में कभी नहीं घुसने दिया था, परन्तु उसके अयोग्य उत्तराधिकारी हूणों के आक्रमण को न रोक सके और लगभग ५०० ई० में उन्होंने उत्तर-पश्चिमी भारत के अतिरिक्त मध्य-भारत का भी बहुत-सा भाग जीत लिया।

तोरमान : यह हूण शासक पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शक्तिशाली बना और उसने जो मुद्रा प्रचलित की थी उससे प्रगट होता है कि वह उत्तरी भारत के एक बड़े भाग का स्वामी था। उसने महाराजाधिराज की पदवी धारण की थी। उसकी सबसे बड़ी सफलता मालवा-विजय थी (लगभग सन् ५०० ई० में)। 'राजतरंगिणी' के अनुसार काश्मीर उनके राज्य का अंग था। सम्भवतः वह शिव और सूर्य का उपासक था और ५११ ई० तक उसने राज्य किया।

मिहिरकुल : तोरमान का बेटा मिहिरकुल गद्दी पर बैठा और उसके विशाल राज्य में वर्तमान पंजाब, गन्धार और मालवा शामिल थे तथा शाकल (स्यालकोट) राजधानी थी। वह निर्दयी, कठोर, प्रजापीड़क शासक मनुष्य की सूरत में शैतान था। **उसको प्रायः भारत का नीरो कहा जाता है।** मठों, मन्दिरों तथा स्तूपों को नष्ट करना वह अपना धर्म समझता था और हाथियों को पहाड़ पर से धकेल देने में उसे आनन्द आता था।

उसके अत्याचार इतने असह्य हो गये थे कि बालादित्य (मगध का राजा) और मध्य भारत के बलवान राजा यशोधर्मन दोनों मिलकर मिहिरकुल के विरुद्ध संगठित हो गये। लगभग ५३३ ई० में मध्य भारत में किसी स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ और मिहिरकुल को बन्दी बना लिया गया, किन्तु बाद में वीर बालादित्य ने दया करके उसे छोड़ दिया।

मिहिरकुल काश्मीर चला गया। वहाँ के राजा ने उसका स्वागत किया, किन्तु कुछ समय के बाद अपने शरणदाता को मारकर स्वयं राजा बन बैठा। कुछ समय के बाद उसने गान्धार भी जीत लिया और इस भाँति अपना खोया हुआ प्रदेश पुनः प्राप्त किया। काश्मीर की कथाएँ बतलाती हैं कि उसने लंका पर भी चढ़ाई की थी। मिहिरकुल की मृत्यु ५४० ई० के लगभग हुई।

उसका धर्म : उसके धर्म के विषय में विशेष समाचार ज्ञात नहीं। उसकी मुद्राओं पर शिवजी का बैल है, जिससे प्रकट होता है कि वह शैव था। ग्वालियर के शिलालेख के अनुसार उसने सूर्य का मन्दिर बनवाया था, अतएव सम्भव है कि वह सूर्य की पूजा करता हो। किन्तु वह बौद्धमत के विरुद्ध था और उसने अनेक मठों और स्तूपों को नष्ट कर दिया था।

हूणों का अन्त : उसके साथ ही हूणों का अन्त हो गया, यद्यपि हर्ष के समय तक पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में हूणों का राज्य छोटे-मोटे प्रदेश पर बना रहा। धीरे-धीरे वे राजपूतों में विलीन होते गये और ग्यारहवीं शताब्दी तक पूर्ण

रूप से हिन्दू समाज में मिल गये। भारत के बाहर तुर्कों ने उनका विनाश किया। इस प्रकार उनकी शक्ति जिस वेग से बढ़ी थी उसी वेग से कम हो गई।

हूणों के आक्रमणों के प्रभाव—हूणों की सभ्यता : हूणों का कोई लिखित चरित्र नहीं है। वे उद्दंड होते थे। उनको खगोल विद्या का कुछ भी ज्ञान न था और वर्ष के बारह बराबर भाग कर लेते थे। उनके पास वाद्ययन्त्र न थे और उनकी स्त्रियों की पोशाक विचित्र थी। वे बौद्धमत को नहीं मानते थे वरन् झूठे देवी-देवताओं की उपासना करते और भोजन के लिए पशुओं का वध करते थे। यद्यपि उनका शासनकाल अल्प था और उनका राज्य सीमित था, फिर भी उन्होंने भारत के समाज और राजनीति पर बड़ा प्रभाव डाला। गुप्त राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। अमन और शान्ति के स्थान पर सर्वत्र भय, अशान्ति, अराजकता और आतंक फैल गये। हूणों का आक्रमण भारत के लिये शाप के सदृश्य था। बहुत-सी ऐतिहासिक इमारतें, साहित्य और धार्मिक ग्रंथ नष्ट हो गये और बहुत से ऐतिहासिक चिह्न मिट गये। हूण भारत में बस गये और क्षत्रियों से मिल गये, जिससे नई जातियों का जन्म हुआ। अन्तर्जातीय विवाह के कारण एक नवीन योद्धा जाति 'राजपूतों' का जन्म हुआ। हूणों के सम्पर्क में आने से भारतवासियों का चरित्र भ्रष्ट होता गया और उनमें अन्धविश्वास अधिक फैलता गया। इसके अतिरिक्त राज्य में निष्ठुरता भी फैलने लगी। इससे पूर्व भारत के शासक कभी भी निष्ठुर नहीं होते थे। हावेल कहता है कि 'निष्ठुर राज्य' तातारों व मंगोलियनों की देन है। सम्भवतः भारतवासियों ने इसे मंगोल-निवासी हूणों से ही पाया था।

गुप्त साम्राज्य का पतन

गुप्त वंश के अन्तिम सम्राट् : स्कन्दगुप्त का कोई भी उत्तराधिकारी इतना योग्य न था कि वह सम्पूर्ण राज्य की बागडोर सम्भाल सकता। स्कन्दगुप्त का बलवान और सौतेला भाई पुरगुप्त गद्दी पर बैठा। वह महत्त्वाकाँक्षी था परन्तु अदूरदर्शी था। उसको विवश होकर अपने राज्य का कुछ भाग जंगली हूणों को देना पड़ा। उसके दुर्बल और चंचल स्वभाव वाले पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्य ने मालवा और गुजरात खो दिया। दूसरा महान् राजा बुद्धगुप्त हूणों का आक्रमण रोकने में असमर्थ हुआ। दस या ग्यारह नाममात्र के राजा एक के बाद दूसरे हुए। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, गुप्त राज्य की केन्द्रीय शक्ति क्षीण होती चली गई और प्रान्तों के गवर्नर स्वतन्त्र बन बैठे। इस भाँति कन्नौज, बल्लभी और मालवा तीन बड़ी रियासतें बन गईं।

कन्नौज : कन्नौज के मौखरी अन्तिस गुप्त सम्राटों के प्रबल बैरी थे। उनकी उत्पत्ति का पता नहीं। इस वंश के राज्य की नींव डालने वाला हरिवर्मन था। परन्तु ईश्वरवर्मन ने इसे शक्तिशाली बनाया था, जिसने बंगाल का कुछ भाग जीता, गुप्तों का बहुत-सा प्रदेश दबा लिया और आन्ध्र को हराकर उनका उत्तरी प्रदेश छीन

लिया। मौखरियों और गुप्तों में कई पीढ़ियों तक युद्ध होता रहा। सातवीं शताब्दी तक मौखरी वंश स्वाधीन रहा। इसके बाद हर्ष ने उनके राज्य पर अधिकार कर लिया।

वल्लभी : वल्लभी के शासक मैतृक कदाचित् गुप्तों से सबसे प्रथम अलग हुए थे। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त गुप्तवंश के सेनापति भतर्क ने गुजरात और काठियावाड़ में अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इस वंश के धारासेन द्वितीय और शिलादित्य महान् शासक हुए।

मालवा : इस राज्य का संस्थापक कौन था यह निश्चित नहीं है। मन्दसौर के स्तम्भ और शिलालेख यशोधर्मन को महान् हूण मिहिरकुल का विजेता और सम्राट् बतलाते हैं, किन्तु उसके राजकुल का कोई वृत्तान्त ज्ञात नहीं है।

गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण

मुख्य कारण यह था कि स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी निर्बल और अस्थिर स्वभाव के थे। उस काल की शासन-पद्धति व्यक्ति पर निर्भर होती थी। ज्यों ही बलवान व्यक्ति के हाथ से राज्य की बागडोर छूट जाती त्योंही राज्य छिन्न-भिन्न होने लगता था। पुष्यमित्र के वंशजों से बार-बार युद्ध करने के कारण गुप्त राजाओं की सैनिक शक्ति क्षीण होती गई और मुख्य-मुख्य प्रान्तों, जैसे कन्नौज, बल्लभी और मालवा के प्रान्ताधीश स्वतन्त्र हो गये। स्कन्दगुप्त की अनुपस्थिति में उसका सौतेला भाई गद्दी पर बैठ गया। दूसरे, बालादित्य और बुद्धगुप्त बौद्ध बन गये थे जिससे वे सेना की ओर से उदासीन हो गये थे। सेना में शिथिलता आने लगी थी और राज्य की शक्ति का ह्रास होने लगा था। उत्तराधिकार का कोई नियम नहीं रहा था, जिससे उसके लिये झगड़े उठ खड़े होते थे और राज्य अशक्त होता चला जाता था। देश धन-धान्य से पूर्ण था, अतएव लोग विलासी बन गये थे और उनमें वीरता आदि गुण नष्ट हो गये थे। राज्य का शासन-प्रबन्ध बिगड़ गया था। यातायात के साधन कठिन और हीन थे। अतएव राज्य के टुकड़े-टुकड़े होना अवश्यंभावी था। किसी समय जो महाशक्तिशाली और गौरवपूर्ण साम्राज्य था परन्तु जो जीर्ण-शीर्ण हो गया था, उसके पूर्ण विनाश में सबसे बड़ा हाथ हूणों के आक्रमण का था। राज्य के साधन कम होते चले गए और सेना शक्तिहीन होती चली गई, जिससे प्रान्ताधीशों को स्वतन्त्र होने का अवसर मिलता चला गया।

Questions

1. The Gupta period has been called 'the Golden Age of Hinduism. Discuss the propriety of this description.
गुप्तकाल को हिन्दुओं का स्वर्ण-युग कहा गया है, इस कथन की सत्यता की आलोचना करो।

2. Write a note on the character and achievements of either Asoka or of Chandragupta II.
अशोक अथवा चन्द्रगुप्त द्वितीय के चरित्र और सफलताओं पर संक्षिप्त लेख लिखो।

3. Why is the Age of Imperial Guptas known as the Augustan Age ?
गुप्त राजाओं के समय को ऑगस्टन-युग क्यों कहा गया ?

4. Account for the decline and fall of the Gupta Empire.
गुप्त वंश के ह्रास तथा पतन के कारण बताओ।

5. Write short notes on any three of the following :—
Kautalya's Arthashastra, Mahayan, Kalidas, Kanishka, Fa-Hien.
निम्नलिखित में से किन्हीं तीन का संक्षिप्त हाल लिखो :—
कौटिल्य का अर्थशास्त्र, महायान, कालिदास, कनिष्क, फाहियान।

6. Describe the growth of Gupta Empire under Samudragupta and Chandragupta II. What factors led to its break up ?
समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधीन गुप्तवंश के विकास का वर्णन करो। इस साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के क्या कारण थे।

7. Who was Fa-Hien ? Estimate the value of his account relating to India.
फाहियान कौन था ? भारत के सम्बन्ध में उसके वर्णन का मूल्यांकन करो।

अध्याय ११

हर्षवर्धन

हर्ष के इतिहास के आधार

हर्ष के राज्य और तत्कालीन लोगों के जीवन के विषय में इतिहास के काफी स्रोत हैं। इनमें से उसके दरबारी कवि बाण भट्ट द्वारा रचित 'हर्ष चरित' विशेष उल्लेखनीय है जो अद्वितीय सुन्दर ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसके पश्चात् चीनी यात्री युवान च्वांग की वह पुस्तक है जिसमें उसने अपनी भारत-यात्रा का दैनिक वर्णन लिखा है और शायद कई बातों में 'हर्षचरित' से भी महत्वपूर्ण तथा मूल्यवान ऐतिहासिक स्रोत है। तीसरे, स्वयं हर्ष द्वारा लिखे गये कुछ लेख हैं क्योंकि हर्ष स्वयं कवि था। इन स्रोतों के अतिरिक्त अनेक शिलालेख हैं जो हर्षकालीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

युवान च्वांग की यात्रा (६००-६६४) : भारतवर्ष में जितने भी चीनी यात्री आये उनमें युवान च्वांग सबसे अधिक प्रसिद्ध है, अतएव उसको 'चीनी यात्रियों का राजकुमार' के नाम से भी पुकारा जाता है। उसका जन्म सन् ६०० में हुआ था। बचपन से ही उसे सांसारिक जीवन से घृणा हो गई थी और वह बौद्धों के साहित्य का स्वाध्याय करने लगा। २० वर्ष की आयु में वह संन्यासी हो गया और उसके ९ वर्ष बाद उसने भारत-यात्रा का विचार किया। विदेश-यात्रा के आज्ञापत्र की अवहेलना करके वह चुपचाप सन् ६२९ ई० में घर से निकल पडा और ताशकन्द, समरकन्द तथा बलख होता हुआ सन् ६३० में गान्धार पहुँच गया। वहाँ से वह काश्मीर गया जहाँ दो वर्ष ठहरा और फिर पंजाब और पूर्वी भारत की ओर चल पड़ा। उसने बौद्धों के तीर्थस्थान, जैसे कपिल-वस्तु, सारनाथ, बोधगया तथा कुशीनगर में कई वर्ष बिताए। उसने मठों में रहकर कई वर्ष व्यतीत किये, जिनमें से केवल नालन्दा के विहार में ही वह दो वर्ष रहा था। जिस समय वह नालन्दा में अध्ययन कर रहा था, कामरूप के राजकुमार और कन्नौज के राजा हर्ष ने उसको निमंत्रित किया, जिनके दरवारों में वह काफी दिनों तक ठहरा था। उसने दक्षिण की भी यात्रा की और पश्चिमी घाट को भी देखा। इस भाँति सुदूर दक्षिण को छोड़कर वह समस्त भारत में १४ वर्ष तक घूमा, जिसमें से ८ वर्ष उसने हर्ष के राज्य में व्यतीत किए।

सन् ६४४ में हर्ष ने उसको चीन लौटने की आज्ञा दे दी और राजा उधित को उसके सीमा प्रदेश तक भेजा। वह पुनः स्थल की यात्रा करता हुआ अर्थात् पामीर और यारकन्द होता हुआ और डूबने तथा डाकुओं के लूटने की दुर्घटनाओं से बचता हुआ बौद्धों के १५० स्मारक-चिह्नों के साथ चीन पहुँच गया। उसके पास वहुत-सी सोने, चाँदी व चन्दन की बनी हुई बुद्ध की मूर्तियाँ थीं और ६५७ हस्तलिखित ग्रन्थ थे, जो २० घोड़ों पर लदे हुए थे।

चीन के सम्राट् ने उसको बहुत ऊँचा पद देना चाहा परन्तु उसने इन्कार कर दिया। अपने जीवन के शेष दिनों में वह बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करता रहा तथा पश्चिमी जगत के अनुभवों को अपनी पुस्तक सी-यू-की (Si-Yu-Ki) में संग्रह करता रहा। वह इतना प्रसिद्ध हो गया कि बाद में लोग उसे महात्मा की तरह पूजने लगे। सन् ६६४ में उसकी मृत्यु हो गई।

इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में विशेषतः सातवीं शताब्दी में भारत की जो सामाजिक और राजनीतिक अवस्था थी उसका वर्णन है। स्मिथ ने इस पुस्तक के विषय में लिखा है कि "यह पुस्तक सच्चे समाचारों का अमूल्य कोष है जो भारत के प्राचीन अवशेषों की खोज करने वाले विद्यार्थी के लिए अत्यावश्यक है तथा भारत के नष्ट इतिहास को पुनर्जन्म देने में इससे अधिक कार्य किसी भी पुरातत्व की खोज ने नहीं किया है।" यद्यपि उसका वृत्तान्त अत्युत्तम और स्पष्ट है किन्तु उसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें बौद्धों के विषय के अतिरिक्त बहुत कम वृत्तांत है। उसने निरीक्षण के महान् अवसर का पूरा लाभ नहीं उठाया। उसने बहुत बातें लिखने से छोड़ दी हैं जिनको वह सरलता से लिख सकता था। इसके अतिरिक्त उसका वृत्तान्त बौद्धों के चमत्कार और अविश्वसनीय कथाओं से भरा पड़ा है। तब भी उसने हर्ष के शासन का वृत्तान्त फाहियान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और विश्वसनीय दिया है।

हर्ष के विषय में युवान च्वांग का कथन : सम्राट् के चरित्र और व्यक्तित्व का बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है। दयालु सम्राट् बहुत-सा धन प्रत्येक सम्प्रदाय के धार्मिक लोगों को दान दिया करता था। उसने अनेक स्तूप, धर्मशालाएँ, विहार और अन्य सार्वजनिक इमारतें बनवाई थीं। "हर्ष अपने राज्य-प्रबन्ध के कार्य में कभी नहीं थकता था और वर्ष [illegible] कई महीने राज्य के दौरे में व्यतीत करता, जिससे उसके मन्त्रियों और अधीन राजाओं को उचित उदाहरण मिलता रहे।" युवान च्वांग ने हर्ष के मत के विषय में भी काफी वृत्तान्त दिया है। "आरम्भ में वह शिव और विष्णु की पूजा करता था और महायान की अपेक्षा हीनयान की ओर उसका अधिक झुकाव था। किन्तु युवान च्वांग के सम्पर्क में आने के पश्चात् वह महायान पर अधिक श्रद्धा रखने लगा था। हर्ष बड़े ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करता था और सोने-चाँदी के पात्रों में स्नान करता था।"

राजधानी और शासन : प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र प्रायः नष्ट हो चुकी

बृहदीश्वर मन्दिर, तनजौर (११वीं शताब्दी)

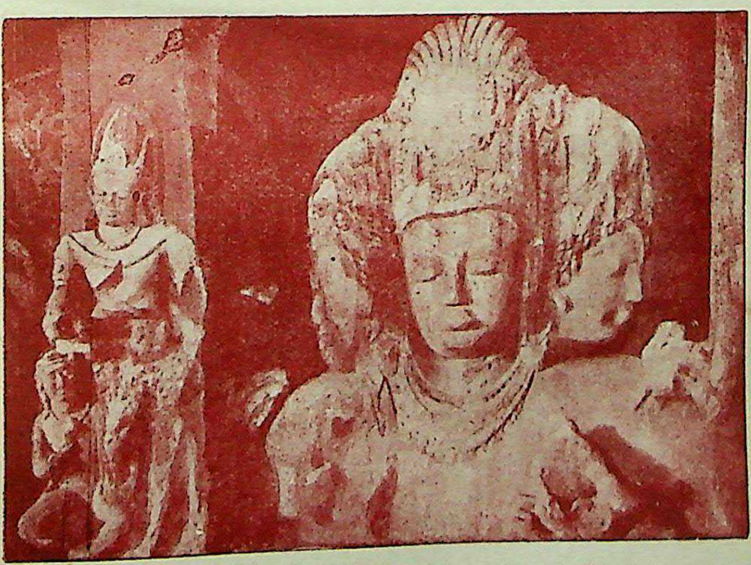

एलीफैंटा गुफा में शिव की मूर्ति (८वीं शताब्दी)

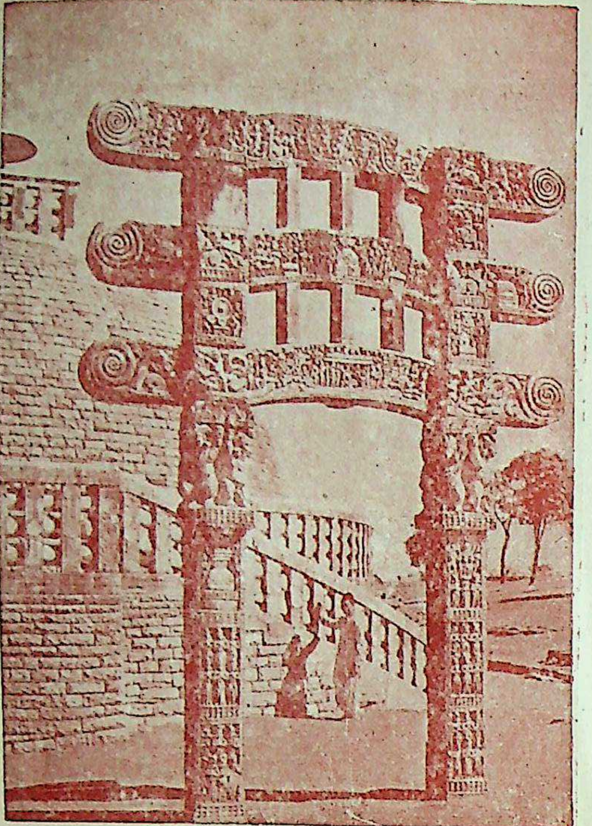

साँची के स्तूप—मुख्य द्वार (प्रथम शताब्दी)

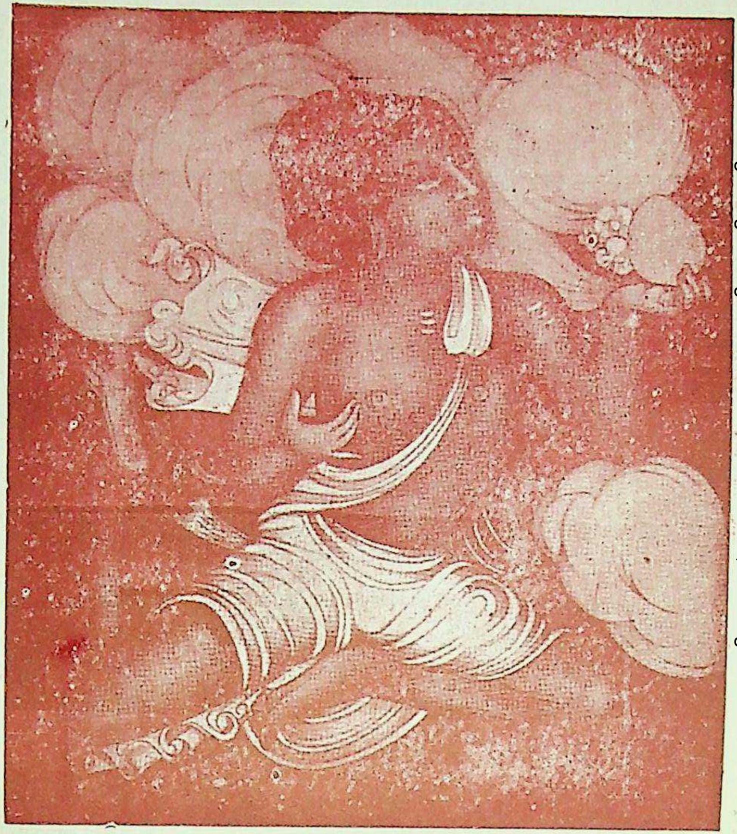

अजन्ता गुफा में एक चित्र—गुप्ता शैली (५वीं शताब्दी का प्रारम्भ)

थी और नई राजधानी कन्नौज का उत्कर्ष हो रहा था, जिसमें १०० से अधिक विहार थे और १००० से अधिक बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। प्रयाग दूसरा महत्वपूर्ण नगर था जिसमें हर्ष हर पाँचवें वर्ष धार्मिक सम्मेलन किया करता था।

शासन-प्रबन्ध की अत्यन्त प्रशंसा की है जो दया के सिद्धान्त को लिये हुए था। हर्ष राजकर्मचारियों के अवगुणों को जानता था और उसका विश्वास था कि सम्राट् की व्यक्तिगत देखभाल ही राजकर्मचारियों के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा कर सकती है। वह राज्य-भर में निरीक्षण के लिए भ्रमण करता था और एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरता था। उसके अल्प विश्राम के स्थानों पर अस्थायी इमारतें बनी हुई थीं। "दिन उसके लिये बहुत छोटा था।" उसके तीन भाग थे, जिसमें एक शासन-प्रबन्ध में व्यतीत होता और दो धार्मिक कार्यों में। परोपकार के कार्य से वह कभी श्रान्त न होता तथा भूख और नींद भी भूल जाता। "सरकार दयालु थी और राजकर्मचारियों की मांगें बहुत कम। कुटुम्बों को रजिस्टर में नहीं लिखा जाता था और किसी व्यक्ति से बेगार न ली जाती थी।" राज्य की भूमि चार भागों में बँटी थी—एक सरकारी व्यय के लिए दूसरा सार्वजनिक कर्मचारियों के वेतन के लिए, तीसरा विद्वानों को पुरस्कार देने के लिये तथा चौथा धर्मात्माओं को दान देने के लिए। कर सामान्य थे, उपज का छठा भाग राज्य को जाता था।

दण्ड कठोर थे। सामाजिक अपराधों के लिये नाक-कान काट लिए जाते थे। जुर्मानों, मृत्यु-दण्ड और देश-निकाले का दण्ड भी प्रचलित था। तब भी मार्ग अरक्षित थे और वह चीनी यात्री भी डाकुओं द्वारा दो बार लूटा गया था।

राज्य का प्रत्येक कार्य दर्ज होता। सरकारी कागजों में प्रत्येक अच्छी और बुरी बात दर्ज होती थी और जनता पर आपत्ति आती अथवा उसका भाग्योदय होता तो उसका विस्तृत वर्णन लेखबद्ध किया जाता था। हर्ष ने विशेष प्रमाण-लेख विभाग तथा ग्रन्थ-रक्षा गृह बनाये हुए थे। उसकी विशाल सेना में ५०,००० पैदल, और १,००,००० घोड़े और ६०,००० हाथी थे। उसकी सेना में युद्ध के रथों को विशेष महत्व नहीं दिया गया था। युवान च्वांग ने सेना के प्रत्येक भाग का विस्तृत वर्णन किया है।

सामाजिक और आर्थिक अवस्था : युवान च्वाँग के प्रासंगिक कथन ने सातवीं शताब्दी के जीवन पर प्रकाश डाला है। भूमि नीची और तर होने के कारण नगर की दीवारें ईंट की बनी होती थीं तथा मकानों की दीवारें व घेरे बाँस या लकड़ी के बने होते थे। कमरों तथा कँगूरेदार अटारियों की छतें चौरस लकड़ी की होती थीं जो खपरैलों से ढकी होती थीं। अत्यन्त ऊँचे घरों का आकार चीन के घरों से मिलता हुआ था। छप्पर वाले घर ईंटों व तख्तों के बने होते थे। दीवारें सजी होती थीं, फर्श गोबर से लिपा होता था तथा ऋतु के फूल फर्श पर बिछे होते थे। किन्तु बौद्धों के बिहार भवन-निर्वाण-कला के आदर्श नमूने थे। आँगन के चारों कोनों पर एक एक बुर्ज होता था और तीन ऊँची दीवारें एक पंक्ति में होती थीं। साधारण लोगों

के घर के अन्दर से बहुमूल्य और बाहर से अल्पव्यय वाले होते थे। लोगों के वस्त्र अत्यन्त साधारण होते थे और उनमें सिलाई का अधिक प्रयोग नहीं होता था। पुरुष कमर में एक चादर-सी लपेट लेते थे। तथा उनके कन्धे खुले रहते थे। स्त्रियां लम्बी पोशाक पहनती थीं। आभूषणों का अत्यधिक प्रयोग करती थीं। कभी-कभी अपने शरीर को सजाने के लिये विचित्र वस्तुओं का प्रयोग करती थीं, जैसे मोरपंख तथा खोपड़ियों की माला इत्यादि। कुछ लोग अपने बालों को उखाड़ लेते तथा मूँछों को काट लेते थे। कुछ अपने इधर-उधर के बालों को गूंथ लेते और ऊपर से गुच्छे में गाँठ लगा लेते थे। अधिककर लोग नंगे पाँव रहते थे क्योंकि जूते बहुत कम मिलते थे।

लोगों में **शारीरिक शुद्धता** का बहुत विचार था। वे भोजन से पूर्व स्नान करते थे और जूठन नहीं खाते थे, झूठी थाली दूसरे को नहीं देते थे तथा मिट्टी और लकड़ी के वर्तनों को एक बार प्रयोग करके फेंक देते थे, किन्तु धातु के वर्तनों को मांज कर फिर प्रयोग करते थे।

उनका **भोजन** प्रायः दूध, मक्खन, चावल, अन्न और शाक होता था। प्याज, लहसुन प्रायः लोग नहीं खाते थे। बैल, गधे, कुत्ते, बन्दर आदि के मांस का निषेध था और इसके खाने वाला जाति से बाहर कर दिया जाता था। भिक्षु, ब्राह्मण और क्षत्रिय अंगूर तथा गन्ने से बनी सुरा पीते थे, वैश्य तेज मदिरा पीते थे और नीच जातियाँ कोई विशेष पेय प्रयोग न करती थीं। जाति-भेद की बड़ी कट्टरता थी। अन्तर्जातीय विवाह वर्जित था और माता-पिता के किसी सम्बन्धी के बीच भी विवाह का निषेध था।

परदे की प्रथा न थी क्योंकि हर्ष की बहन राज्यश्री ने युनान च्वांग के भाषणों को बिना पर्दा किये सुना था। किन्तु सती की प्रथा प्रचलित थी, क्योंकि हर्ष की मां यशोमती सती हुई थी और राज्यश्री को सती होने से बचाया गया था। लोगों के चरित्र में जल्दबाजी और अस्थिरता थी, किन्तु उनके सिद्धान्त आदर्श थे। किसी की वस्तु को छल से नहीं लेते थे और स्वभाव से सहनशील थे। वे परलोक में पापों के दण्ड से डरते थे और इस जन्म में फल की विशेष चिन्ता नहीं करते थे।

धार्मिक अवस्था : चीन में भारत को ब्राह्मणों का देश कहते थे। बौद्धमत का ह्रास हो चला था और उनकी १८ भिन्न शाखाएँ (हीनयान और महायान दो बड़ी शाखाओं के अतिरिक्त) हो चुकी थीं, जिनमें से प्रत्येक किसी विशेष सिद्धान्त को मानती थी। बौद्धों के प्राचीन नगर कपिलवस्तु और गया नष्ट हो चुके थे, किन्तु फिर भी भारत में बौद्धों का काफी जोर था। भारत उस समय भी विहारों और भिक्षुकों से भरा पड़ा था और अनेक शासक बौद्धमत को संरक्षण दे रहे थे। हर्ष ने स्वयं महायान शाखा को फैलाने का काफी प्रयत्न किया था।

ब्राह्मणों का जोर बढ़ रहा था और संस्कृत भाषा लोकप्रिय बनती जा रही थी, तथा बोलने और लिखने दोनों में इसका प्रयोग होता था। युवान च्वांग बतलाता है कि उसका आविष्कार ब्रह्मा ने किया था।

शिक्षा-प्रणाली : शिक्षा-प्रणाली अत्युत्तम व सुसंगठित थी व शिक्षा मन्दिरों और मठों द्वारा दी जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा ब्राह्मणों के घरों अथवा छोटे-छोटे मन्दिरों में दी जाती थी और उच्च शिक्षा बड़े-बड़े मठों में (जो वर्तमान समय के विश्वविद्यालय से सदृश थे) दी जाती थी और प्रत्येक मठ भिन्न-भिन्न विषय में विशिष्ट होता था, जैसे तक्षशिला में आयुर्वेद की, उज्जैन में **खगोल विद्या** की और महाबोधि (गया) में धर्म की शिक्षा दी जाती थी।

नालन्दा विश्वविद्यालय : सबसे बड़ा विश्वविद्यालय नालन्दा का था तथा यह काशी से प्रतिस्पर्धा रखता था जो ब्राह्मणों की शिक्षा का गढ़ बनी हुई थी। **उसका मुख्याध्यापक शीलभद्र था जो सद्नियम का कोष कहलाता था।** आरम्भ में यह स्थान आमों का एक बाग था किन्तु राजाओं की कृपादृष्टि और प्रचुर दान के द्वारा छः मंजिल ऊँची इमारत में परिवर्तित हो गया था, जिसका यश सुनकर दूर-दूर देशों से विद्यार्थी वहाँ इकट्ठे हो गये थे और उनकी संख्या लगभग १०,००० तक पहुँच गई थी। उसमें निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी तथा १०० गाँवों की आय में से उनके भोजन और रहने का प्रबन्ध होता था। लगभग १५०० विद्वान अध्यापक शिक्षा के भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा देते थे, जैसे वेद, तर्कशास्त्र, व्याकरण, औषधि, दर्शन और खगोल विद्या। युवान च्वांग ने स्वयं यहाँ कई वर्ष शिक्षा पाई थी।

बाण का 'हर्षचरित'। बाणभट्ट की यह पुस्तक भी हर्ष के राज्य का वृत्तान्त जानने के लिए अच्छा स्रोत है। यद्यपि यह पुस्तक हर्ष की प्रशंसाओं से ओतप्रोत है और बहुत-सी बातें काल्पनिक हैं, परन्तु कथा का मूल आधार ऐतिहासिक है। इस पुस्तक में कालिदास और भास जैसे कवियों का वृत्तान्त है, हर्ष के पूर्वजों का वृत्तान्त है तथा हर्ष के युद्धों तथा विजयों का वर्णन है। इस पुस्तक में हर्ष के राज्य का बड़ा सुन्दर और स्पष्ट वर्णन है। यह पुस्तक सम्भवतः सन् ६२० ई० में लिखी गई थी। **शिलालेख :** सबसे महत्वपूर्ण मधुबाण का पत्र-लेख (सन् ६३१ ई०) है जिसमें हर्ष की चार पीढ़ियों का वर्णन है। सोनपत का शिलालेख तिथि-सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर कर देता है, और बाँसखेड़ा के शिलालेख (६२८ ई०) पर हर्ष के हस्ताक्षरों की प्रतिलिपि है। **हर्ष के निजी लेख :** हर्ष स्वयं बड़ा विद्वान था। कहा जाता है उसने संस्कृत के तीन नाटक लिखे हैं। प्रथम दो में (प्रियदर्शिका और रत्नावली) प्रेम तथा दरबार के कूट प्रबन्ध-विषयों का वर्णन है तथा तीसरे, नागानन्द में लेखक की दानशीलता और उदारता का वर्णन है।

हर्ष (६०६–६४७ ई०)

थानेसर का राज : थानेश्वर (वर्तमान थानेसर) एक स्वतन्त्र राज्य था जो गुप्त राज्य के ध्वंसों पर बना था। चूंकि इसमें पूर्वी पंजाब का बहुत-सा भाग शामिल था, अतएव यह मगध साम्राज्य और हूणों के बीच में आड़ का काम करता

था। उसका संस्थापक पुष्यवर्धन तथा उसके वंशज नरवर्धन, रण्यवर्धन और आदित्यवर्धन साधारण उपाधिविहीन राजा थे। आदित्यवर्धन के पुत्र प्रभाकरवर्धन ने इस राज्य को शक्तिशाली बनाया। वह अपने पड़ौसी हूण तथा मालवों से युद्ध करके प्रसिद्ध हो गया। बाण ने उसको 'हूण मृग पर सिंह, सिन्ध के राजा के लिए विषम ज्वर, गुजरात की नींव में बाधक तथा गांधार के राजा के लिए प्लेग के समान' बतलाया है। वैवाहिक सम्बन्धों से उसने अपनी शक्ति दृढ़ बना ली और 'महाराजाधिराज' और 'पूर्ण भट्टारक' की उपाधि धारण की। उसने मालवा के यशोधर्मन की बेटी यशोमती से विवाह किया और अपनी बेटी राज्यश्री कन्नौज के गृहवर्मन को ब्याह दी।

प्रभाकरवर्धन के राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन नामक दो पुत्र थे। सन् ६०४ में जब हर्षवर्धन केवल बालक ही था अपने बड़े भाई के साथ हूणों के विरुद्ध चढ़ाई पर गया। इस आक्रमण के समाप्त होने से पूर्व उसके पिता की मृत्यु हो गई। वे थानेश्वर लौट आए और सन् ६०५ में राज्यवर्धन राजा हुआ। उसी समय समाचार मिला कि मालवा के देवगुप्त ने गृहवर्मन को मारकर राज्यश्री को बन्दी बना लिया। अपने छोटे भाई को थानेश्वर में छोड़कर वह १०,००० सैनिक लेकर गया और मालवा के राजा को पराजित किया, किन्तु शत्रु के मित्र-राष्ट्र बंगाल के शशांक द्वारा द्वन्द्व-युद्ध में मारा गया। हर्ष अभी १६ वर्ष ही का था। बड़ी कठिनाई से वह राजगद्दी पर बैठने के लिए तैयार हुआ (६०६ ई०)। हर्ष ने सबसे प्रथम विधवा राजश्री को पाने का यत्न किया जो भागकर विन्ध्याचल के वनों में चली गई थी। जिस समय वह सती होने वाली थी उसी समय हर्ष ने उसकी रक्षा की। चूंकि उसके बहनोई के कोई पुत्र न था, अतः हर्ष ने कन्नौज को थानेश्वर में मिला लिया। इस भाँति उसकी शक्ति बढ़ गई। उसने कन्नौज को राजधानी बनाया। अब उसने दिग्विजय करने की ठान ली।

उसकी सैनिक सफलताएँ : हर्ष के पुराने प्रधान सेनापति सिंहनाद ने उसको सलाह दी कि वह छोटे-मोटे राज्यों का अन्त करके एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करे। अतएव उसने विशाल सेना संग्रह की जिसमें ५०,००० पैदल, २०,००० घोड़े, और ५,००० हाथी थे और इस कार्य के लिए चल पड़ा। प्रथम उसने कामरूप के भास्करवर्मन से मित्रता की और शशांक को परास्त किया। युवान च्वांग के कथनानुसार उसने पंजाब, कन्नौज, बंगाल, बिहार और उड़ीसा को विजय करने के लिए साढ़े पाँच वर्ष युद्ध किया। हर्ष ने गुजरात के शक्तिशाली शासक ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित किया, उसने भड़ौच के गुर्जर राजा की शरण ली। किन्तु बाद में उसको उसका राज्य लौटा दिया और अपनी लड़की ब्याह दी। उत्तर को विजय करने के पश्चात् हर्ष ने दक्षिण का विचार किया। दक्षिण के शक्तिशाली चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय से सन् ६२० में उसका संग्राम हुआ जिसमें हर्ष की पराजय हुई, जो उसके जीवन की प्रथम और अंतिम हार थी। इस हार के कारण हर्ष के

राज्य की सीमा नर्वदा से आगे न बढ़ सकी। कामरूप के राजा और हर्ष में बराबर की मित्रता न थी वरन् कामरूप के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार करली थी और हर्ष ने कन्नौज में सम्मेलन बुलाया था, जिसमें वह २०,००० हजार हाथी लेकर आया था। 'हर्षचरित' के अनुसार हर्ष ने सिंध भी जीत लिया था और हिमाच्छादित पर्वत वाला प्रदेश (सम्भवतः नैपाल) भी, किन्तु इतिहासकार इसको संदिग्ध समझते हैं। सातवीं शताब्दी में वर्तमान गन्जम एक छोटा-सा स्वतन्त्र राज्य था जिसे कौंगढ़ कहते थे। किसी विशेष कारण से हर्ष ने उसको अपने राज्य में मिलाने के लिए कई बार चढ़ाई की परन्तु सफल न हुआ। अन्त में सन् ६४३ में जब शशांक की मृत्यु हो चुकी थी, उसने चढ़ाई करके उसको जीत लिया।

एशिया के देशों से उसके सम्बन्ध : फारस से हर्ष के सम्बन्ध बहुत अच्छे थे और भेटों का आदान-प्रदान होता रहता था। चीन से भी उसकी मित्रता थी जहाँ उसने सन् ६४१ में अपना एक ब्राह्मण राजदूत भेजा था। ६४५ ई० में चीन से एक मिशन वाँग-ह्यू न-शी के अधीन हर्ष के दरबार में आया था।

हर्ष के राज्य की सीमाएँ : हर्ष का राज्य ब्रह्मपुत्र के दोआब से लेकर काठियावाड़ तक फैला हुआ था, जिसमें पंजाब, मालवा, कन्नौज, बिहार, बंगाल, उड़ीसा (बाण के अनुसार सिन्धु तथा आसाम भी, तथा दूसरों के अनुसार काश्मीर भी) सम्मिलित थे। उत्तर-पश्चिमी पजाब इसके शासन से पृथक था। संक्षेप में वह उत्तर-पश्चिम के कुछ भाग को छोड़कर समस्त उत्तर भारत का स्वामी था। पूर्व में राज्य बढ़ जाने के कारण राजधानी थानेश्वर से हटाकर कन्नौज में बनाई गई थी।

हर्ष सर्वगुणसम्पन्न था : वह एक वीर योद्धा होने के साथ-साथ बड़ा विद्वान्, विद्वानों का पोषक, अच्छा नाटकीय रचयिता, व्याकरण का लेखक और कविता के अनेक श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखने वाला था। उसके दरबार के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ बाण था, जिसकी सर्वोत्तम पुस्तक 'कादम्बरी' थी। **महान् कवि-दार्शनिक भर्तृहरि भी उसके राज्य में देदीप्यनान हुआ था। युवान च्वाँग** हर्ष के प्रति अत्यधिक सत्कार प्रकट करता है कि वह विद्वानों का कितना आदर करता था। उसने शिक्षालओं को अपार धन और भूमि दान दी थी।

हर्ष का धर्म—बौद्धमत को फैलाने के उपाय : हर्ष पहले हिन्दू था तथा शिव और सूर्य की उपासना करता था। किन्तु बाद में महायान के युवान च्वाँग और हीनयान के महान् संन्यासी दिवाकर मित्र के प्रभाव में आकर वह कट्टर बौद्ध बन गया था और बौद्धमत को फैलाने के अनेक उपाय किए थे। उसने अपने समस्त राज्य में पशु-वध बन्द कर दिया तथा अशोक की भाँति अनेक स्तूप, विहार और धर्मशालाएँ बौद्ध-संयासियों और यात्रियों के लिए बनवाईं।

वह प्रतिवर्ष संघ का सम्मेलन करता, जहाँ अच्छे संन्यासियों को पारितोषिक दिया जाता और बुरों को दण्ड।

वह प्रति पाँचवें वर्ष उत्सव करता था जिसमें युद्ध-सामग्री को छोड़कर हर प्रकार की वस्तु दान में दी जाती थी।

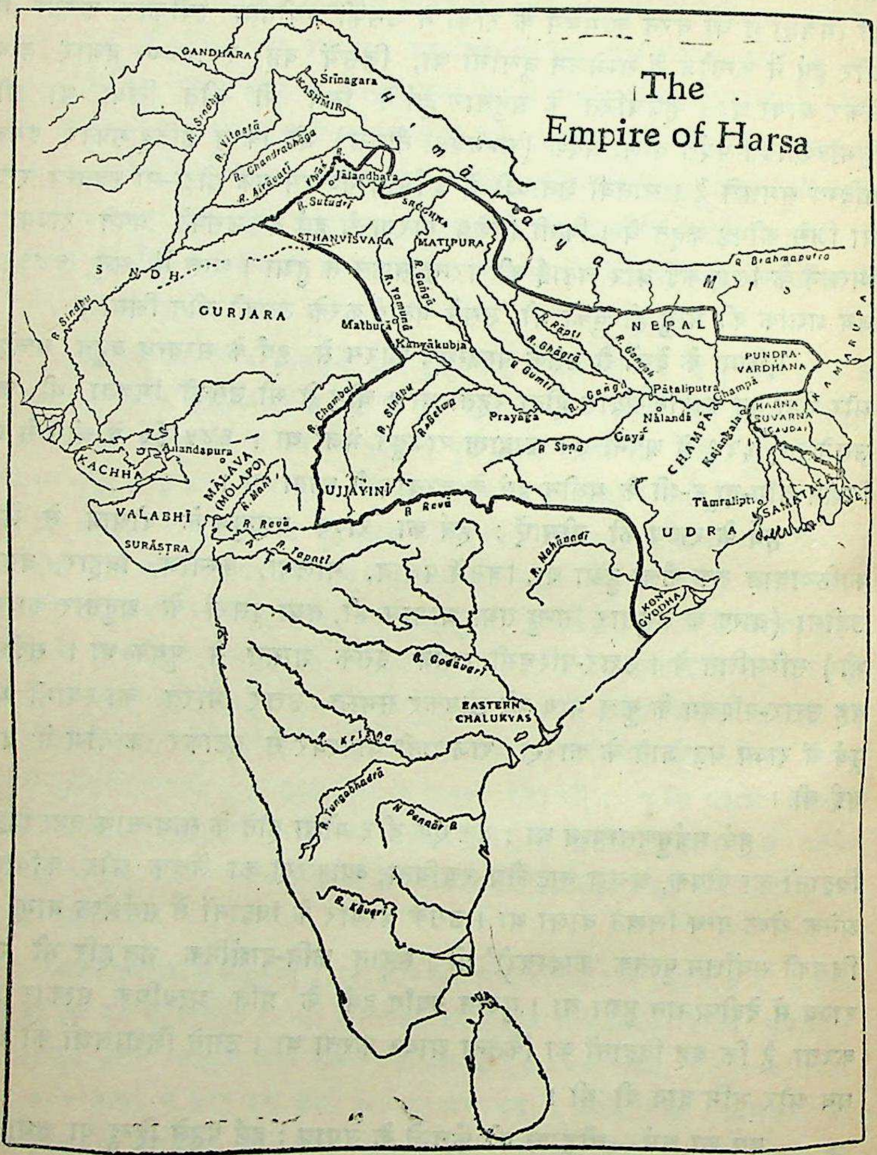
The Empire of Harsa
GANDHARA
Srinagara
KASHMIR
R. Sindhu
R. Vitastā
R. Chandrabhāga
R. Airāvati
Jālandhara
R. Sutudri
STHANVĪSVARA
MATIPURA
H I M A L A Y A S
R. Brahmaputra
S I N D H
GURJARA
Mathurā
Kanyākubja
R. Yamunā
R. Gangā
NEPAL
R. Rāpti
R. Ghāgrā
R. Gumti
R. Gandak
PUNDRA-VARDHANA
KAMARUPA
Pātaliputra
Champā
Nālandā
Gayā
CHAMPA
Rajamahal
KARNA SUVARNA (GAUDA)
Prayāga
R. Chambal
R. Sindhu
R. Betwa
R. Sona
Valandapura
KACHHA
MALAVA (MOLAPO)
R. Mahi
UJJAYINI
R. Revā
VALABHĪ
SURĀSTRA
R. Tapati
R. Mahānadī
UDRA
Tāmralipti
SAMATATA
KONGYODHA
R. Godāvarī
EASTERN CHALUKYAS
R. Krishna
R. Tungabhadrā
N. Pennār R.
R. Kāveri

हर्ष की धार्मिक सहिष्णुता : ब्राह्मणत्व को संरक्षण : यद्यपि बौद्धमत पर राजा की विशेष कृपा थी तो भी ब्राह्मणत्व भी साथ-साथ फल-फूल रहा था। युवान च्वांग के वृत्तांत से हमें पता चलता है कि उसने प्रयाग के सम्मेलन में पहले दिन बुद्ध की, दूसरे दिन सूर्य की और तीसरे दिन शिव की पूजा की थी। हर्ष धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध था और किसी सम्प्रदाय वाले को कष्ट नहीं देता था। उसका राजकवि ब्राह्मण था और उसका मित्र राष्ट्र काम-रूप था, जिसका राजा बौद्ध नहीं था। किन्तु तिब्बत का इतिहासकार तारानाथ कहता है कि वह विदेशी मतों

के प्रति सहिष्णु न था और मुलतान में उसने पारसियों का बड़ा मंदिर जलवा दिया था। परन्तु इस बात की सत्यता के प्रमाण नहीं मिलते तथा हर्ष का चरित्र व अन्य धर्मों के प्रति उसकी उदार नीति देखकर इस घटना पर विश्वास नहीं होता।

कनौज का विशाल सम्मेलन : महायान शाखा को फैलाने तथा चीनी यात्री युवान च्वांग के सम्मान में हर्ष ने कनौज में एक विशाल धार्मिक सम्मेलन किया जिसमें उसने विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों को निमंत्रित किया, जिसका चीनी यात्री ने स्पष्ट वर्णन किया है। इस सम्मेलन में कामरूप का प्रसिद्ध राजा तथा १६ समाश्रित राजा, ३००० बौद्ध भिक्षु, १००० विद्वान् और ३००० ब्राह्मण तथा जैन साधु एकत्रित हुए। हाल के बीच में बुद्ध की विशाल मूर्ति थी। युवान च्वांग के भाषण से कार्यवाही आरम्भ हुई। भाषण के अन्त में उसने कहा कि यदि कोई व्यक्ति उसके भाषण के विरुद्ध एक शब्द भी सिद्ध कर सकेगा तो उसको वह अपना सिर भेंट करेगा। इसमें बहुत बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ और ब्राह्मण उसके इतने विरुद्ध हो गए कि उन्होंने युवान च्वांग तथा हर्ष की हत्या करने के लिए षड्यंत्र रचा। किन्तु उनका उपाय असफल रहा और षड्यत्रकारियों को कठोर दण्ड दिया गया, जिसमें लगभग ५०० ब्राह्मणों को देश-निकाला दिया गया।

प्रयाग का पञ्चवर्षीय सम्मेलन : हर्ष प्रयाग में एक पञ्चवर्षीय सम्मेलन किया करता था। ऐसे छठे सम्मेलन में, जो सन् ६४३ ई० में किया गया था, युवान च्वांग भी सम्मिलित हुआ था। इसका नाम मोक्षोत्सव रखा था और युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ दान की गई थीं तथा इसमें २० आश्रित राजा पधारे थे। प्रथम दिन बुद्ध की पूजा की गई, दूसरे दिन सूर्य की तथा तीसरे दिन शिव की। चौथे दिन खास-खास १०,००० बौद्ध भिक्षुओं को सौ-सौ सुवर्ण-मुद्राएँ दी गईं। ४० दिन तक बौद्ध संन्यासियों, ब्राह्मणों तथा हर सम्प्रदाय के कंगालों को दान बँटता रहा, यहाँ तक कि हर्ष ने अपने आभूषण और वस्त्र भी दान कर दिए और स्वयं अपनी बहन राज्यश्री से लेकर पुराने वस्त्र धारण किए। उसे इस बात से अपार प्रसन्नता हुई कि उसने धर्म के लिए अपना सर्वस्व दान कर दिया। इस उत्सव से सिद्ध है कि वह बौद्धमत का कितना भक्त, अन्य सम्प्रदायों के प्रति कितना सहिष्णु और कितना दानी था। प्रयाग के सम्मेलन में उसने दान का जो उदाहरण पेश किया वह संसार के इतिहास में किसी काल में तथा किसी देश में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

हर्ष का शासन-प्रबन्ध : हर्ष का शासन-प्रबन्ध ऐसा नम्र था कि उसने युवान च्वांग को बड़ा प्रभावित किया था। बेगार बिलकुल बंद थी, कर अत्यंत साधारण थे और अपराधों की संख्या अल्प थी, क्योंकि दण्ड का नियम अत्यन्त कठोर था। राजा स्वयं शासन की देख-भाल करता था और राज्य-कर्मचारी भ्रष्ट न थे। अग्नि या जल द्वारा निर्दोषिता की परीक्षा न्याय का एक विशेष अंग थी। किन्तु मार्ग अरक्षित थे और युवान च्वांग को दो बार लूटा गया था।

आय के साधन : भूमि-कर उपज का प्रायः छटा भाग होता था। चुंगी आय का दूसरा बड़ा साधन था। जो लोग राजा के दर्शन करने आते थे उनके द्वारा लाई हुई भेंट से भी राज्य की आय होती थी। व्यापारियों से नाव-कर तथा घाट से नदी, झील आदि पार करने का भी कर लिया जाता था, परन्तु सब मिलाकर कर बहुत हल्के थे।

लेख-संग्रह विभाग : हर्ष ने प्रमाण-लेखों का एक विभाग तथा ग्रन्थ-रक्षा-गृह भी बनाया था, जिसमें सरकारी पत्र तथा राज्य के अन्य कागज सुरक्षित रखे जाते थे। सार्वजनिक घटनाओं का रिकार्ड रखने के लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त थे।

रक्षा-विभाग : विशाल स्थायी सेना में १००,००० अश्वारोही, ५०,००० पदाति और ६०,००० हाथी थे। इसके अतिरिक्त आश्रित तथा मित्र राजाओं से अपार सैनिक सहायता मिलती रहती थी। अश्वारोहियों का विशेष ध्यान रखा जाता था और अफगानिस्तान तथा फारस से घोड़े मँगवाए जाते थे। नए सैनिकों की भर्ती बाजारों तथा गलियों में डौडी पीटकर की जाती थीं। अंग-रक्षक अनुभवी सैनिकों में से चुने जाते थे। सीमांत नगरों की विशेष रक्षा की जाती थी और उनके चारों ओर दीवार का परकोटा होता था।

सिंहावलोकन : हर्ष के चरित्र में समुद्रगुप्त तथा अशोक दोनों के कुछ-कुछ गुणों का समावेश पाया गया है। समुद्रगुप्त की भाँति वह महान् योद्धा और विजेता था तथा भारत में शान्ति और एकता स्थापित करके उसे सुदृढ़ बनाने वाला था। अशोक की भाँति प्रथम वह अपने राज्य को दृढ़ बनाकर विद्या और धर्म की खोज में व्यस्त हो गया था और सैनिक प्रदर्शन की अपेक्षा धार्मिक उत्सवों में अधिक भाग लेता था। उसने छोटे-छोटे राज्यों को एक बड़े साम्राज्य में मिलाकर देश से अराजकता को दूर कर दिया था। बौद्धों के इतिहास में उसको वही स्थान प्राप्त था जो अशोक तथा कनिष्क को है।

हर्ष एक योग्य शासक था जिसे सदा अपनी प्रजा की भलाई का ध्यान रहता था। उसने अनेक सार्वजनिक कार्य किये थे, जैसे :—विश्रामगृह बनवाये जिनमें खाना-पीना मिलता था। चिकित्सालयों में यात्रियों तथा निर्धनों की मुफ्त चिकित्सा होती थी। वह रात-दिन प्रजा की भलाई के कार्यों में व्यस्त रहता तथा अच्छे शासन-प्रबन्ध के हेतु प्रायः अपने राज्य का दौरा करता। उसकी दानशीलता अतुलनीय थी। वह प्रतिदिन १००० भिक्षुओं और ५०० ब्राह्मणों को भोजन खिलाता तथा हर पांचवें वर्ष वस्त्राभूषण आदि अपार वस्तुएँ दान करता। हर्ष विद्या-प्रेमी था तथा विद्वानों का आदर करता था। उसने युवान च्वांग, बाण तथा जयसेन जैसे विद्वानों को आश्रय दिया था। **सहिष्णुता में उसकी तुलना अशोक तथा अकबर से की जा सकती है**। संक्षेप में हर्ष एक आदर्श राजा था, जिसमें कर्तव्य और सेवा के

उच्च विचार थे। जिनको, कार्य रूप में परिणत करने में उसको विश्राम का अवकाश न था।

Questions

1. Describe the political conditions obtaining during the reign of and after the death of Harshavardhana.
   हर्ष के राजत्वकाल में तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् भारत की राजनीतिक परिस्थितियों का वृत्तान्त लिखो।
2. Harsha is said to have been great in war and greater in peace. Why ?
   हर्ष को युद्ध में महान् तथा शान्तिकाल में महान्तम कहा गया है। क्यों ?
3. Draw a brief picture of the life and achievements of Harshavardhana.
   हर्षवर्धन का जीवन-चरित्र तथा उसकी विजयों को चित्रित करो।
4. What light does Hiuen-Tsang throw on the administrative system and religious conditions in the time of Harshavardhana ?
   हर्षवर्धन की शासन-व्यवस्था तथा उस युग की धार्मिक परिस्थितियों पर युवान च्यांग ने क्या प्रकाश डाला है।
5. Give a short account of India as given by Megasthenes and Hiuen-Tsang.
   मैगस्थनीज व युवान च्वाँग के कथनानुसार भारत का संक्षिप्त वर्णन करो।

अध्याय १२

महान् भारत

भारत की सभ्यता और संस्कृति का विदेशों में फैलना

खण्ड १ : भारत के पश्चिमी जगत् तथा एशिया से सम्बन्ध

लोगों का विचार है कि प्राचीन भारत-निवासी समुद्र के डर से विदेशों में नहीं जाते थे और घर की घूँस थे। किन्तु अब नवीन खोजों से यह विचार निर्मूल सिद्ध हो चुका है। मन्दिरों, इमारतों के अवशेषों व मध्य एशिया और मलाया द्वीप-समूहों की मुद्राओं से यह पूर्णतः सिद्ध हो चुका है कि हमारे पूर्वजों ने एशिया की विस्तृत भूमि में सभ्यता और शिक्षा फैलाने के कार्य में काफी हाथ बँटाया था जिसकी सत्यता में सन्देह करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है।

बहुत प्राचीन समय से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक उन्नत हिमालय को पार कर तथा अपार समुद्रों को पार करके जहाँ-जहाँ हिन्दू सभ्यता फैली तथा हिन्दू उपनिवेश बने, उन प्रदेशों को मिलाकर **महान् भारत** के नाम से पुकारा जाता है। भारतीय व्यापारियों, प्रचारकों तथा विद्वानों ने विदेशों में विद्या का प्रकाश फैलाने के आदर्श-कार्य में पर्याप्त सहायता दी है। भारतीय सभ्यता ने एशिया के विस्तृत प्रदेशों में निवास करने वाली अनेक जातियों के दिलों में घर कर लिया था और बहुत से लोगों का, जो जंगली जीवन व्यतीत करते थे, उद्धार किया था। भारत की सभ्यता ने अपनी प्राकृतिक सीमाओं से बहुत दूर-दूर तक पर्वतों को लाँघकर तथा समुद्र को पार करके विदेशों को आलोकित कर दिया था। कदाचित् यूनानी सभ्यता का प्रकाश भी योरुप पर उतना नहीं फैला था।

शीघ्र विस्तार के कारण : विदेशों में भारतीय सभ्यता तथा उपनिवेशों के शीघ्र फैलने के तीन मुख्य कारण थे—(१) व्यापारियों का आना-जाना, (२) प्रचारकों के प्रयत्न और (३) शक्तिशाली राजाओं की नीति। सीरिया, यूनान और रोम आदि से भारत के सम्बन्ध व्यापारियों के कारण दृढ़ हुए। किन्तु धर्म-प्रचारकों ने भारतीय सभ्यता के फैलाने में मुख्य कार्य किया। अशोक तथा कनिष्क ने बौद्ध-मत के प्रचार के लिए विदेशों में दूर-दूर तक धर्म-प्रचारक भेजे। बाद में ब्राह्मण-संन्यासियों ने भी विदेशों में हिन्दू संस्कृति फैलाने में बड़ा उत्साह दिखलाया। उन देशों में उस समय शिक्षा और सभ्यता का बहुत अभाव था। किन्तु समय-समय पर

शक्तिशाली राजाओं ने भी अपने उपनिवेश विदेशों में बनाकर हिन्दू सभ्यता के विस्तार में सहायता दी। विशेष-कर तटवर्ती राजा, जैसे कलिंग, बंगाल तथा चोल के शासक भारत के विस्तार के अधिक इच्छुक थे।

प्राचीन काल से ही भारत के सम्बन्ध पश्चिमी संसार से दृढ़ थे। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की खुदाई से पता चलता है कि भारत के सम्बन्ध पश्चिमी देशों से ५००० वर्ष पूर्व भी थे। बुगजकोई का शिलालेख वर्णन करता है कि पश्चिमी एशिया में वैदिक देवताओं की पूजा होती थी, जिससे सिद्ध है कि ईसा से १४०० वर्ष पूर्व भारत तथा पश्चिमी एशिया में विचार-विनिमय होता था तथा एक देश दूसरे देश की सभ्यता से प्रभावित था।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद से उपर्युक्त सम्बन्ध अधिक दृढ़ हो गये, क्योंकि भारतीयों को नवीन मार्गों का पता चल गया और भारत का व्यापार यूनान से प्रचुर मात्रा में होने लगा और इस भाँति भारत के सम्बन्ध योरुप के देशों से भी दृढ़ होते चले गए। भारत ने यूनान से खगोल विद्या और मुद्रा बनाने की उत्तम विधि सीखी तथा यूनान वालों ने भारत से दर्शनशास्त्र, धर्म तथा साहित्य की शिक्षा ली।

ईसवी सन् की प्रथम कुछ शताब्दियाँ भारत और रोम के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के लिए प्रसिद्ध हैं। रोम के इतिहासकार प्लीनी (Pliny) ने जो शोक प्रकट किया है कि भारत प्रतिवर्ष रोम राज्य के पांच करोड़ सस्टर (एक सिक्का जो २ पैंस के बराबर होता है) अर्थात् लगभग १०,००,००० पौंड खींच लेता है, प्रगट करता है कि भारत का व्यापार रोम के साथ कितनी अधिक मात्रा में होता था। इसके अतिरिक्त राजनीतिक सम्बन्ध भी अच्छे थे। कुशन सम्राटों, ने अपने राजदूत रोम के सम्राटों जैसे आगस्टस, सीजर, ट्राजन और हेड्रियन, के पास भेजे थे। स्वाभाविक तौर से इसका काफ़ी प्रभाव रोम के साहित्य और धर्म पर पड़ा।

बैक्ट्रिया और खुतन से सम्बन्ध : सर औरल स्टेन (Sir Aurel Stein) की खोजों ने निश्चयात्मक रूप से सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन हिन्दुओं ने हिमालय और उत्तर के देशों, विशेष करके बैक्ट्रिया और खुतन को तो बिलकुल हिन्दू सभ्यता से ओत-प्रोत कर दिया था। वहाँ की मुद्राएँ और हस्त-लिखित ग्रन्थ साफ़ बतलाते हैं कि इन प्रदेशों की भाषा और लिपि पूर्णतः भारतीय थी। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों के नाम भी भारतीय थे जैसे भीम या नन्दसेन, और उनके पद भी भारतीय थे, जैसे दूत, लेखक, हरकारा आदि। बैक्ट्रिया और खुतन के नगरों के मन्दिर, इमारतें और खण्डहर भी प्रगट करते हैं कि उनकी सभ्यता का आधार मुख्यतः भारत ही था।

तिब्बत : सातवीं शताब्दी तक एक असभ्य देश था जिसमें न कोई धर्म था, न सभ्यता थी और न भाषा थी। उसको सभ्य बनाने का सौभाग्य भारतनिवासियों को था। तिब्बत ने लेखन-लिपि भी भारत से सीखी है। तिब्बत की कथाओं से पता चलता है कि तिब्बत के बुद्धिमान् व्यक्ति नालन्दा के विश्वविद्यालय में जाकर

लिपिदत्त नामक विद्वान् पण्डित से लिखना-पढ़ना सीखते थे। लामा-मत और पूजागृह-निर्माण, धार्मिक कला और साहित्य तिब्बत ने भारतीय प्रभाव के कारण ही सीखे हैं। नवीं शताब्दी के मध्य में तिब्बत के राजा रल्पाचारी (Ralpachari, the Augustus of Tibet) ने कई भारतीय विद्वानों को संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद करने के लिए बुलवाया था और तौलने के बाटों का चलन भारतीय पद्धति पर कराया था।

तिब्बत को भारतीय बनाने में सबसे बड़ा हाथ दीपांकर श्रीज्ञान का था जो विक्रमशिला विश्वविद्यालय का उपप्रधानाध्यक्ष था तथा जो आतिशा (Atisa) के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। तिब्बत के राजा ने उसको अनेक बार निमन्त्रित किया था और उसकी अनेक विनतियाँ करने पर तिब्बत में ही रहने लगा था, जहां वह १३ वर्ष रहा था, "अनेक ग्रन्थ लिखे थे और १०० से कम व्याख्यान नहीं दिए थे, और तिब्बत के बौद्धमत में सुधार करके उसको शुद्ध और उन्नत बनाया था। इस प्रकार तिब्बत भाषा, धर्म तथा साहित्य के लिए भारत का ऋणी है।"

चीन : चीन में भी सभ्यता और धर्म बहुत अंशों में भारत से ही आए। प्राचीन काल से ही भारत और चीन के सम्बन्ध रहे थे। बहुत से बौद्ध विद्वान् समय-समय पर चीन जाते रहे थे और बहुत से चीनी यात्री बौद्ध-तीर्थों के दर्शनार्थ भारत आते थे। कश्यप, कुमारजीव, मातंग और धर्मरत्न प्रसिद्ध बौद्ध-प्रचारक थे जो चीन गए थे और बहुत से मौलिक बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध कुमारजीव १२ वर्ष तक चीन में रहा था और उसने सौ से अधिक भारतीय पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। उसके अनन्तर अनेक विद्वान् चीन गए और इस भाँति कई चीनी नगरों में भारतीयों के विशेष मुहल्ले बन गए।

उधर प्रसिद्ध चीनी, जैसे फ़ाहियान, युवान च्वांग, ईत्सिग, बौद्ध-तीर्थों को देखने के लिए भारत आए, जबकि प्राचीनकालीन विश्वविद्यालय नालन्दा से आकर्षित होकर बहुत से विद्यार्थी चीन से भारत आए। उस समय के लेखों से पता चलता है कि नालन्दा में सैंकड़ों चीनी विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। चीन से भारतीय शिक्षा और सभ्यता कोरिया, जापान तथा अन्य पड़ौस के देशों में फैली।

खण्ड २ : भारत और सुदूर-पूर्व

मलाया द्वीपसमूह (इंडोनेशिया) : प्राचीन हिन्दुओं ने दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त महासागर में अनेक उपनिवेश बनाए। ईसवी सन् के आरम्भ से ही भारत के जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली, चम्पा आदि द्वीपों से सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध बहुत सुदृढ़ हो गए थे। इनमें से कुछ द्वीप धर्म और शिक्षा के लिए भारत के बहुत-कुछ ऋणी थे तथा शेष द्वीपों की तो सभ्यता बिलकुल भारतीय थी। उस समय भी जब हिन्दुओं की राज्य-शक्ति भारत में कम हो गई थी उन स्थानों में भारतीय

सभ्यता अपनी सीमा को पहुँची हुई थी और आजकल भी पूर्वी द्वीप-समूह के कुछ द्वीप, जैसे बाली, सर्वतः भारतीय हैं।

जावा अथवा यवद्वीप : प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध उपनिवेश था। चीन के एक प्रमाण लेख (Record) से पता चलता है कि सन् १३२ ई० में जावा का शासक देववर्मन था जो भारतीय नाम है। फ़ाहियान ने सन् ४१४ ई० में इस द्वीप को देखा था। उसने बतलाया है कि उस समय वहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व था और वहाँ के महान् राजा पूर्णवर्मन और संजय हिन्दू-धर्म मानते थे। शिव, विष्णु और ब्रह्मा वहाँ के प्रिय देवता थे।

आठवीं शताब्दी में एक आन्दोलन ने शैलेन्द्र वंश के राज्य को शक्तिशाली बना दिया जिसके काल में कला-कौशल ने अपार उन्नति की। भारतीय ढंग पर सुन्दर-सुन्दर मन्दिर और स्तूप बनाए, जैसे चाँदी के कलश तथा चाँदी के बोरोबुदुर, जो संसार के अत्यन्त आश्चर्यजनक स्तूपों में से हैं। शैलेन्द्र के शासन-काल में हिन्दू-धर्म का ह्रास और बौद्ध धर्म की उन्नति हुई।

शैलेन्द्रों के पश्चात् संजय का प्राचीन शैव वंश पुनः शक्तिशाली बन गया और उन्होंने ब्राह्मणों की सभ्यता को एक बार जीवित किया। फिर शिव, विष्णु और ब्रह्मा के सुन्दर-सुन्दर मन्दिर बनवाये गए जिनमें से आठ अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अनेक संस्कृत के आदर्श ग्रन्थ, जैसे 'रामायण', अमरकोष' आदि, का स्थानीय भाषा में अनुवाद हुआ।

सुमात्रा—श्रीविजय और महान् शैलेन्द्र राज्य : ईसवी सन् से बहुत पूर्व ही सुमात्रा हिन्दुओं का उपनिवेश बन चुका था, किन्तु उस द्वीप की उन्नति उस समय हुई जब तीसरी शताब्दी में श्रीविजय राज्य की वहाँ स्थापना हुई। अन्य पड़ौसी द्वीपों पर उसकी महत्ता और शक्ति को लेगोर (Legore) का शिलालेख तथा चीनी यात्री ईत्सिंग प्रमाणित करता है, जिसके कथनानुसार उस राज्य में १००० बौद्ध-सन्यासी रहते थे और वहाँ बौद्धमत लोकप्रिय था। श्रीविजय ने भारत तथा चीन से राजनीतिक सम्बन्ध बनाए रखे।

आठवीं शताब्दी में वहाँ शैलेन्द्र का शक्तिशाली राज्य बना, जिसका शासक महायान शाखा का अनुयायी था तथा मूल में कलिंग अथवा उसके पास के प्रदेश का निवासी था। भारत तथा चीन दोनों बौद्ध देशों से उसके सम्बन्ध मित्रतापूर्ण रहे। उसके विशाल राज्य में समस्त मलाया, सुमात्रा, कम्बोडिया और जावा सम्मिलित थे और आठवीं तथा नवीं शताब्दी में वह सबसे शक्तिशाली राज्य था। दसवीं शताब्दी में इसमें शिथिलता आने लगी। जावा और कम्बोडिया स्वतन्त्र हो गए और चोल के शासक राजेन्द्र चोल ने शैलेन्द्र वंश के शासक को बुरी तरह पराजित किया।

शैलेन्द्र शासक महायान शाखा के बड़े संरक्षक थे और भारत के नालन्दा विश्वविद्यालय से शिक्षा-विषयक सम्बन्ध रखते थे।

कम्बोडिया—फू-नान राज्य : काम्भुज (कम्बोडिया) भी प्रथम शताब्दी में

उपनिवेश बना तथा प्रारम्भ में उसका राज्य फू-नान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्थानीय कथाएं बतलाती हैं कि वहाँ का प्रथम हिन्दू राजा ह्वेनटीन (Huen-Tien) था, जो कौण्डिन्य के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। उसके वंशजों ने समस्त इण्डोचीन, स्याम और पड़ौसी द्वीपों को जीत लिया। उस वंश के सबसे प्रसिद्ध राजा फान-से-मान, जयवर्मन और रुद्रवर्मन थे। इस राज्य का अन्त सातवीं शताब्दी में हो गया और एक आश्रित राजा काम्भुज अधिक शक्तिशाली हो गया और फू-नान का स्थान ले लिया, जो इण्डोचीन में ७०० वर्ष तक सबसे बलवान् राज्य बना रहा। काम्भुज के शासक जयवर्मन द्वितीय, यशोवर्मन और सूर्यवर्मन हिन्दू-कला और हिन्दू-सभ्यता के महान् पोषक थे। उनका सबसे बड़ा स्मारक अकोरवत का विष्णु का मन्दिर है। शैवमत काम्भुज में सर्वप्रिय था।

चम्पा : कम्बोडिया के पूर्व में एक छोटा-सा देश है जिसे अब अनाम कहते हैं। यह कदाचित् दूसरी शताब्दी में हिन्दुओं का उपनिवेश बना। भिन्न-भिन्न केन्द्रों में जैसे अमरावती, पाण्डुरंग, श्रीविजय और कन्थेरा, भिन्न-भिन्न हिन्दुओं के वंशों ने उन्नति की। शैवमत का अधिक प्रचार था जब कि बौद्धमत और वैष्णव मत का जोर कम था। जाति-पाँति का भेद कट्टर था। चम्पा की कला-कौशल कम्बोडिया तथा जावा की कला-कौशल की अपेक्षा अत्यन्त हीन थी।

बाली और बोर्नियो : जावा के पूर्व में बाली नामक छोटा-सा द्वीप अकेला प्राचीन उपनिवेश है जहाँ आजकल हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-सभ्यता विद्यमान हैं। उसमें हिन्दुओं के चार वर्ण हैं। इससे सिद्ध है कि इस द्वीप पर हिन्दुओं का अधिकार कई शताब्दियों से है। बोर्नियो, जो पूर्वी द्वीप-समूह में बड़े-से बड़ा है, संभवतः ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में उपनिवेश बना था। पाँचवीं शताब्दी में हिन्दू शासक मूलवर्मन के राज्य में इसने बहुत उन्नति की थी। मूलवर्मन ब्राह्मणों और गौओं का रक्षक था। इसके बाद का वृत्तान्त केवल इसके अतिरिक्त कि जावा ने इसको पन्द्रहवीं शताब्दी में विजय किया था, कुछ भी विदित नहीं है।

ब्रह्मा और स्याम : यह ज्ञात नहीं कि भारत और ब्रह्मा के प्राचीन सम्बन्ध कैसे थे। प्रथम अशोक ने अपने प्रचारक वहाँ भेजे थे। बाद में लंका और कलिंग के राजाओं ने भी अपने-अपने प्रचारक भेजे। थाटोन (Thaton), प्रोम (Prome) भारतीय सभ्यता के केन्द्र बन गए थे, जहाँ से समस्त ब्रह्मा में भारतीय सभ्यता फैली।

स्याम में हिन्दू सभ्यता सम्भवतः तीसरी शताब्दी में फैली। आरम्भ में स्याम फू-नान राज्य का आश्रित राज्य था, किन्तु उसके पतन के बाद स्वतन्त्र हो गया था। इसका सबसे महान् शासक इन्द्रादित्य था। स्याम ने भी भारत के साथ अच्छे सम्बन्ध रखे।

लंका : भारत के लंका से कैसे सम्बन्ध थे इसका पता राम के वीरगाथा काल से लगता है। ईसा से ६०० वर्ष पूर्व तो यह यथार्थ में उपनिवेश बन गया था जबकि

बंगाल के राजकुमार विजय ने लंका को जीतकर सिंवल-वंश की नींव डाली थी। अशोक के भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा ने लंका के राजा तिस्स को बौद्ध बना लिया था और उस समय से धीरे-धीरे समस्त लंका बौद्ध बन गई थी। भारतीय मत के लंका में फैल जाने के कारण दोनों देशों के राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध अत्यन्त दृढ़ हो गये थे।

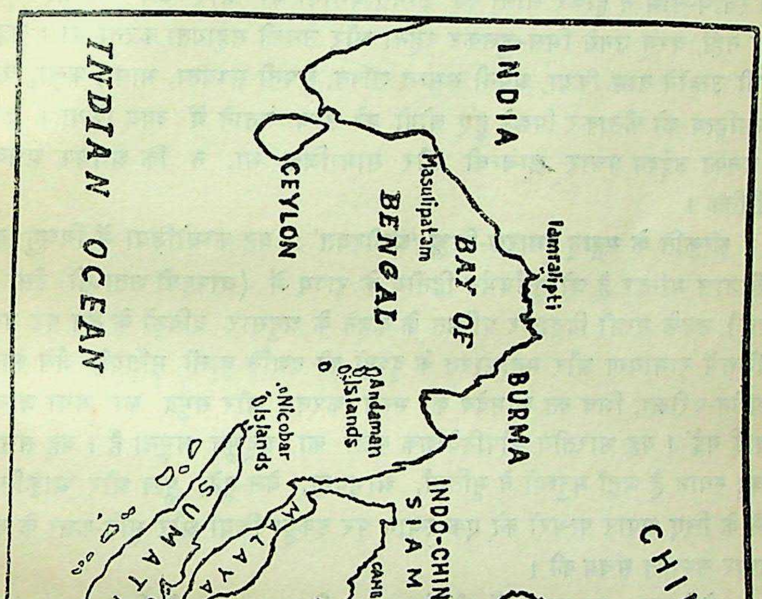
INDIA
Tamralipti
BAY OF BENGAL
Masulipatam
CEYLON
INDIAN OCEAN
BURMA
Andaman Islands
Nicobar Islands
SUMATRA
MALAYA
INDO-CHINA
SIAM
CAMBODIA
COCHIN CHINA
ANNAM
CHINA
Canton
Hainan
SOUTH CHINA SEA
BORNEO
FORMOSA
PHILIPPINE ISLANDS
CELEBES
JAVA
JAVA SEA
BALI
FLORES
SUMBA
TIMOR
TIMOR SEA
BANDA SEA
PACIFIC OCEAN

खण्ड ३ : हिन्दुओं के विस्तार का उद्देश्य

इन उपनिवेशों को बनाने का उद्देश्य न तो वीरता दिखाना था और न अपने व्यापार की सीमा को विस्तृत करना था। "इन उपनिवेशों को धन का साधन नहीं

समझा गया था कि जब इच्छा हुई वहाँ से धन बटोर लिया और अपने देश को मालामाल कर दिया।" उपनिवेश बनाने में भारतीयों का उद्देश्य था असभ्य देशों में ज्ञान और शिक्षा की ज्योति फैलाकर उनको सभ्य तथा सुखी बनाना और जब तक उनका उद्देश्य पूरा न होता वे विश्राम न लेते थे। उपनिवेश बनाने वालों का उद्देश्य स्वार्थ-लाभ न होकर लोगों को उन्नत बनाना था और उन पर अधिकार जताना नहीं, वरन् उनसे मिल-जुलकर रहना और उनकी सहायता करना था। जहाँ कहीं भी उन्होंने वास किया, अपनी समस्त शक्ति, अपनी सभ्यता, भाषा, कला, धर्म और साहित्य को फैलाकर पिछड़े हुए लोगों को सभ्य बनाने में व्यय किया। इस तरह उनका उद्देश्य प्रचार सम्बन्धी और सामाजिक था, न कि आर्थिक अथवा राजनीतिक।

संस्कृति के महान् स्मारक-चिह्न 'अंकोरवत' : यह कम्बोडिया में विष्णु का एक विशाल मन्दिर है जो सूर्यवर्मन द्वितीय के राज्य में (बारहवीं शताब्दी ईसा के पश्चात्) उनके मन्त्री दिवाकर पण्डित के कहने के अनुसार द्रविड़ों के ढंग पर बना था, जिसमें रामायण और महाभारत के दृश्यों को दर्शाने वाली मूर्तियाँ, जैसे सीता की अग्नि-परीक्षा, शिव का कामदेव को भस्म करना और समुद्र का मथा जाना, बनवाई गईं। यह भारतीय औपनिवेशिक कला का अद्भुत नमूना है। यह संसार का वह स्थान है जहाँ मनुष्यों ने मूर्तियाँ, आभूषण, बेल-बूटे, फूल और आकृतियाँ बनाने के लिए अपार पत्थरों को एक स्थान पर इकट्ठा किया और मूर्ति-कला के रूप में अपार सम्पत्ति संचय की।

बोरोबुदुर : यह जावा में बौद्धों का एक विशाल स्तूप है जिसे प्रायः संसार के आश्चर्यों में से एक समझा जाता है। यह पत्थर के रूप में एक वीर-गाथा है। यह एक नौ मंजिल वाली पहाड़ी है जिसमें पत्थर के लगभग २००० चित्र हैं (जिनको यदि बराबर-बराबर रखा जाय तो दो मील लम्बे हों) जिनमें बुद्ध के जीवन के दृष्टान्त हैं।

यदि बोरोबुदुर को प्रेरणा बौद्धों से मिली, तो उसको निर्माण करने का श्रेय हिन्दू शिल्पकारों को ही मिलता है। अंकोरवत और बोरोबुदुर ऐसी उत्तम सामग्री से बने हैं तथा कला-कौशल के ऐसे आदर्श दृष्टान्त हैं कि भारतीय औपनिवेशिक-कला को किसी भी प्राचीन तथा अर्वाचीन सभ्य देश की तुलना में रख सकते हैं।

सभ्यता के इन दो महान् स्मारकों के अतिरिक्त अनेक बड़े-बड़े स्मारक हैं, जैसे प्राम्बनम् (जावा) में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के मन्दिर। विष्णु, सरस्वती और लक्ष्मी के भिन्न-भिन्न अवतारों के सहस्रों चित्र तथा बुद्ध की मूर्तियाँ पूर्वी द्वीपों में पाई जाती हैं। इन स्मारकों से निश्चय ही सिद्ध होता है कि इन उपनिवेशों की भाषा, धर्म, सभ्यता और कला भारतीय आदर्शों पर अवलम्बित थी और उनको भारतीय महात्माओं के जीवन से प्रेरणा मिली थी।

Question

Write a brief but careful note on the expansion of India into greater India in the East.

पूर्व में भारत का विस्तार होकर जो महान् भारत के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसका संक्षिप्त वर्णन करो।

अध्याय १३

हर्ष के बाद का भारत

(सन् ६५० से लगभग १२०० ई० तक का राजनीतिक इतिहास)

उत्तर भारत

हर्ष की मृत्यु होते ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया क्योंकि उसका कोई योग्य उत्तराधिकारी न था। उसकी एकमात्र पुत्री बल्लभी के राजा को व्याही थी। उसके साम्राज्य में जितने सामन्त अथवा स्वतन्त्र राजा लोग सम्मिलित थे वे मुख्यतया हर्ष के व्यक्तित्व के प्रभाव से थे न कि उसकी शक्ति के दबाव से। उसके बाद वे सब सर्वथा स्वतन्त्र हो गए।

सातवीं शती के चौथे चरण में एक गुप्तवंशीय सामन्त ने मगध में फिर से गुप्त साम्राज्य के वैभव को जागृत करने की चेष्टा की और अश्वमेध आदि यज्ञ कराये तथा अन्य इसी प्रकार के कृत्यों से अपना प्रभाव बढ़ाया। जान पड़ता है कि इस वंश का राज्य आठवीं शती के बीच तक बना रहा।

हर्ष के राज्य का दावा उसके एक मन्त्री अर्जन अथवा अरुणाश्व ने किया। परन्तु उसने अपनी मूर्खता से चीन के बादशाह से झगड़ा उठा लिया। नैपाल के पास चीन की सेना ने उस पर आक्रमण किया और उसे बन्दी बनाकर ले जाया गया।

कन्नौज में हर्ष के कोई ८० वर्ष बाद हमें एक महान् प्रतापी राजा यशोवर्मन का परिचय मिलता है। इस राजा के आगे-पीछे का इतिहास अभी तक स्पष्ट नहीं है। उसने बहुत ही थोड़े समय में समस्त उत्तर-भारत पर अपना अधिकार जमा लिया था। उसकी विजयों का वृत्तान्त हमें उसके राजकवि वाग्पतिराज के ग्रन्थ गौड़वहो से मिलता है। भारत का **लोक-प्रसिद्ध कवि भवभूति भी यशोवर्मन के दरबार में था**। यशोवर्मन का अन्त काश्मीर के महान् विजेता ललितादित्य मुक्तपीड़ ने सन् ७४० में किया। इसने आँधी के समान सारे उत्तर-भारत से आसाम तक धावा बोलकर अपने समय के सभी राजाओं को परास्त किया और अपना आतंक स्थापित किया, किन्तु ललितादित्य का प्रभुत्व भी उसके जीवन-काल तक ही रहा। इस प्रकार हर्ष के बाद लगभग २०० वर्ष तक उत्तर-भारत की राजनीतिक दशा अस्थिर रही।

राजपूतों की उत्पत्ति : इस अस्थिरता तथा अराजकता के काल में अनेक

बाहरी जातियाँ, यथा शक, हूण आदि देश में बस गईं। इनमें जो योग्य एवं वीर व्यक्ति थे उनको अपने-अपने राज्य स्थापित करने का अवसर मिला। परन्तु एक बात की कमी थी इन लोगों में, जिस पर हिन्दू जनता में इनका सम्मान, प्रतिष्ठा तथा दृढ़ता निर्भर थी। इनका किसी प्रकार प्राचीन क्षत्रिय वंशों में प्रविष्ट होना आवश्यक था। इस काम में इनके टुकड़खोर ब्राह्मणों और भाटों ने पूरी-पूरी सहायता दी। इन लोगों ने अपनी अनेक कपोल-कल्पित गाथाओं में एक यह गाथा भी घड़ी कि ब्रह्मा ने असुरों से ब्राह्मणों के यज्ञादि कर्म-काण्ड की रक्षा-हेतु अर्बुद पर्वत (आबू) पर एक यज्ञ महर्षि वशिष्ठ के द्वारा रचाया और उस **यज्ञ की अग्नि में से चार क्षत्रिय वीर निकले, अर्थात् चाहमान, परमार, चालुक्य तथा प्रतिहार। इन्हीं के नाम से राजपूतों के चार मुख्य वंश प्रचलित हुए।**

इस प्रकार उत्तर-भारत अथवा आर्यावर्त से नये शासक-परिवार उत्पन्न हुए। इनमें कुछ विदेशी और कुछ देशी जातियों के थे जो मिल-जुलकर सब अपने को प्राचीन क्षत्रियों की संतान कहते और मानते थे। राजपूत वशों का प्रादुर्भाव उसी समय हुआ जब कि बौद्ध मत का बड़े वेग से ह्रास हो रहा था। किन्तु जैनमत के नेताओं ने ब्राह्मण-धर्म को बाह्य रूप का चोला पहनाकर अपने धर्म को बचा रखा था। परिणाम यह हुआ कि इन क्षत्रियों में शैव, वैष्णव अथवा जैन धर्म के अनुयायी परिवार बन गये।

राजपूतों के आदर्श : प्राचीन भारत के क्षत्रियों से देश के नये विधाता मौलिक रूप से भिन्न थे। ये लोग देश और प्रजा की रक्षा, सेवा, समृद्धि आदि ऊँचे राष्ट्रीय आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील न होकर केवल अत्यन्त तुच्छ विचारों तथा आदर्शों को ही पूरा करने में अपना श्रेय मानते थे। राजनीतिक क्षेत्र में इनका ध्येय था केवल अपने आस-पास के शासकों से लड़ना, उनको अधीन बनाकर 'चक्रवर्ती' की उपाधि धारण करना। सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में ये लोग सर्वथा पण्डा-पुजारियों के हाथों की कठपुतली बन चुके थे। परिणाम यह हुआ कि कर्मकाण्ड का विकृत रूप ही इनके धर्म का मुख्य अंग बन गया। हजारों प्रकार के पूजा-पाठ, धर्म-स्थानों की यात्रा, मन्दिरों तथा पुजारियों को धन से भरपूर करना, पेटू, बेकार, निकम्मे धर्म के ठेकेदारों को हजारों की संख्या में भोजन कराना, दान देना, आदि इसी प्रकार के कामों में इन राजाओं के धन-सम्पत्ति तथा जीवन का मुख्य भाग व्यय होता था। तब ये लोग राष्ट्र अथवा देश की सेवा एवं रक्षा के उच्च आदर्श को कैसे याद रख सकते थे। अपने नवीन ब्राह्मण धर्म के नशे में ये लोग वास्तविक आदर्शों एवं अपने सर्वोपरि कर्त्तव्यों को भी भूल गये थे।

भारत का राजनीतिक मानचित्र (८००-१२००) : राजपूतों के राज्य : **विदेशियों का प्रवेश :**

जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं उसमें भारतवर्ष के मानचित्र की रेखाओं में जो शीघ्र परिवर्तन होते रहे उसका अध्ययन करेंगे।

नवीं शताब्दी के मध्य में हम शाही वंश के शासकों को पाते हैं जो कुशनों

की संतान थे और जिनका राज्य हिन्दूकुश पर्वत-श्रेणी के दक्षिण में काबुल की घाटी और पंजाब के एक बड़े भाग पर था। सौ वर्ष से भी अधिक संघर्ष के बाद अरबों ने काबुल को उनके हाथों से छीन लिया और सन् ८७० में शाहियों को सिन्ध नदी के तट पर उद्भाण्ड (ओहिन्द) तक पीछे हट जाना पड़ा। इससे पूर्व सन् ८५० में तुर्की शाही शासक को उसके ब्राह्मण मन्त्री ने गद्दी से उतार कर ब्राह्मणशाही वंश की नींव डाली थी। पहले शाही वंश की काश्मीर से मित्रता थी, परन्तु वह अब जाती रही थी।

शाही राज्य के उत्तर-पूर्व में काश्मीर का राज्य था जिसको उसके अन्तिम करकोट वंश (प्रसिद्ध ललितादित्य के वंशज) के शासक से अवन्तिवर्मन (८५५-८८३) ने छीन लिया था जिसने उत्पल वंश की नींव डाली थी।

हिमालय खण्ड में नैपाल और आसाम के राज्यों का भी हिन्दुस्तान की राजनीति में मुख्य हाथ रहा था। हम देख चुके हैं कि नैपाल ने किस भाँति चीनी यात्री की सहायता अर्जुन को दण्ड देने में की थी। नैपाल स्वतन्त्र राज्य था और वहाँ बौद्धमत की महायान शाखा का पूरा जोर था। आसाम (कामरूप अथवा प्राग्ज्योतिष) ने ऐसा प्रयत्न किया था कि वह भी स्वतन्त्र राज्य बना रहा। उसने केवल हर्ष के आधिपत्य को स्वीकार किया था। नवीं शताब्दी के अन्त में इसके शासक शैव थे।

गुर्जर प्रतिहार : इस समय मध्य देश (गंगा की घाटी) में गुर्जर-प्रतिहारों का राज्य था। इस वंश के राजा नागभट्ट द्वितीय ने लगभग ८१६ में कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। इस वंश में दो प्रसिद्ध राजा हुए—मिहिरभोज (८४०-८९१) और महेंद्रपाल (८९१-९०८)—जिन्होंने अपना साम्राज्य पश्चिम में सतलुज और काठियावाड़ से लेकर दक्षिण में मालवा और पूर्व में बिहार तक के समस्त प्रदेश पर फैला लिया था। उनके पश्चात् राज्य का पतन होने लगा। प्रतिहार विष्णु और सूर्य के उपासक थे और कवियों तथा विद्वानों के बड़े पालक थे। राजशेखर नामक प्रसिद्ध कवि महेन्द्रपाल के दरबार में था। तँवर जाति, जिन्होंने कदाचित् दिल्ली (ढिल्लिका) की नींव आठवीं शताब्दी के अन्त में डाली थी, सम्भवतः गुर्जरों की ही एक शाखा थी और उनके आश्रित शासकों में से थी। जब गुर्जरों का पतन हुआ, तँवर स्वतन्त्र हो गए।

शशांक के पश्चात् बंगाल (गौंड) में गड़बड़ी फैल गई। सन् ७५०-६० के बीच देश के नेताओं ने गोपाल प्रथम नाम का नेता चुनकर अशान्ति तथा अराजकता को दूर किया। इस प्रकार जिस वंश की नींव पड़ी वह पाल वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पाल राजा बौद्धमत के बड़े समर्थक थे। उनके संरक्षण में नालन्दा विश्वविद्यालय ने भारी उन्नति की। ८१५-८५४ के बीच पाल वंश के शासकों ने राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों का बहुत-सा प्रदेश छीनकर अपना राज्य बहुत फैला लिया। किन्तु बाद में सन् ८५० में प्रतिहारों ने उनसे बिहार और उत्तरी बंगाल छीन लिये।

९वीं शताब्दी के आरम्भ में विन्ध्याचल और नर्वदा की पट्टी के दक्षिण में प्रमुख राज्य मान्यखेत (हैदराबाद रियासत में मालखेड़) में राष्ट्रकूटों का, वातापि (बीजापुर जिले में बादामी) के चालुक्य और वेंगी (एलौर के समीप गोदावरी जिले के पश्चिम) में चालुक्यों का, कांची में पल्लवों का और मदुरा में पाण्डवों का था।

राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति : सम्भवत: कनाडा देश से थी। लगभग ७५० में दन्तिदुर्ग ने इस राज्य की नींव डाली थी। इस वंश के चौथे शासक ध्रुव ने राज्य की सीमा को बहुत बढ़ाया और प्रतिहारों के विरुद्ध कई बार चढ़ाई करके उत्तरी भारत की राजनीति में काफी विघ्न उपस्थित किया। **परन्तु इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा गोविन्द तृतीय था।** उसने कलिंग नगर के राजा गंग को, पल्लवों और पूर्व के चालुक्य राजा को एक-एक करके शीघ्र ही पराजित किया और तब उत्तर भारत के प्रतिहारों पर चढ़ाई करके उन पर विजय प्राप्त की। उसके बाद उस राज्य का पतन होने लगा। ये लोग जैनमत के प्रतिपालक थे। इन्द्र तृतीय ने उत्तरी भारत में अपने साहसिक कार्यों से (९१२-९१७) अपने वंश की खोई शक्ति को पुन: प्राप्त किया।

वातापि के चालुक्य : विदेशियों के वंशज थे जो इस बात से सिद्ध होता है कि इस वंश के राजाओं के नाम पुलकेशि आदि थे जैसा कि हम देख चुके हैं, पुलकेशि द्वितीय (६०८-६४२) ने हर्ष को दक्षिण में बढ़ने से रोक दिया था। पल्लव राजा सिहवर्मन ने पुलकेशि को पराजित करके मार डाला। उसके वंशज लगातार पल्लवों से युद्ध करते रहे जिनमें उनको कभी विजय और कभी पराजय मिलती रही। चालुक्यों की शक्ति को दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने सन् ७५३ में नष्ट कर डाला और उसके वंशजों ने उस समय तक राज्य किया जब तक ९७३ में चालुक्यों ने पुन: शक्ति प्राप्त न कर ली। इस वंश के शासक धीरे-धीरे ब्राह्मणों के मत को मानने वाले बन गए। यद्यपि ये अन्य मतों के प्रति सहिष्णु थे और उनमें से एक ने जैनमत को भी संरक्षण दिया था, फिर भी चालुक्य राजाओं का संरक्षण पाकर पुराण-पंथियों का मत उस देश में फैल गया।

वेंगी के चालुक्य : वातापि के चालुक्यों की ही शाखा थी। पुलकेशि द्वितीय ने विष्णुकुण्डिन से आन्ध्र प्रदेश जीत लिया और जीते हुए प्रदेश पर अपने छोटे भाई विष्णुवर्धन को अपना प्रतिनिधि शासक नियुक्त कर दिया जो आरम्भ में पीठपुरम् में राज्य करता था, परन्तु बाद में उसने वेंगी को अपनी राजधानी बनाया। जब पुलकेशि की शक्ति क्षीण हो गई तो वह स्वतन्त्र हो गया और विषमसिद्धि की उपाधि धारण की। इस वंश ने साढ़े चार सौ वर्ष से अधिक राज्य किया। अन्त में इसे चोल राज्य में मिला लिया गया। इस काल में आंध्रों ने अपार सांस्कृतिक उन्नति की। पूर्व के चालुक्य भी अपने पड़ोसी राज्यों, विशेषकर राष्ट्रकूटों से निरन्तर युद्ध करते रहे। पहले वे राष्ट्रकूटों के आश्रित राजा थे परन्तु बाद में भीम प्रथम (८८८-९१८) के अधीन स्वतन्त्र हो गए।

पल्लव, जो देशवासियों के ही वंशज थे, सातवीं शताब्दी में प्रसिद्ध हुए और अपनी शक्ति दक्षिण की ओर बढ़ाने लगे। पहला प्रसिद्ध पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम शैवों के लिंग सम्प्रदाय को मानने वाला हो गया। वह बौद्धों को कष्ट देने लगा। उसने एक पुस्तक लिखी जिसमें बौद्ध-संन्यासियों की हँसी उड़ाई। उसने नृत्य-कला, चित्र-कला तथा अन्य कलाओं को संरक्षण दिया। पल्लवों और चालुक्यों के बीच युद्धों का वर्णन पहले हो चुका है। वे चट्टानों को काटकर बनाए हुए मन्दिरों व रथों के लिए प्रसिद्ध हैं।

मदुरा के पाण्ड्य : इस वंश के विषय में बहुत कम समाचार प्राप्त हैं। ऐसा विश्वास है कि इसकी नींव ६५० के लगभग पड़ी। थोड़े समय पश्चात् उनको पल्लवों व अन्य पड़ौसी राज्यों से संघर्ष करना पड़ा। इस वंश के शासकों ने अपना प्राचीन जैनमत त्यागकर शैवमत ग्रहण किया। आठवीं शताब्दी के मध्य पाण्ड्य शासक अधिक शक्तिशाली बन गए और पल्लवों, मराठों, चालुक्यों और गंग वंश को पराजित करके प्रायः समस्त दक्षिण में अपना राज्य फैला लिया। वे ब्राह्मणों को अपार धन दान देने और बड़े-बड़े शिव तथा विष्णु के मन्दिरों को बनवाने के लिए प्रसिद्ध हैं। पाण्ड्य राजा श्रीवल्लभ (८१५-८६२) ने लंका पर भी विजय पाई थी परन्तु अन्त में पल्लवों ने उसको पराजित करके राज्य से निकाल दिया। उसके वंशज चोलों से युद्ध में पराजित हुए। उन्होंने लगभग ९२० में पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा को छीन लिया।

दसवीं शताब्दी के आरम्भ में और भी शक्तिशाली राज्य प्रकट हुए। ये उज्जैन और धारा नगर के **परमार,** चेदी के **कलचुरिया हैहय,** जेजकभुक्ति (वर्तमान बुन्देलखण्ड) के **चन्देल,** अन्हिलवाड़ा (गुजरात) के **सोलंकी,** साँभर (उत्तर-पश्चिमी राजपूताना) के **चौहान** और बंगाल के **सेन** थे। जैसा हम आगे देखेंगे, इन राज्यों में परस्पर सुलह न थी। शीघ्र ही उत्तर-पश्चिमी सीमान्त देश के उस पार से एक नई शक्ति ने इस देश की भूमि पर पदार्पण किया, जिससे उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था में और भी अस्थिरता पैदा हो गई। ये गजनी के तुर्क थे।

हम ब्राह्मणशाही वंश की नींव के विषय में वर्णन कर चुके हैं जिसकी राजधानी सिन्धु नदी के तट पर ओहिन्द थी। लगभग उसी समय (दसवीं शताब्दी के मध्य) खुरासान के शासकों के एक तुर्की अफ़सर ने गजनी में एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली थी और अपने स्वामी के पूर्वी प्रदेशों को हड़प कर शाही वंश के साम्राज्य में घुसने लगा था जो पूर्व में काबुल के समीप जलालाबाद से लेकर कांगड़ा और सरहिंद तक फैला हुआ था। अतएव शाही वंश के शासक जैपाल और गज़नी के राजा सुबुक्तगीन से युद्ध ठन गया जिसमें जैपाल की पराजय हुई और उसको अपने राज्य का और भी प्रदेश देना पड़ा। सुबुक्तगीन ९९७ में मर गया और उसके शासन की बागडोर उसके बेटे महमूद के हाथ में आई, जिसने सीस्तान को जीतकर अपने राज्य को और दृढ़ बनाया। महमूद में एक वीर योद्धा और नेता के गुण विद्यमान थे और राज्य जीतने तथा लूट-मार करने की अत्यन्त अभिलाषा थी। भारतवर्ष के

मन्दिरों में अपरिमित दौलत जमा है, ऐसा समाचार पाकर महमूद का लालच भड़क उठा और उसने निश्चय कर लिया कि वह हिन्दुस्तान पर हर बरस एक चढ़ाई करके लूट-मार किया करेगा। सन् १००० के आरम्भ में उसने भारत को लूटने के लिए धावा बोल दिया। महमूद का खास उद्देश्य मध्य एशिया व उसके चारों ओर विशाल साम्राज्य बनाना और अपनी राजधानी गजनी को उस काल की बढ़िया-से-बढ़िया वस्तुओं से सजाना था। जब उसे पता चला कि भारत के मन्दिरों का धन अरक्षित है और सरलता से प्राप्त किया जा सकता है तो उसकी अभिलाषा और भी बलवती होती गई। जब-जब उसने भारत पर आक्रमण किया, अगणित सेना संगृहीत की और उनमें धार्मिक उत्तेजना पैदा की। अफ़गानिस्तान और मध्य एशिया के अत्यन्त ठण्डे प्रदेशों के रहने वाले नंगे और भूखे रहने के कारण निराश थे और जान पर खेल जाने वाले थे। उनको दौलत का लालच दिया गया। मन्दिरों को भ्रष्ट करने और तोड़ने में यद्यपि उनको दुःख तथा पश्चाताप होता था और वैसा वे अपनी अनिच्छा से ही करते थे, परन्तु वह एक राजनीतिक चाल थी। इससे धर्मान्ध सैनिकों के हृदयों में उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती थी। वे उसको मूर्तियों का तोड़ने वाला और काफिरों को मारने वाला गाजी कहकर पुकारते थे। चौथाई शताब्दी तक महमूद हर साल उत्तर भारत के धार्मिक केन्द्रों पर आक्रमण करता और अन्दर प्रवेश करता हुआ कन्नौज और कालिंजर तक पहुँच गया। अन्त में १०२६ **में उसने काठियावाड़ के प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर को लूटा और विध्वंस किया।**

शाही वंश सन् १००८ तक नष्ट हो गया था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जैपाल पराजित हुआ था और म्लेच्छों द्वारा बन्दी बनाया गया था (सन् १००१)। उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा न था कि वह राजसिंहासन त्याग कर अग्नि में अपने आपको भस्म कर दे। उसके बाद उसके लड़के आनन्दपाल को महमूद ने हराकर भगा दिया और पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया, जिससे वह भविष्य में होने वाले आक्रमणों में उसको केन्द्र बना सके। दूसरे दस वर्ष में कांगड़ा (१००९), थानेश्वर (१०१४) और मथुरा (१०१८) को अन्धाधुन्ध लूटा गया, उनको नष्ट-भ्रष्ट किया गया तथा उनका समूल विनाश किया गया। केवल शाही वंश के अतिरिक्त, जिसने महमूद से डटकर युद्ध किया था, और किसी ने भी उस समय तक महमूद का विरोध नहीं किया। मथुरा से महमूद कन्नौज पहुँचा और वहाँ के प्रतिहार राजा राज्य पाल ने डरकर महमूद से संधि कर ली। तथापि आक्रांताओं ने नगर को लूटा मन्दिरों को गिरा दिया, नगर-निवासियों का वध किया और अतुल सम्पत्ति लेकर ग़ज़नी लौट गये। अगले वर्ष उसने चन्देलों के राज्य पर आक्रमण किया। महमूद के वहाँ पहुँचते ही राजा अपनी सब सम्पत्ति छोड़कर भाग गया जो आक्रांताओं के हाथ लगी।

उसकी अन्तिम और सबसे प्रसिद्ध चढ़ाई सोमनाथ पर थी। यद्यपि धार के मरुस्थल के कठिन और अनजान मार्ग के कारण महमूद ने बड़ी जबरदस्त तैयारियां की थीं, तब भी उसको लज्जाजनक परिणाम उठाना पड़ता, यदि उस प्रदेश के शासकों

ने तनिक भी सावधानी रखी होती और यदि उनमें तनिक भी सैनिक दूरदर्शिता होती । महमूद मार्ग की समस्त बाधाओं को पार करके सोमनाथ के मन्दिर तक पहुँच गया जिसकी रक्षा के लिए केवल दस हज़ार पुजारी थे । इनको विश्वास था कि सोमनाथ का देवता म्लेच्छों का नाश कर देगा । गुजरात और मालवा के शासक कहीं मुकाबला न करें, इस डर से महमूद ने सिन्ध होकर पूर्वी मार्ग पकड़ा, परन्तु मार्ग में उसकी सेना को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसके फलस्वरूप बहुत से सैनिक नष्ट हो गये ।

महमूद की भारतीय राजाओं पर बार-बार विजय का कुछ तो कारण उसका युद्ध-कौशल था और कुछ इसका कारण यह था कि यहां के राजपूत नरेश देश की रक्षा व सीमांत प्रदेशों की निगरानी का महत्व सर्वथा भूल गए थे । इसके प्रतिकूल महमूद में एक योग्य सैनिक के सभी गुण मौजूद थे । हिन्दू राजाओं में उसका सामना करने के लिए केवल व्यक्तिगत साहस और वीरता थी । किन्तु सामूहिक शक्ति व संगठन का अभाव था । उनका ध्यान धार्मिक संस्कारों द्वारा पुण्य कमाने और परस्पर लड़ते रहने में बँट गया था । वे इस योग्य न रहे थे कि विदेशी शक्ति का मिलकर मुकावला करते ।

महमूद का जन्म तुर्क वंश में हुआ, परन्तु पालन-पोषण फारस वालों ने किया । असंख्य सम्पत्ति संचय कर लेने के बाद उसको अपने दरबार में विद्वानों, कवियों, कलाकारों और विज्ञ शिल्पियों को रखने का शौक हुआ । उस समय यह बात असाधारण न थी कि एक ही व्यक्ति कला और विद्या का नाश करने वाला और वही उसका पालने वाला हो । उसका धार्मिक जोश राजनीतिक आकांक्षा को पूरा करने का बहाना था, न कि इसलिए कि वह धर्म में विशेष श्रद्धा रखता था । उसकी तथा उसके वंशजों की सेना में अनेक हिन्दू होते थे, जिनको आज्ञा थी कि वे अपने मुस्लिम शत्रुओं का वध करें और उन्हें लूटें । मथुरा की इमारतों और बुन्देलखण्ड की झीलों से मुग्ध होकर वह सैकड़ों भारतीय शिल्पकारों को अपने साथ ले गया था कि उसी प्रकार की रचनाओं द्वारा ग़जनी को सजाएँ । उसकी मुद्रा पर संस्कृत लिपि में लेख पाये जाते हैं । उसकी लूट व हिन्दू-मन्दिरों और नगरों के विनाश के उद्देश्य के अतिरिक्त वह देशवासियों द्वारा मनुष्य जाति के लिए शाप-स्वरूप समझा जाता था । उसने भारत को जो यथार्थ में बड़ा भारी उपहार दिया वह अलबेरूनी था जो अनेक विद्याओं का ज्ञाता था और जिसको उसने दण्ड के तौर पर भारत भेजा था । अलबेरूनी एक विलक्षण विद्वान्, दार्शनिक, गणितज्ञ, ज्योतिषी व अनेक भाषाओं का ज्ञाता था । उसने अपनी पुस्तक **'किताबुलहिन्द' में उस समय के भारतीय जीवन, समाज और सभ्यता का जो वर्णन दिया है, वह उस काल का हाल जानने के लिए श्रेष्ठ स्रोत है ।**

गुर्जन-प्रतिहार राज्य को, जिसे अन्त में महमूद ने नष्ट-भ्रष्ट किया, राष्ट्रकूटों ने निःशक्त कर दिया था । राष्ट्रकूट राजा ने प्रतिहार राजा महीपाल पर आक्रमण करके उसको ९१६ में पराजित किया । राष्ट्रकूट राजा की शीघ्र मृत्यु हो जाने

के कारण प्रतिहारों का बहुत-सा खोया हुआ राज्य वापस मिल गया था, परन्तु उसकी शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि वह फिर मजबूत न बन सका। चन्देल, परमार, सोलंकी और कलचुरि, जो पहले उसके आश्रित राजा थे, धीरे-धीरे शक्तिशाली तथा स्वतन्त्र हो गये और और उन्होंने अपने-आपको स्वतन्त्र घोषित कर घोषित दिया।

अन्हिलवाड़ा (पाटन, गुजरात) के **सोलंकी** (चालुक्य) राज्य की नींव मूलराज प्रथम (९६१-९९६) ने डाली थी, जिसने चपोतकट राजा को गद्दी से उतार कर सिंहासन पाया था। उसने अपने पड़ोसियों, जैसे कल्याणी के चालुक्य, परमार चाहमान और कच्छ तथा सिन्ध के राजाओं से लगातार युद्ध किये। सोमनाथ पर महमूद का आक्रमण भीम सोलंकी (१०२२-१०६४) के शासन-काल में हुआ था। जान पड़ता है कि उसने आक्रान्ता महमूद को सोमनाथ पर चढ़ाई से रोकने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया, परन्तु महमूद के चले जाने के बाद उस मन्दिर का पुनः-निर्माण करवा दिया। सोलंकी वंश के ये प्रारम्भिक राजा सोमनाथ के उपासक थे। **परमारवंश मुंज और भोज सहित उनसे पराजित हो चुका था।** अन्त में उनका राज्य सोलंकी राजाओं ने बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अपने राज्य में मिला लिया। किन्तु बाद के सोलंकी राजा जैनमत के अनुयायी बन गये और कुमारपाल (११४३-७२), जिसको वेश्या का पुत्र कहा जाता है, उनमें सबसे प्रसिद्ध हुआ। अपने गुरु हेमचन्द्र के कहने से उसने अपने राज्य में पशुओं का वध, सुरापान, जुआ, पशुओं की लड़ाई और अन्य ऐसी कुरीतियों का निषेध करवा दिया। यद्यपि वह खुले तौर से जैनमत को श्रेष्ठ समझता था, फिर भी वह प्रायः सोमनाथ के मन्दिर में जाता और शिव की पूजा करता था। कुमारपाल का भतीजा और उसका उत्तराधिकारी अजयपाल था। उसने, जिसका समर्थन जैनियों के विरोधी सम्प्रदाय शैवों ने किया था, जैनियों को कष्ट देना आरम्भ कर दिया। सोलंकियों का अन्तिम प्रसिद्ध राजा भीमदेव द्वितीय था। कहा जाता है कि उसने मुहम्मद गौरी के आक्रमण को विफल कर दिया था। किन्तु अन्त में मुहम्मद के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने अन्हिलवाड़ा पर ११९७ में अधिकार कर लिया। सोलंकी राज्य को भीम के मंत्री लवणप्रसाद ने छीन लिया जिससे गुजरात में बघेलवंश की नींव डाली। इस वंश के चार राजाओं ने गुजरात पर राज्य किया। अन्तिम राजा करन को दिल्ली के खिल्जी सुल्तान ने १२९८ में हराकर गुजरात को अपनी बादशाहत में मिला लिया।

गाहड़वाल : कन्नौज उस समय तक भी उत्तर-भारत में राजनीतिक आकर्षण का केन्द्र बना रहा। जब लगभग १०९० में प्रतिहारों की शक्ति का पतन हुआ, गाहड़वाल वंश के चन्द्रदेव ने कन्नोज, बनारस और अयोध्या पर अधिकार कर लिया। यह निश्चय जान पड़ता है कि उन्होंने बनारस को अपनी दूसरी राजधानी बनाया था और अपनी शक्ति को उत्तर-पश्चिम में दिल्ली तक और पूर्व में मुंघेर तक बढ़ा लिया था। उनका संघर्ष पालवंश, मालवा, गुजरात और चेदी से हुआ, परन्तु वे चन्देले के मित्र बने रहे और दिल्ली तथा अवध के चौहानों के विरुद्ध युद्ध में उनका

साथ दिया। गाहड़वाल ब्राह्मण-धर्म को मानने वाले थे, पर अन्य मतों की सहिष्णुता उनमें थी। वारहवीं शताब्दी के अन्त में तुर्कों के उत्तर-पश्चिम से हमलों की वाढ़ में गाहड़वाल साम्राज्य बह गया।

चौहान : यह एक और राज्य था जिसकी नींव आठवीं शताब्दी के उत्तरकाल में पड़ी। यह राज्य साँभर (शाकंभरि) के चौहानों का था। ८६८ के लगभग उनका अभ्युदय हुआ जिस समय उनका राजा गुवांक था। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में अजयदेव ने अजयमेरु (अजमेर) नामक नगर बसाया और उसको अपनी राजधानी बनाया। दूसरे राजा अरुनराज अथवा अनलदेव ने अजमेर के समीप अनासागर नामक झील बनवाई। उसने अन्हिलवाड़ा से युद्ध किया। उसके उत्तराधिकारी विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) ने तँवर राजाओं से दिल्ली का राज्य छीन लिया और लाहौर के गजनवी शासक से उसका युद्ध हुआ। वह स्वयं कवि और विद्वान था तथा विद्वानों का पोषक था। इस वंश का सबसे वड़ा और अन्तिम राजा पृथ्वीराज तृतीय (राय पिथौरा, ११७२-११९३) था, जिसके युद्धों का वर्णन चन्द कवि-कृत हिन्दी महाकाव्य पृथ्वीराज रासो में है, किन्तु यह अधिक विश्वसनीय नहीं है। पृथ्वीराज को सबसे प्रथम मुहम्मद गौरी के आक्रमण का सामना करना पड़ा जिसमें उसके प्राण व राज्य दोनों ११९३ में चले गये।

सेन : वंगाल में पालवंश की शक्ति ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में क्षीण हो गई थी और उनके राज्य का बहुत-सा प्रदेश सामन्त सेन नामक एक ब्राह्मण ने छीन लिया था जिसकी उत्पत्ति कर्नाटक से थी। इस वंश का बल्लाल सेन (११५९-११८५) सबसे बलवान राजा था, जिसने पालवंश की शक्ति को नष्ट करके अपने राज्य की सीमा बिहार तक वढ़ा ली। वह स्वयं एक लेखक था और विद्वानों का पोषक था। उसके बाद लक्ष्मणसेन राजा हुआ जिसको बख्तियार खिलजी के बेटे ने मार भगाया था। बख्तियार खिलजी मुहम्मद गौरी की सेना का एक साधारण सैनिक था। लक्ष्मणसेन के वंशज पूर्वी बंगाल की ओर चले गए। सेन शासक वैष्णव मत के कट्टर अनुयायी और बौद्धमत के ध्वंसक थे। उन्होंने बंगाल में कुलीन (वंश और जाति की कुलीनता) प्रथा प्रचलित की किन्तु देश की राजनीति में जो उन्होंने सबसे निकृष्ट कार्य किया वह यह था कि तुर्क विजेताओं के दल से मिलकर बौद्धों के नालन्दा विश्वविद्यालय का विध्वंस कराने में सहायक हुए। यह ऐसा घृणित कार्य था कि जिसके फलस्वरूप तुर्क आक्रान्ताओं के हाथों ही उनका अन्त हो गया।

चन्देल : जेजक भुक्ति (जिझौती) : वर्तमान बुन्देलखण्ड अर्थात् वह प्रदेश जो यमुना के दक्षिण में कालिंजर, ग्वालियर और खजुराहा से बीच में स्थित है, नवीं शताब्दी के करीब यह स्वतन्त्र हो गया था। चन्देल गौंडवन की गौंड अथवा भर जाति से सम्बन्ध रखते थे। उनके प्रथम मुख्य शासक जेजक भुक्ति ने राज्य को अपना नाम दिया। दसवीं शताब्दी में जब प्रतिहार निर्बल हो गये, चन्देलों ने अपना राज्य यमुना तक बढ़ा लिया, जो उनके व कन्नौज के राज्यों की सीमा बन गई।

उत्तर काल के कतिपय चन्देल बड़े शक्तिशाली थे। कहा जाता है कि **गंड चन्देल (६५४-१००२) ने पंजाब के शाही शासक को महमूद गजनवी के विरुद्ध सहायता दी थी।** इसके बाद का चन्देलों का इतिहास अपने पड़ौसी चेदि के कलचुरियों से निरन्तर युद्ध करने का इतिहास है। प्रसिद्ध परमार (परमार्दिदेव ११६५-१२०३), जिसके पास आल्हा-ऊदल जैसे वीर थे, जिनकी वीरता की कहानियाँ आल्हा-खण्ड नामक पुस्तक में बहुत प्रिय बन गई हैं, पृथ्वीराज चौहान से ११८२ में पराजित हुआ। उनके राज्य को कुतुबुद्दीन ऐबक ने १२०३ में कालिंजर को जीतकर नष्ट कर दिया था; यद्यपि उनका वंश बाद में भी चलता रहा।

कलचुरियों ने, जिनकी राजधानी त्रिपुरी थी (जब्बलपुर के समीप तेवर), चेदि सम्वत् का प्रयोग किया और अपने-आपको महाभारत-काल के हैहय वंश का वंशज बतलाया। राष्ट्रकूट तथा प्रतिहारों से पूर्व उनके राज्य की नींव पड़ी थी और एक समय उनकी शक्ति बुन्देलखण्ड से गुजरात तक फैली हुई थी। पड़ौसियों की शक्ति बढ़ते ही उनका राज्य त्रिपुरी के आस-पास ही रह गया था। परमारों और चन्देल राजाओं ने आक्रमण करके चेदि राजाओं को अपमानित किया था, परन्तु गंगेयदेव (१०३०-४१) और उसका पुत्र लक्ष्मीकरन कलचुरि (१०४१-१०७१) बड़े बलवान थे। उन्होंने अनेक विजय प्राप्त कीं और भोज, परमार, पाल और चन्देलों को पराजित किया। जान पड़ता है कि लक्ष्मीकरन ने एक समय अपना राज्य बंगाल से गुजरात और गंगा से महानदी तक बढ़ा लिया था। लक्ष्मीकरन के मरते ही उनकी शक्ति शीघ्र ही क्षीण हो गई और दिल्ली के सुलतान तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चेदि राज्य को जीत लिया। कलचुरि शैव मत के अनुयायी थे।

परमारों की प्रसिद्धि उनके चौथे शासक श्रीहर्ष (६४८-६७४) के समय से हुई, जिसने हूणों को पराजित करके अपनी शक्ति मालवा (धार) में स्थापित की। उसका पुत्र प्रसिद्ध वाकपतिराज (मुंज) था, जिसने वीर विजेता बन कर तथा कवियों और विद्वानों का पोषक बनकर यश कमाया। मुंज का भतीजा भोज (१०१०-१०५५) उससे हरेक बात में बढ़-चढ़कर था। वह अनेक भाषाओं का ज्ञाता, लेखक तथा कला और विद्या का बड़ा संरक्षक था। उसका यश दूर-दूर देशों तक फैल गया था। वह वैसा ही वीर भी था। उसने कल्याणी के शासक चालुक्यों को, कलिंग के गंगों, कलचुरि के गंगेय को और साँभर के चौहानों को हराया। उसने प्रतिहार राजा से कन्नौज भी छीन लिया। अन्त में उन सब राजाओं ने मिलकर, जिनको इसने सताया था, उसको पराजित कर दिया। यद्यपि उसने जीवन-भर अपने पड़ौसी राजाओं से युद्ध किया, फिर भी जान पड़ता है, उसने महमूद को रोकने का कभी विचार भी नहीं किया, और अपने देश को भी उस विपत्ति से बचाने का विचार नहीं किया, यद्यपि उसने दावा किया है कि उसने तुर्कों पर विजयें प्राप्त की थीं। परमारों के गौरव का भोज के साथ अन्त हो गया। उसके उत्तराधिकारी ने

इतनी प्रवीणता नहीं दिखाई यद्यपि उन्होंने भी पड़ौसियों से निरन्तर युद्ध किया। तेरहवीं शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों में उनकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई और १२३४ में दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश ने मालवा पर चढ़ाई करके उसको जीत लिया। परमार शासक कट्टर शैव थे, परन्तु विद्वानों का पोषण करने की परम्परा ने उनको अन्य सम्प्रदायों की ओर सहिष्णु बना दिया था।

दक्षिण : इस काल में दक्षिण की राजनीतिक परिस्थितियाँ उत्तर से भिन्न नहीं थीं और दक्षिणी राज्य उत्तर की राजनीति तथा संस्कृति के प्रभाव से वंचित नहीं थे। चोलों की शक्ति का राजस्व को प्राप्त होना (लगभग ८५०) और उनका संघर्ष पहले राष्ट्रकूटों से और बाद में कल्याणी के चालुक्यों से होना, उस काल के इतिहास की विशेषताएँ हैं। निरन्तर युद्धों के कारण उस काल के अन्तिम दिनों में दोनों बलवान शक्तियाँ कमजोर हो गईं और उनके स्थान पर छोटे-छोटे राज्य बन गए, अर्थात् यादव और काकतीय उत्तर में तथा होयशल और पांड्य दक्षिण में।

बाद के राष्ट्रकूट : हम ऊपर देख चुके हैं कि इन्द्र तृतीय (९१२-९१७) ने मान्यखेत के राष्ट्रकूटों के खोये हुए गौरव को पुनः प्राप्त किया था। राष्ट्रकूटों का राज्य पचास वर्ष तक और बना रहा, जिसके बीच में उन्हें रक्षार्थ और आक्रमणार्थ दोनों प्रकार के युद्ध उत्तर में परमारों कलचुरियों और चन्देलों से करने पड़े तथा दक्षिण में चोलों और पांड्यों से। अधिकतर राष्ट्रकूट राजा जैनी थे और उन्होंने जैनमत का बहुत संरक्षण किया। लगभग ९७२ में परमार राजा सियकद्वितीय व चालुक्यों के राजा तैलप द्वितीय ने उनको पराजित किया जिसके बाद उस वंश का लगभग अन्त हो गया।

कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य : दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने ७५३ में चालुक्य राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। दूसरे वंश की नींव, जिसे कल्याणी के चालुक्य कहते हैं, ९७२ में राष्ट्रकूटों को हराकर तैलप ने डाली। आरम्भ में चालुक्यों को मुंज परमार से युद्ध करना पड़ा जिसमें मुंज की पराजय हुई और वह अन्त में तैलप द्वारा मारा गया। तब राजाराम प्रथम चोल ने समस्त चालुक्य राज्य को खूँद डाला और लगभग १००८ में उसका इस निर्दयता से विनाश किया कि पुरुष, स्त्री और बच्चों का वध कर दिया तथा लड़कियों से बलात्कार किया गया। उस समय चालुक्य और चोलों से कट्टर शत्रुता बनी रही और उनके बीच जो युद्ध हुए उनमें अधिकतर चोलों की विजय रही। इतना ही नहीं, बल्कि कल्याणी का राजा भी इस दल से मिल गया और परमार भोज को हराकर फिर कलचुरि लक्ष्मीकरन को हराया। **विक्रमादित्य छठा (१०७६-११२७) इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ।** उसने शक संवत् को हटाकर अपने राजतिलक की स्मृति में अपने नाम का एक नया संवत् चलाया। होयशल और यादव उसके आश्रित राजा थे। उसने चोलों से युद्ध करके बहुत-सा प्रदेश जीता। इस वंश के अन्तिम राजा को उसके मन्त्री बिज्जल ने लगभग ११५६ में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन गया। चालुक्य शैवमत

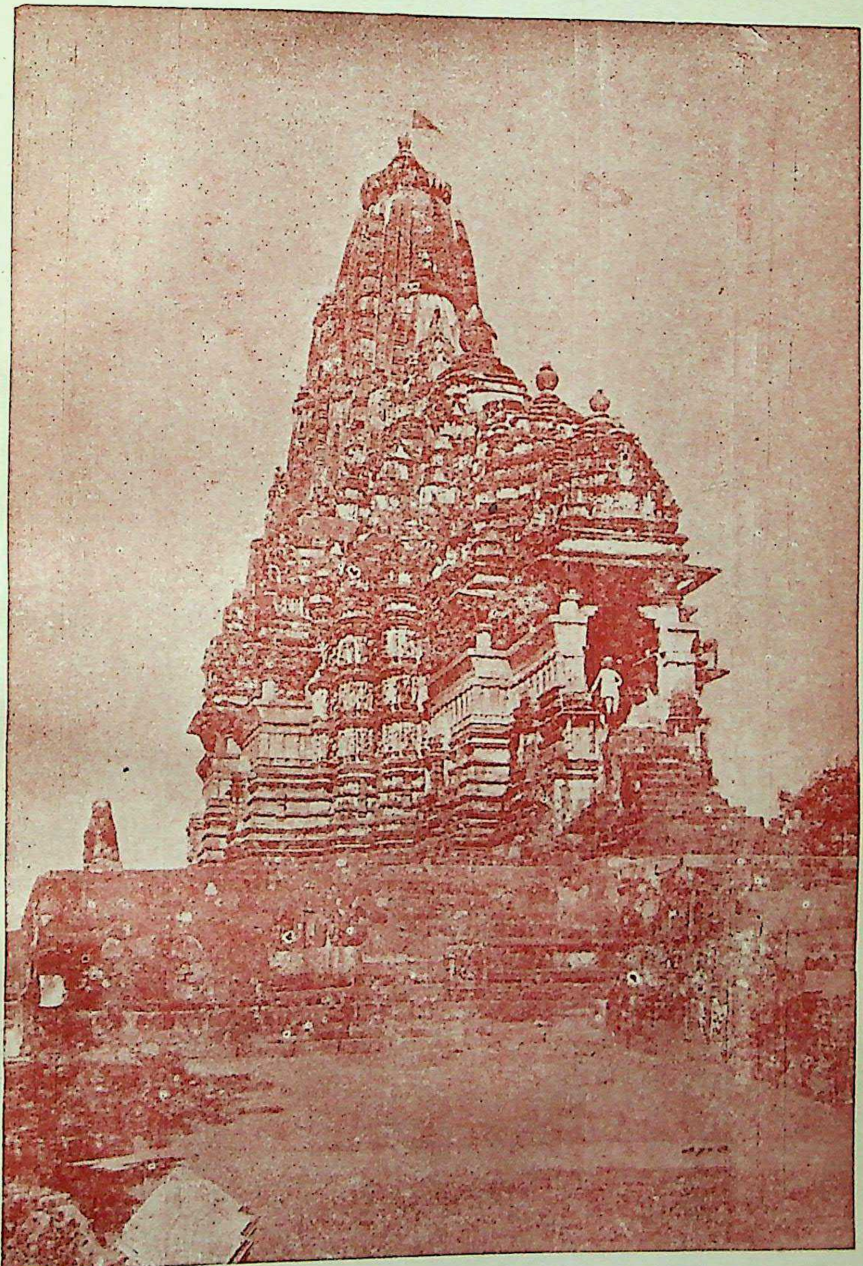

कंदरिया नाथ महादेव का मंदिर खजूराहो (बुन्देलखंड, १०वीं शताब्दी)

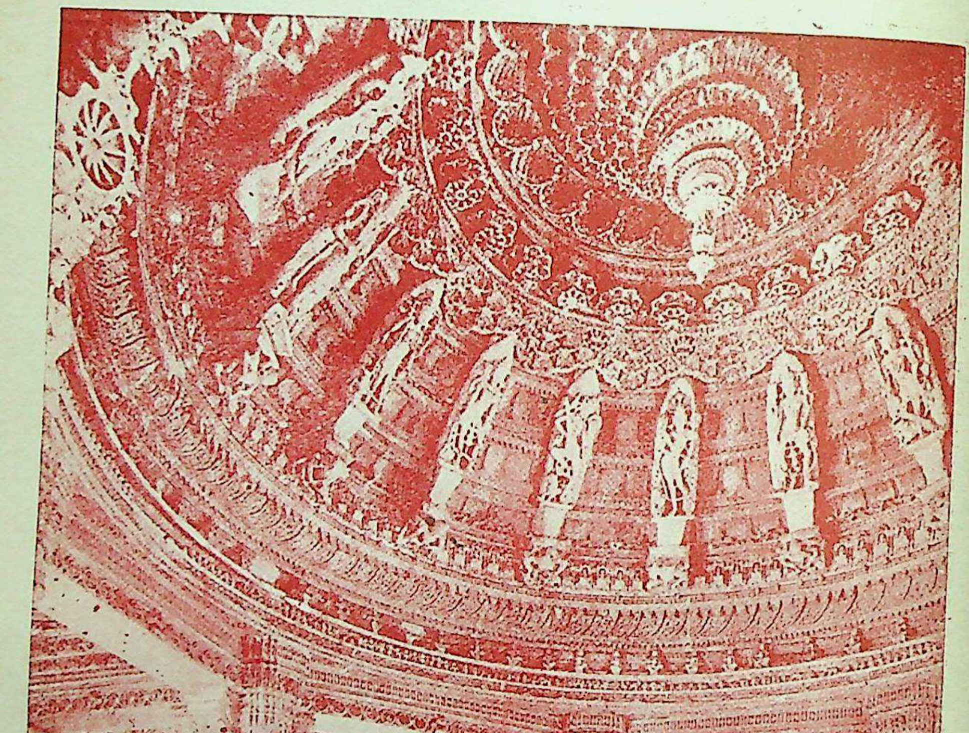

विमलशाह द्वारा निर्मित दिलवाड़ी का जैन मंदिर (आबू, सन् १०३१)

के बड़े समर्थक थे। विज्जल और उसके उत्तराधिकारियों के काल में शैवमत की लिंगायत शाखा खूब फूली-फली। यह संस्था अनेक रूप से कट्टर थी और बौद्धों और जैनियों का नाश करके सफल बनी थी। सोमेश्वर चौथे (११८४-१२००) के शासन-काल में दक्षिण में होयशल और उत्तर में यादव स्वतन्त्र हो गये और उनकी बढ़ती हुई शक्ति ने चालुक्यों के शासन का अन्त कर दिया।

चोल : चोल वंश की नींव डालने वाला विजयालय पल्लवों का आश्रित था। इस पद पर रहते हुए उसने ८५० में पांड्यों में मित्रराष्ट्र से तंजौर का नगर ले लिया। कुछ समय तक अपने स्वामी पल्लव राजा की सहायता से वह इस पर अधिकार किए रहा। शीघ्र ही उसके पुत्र आदित्य ने अपने उपकारी और स्वामी पर ८९८ में आक्रमण करके उसको मार डाला और समस्त पल्लव राज्य पर अधिकार कर लिया जिसकी सीमा उत्तर में राष्ट्रकूटों की सीमा से मिलती थी तब अपने राजा परान्तक प्रथम (९०७-९५३) के अधीन चोलों ने अपने पश्चिम-पूर्व और दक्षिण के प्रदेशों पर हाथ डाला। सन् ९२० तक उन्होंने अपनी शक्ति मदुरा और केरल तक बढ़ा ली और गंग राजा को विवश किया कि वह उनका आधिपत्य स्वीकार करे। राष्ट्रकूट शासकों ने, जो अपने उत्तरी और पूर्वी पड़ौसी परमार, प्रतिहार और वेंगी के पूर्वी चालुक्यों से युद्ध में फँसे हुए थे, अपने मित्र-राष्ट्रों की सहायता से चोलों पर आक्रमण किया परन्तु सफलता न मिली। **परान्तक का राज्य ग्राम-स्वराज्य प्रणाली के लिए प्रसिद्ध है, जिसमें गांवों का शासन निर्वाचित सभाओं द्वारा होता था।** परान्तक ने इस प्रणाली को बनाया था। परान्तक की मृत्यु के पश्चात् उस राज्य में उस समय तक अशान्ति रही जब तक राजराज प्रथम (९८५-१०१४) गद्दी पर नहीं बैठा। राजराज की राज्य-विस्तार की लालसा अपरिमित थी। उसने दक्षिण में लंका तक विजय प्राप्त की, चेरा के बेड़े को नष्ट किया, गंगावाड़ी (मैसूर) और कुर्ग पर अधिकार किया और चालुक्यों की राजधानी कल्याणी पर भयंकर आक्रमण किया। उसने पूर्वी चालुक्यों के वेंगी राज्य को भी कलिंग तक जीत लिया। जिस समय चोल दक्षिण में दकन और पूर्व में बंगाल तक लूटमार तथा आक्रमण कर रहे थे, उत्तर और पश्चिमी भारत गजनी वालों की लगातार चोटों से लड़खड़ा रहा था। उसने मालद्वीप और लाक्षाद्वीप को भी जीत लिया था। राजराज एक सुयोग्य शासक भी था। उसने आय के साधनों तथा दूसरे विभागों में सुधार करके चोल राज्य को आदर्श बना दिया। चोल महान् भवन-निर्माण-कर्त्ता भी थे। चोल भवन-निर्माण कला का सबसे श्रेष्ठ नमूना राजराजेश्वर का मन्दिर है जिसको उसने १०१० में तंजौर में बनवाया था। वे शैव थे परन्तु वैष्णव मत को भी मानते थे और अन्य मतों से सहिष्णुता रखते थे। राजेन्द्र प्रथम ने (१०१२-१०४४), जो अपने पिता के जीवन-काल में ही गद्दी पर बैठा था, पश्चिमी बंगाल तक अपना राज्य बढ़ा लिया। उत्तर में उसकी चढ़ाई के फलस्वरूप बंगाल में कन्नड़सेन वंश की नींव पड़ी। राजेन्द्र की सबसे बड़ी घटना उसका जहाजी बेड़ा लेकर श्रीविजय पर आक्रमण था (जो सुमात्रा में एक राज्य था), यद्यपि इस आक्रमण के कारणों व परिणामों का कुछ वृत्तान्त ज्ञात

नहीं है। १०४४ में राजेन्द्र की मृत्यु के समय उसके राज्य की सीमा का विस्तार सबसे अधिक था और उसकी सेना व जहाजी बेड़ा बहुत प्रसिद्ध था। राजेन्द्र वीर विजेता, शिक्षा में सुधार करने वाला और कुशल प्रबन्धक था। उसने एक महाविद्यालय खोला और चोलगंगम नामक तालाब बनवाया। इस वंश का एक और महान् राजा राजेन्द्र कुलोत्तुंग प्रथम था (१०७०-११२०) जो राजेन्द्र प्रथम का धेवता था। उसकी माँ पूर्वी चालुक्य विमलादित्य की रानी थी। उसके शासनकाल में लंका, गंगवाड़ी और वेंगी हाथ से निकल गये, किन्तु कुलोत्तुंग ने राज्य को अराजकता और अशान्ति से उबारा और राज्य का शासन-प्रबन्ध बहुत उचित ढंग से किया। **कुलोत्तुंग ने आय-कर की जाँच १०८६ में की। बड़ी विचित्र बात है कि यह घटना उसी समय हुई जब इंगलैंड में इसी प्रकार की जाँच डूम्स डे (Dooms Day) के नाम से वहाँ के राजा विलियम ने कराई थी।**

कुलोत्तुंग प्रथम से कुलोत्तुंग तृतीय तक (११२०-११७८) लगभग अर्ध-शताब्दी के अरसे में कतिपय चोल राजाओं का राजनीति की अपेक्षा धर्म की ओर विशेष झुकाव था और उन्होंने मन्दिरों को अपार धन दान में दिया। कुछ राजाओं ने पाँड्यों के गृह-युद्ध में भाग लिया जिसका उनको बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा और उनकी शक्ति क्षीण हो गई। पाँड्य अपने सहायक चोल राजाओं को अन्त तक दुख देते रहे। अन्त में कुलोत्तुंग तृतीय ने (११७८-१२१६) पांड्यों के प्रदेश पर आक्रमण किया और मदुरा का भयंकर विनाश कर डाला (१२०५), परन्तु लगभग १२०८ में सुन्दर पाँड्य द्वारा स्वयं पराजित हुआ। चोलों की शक्ति का अन्त सन् १२१६ में उसके आश्रित राज्यों पाँड्य और होयशल की उन्नति के कारण हुआ।

देवगिरि के यादव : स्यूण देश पर राज्य करते थे जो नासिक और देवगिरि के बीच का प्रदेश था, अतएव वे स्यूण कहलाते थे। यादवों की स्वतन्त्रता ११८७ में स्थापित हुई जबकि भिल्लम यादव ने, जो कल्याणी के चालुक्यों के अधीन था, अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और अपने राज्य को कृष्णा नदी तक बढ़ाया। परन्तु कृष्णा के पार राज्य बढ़ाने के प्रयत्न होयशल द्वारा रोक दिये गये। यादवों के पूर्व में काकतीय और उत्तर-पूर्व में कलचुरि थे। उन दोनों से उसको युद्ध करना पड़ा और कुछ सफलता मिली। यादव राजा जयपाल (११९०-१२१०) वेदों का ज्ञाता था। और लक्ष्मीधर का शिष्य था जो प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी भास्कराचार्य का पुत्र था। तेरहवीं शताब्दी में यादव बहुत शक्तिशाली हो गए, परन्तु चौदहवीं शताब्दी में खिलजी सुल्तान द्वारा पराजित हुए।

काकतीय : कल्याणी के चालुक्यों के अधीन राजा थे। जब पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति कम हुई तो प्रोला द्वितीय ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। वह गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेश का स्वामी बन बैठा और वेंगी शासकों को हराकर अपनी शक्ति को आन्ध्र प्रदेश तक फैला लिया। प्रतापरुद्र प्रथम (११६२-११९५) ने वारंगल बसाया और उसको अपनी राजधानी बनाया। वे वीर शैवमत के मानने वाले थे और उनके संरक्षण में काफी तैलगू साहित्य बना। देवगिरि के यादवों से

उनका संघर्ष प्रायः चलता रहता। तेरहवीं शताब्दी में उस वंश के दो शासक राजा गणपति और रानी रुद्रम्बा प्रसिद्ध थे। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से प्रतापरुद्र द्वितीय काकतीय के प्रदेश पर दिल्ली के सुलतान का आक्रमण हुआ जिसमें यादवों ने सुलतान की सहायता की। शीघ्र ही इस वंश का अन्त हो गया।

द्वारसमुद्र के **होयशल** ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक राष्ट्रकूटों के आश्रित बने रहे। बल्लाल प्रथम ने (११००-११०६) चोल-चालुक्यों के झगड़ों से लाभ उठाकर अपने-आपको स्वतन्त्र कर लिया और अपनी राजधानी हटाकर बैलूर (जिला हसन, मैसूर) में बनाई। दूसरे राजा विष्णुवर्धन ने (जिसको रामानुज ने वैष्णव बना लिया था) (११११-११४१) चोलों के प्रदेश के एक भाग को जीतकर, जिसे उन्होंने गंग से जीता था, अपने राज्य को खूब बढ़ा लिया। होयशल राज्य का विस्तार यादवों के प्रदेश को जीतकर बल्लाल द्वितीय (११७३-१२२०) ने कृष्णा नदी तक कर लिया। उस समय तक कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति कम हो चुकी थी और देवगिरि के यादवों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। बल्लाल द्वितीय ने राजा की उपाधि भी धारण की और अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। होयशलों की शक्ति ने बारहवीं शताब्दी में उन्नति की और दक्षिण-भारत के इतिहास में उनका उस समय तक मुख्य हाथ रहा जब कि चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर की स्थापना हुई। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में होयशलों को भी दिल्ली के खिलजी सुलतानों के भीषण आक्रमणों का शिकार होना पड़ा और उनकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। उनके आन्तरिक झगड़ों तथा यादवों से उनके परस्पर-वैमनस्य—इन दोनों कारणों से उनका अन्तिम पतन और विनाश हुआ।

सामाजिक व सांस्कृतिक अवस्था

हम देख चुके हैं कि देश इस युग में (७००-१२००) राजपूतों के विभिन्न राज्यों में बँट गया था और कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति न रह गई थी जिस का प्रभुत्व अथवा महत्व सर्वोपरि माना जाता हो। धर्म के नवीन रूप-रंग का इन राजवंशों पर पूरा-प्रभाव था और इनके संरक्षण में नवीन ब्राह्मण-धर्म की वह प्रगति हुई जिसका प्रभाव आज हम समस्त देश पर छाया हुआ देखते हैं। इस प्रकार इन दो शक्तियों का गठ-जोड़ सम्बन्ध स्थापित हो गया और एक दूसरे के वे पोषक हो गये। इस गुटबन्दी का अत्यन्त हानिकारक परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण जाति और विशेषकर पण्डा-पुजारी वर्ग तो अपने स्वार्थ-सिद्धि के प्रयास में अंधे होकर पतित हुए ही, साथ ही वे अपने शिष्यों और भक्तों को भी जड़ता के गर्त में ले डूबे। इन भक्तों में तत्कालीन राजा, सामन्त, हिन्दू समाज के नेता, धनी-मानी लोग सभी थे, जिनका समस्त जनता अनुकरण करती थी।

देश की राजनीति, सीमान्त नीति, विदेश-नीति शासन इत्यादि पर इस वायुमण्डल का, जो इस नवीन धर्म के प्रचार से पैदा हुआ, बड़ा विनाशकारी प्रभाव पड़ा। देश के भाग्य का निर्माण करने वाले, उसकी अवनति, उन्नति के जिम्मेदार, राजा व

शासक लोग अपने वास्तविक कर्तव्यों को भूलकर पण्डा-पंथ के पूजा-पाठ आदि में इतने व्यस्त हुए कि विदेशियों ने उनकी मातृभूमि पर अपार अत्याचार किये, जनता को त्रसित किया, उसकी सम्पत्ति को लूटा, लाखों बेबसों का कत्ल किया, उनके घरों को उजाड़ा, देश के टुकड़े करके धीरे-धीरे हड़प गए, परन्तु इनकी नींद न खुली। परिणाम जो हुआ उसका पहला दृश्य हम ऊपर देख आए हैं, शेष आगे दिया जायगा।

इसी युग में बौद्धमत का विकृत रूप, जो सामान्य जनता में शेष रह गया था, नवीन ब्राह्मण-धर्म के संघर्ष में आकर धीरे-धीरे विलुप्त हो गया। जैन-धर्म के विषय में हम बतला ही चुके हैं कि उसने हिन्दू-धर्म के समान अंध-विश्वास जात-पात, खान-पान के भेद-भाव, पूजा-पाठ आदि सभी अंगों को अपनाकर अपनी जान बचाई। इस प्रगति का एक और भी अंग था। सामान्य जनता में तो कर्मकांड का पंथ प्रचलित किया गया, किंतु वेद-वेदांग, जिसे उत्तर बौद्ध-काल में तिरस्कृत किया जाने लगा था, की रक्षा करने और भारतीय जनता की उस अमूल्य सम्पत्ति को फिर से समुचित स्थान दिलाने के प्रयास में, **कुमारिल भट्ट और शंकर** ने बड़ा कार्य किया। इन महापुरुषों ने अपनी अद्वितीय विद्वत्ता एवं मेधा के बल से **जैन व बौद्ध-सिद्धान्तों का खण्डन करके वैदिक सिद्धान्त का पुनः प्रचार किया।**

शंकर के बाद अन्य कई बड़े दार्शनिक हुए जिन्होंने वेद-वेदाँग के ही आधार पर भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया। इनमें रामानुज का नाम, जो दक्षिण में ११वीं शती में हुए, उल्लेखनीय है।

दार्शनिक साहित्य की उन्नति के अतिरिक्त इस काल में साहित्य के विभिन्न अंगों का भी बहुत विस्तार हुआ। कविता, वास्तुशिल्प, गल्प व कथा, महाकाव्य, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, विज्ञान आदि-आदि अनेक विषयों पर बहुत से ग्रंथ लिखे गए, किन्तु इन सबसे अधिक और अनगिनत मात्रा में वह साहित्य था जिसमें हिन्दुओं को पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा, तीर्थयात्रा, ब्राह्मण-सत्कार आदि की शिक्षा दी गई।

हिन्दू-धर्म का रूप इस युग में प्राचीन वैदिक धर्म के सर्वथा विपरीत हो गया। विदेशी जातियों के प्रवेश से बहुत से उनके रीति-रिवाज भी हिन्दू-धर्म में शामिल हो गये।

हिन्दू-धर्म का पौराणिक साहित्य अत्यन्त विस्तृत हो गया। इसमें अनेक देवी-देवताओं की पूजा का प्रचार करने के लिए गाथाएँ घड़ी गईं। ११वीं शती में सूर्य, देवी और काली, गणपति तथा स्कन्द की उतनी ही मान-प्रतिष्ठा थी जितनी विष्णु और शिव की। साथ ही शक्ति की पूजा के साथ-साथ हिंसा तथा अन्य पतित प्रतिक्रियाओं की प्रवृत्ति प्रबल होती गई। उत्तराखण्ड के प्रदेशों में विशेषतया आसाम व बंगाल में शक्ति-पूजा व ताँत्रिक मन्त्र का बड़ा प्रचार हुआ। जात-पाँत के भेदभाव भी बहुत बढ़े और शूद्रों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार होने लगा।

ग्राम संस्था : राजाओं तथा देश के रक्षकों के अपने कर्तव्यों से विमुख हो

जाने के कारण प्राचीन ग्राम-पंचायतों का कार्य बहुत बढ़ गया। जनता की रक्षा, न्याय, रचनात्मक सेवाओं आदि का भार ग्राम पंचायतों को सँभालना पड़ा। आंतरिक समस्या का समाधान तो ग्राम-पंचायतों ने कर लिया किन्तु बाहरी आक्राँताओं से देश की रक्षा करना उनके बूते से बाहर था। परिणाम हम देख ही चुके हैं।

Questions

1. Discuss briefly the origin of the Rajputs and their rise to power as rulers in Northern India. What were the main characteristics of their rule ?

   राजपूतों की उत्पत्ति तथा उत्तर-भारत के शासकों के तौर पर उनकी शक्ति के विकास की आलोचना करो। उनके शासन की क्या-क्या विशेषताएँ थीं ?

2. Describe the important features of the social and religious life of the Hindus after the age of Harsha.

   हर्ष की मृत्यु के पश्चात् भारत की सामाजिक व धार्मिक जीवन की महत्व-पूर्ण विशेषताएँ बतलाओ।

3. Briefly describe the development in Indian Society and culture between 700-1200 A. D.

   भारत के समाज और उसकी संस्कृति के विकास का, जो सन् ७०० व १२०० के बीच हुआ, वर्णन करो।

अध्याय १४

उत्तरी भारत तुर्कों के अधीन

इस्लाम की प्रगति

(१२००--१५००)

१. इस्लाम का उदय और फैलाव :

अरब में मुहम्मद ने जो मत चलाया उसे इस्लाम कहते हैं, अर्थात् 'भगवान् के अर्पण'। मक्के में लोग मुहम्मद के शत्रु बन गए थे, अतएव उसे भागकर मदीना जाना पड़ा। इसी दिन से हिजरी संवत् चालू हुआ। इस घटना ने मुहम्मद के जीवन में बड़ा परिवर्तन कर दिया। मदीना में मुहम्मद ने अपने अनुयायियों का संगठन केवल शत्रुओं से बचाव के लिए ही नहीं किया, वरन् एक पृथक स्वतंत्र समाज बनाया, जिसके अपने अलग शासन, नियम तथा विधान थे। थोड़े ही काल में लगभग समस्त अरब इस्लाम के झंडे के नीचे आ गया। जब ६३२ में हजरत मुहम्मद की मृत्यु हुई तो उसने मुसलमान जाति को एक सुसंगठित और उत्तम संस्था के रूप में छोड़ा।

मुहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफ़ा कहलाए। दो खलीफाओं के अधीन मुसलमानों ने अनेक विजयें प्राप्त कीं। अरब के पश्चिम और उत्तर में रूम का जीर्ण-शीर्ण राज्य था और पूर्व में ईरान का देश था, जहाँ सासानियों का राज्य था। दस वर्ष के अन्दर इराक, सीरिया और मिस्र को जीतकर अरब में मिला लिया गया। सन् ६३७ तक ईरान भी जीत लिया गया और मुसलमान वहाँ बस गए और ईरान वालों को इस्लाम मत मानने के लिए विवश किया गया। कुछ ईरानी बचकर भारत भाग आए और गुजरात में बस गए। उनके वंशज अब पारसी कहलाते हैं।

मुस्लिम कौम में फूट :

इस्लाम की इन विजयों में साथ-साथ ही मुस्लिम कौम के अन्दर परस्पर फूट पड़ने लगी। तृतीय खलीफा की मृत्यु पर (६५८) उसके उत्तराधिकारी अली को सीरिया के गवर्नर मुआविया तथा उसकी पार्टी ने खलीफा नहीं माना और अपने को स्वतंत्र मान कर उमैयद वंश की नींव डाली और दमिश्क को अपनी राजधानी बनाया। दोनों वर्गों में युद्ध हुआ जिसमें अली और उसके बेटे मारे गए और कुछ

काल तक उमैयद वंश वाले निर्विघ्न राज्य करते रहे। किन्तु सौ वर्ष के अन्दर अली के वंशजों ने उमैयदों को हराकर इनसे खिलाफत छीन ली। (इस दल के नेता मुहम्मद के चाचा अब्बास के थे, इस कारण ये अब्बासी वंश के कहलाते थे।) इन्होंने दमिश्क को छोड़कर ईरान के पश्चिमी छोर पर अपनी राजधानी बनाई। इस शहर का नाम बगदाद पड़ा। इस समय तक खलीफाओं की शक्ति और ऐश्वर्य राजाओं के समान हो गये थे। बगदाद में उन्होंने अपने दरबार व महल में सासानियों के राज्य की सारी शान-शौकत को अपना लिया। प्राचीन ईरानी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण खलीफाओं के मस्तिष्क में भी विकास हुआ। उनमें ज्ञान की ज्योति जगी और वे विद्वानों को उत्साहित करने तथा उन्हें संरक्षण देने लगे। **आठवीं और नवीं शताब्दी में खलीफाओं ने भारत के पंडितों को निमन्त्रित किया और संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अरबी और फारसी में अनुवाद करवाया।** बरमक वंश के मन्त्रियों की सलाह से खलीफा हारूनुर्रशीद (७८६-८०८) ने आयुर्वेदिक की शिक्षा पाने के लिए विद्वानों को भारत भेजा और हिन्दू वैद्यों को बुलाकर अपने अस्पतालों का प्रधान नियुक्त किया। इस प्रकार अरबों ने भारत से गणित, ज्योतिष, दर्शन, चिकित्सा और अनेक विज्ञानों की शिक्षा पाई।

खलीफाओं का पतन :

परन्तु साथ ही खलीफा लोग भोग-विलास के शिकार हो गए और आराम और वैभव का जीवन बिताने लने। शक्ति और सम्पत्ति पाने का यह स्वाभाविक ही परिणाम था। नवीं शताब्दी तक वे इतने निर्बल हो गए कि उनका राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। खलीफा का प्रभुत्व नाम-मात्र के लिए माना जाता था, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महत्वाकाँक्षी शासक न केवल स्वतन्त्र ही हो गये वरन् अपने प्रदेश को बढ़ाने के लिए परस्पर युद्ध करने लगे। इस प्रकार खलीफाओं का फारस का राज्य अनेक परस्पर युद्ध करने वाले वंशों में विभाजित हो गया। फारस के सामानी वंश के राजा भी इन्हीं वंशों में से एक थे। फारस वालों ने अपने पूर्वजों से विरासत में राजकीय गुण और शिष्टजनों की सभ्यता पाई थी, किन्तु उनकी इस सभ्यता और कुलीनता ने उन्हें युद्ध के अयोग्य बना दिया था। फलस्वरूप उन्होंने मध्य एशिया के कठोर और बलवान तुर्की योद्धाओं को अपनी सेनाओं का सेनापति तथा अपना अंग-रक्षक बनाया। महमूद गजनवी इन्हीं तुर्की योद्धाओं का वंशज था जो सामानी राजाओं के दास थे। मध्य एशिया की परिस्थिति इन तुर्की योद्धाओं के बहुत अनुकूल थी। आठवीं शताब्दी के मध्य में अरब तथा तुर्कों की सम्मिलित शक्ति ने चीनियों को पराजित करके पीछे धकेल दिया। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के बौद्धों के इस्लाम मत को स्वीकार कर लेने के कारण राजनीतिक आन्दोलन के साथ-साथ धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भी उठ खड़ा हुआ। तुर्की योद्धाओं के चित्त में, जिन्होंने गज़नी को केन्द्र बनाकर अनेक युद्धों में विजय

पाई थी, अपनी स्वाभाविक वीरता और साहस के साथ-साथ फारस वालों जैसी नागरिक और राज्याभिलाषा ने भी घर कर लिया।

महमूद गज़नवी के भारत पर हमले

महमूद का पूर्वज सुबुक्तगीन : हम देख चुके हैं कि महमूद सुबुक्तगीन नाम के एक तुर्की योद्धा का बेटा था जो खुरासान के बादशाह की नौकरी में रह चुका था। वह काबुल के दक्षिण में स्थित गजनी का स्वामी बन गया था, यद्यपि वह अपने दुर्बल तथा अशक्त स्वामी अर्थात् खुरासान के बादशाह की अधीनता मानता था। सन् ९७७ तक सुबुक्तगीन स्वतन्त्र शासक बन बैठा और पडौस के राज्यों पर आक्रमण करके अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ाने लगा। उसने भारतीय सीमा पर स्थित कुछ नगरों पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार भारत के शाही वंश के राजा जैपाल से उसका झगड़ा हो गया, जिसके राज्य की सीमा किसी समय काबुल तक फैल चुकी थी। इसलिए जैपाल ने अपना खोया हुआ प्रदेश वापस लेने के लिए सुबुक्तगीन पर चढ़ाई करने की तैयारियाँ शुरू कर दीं। काबुल **के समीप लमगान के मैदान में दोनों सेनाओं में कई दिन तक घमासान युद्ध हुआ, किन्तु अन्त में हिन्दुओं की सेना का साहस जाता रहा और उसकी पराजय हुई।** जैपाल ने हार मान ली और सुबुक्तगीन को १० लाख दिरम व ५० हाथी देने का वचन देकर सुलह कर ली।

जैपाल जब लाहौर वापस लौट आया तो उसने अपने बचन का पालन नहीं किया। सुबुक्तगीन ने लगमान के प्रदेश को लूट-खसूटकर बदला ले लिया। कई हिन्दू राजाओं की सहायता पाकर जैपाल ने फिर उस पर हमला किया, किन्तु इस बार भी उसकी हार हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। अब तुर्की अमीर ने पेशावर तक के प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया और उस प्रदेश पर अपना लगान वसूल करने वाला अधिकारी नियुक्त कर दिया।

महमूद के आक्रमण—सुबुक्तगीन की मृत्यु ९९७ ई० में हो गई और उसका द्वितीय पुत्र महमूद उसका उत्तराधिकारी हुआ जो अपनी सैनिक योग्यता का परिचय दे चुका था। सामानी वंश के आन्तरिक झगड़ों का लाभ उठाकर महमूद राजगद्दी पर बैठते ही काशगर के इलाकखाँ से मिल गया और दोनों ने बुखारा के राज्य को परस्पर बाँट लिया।

सन् ९९९ में महमूद ने सुलतान का विरुद धारण किया। इस विरुद को धारण करने वाला यह प्रथम तुर्क था। उसकी महानशक्ति और विशाल राज्य की स्वीकृति-स्वरूप खलीफा ने उसे **अमीनुल मिल्लत तथा यमीनुद्दौला** की उपाधियाँ प्रदान कीं। उसने अब प्रतिवर्ष भारतीय मैदानों पर चड़ाई करने का निर्णय किया।

१००० ई० से लेकर १०२६ तक महमूद ने भारत पर १७ चढ़ाइयाँ कीं। सन् १००१ ई० की सर्दियों में उसने पुन: पेशावर पर हमला किया और राजा जैपाल

को पराजित करके उसे बन्दी बना लिया। इस समय जान पड़ता है, जैपाल की राजधानी भटिन्डा में थी। जैपाल को अपनी मुक्ति के लिए अपार धन देना पड़ा। किन्तु अपनी राजधानी में लौटकर उसने राजगद्दी छोड़ दी और स्वयं आग में जल कर भस्म हो गया, क्योंकि ब्राह्मण-धर्म के अनुसार मुस्लमानों से छू जाने पर केवल यही प्रायश्चित हो सकता था। इसके पश्चात् लगभग दो वर्ष तक महमूद मध्य एशिया में व्यस्त रहा। १००३ ई० में उसने सिन्धु नदी पार की और जेहलम के तट पर स्थित भेरा के सुदृढ़ दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। भेरा के राजा ने उसका वीरता से सामना किया किन्तु अन्त में पराजित हुआ। भेरा के दुर्ग के पतन से महमूद का मार्ग पंजाब तथा भारत के लिए खुल गया। हिन्दू शासकों ने तब तक आक्रमणकारी को रोकने का प्रयत्न नहीं किया जब तक कि उसने जैपाल के लड़के आनन्दपाल पर १००८ में आक्रमण न कर दिया। ऐसा जान पड़ता है कि इस हमले ने हिन्दुओं को कुछ हद तक उस खतरे से सचेत कर दिया जो उनके सामने मुँह बाये खड़ा था। फरिश्ता आदि बाद के लेखकों के अनुसार उत्तर के हिन्दू राजाओं तथा सामान्य जनता ने महमूद का सामना करने के लिए संगठित प्रयत्न किया। किन्तु अनुभवी तथा चतुर तुर्क योद्धा के सम्मुख उनकी एक न चली। इसके विपरीत हिन्दू कभी भी ठीक तौर से सुसंगठित न हो सके। उनमें कमी थी अनुशासन की, संगठन की, विनय की और उस जातीयता के भाव की जो व्यक्तिगत झगड़ों और स्वार्थ से ऊपर उठकर देश और जाति के लाभ और हानि की सर्वोपरि चिन्ता करता है। वे किसी एक सरदार या राजा को अपना सर्वोच्च नेता या अधिकारी बनाकर नहीं लड़ सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि आनन्दपाल और उसकी विशाल सेना का घोर विनाश हुआ भारतीय सेना के लगभग ८००० सैनिक मारे गये और शेष रणक्षेत्र छोड़कर भाग गये।

महमूद ने भारत की सम्मिलित सेना पर विजय प्राप्त करके इस अवसर से पूरा लाभ उठाया। उसने तुरन्त ही **नगरकोट के प्रसिद्ध दुर्ग पर धावा बोल दिया और ज्वालामुखी के मन्दिर को खूब लूटा**। वहाँ से ७,००,००० सोने के दीनार, ७०० मन सोने और चाँदी के बर्तन, २०० मन सोना, २००० मन कच्ची चाँदी और २० मन बहुमूल्य जवाहरत उसके हाथ आये। आनन्दपाल ने आक्रमणकारी के सम्मुख अपने को असहाय पाकर उससे संधि कर ली। उसी वर्ष महमूद ने मुल्तान पर अधिकार पा लिया। सन् १०११ के अन्त में उसका नवां हमला थानेश्वर पर हुआ। महमूद ने केवल उस पवित्र स्थान के सैंकड़ों देवालयों को ही नष्ट-भ्रष्ट नहीं किया अपितु वह यहाँ के हजारों नर-नारियों को दास बनाकर ग़जनी ले गया।

इनमें से कुछ सेना में भरती कर लिये गये किन्तु बहुतों को दो-दो रुपये में दासों की भाँति बेच दिया गया। अगले वर्ष महमूद ने अपने राज्य की सीमा मध्य एशिया में बढ़ाई। सन् १०१३ में आनन्दपाल के बेटे त्रिलोचनपाल तथा त्रिलोचनपाल के बेटे भीमपाल (निडर भीम) ने मिलकर अपने खोये हुए राज्य और प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिये महमूद से युद्ध ठान लिया। निडर भीम बड़े भीषण युद्ध के बाद

हारा और काश्मीर भाग गया और महमूद ने सारा पंजाब ग़ज़नी सल्तनत में मिला लिया। अगले वर्ष महमूद ने काश्मीर में घुसने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल न हो सका।

सन् १०१४ में वह उत्तर भारत के भीतरी प्रदेशों पर हमला करने के लिए आगे बढ़ा। एक लाख से अधिक सेना लेकर वह ग़ज़नी से रवाना हुआ और मथुरा तक बढ़ता चला गया। मार्ग में उसने बरन (बुलन्दशहर) पर भी अधिकार कर लिया। **मथुरा हिन्दुओं के प्राचीनतम तथा पवित्र स्थानों में से एक था।** यह नगर भगवान् कृष्ण के बाल्यकाल का क्रीड़ास्थल तथा बाद में बौद्ध-संस्कृति का महान् केन्द्र रह चुका था। इस नगर में असंख्य मन्दिर और मठ थे जिनमें से कुछ इतने सुदृढ़ और विशाल थे कि तीन दिन तक महमूद यह निर्णय न कर पाया कि ऐसे कलापूर्ण तथा अनूठे भवनों को तोड़ा जाये या नहीं। अन्त में उसकी धर्मान्धता ने उसकी कला के प्रति भावुकता पर विजय पाई और उसने मन्दिरों को गिरा देने की आज्ञा दे दी। सारे नगर में लूट-मार शुरू हो गई। अनगिनत दौलत वहाँ से ले जाई गई। मथुरा से चलकर महमूद वृन्दावन पहुँचा और इस नगर की भी वैसी ही दुर्गति हुई। मन्दिरों को तोड़ा तथा लूटा गया। इस प्रकार लूटी गई सम्पत्ति का अनुमान ३० लाख दिरम लगाया गया था।

महमूद के इन कारनामों पर मुस्लिम जगत् ने बड़ी खुशियाँ मनाईं। खलीफ़ा ने उसकी विजय-घोषणा और स्वागत करने के लिए एक विशेष दरबार किया। परन्तु वास्तव में इन कार्यवाहियों से इस्लाम की जीत न हुई, प्रत्युत उसकी हानि ही हुई। जिन लोगों के धर्मस्थान नष्ट किये गये थे और जो दास बना-बनाकर दूर देशों में पशुवत् बेचे गये थे, वे कभी इस्लाम धर्म से प्रभावित न हो सकते थे, जिनके नाम पर यह सब दुष्कर्म किये गए थे। महमूद जैसे धर्म-प्रचारकों के जीवन-चरित्र इस बात के प्रमाण हैं कि किसी धर्म के अनुयायी ही उसके साथ सबसे अधिक अन्याय करते हैं। ग्वालियर, कालिंजर व कन्नौज के प्रतापी नरेशों से अरक्षित छोड़ी हुई मथुरा नगरी अनाथ की भांति असहाय थी। वहाँ से महमूद गुर्जर-प्रतिहार राजा राज्यपाल की राजधानी कन्नौज पर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़ा। कन्नौज को देश की राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, क्योंकि वह किसी समय एक विस्तृत तथा शक्तिशाली साम्राज्य का केन्द्र रह चुकी थी। दूसरे, इसका महत्व इसलिए भी अधिक बढ़ा हुआ था कि यह भारत के मध्य में स्थित है तथा धर्म-स्थान एवं व्यापारिक केन्द्र होने के कारण यह नगरी महान् समझी जाती थी।

किन्तु महमूद के पहुँचते ही राज्यपाल कायरों की भाँति बिना लड़े ही डरकर भाग गया और नदी के पार शरण ली। महमूद ने बड़ी निर्दयता से नगर को लूटा, उसके सहस्रों मन्दिरों को तोड़ा और उसके चारों ओर बने हुए सातों दुर्गों पर अपना अधिकार जमा लिया। जब महमूद ग़ज़नी लौट गया तो कालिंजर के शक्तिशाली राजा गंडदेव ने ग्वालियर के राय के साथ कन्नौज को प्रस्थान किया। उसका उद्देश्य राज्यपाल को उस कायरता के लिये दण्ड देना था जो उसने महमूद के सम्मुख

प्रदर्शित की थी। इस समय त्रिलोचनपाल और चन्देल शासक ने परस्पर संधि करके आक्रान्ता को देश से मार भगाने के लिए एक संगठित प्रयत्न किया। महमूद को इस षड्यन्त्र का पता चल गया और उसने हिन्दू संगठन को रोकने व कालिंजर के राजा को सबक देने के लिए तुरन्त ही कालिंजर को कूँच कर दिया। मार्ग में उसने नवनिर्मित नगर बारी को लूटा जिसे राज्यपाल ने कन्नौज के विनाश के बाद बनाया था। गंडदेव ने इस समय तक एक बड़ी सेना एकत्र कर ली थी जिसमें ३६,००० घुड़सवार, ५०,००० पैदल व ७०० हाथी थे और स्वयं सेना के आगे होकर हमलावर महमूद का मामना करने के लिये बढ़ा। **कालिंजर के समीप किसी स्थान पर दोनों की मुठभेड़ हुई।** हिन्दू सेना के युद्ध ने सुल्तान को अशक्त कर दिया और उसका साहस जाता रहा। इसके विपरीत जान पड़ता है कि चन्देल राजा भी डर गया और अँधेरी रात में भाग निकला। बहुत से अनुमान लगाये गये हैं कि क्यों वीर चन्देल राजा हतोत्साह हो गया और क्यों उसने बचकर निकल भागने का निर्णय कर लिया, किन्तु कोई भी अनुमान सन्तोषजनक नहीं है। महमूद दूर तक शत्रु के देश में घुसा चला गया, किन्तु उसका यह डर स्वाभाविक ही था कि लौटते समय उसका मार्ग न रोक दिया जाय। अतः वह शीघ्रता से गज़नी वापस लौट गया।

अब महमूद ने निर्णय किया कि देश में इतनी दूर-दूर तक घुसने के लिये आवश्यक है कि अपना केन्द्र पंजाब में बनाये। इसलिए उसने लाहौर को चुना और उसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया और पंजाब प्रान्त को ग़ज़नी के साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। ऐसा कहा जाता है कि १०२२ की शरद् ऋतु में महमूद ने एक बार फिर ग्वालियर तथा कालिंजर पर हमला किया, किन्तु दोनों पक्षों ने पत्र-व्यवहार द्वारा तथा परस्पर भेंटें भेज कर सन्धि कर ली।

सोमनाथ की चढ़ाई : महमूद का सोलहवां तथा सबसे प्रसिद्ध आक्रमण काठियावाड़ के जगत्-विख्यात मन्दिर सोमनाथ पर हुआ। सयसामयिक लेखकों के अनुसार सोमनाथ का मन्दिर समस्त भारत में प्रसिद्ध था और असंख्य यात्री तथा उपासक दूर-दूर से यहाँ आते थे, विशेषकर सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण के अवसरों पर। १००० ब्राह्मण प्रतिदिन पूजा करते थे। ५०० नर्तकियाँ और २०० गायक सदैव भक्तों का मनोरंजन करते थे। बहुत से हिन्दू राजा अपनी कुंआरी लड़कियों को मन्दिर की सेवा के लिये अर्पण कर देते थे। मन्दिर का व्यय १०,००० गाँवों की आमदनी से चलता था। पुजारियों की अकर्मण्यता और विश्वास की यह दशा थी कि जब महमूद की सेना को उन्होंने आते देखा, तब अपने घरों की छतों पर से वे हँसे और कहने लगे कि देव सोमनाथ इन सबको एक पल में नष्ट कर देंगे।

महमूद ने इस अवसर पर अभूतपूर्व वीरतापूर्ण कदम यह उठाया कि उसने सोमनाथ के मन्दिर तक पहुँचने के लिए वह दुर्गम तथा कठिन मार्ग अपनाया जो राजस्थान के रेगिस्तान से होकर जाता था। यद्यपि उसने इस लम्बे और दुर्गम मार्ग से गुजरने में काफी सावधानी बरती थी तो भी उसकी सेना को अवर्णनीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। सौभाग्य से किसी ने उसका मार्ग नहीं रोका। थोड़े-से

संघर्ष के उपरान्त ही उसने मन्दिर जीत लिया और उसे जी-भर कर लूटा। मूर्तियों को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जिन्हें वह गज़नी ले गया तथा वहां की मस्जिद की सीढ़ियों में उन्हें लगा दिया। हजारों पुजारियों को मौत के घाट उतारकर, बहुतों को दास बनाकर तथा बे-हिसाब लूट का माल लेकर गज़नी की विजयी सेना सिंध के मार्ग से वापस लौटी। कहा जाता है कि मार्ग में पड़ौसी राजाओं द्वारा यह सेना बहुत सताई गई। इससे तथा उस प्रदेश की कठिनाइयों के कारण उसकी बहुत-सी सेना नष्ट हो गई। महमूद मार्ग में भीषण कठिनाइयों को झेलता हुआ, थोड़ी-सी बची-खुची सेना के साथ बाल-बाल बचकर गज़नी वापस लौटा।

इसके पश्चात् सिन्धु प्रदेश में उसने कतिपय चढ़ाइयाँ और भी कीं। १०३० में महमूद बीमार पड़ गया और दुःखद मृत्यु को प्राप्त हुआ। उस बे-हिसाब दौलत को यहीं छोड़ते हुए उसका दिल टूट गया जिसे एकत्र करने में उसने लाखों मनुष्यों का खून बहाया था तथा उनके घरों व देवालयों को नष्ट किया था। इस विचार ने उसे बड़ा दुःखी कर दिया कि वह खाली हाथ इस संसार से जा रहा है और वह फूट-फूटकर रोया। धर्मान्ध होने पर भी महमूद अपनी इस अन्तिम यात्रा पर उस साहस के साथ न जा सका जिस साहस से वह भारतीय चढ़ाइयों पर जाता था।

महमूद का चरित्र : महमूद ग़ज़नवी जन्म से एक तुर्क था और उसमें ऐसे योद्धा के गुण विद्यमान थे जो उसके समकालीन योद्धाओं में कम ही पाये जाते थे। किन्तु उसका जन्म तथा पालन-पोषण फारस के दरबारी वातावरण में हुआ। उसमें शिक्षा तथा कला के प्रति रुचि और स्नेह भी उत्पन्न हो गये थे। इन गुणों के अतिरिक्त वह धर्मान्ध तथा कट्टर मुसलमान था। इन सबसे बढ़कर वह महत्वाकांक्षी योद्धा और विजेता था और उसकी धन-लोलुपता ने उसकी महत्वाकांक्षा को और भी प्रबल बना दिया था। उसकी भारतीय चढ़ाइयों का उद्देश्य मुख्यतः यही था कि उसे युद्ध में प्राप्त विजयों से प्रेम था तथा वह उस बे-हिसाब दौलत और ख़जाने को पाना चाहता था जिसे वह जानता था कि हिन्दुओं के मन्दिरों में संचित है। देश के हिन्दू राजाओं ने मन्दिरों की रक्षा के लिये कोई उचित उपाय नहीं किये थे, जिससे उत्साहित होकर वह प्रतिवर्ष पवित्र देवस्थानों को लूटने के लिए चढ़ाई करता रहा। साथ ही उसका धार्मिक जोश और यह विश्वास कि मूर्ति-खण्डन व मूर्ति-पूजकों के घरों को नष्ट करना उसका धार्मिक कर्त्तव्य है तथा इस्लाम मत के अनुसार ऐसा करने से उसे न केवल इहलोक में राज्य प्राप्त होगा, प्रत्युत परलोक का राज्य भी उसके लिए सुरक्षित हो जायगा—इन दो उद्देश्यों को लेकर ही उसने भारत पर अधिकाँश चढ़ाइयाँ की थीं। काफिरों के देश में जिहाद करना उसका धार्मिक कर्त्तव्य है, इस विचार ने उसे इतना निष्ठुर और हृदयहीन बना दिया था कि उसे मानवीय दुःखों का आभास भी न होता था। जो लोग उसके विध्वंस व हत्याकाण्ड के शिकार हो चुके थे वे उसे केवल अभिशाप और दुर्भाग्य के रूप में ही देख सकते थे, यद्यपि यह स्पष्ट है कि उसका मुख्य उद्देश्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त करना था और इस उद्देश्य

की पूर्ति के लिये वह अपनी सेना में हिन्दुओं को भर्ती करने से भी न हिचकिचाता था।

व्यक्तिगत रूप से भी उसके विश्वास अपने समय के अनुसार ही थे। वह एकेश्वरवादी तो पक्का था, परन्तु जान पड़ता है कि वह युक्तिवादियों Rationalists) के विरुद्ध न था। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह तत्कालीन अन्य राजाओं के समान ही था। उसकी धार्मिक भावनाएँ उसे मदिरा और भोग-विलास से न बचा सकती थीं। इसके अतिरिक्त वह कंजूस भी बहुत था। उसके साथियों में जो उसका इतना विस्तृत प्रभाव और मान था, वह उसके आचार की उच्चता या धार्मिक गुणों के कारण नहीं प्रत्युत उसकी बुद्धि और मस्तिष्क के गुणों के कारण था। महमूद सुशिक्षित था और साहित्य तथा कला का गुणग्राही भी था, परन्तु उसका सर्वोच्च गुण था युद्ध-कौशल और सेना के नेतृत्व की योग्यता। तुर्क, अफगान, ईरानी व हिन्दू आदि विभिन्न जातियों के मेल से बनी हुई सेना को संगठित करने तथा उसका नेतृत्व करने के कठिन कार्य को उसने बड़ी सफलता से पूरा किया। वह मन तथा शरीर दोनों से ही बड़ा फुर्तीला और बड़ी शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाता था तथा खतरे की परिस्थिति में उसके प्रतिकार का निर्णय तुरन्त ही कर डालता था। वह निडर, वीर और साहसी था। किन्तु वह असावधान सैनिक न था। इसके विपरीत चढ़ाई करने से पूर्व वह अच्छी प्रकार आगा-पीछा सोच लिया करता था किस जगह चढ़ाई करना सुगम होगा।

कुछ लेखकों ने उसे कुशल शासक तथा राजनीति-सुधारक गुणों से युक्त भी बताया है। किन्तु वे गलती पर हैं, क्योंकि जैसा कि हम जानते हैं उसके आक्रमणों का उद्देश्य केवल लूट-मार तथा विध्वंस करना ही था। परन्तु विजित प्रदेशों के संगठन और राज्य-प्रबन्धों के कामों की ओर उसने कभी भी अपनी रुचि नहीं दिखाई। परिणाम यह हुआ कि उसका राज्य शृंखलाबद्ध नहीं बन सका और छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरा रहा। फलस्वरूप उसके मरते ही वह बालू की भीत की तरह ढह गया।

हिन्दुओं के पतन के कारण : जिन परिस्थितियों व कारणों से हिन्दुओं की हार हुई—यद्यपि मुस्लिम आक्रांताओं की अपेक्षा उनकी संख्या भी अधिक थी और साधन भी बड़े थे—इस समस्या का समझना सरल नहीं है। कुछ लेखकों ने हिन्दुओं की हार के कारण उनकी जातिभेद की प्रथा, छुआछूत, युद्ध में हाथियों का उपयोग, भारत के गर्म प्रदेश में रहने के कारण उनकी शारीरिक दुर्बलता आदि बतलाये हैं। किन्तु इस प्रकार के थोड़े-से असम्बद्ध और भ्रमपूर्ण कारणों को गिनाने से हिन्दुओं की हार की गहन समस्या का हल नहीं हो जाता।

यदि हम सावधानी से उन कारणों पर विचार करें जिनसे हिन्दुओं का इतना घोर पतन हुआ तो वे सहज ही समझ में आ सकते हैं। राजपूत राजाओं को इतना जातीय अभिमान था कि वे देश के राजनीतिक व सेना-सम्बन्धी मामलों में सर्वसाधारण का सहयोग नहीं चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे ब्राह्मणों व पुरोहितों

के हाथ की कठपुतली बने हुए थे और नवीन ब्राह्मण-धर्म ने उस जाति के समस्त विचारों को इतना शिथिल व पार्थिव बना दिया था कि जातीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका विनाशकारी प्रभाव पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने समय के साथ-साथ युद्ध-कौशल में कोई उन्नति नहीं की और न ही अपनी निरन्तर हार से कोई शिक्षा ग्रहण की। इसी प्रकार वे आलस्यवश उस समय तक युद्ध की कोई तैयारी नहीं करते थे जब तक कि शत्रु ठेठ उनके राज्य में न घुस आता था। इसका कारण यह था कि नवीन ब्राह्मण-धर्म के अनुसार न तो वे विदेशियों को छू सकते थे और न अपने देश की सीमा के पार जा सकते थे। इसीलिए जबकि उनको अपने देश की रक्षा के लिए शत्रु के देश पर हमला करना चाहिए था तब वे इस बात की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे कि शत्रु उनके घर में घुस आये। बहुत से अवसरों पर शत्रु अपनी सेना के आगे गौओं का बड़ा भारी झुण्ड रखकर युद्ध करता था जिससे हिन्दू असहाय हो जाते थे क्योंकि वे गायों को चोट नहीं पहुँचा सकते थे। इसके अलावा वे युद्ध-कौशल व सामरिक बुद्धि में आक्रमणकारी तुर्कों के समान चतुर न थे। उनमें सामूहिक कार्य करने की क्षमता न थी। फलस्वरूप वे शत्रु के विरुद्ध अपने बहुमूल्य साधन व शक्ति को काम में न ला सके और न ही उन प्राकृतिक सुविधाओं को जो उन्हें प्राप्त थीं। उनके पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष ने उन्हें और भी निर्बल बना दिया था, जिसके कारण उन पर वे सब विपत्तियाँ आईं जो उनके दुर्भाग्य का कारण बनीं। जैसा कि हमें सोमनाथ की चढ़ाई से विदित होता है, कई बार हिन्दुओं की हार का कारण राजपूत राजाओं का आलस्य व उनका देवमूर्तियों की शक्ति में अन्धविश्वास था।

गजनवी वंश का पतन : जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, महमूद अपने जीते हुए विस्तृत प्रदेशों की सुव्यवस्था करने में असफल रहा था। उसके उत्तराधिकारियों में से कोई भी ऐसा न हुआ जो उसके राज्य को बढ़ाना तो दूर रहा, उसकी रक्षा भी कर सकता और उसे सुदृढ़ बनाता। महमूद के बेटे तथा उत्तराधिकारी मसूद ने लाहौर के प्रान्त के प्रबन्ध के लिए कई शासक नियत किए। इनमें से न्यालतगीन, जिसे महमूद का हरामी बेटा कहा जाता है, बहुत ही महत्वाकांक्षी तथा शक्तिशाली योद्धा था। उसने बनारस तक धावा किया और बड़ी निर्दयता से उसका विध्वंस किया तथा लूटा। उसने हजारों मन्दिरों को नष्ट किया। किन्तु जब उसने स्वतन्त्र शासक बनना चाहा तो तिलक नामक हिन्दू सेनापति ने, जिसे महमूद ने एक उच्च पद पर नियुक्त किया था, न्यालतगीन को हराकर तथा उसे मारकर स्थिति को सँभाल लिया।

मसूद के बाद इस वंश का ह्रास बड़ी शीघ्रता से हुआ और अन्त में शाहबुद्दीन गुरी व उसके भाई ने ११७० में गजनी पर अधिकार करके यामिनी वंश का अन्त कर दिया। गज़नवी वंश का अंतिम राजा खुसरू (जिसका राज्य अब केवल लाहौर प्रान्त तक ही सीमित रह गया था) तथा उसका बेटा पकड़ लिए गए

और दोनों को वन्दी बनाकर गूर भेज दिया गया जहाँ सन् ११९२ में उनका वध कर दिया गया।

१. मुहम्मद गूरी के आक्रमण और भारत में तुर्की राज्य की स्थापना

दास वंश : मुइज़ुद्दीन (शाहबुद्दीन) मुहम्मद गूरी ने अपने भाई से, जो गूर का शासक था, अनुमति लेकर ग़ज़नी में अपना राज्य स्थापित किया। दो-सौ वर्ष पूर्व जैसा महमूद ने किया था उसी का अनुकरण गूरी ने किया। मुहम्मद गूरी की सैनिक योग्यता महमूद ग़ज़नवी के मुकाबले बहुत कम थी। उसने ११७५ में सिन्ध और मुलतान पर अधिकार कर लिया, किन्तु इसके बाद उसने गुजरात पर जो आक्रमण किया उसकी तैयारी ठीक नहीं थी (इस चढ़ाई में मुहम्मद गूरी ने एक बड़ी गहरी भूल यह की कि दिल्ली के नाके तक न पहुँचकर पंजाब के बीच से ही राजपूताना की मरुभूमि में उतर पड़ा। सैनिक नीति की दृष्टि से यह भारी भूल थी जिसका विनाशकारी परिणाम उसे पूरी तरह भोगना पड़ा।) उसकी आबू के समीप युद्ध में पराजय हुई और सोलंकी वंश के बालक राजा मूलराज की माता नायकीदेवी ने उसे बुरी तरह खदेड़ दिया। उसके अनेक सैनिक बंदी बना लिए गए और लौटते समय मार्ग में मर गए। अतएव मुहम्मद विनाश से बाल-बाल बचा। गुजरात के द्वारा देश में प्रवेश करने से निराश होकर वह हिन्दुस्तान की ओर मुड़ा। ११९१ में उसने पंजाब को सरहिंद तक विजय कर लिया, जहाँ दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान के राज्य की सीमा मिलती थी। तुर्कों के आक्रमणों की ओर से बिलकुल लापरवाह होकर चौहान वीर महोबा के चन्देलों से लड़कर यश कमा रहा था। उसने युद्ध की आवश्यकता केवल उस समय समझी जब आक्रांता उसके राज्य में घुसते हुए थानेश्वर तक पहुँच गए। प्रथम युद्ध में (११९१), जो सरसा और थानेश्वर के बीच तरावड़ी नामक स्थान पर हुआ था, गूरी की बुरी तरह पराजय हुई और उसके प्राण बाल-बाल बचे। पृथ्वीराज ने सरहिन्द के दुर्ग पर घेरा डाल दिया किन्तु उस पर अधिकार करने में १३ मास बिता दिए। उसने उससे आगे बढ़कर विजय करने का प्रयास नहीं किया। इसी बीच मुहम्मद ग़ज़नी पहुँचा और १,२०,००० सेना इकट्ठी करके थानेश्वर के मैदान में फिर उतर आया।

इस बार पृथ्वीराज ने भी पूरी तैयारी की और देश के सब हिन्दू राजाओं को अपनी सहायता के लिए बुलाया। कहा जाता है कि एक सौ से ऊपर राजपूत सरदार और राजे इस समय इकट्ठे हुए। हिन्दू सेना में ३०,००० हाथी, ३००,००० अश्वारोही और बहुत से पैदल थे। परन्तु इसमें बड़ा सन्देह है कि इतने राजाओं ने पृथ्वीराज का साथ दिया हो। **यह लड़ाई भी तरावड़ी के मैदान में हुई।** जब सुलतान गूरी ने देखा कि हिन्दू सेना ने एक चट्टान के समान उसकी सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया, तब उसने अपनी सेना को पाँच टुकड़ों में बाँटा। इनमें से चार को आज्ञा दी कि हिन्दू सेना के दायें-बायें और आगे-पीछे चारों तरफ से धावा बोलकर तथा बारी-बारी से डटकर, भागने का बहाना करके और फिर एकदम

उलटकर शत्रु पर हमला करके उसको परेशान कर दें और उसकी सेना में अव्यवस्था तथा घबराहट पैदा कर दें। पाँचवाँ हिस्सा इस काम के लिए था कि जब हिन्दू सेना खूब परेशान हो चुके तो उसके केन्द्र पर धावा बोल दिया जाय। इसी युद्ध-कौशल से महमूद गजनवी ने हिन्दू राजाओं को अनेक बार परास्त किया। किन्तु रूढ़ि के दास इन राजपूतों ने अपने पुराने अनुभव से कुछ भी नहीं सीखा। उनकी पूरी तरह हार हुई। **पृथ्वीराज बन्दी हुआ और मार डाला गया।** इस हार का हिन्दुओं पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने फिर कभी एकत्रित होकर तुर्की आक्रान्ताओं को रोकने का साहस न किया।

युद्ध के बाद सिरसुती, समाना और हाँसी आदि किले तुर्कों ने अधिकृत कर लिए और तुरन्त सुल्तान ने चौहानों की राजधानी अजमेर पर चढ़ाई करके उसे जी-भरकर लूटा तथा हजारों निर्दोष मनुष्यों का वध किया। बहुत से मन्दिरों आदि को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाईं। परन्तु इतने दूरस्थ स्थान में किसी तुर्की शासक का रहना आसान न था। इस विचार से उसने पृथ्वीराज के लड़के गोविन्दराय को अजमेर का शासक नियत किया। उसने सुलतान को वार्षिक कर देने का वायदा किया। इसी समय **पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने रणथम्भौर में एक नए चौहान राज की नींव डाली।**

पृथ्वीराज का जीवन : पृथ्वीराज के बारे में रासो का कथन है कि वह अनंगपाल तँवर दिल्लीश्वर का नाती था, भ्रम-मूलक है। 'पृथ्वीराज विजय' तथा 'हमीर काव्य' से प्रमाणित है कि कि पृथ्वीराज की माता चेदि के हैहय वंश की थी और उसका नाम कपूरदेवी था। पृथ्वीराज की जन्म-तिथि अनिश्चित है। किन्तु इतना निश्चित है कि जब उसने चन्देल राज्य पर सं० ११८२ में आक्रमण किया था, तब वह युवावस्था को प्राप्त था।

उसने अपने को चक्रवर्ती मनवाने के लिए अपने समकालीन, सभी हिन्दू राजाओं से लड़ाईयाँ कीं और उनको नीचा दिखाया। कन्नौज का गहरवार राज्य उस समय उत्तर भारत में सबसे महान् तथा शक्तिशाली था। उससे पृथ्वीराज की होड़ थी। ऐसी परिस्थिति में यह बात बड़ी संदिग्ध जान पड़ती है कि तुर्कों के विरुद्ध इन राजाओं ने पृथ्वीराज को सहायता दी हो।

मुहम्मद ग़ूरी अपने तुर्की दास कुतुबुद्दीन को भारत के राज्य-कार्य का प्रबन्ध सौंपकर ग़ज़नी लौट गया। कुतुबुद्दीन ने सतलुज और गंगा के बीच में विद्रोही हिन्दू सरदारों को परास्त किया और ११९३ के आरम्भ में दिल्ली पर अधिकार करके उसको अपनी राजधानी बनाया। **दूसरे वर्ष मुहम्मद ग़ूरी फिर एक बड़ी सेना ले आया और कन्नौज के राजा जयचन्द पर चढ़ाई कर दी।** जयचन्द चन्दवार (वर्तमान फीरोजाबाद, आगरा से लगभग २५ मील पूर्व) के समीप युद्ध में परास्त हुआ और कन्नौज से मुहम्मद ने बनारस पर चढ़ाई की, उसे नष्ट-भ्रष्ट किया तथा लूटा और सैंकड़ों मन्दिरों को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिद बनाकर **और लूट का माल लेकर लौट गया।**

मुहम्मद गूरी के साथ जो अनेक तुर्की दास भारत आये थे उन्होंने उत्तरी भारत को पूर्ण रूप से विजय कर लिया। इनमें से एक बख्तियार खिलजी का पुत्र इख्तियारउद्दीन था। उसने अपने साहस और बल से चुनार और कर्मनासा के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। यहाँ से उसने दक्षिणी बिहार पर हमले किए और अन्त में बौद्धों के उद्दण्डपुरी में स्थित विद्यापीठ पर आक्रमण किया, उसके निवासियों को मरवा डाला और उसके पुस्तकालय में संगृहीत पुस्तकों को जला डाला। तब वह ऐबक को सम्मान-प्रदर्शन करने के लिये दिल्ली पहुँचा और उसने पूर्वी प्रदेश को अपने अधिकार में रखने का आज्ञा-पत्र प्राप्त कर लिया।

बख्तियार खिलजी ने तब एक छोटी सेना इकट्ठी की और नादिया (नवद्वीह) पर आक्रमण कर दिया, जहाँ सेन वंश का शासक लक्ष्मणसेन गया हुआ था। सेन शासक को इसकी कुछ भी खबर न थी और वह चोर दरवाजे से बचकर भाग गया। उसके बाद उसके वंशज पूर्वी बंगाल में राज्य करते रहे, जिसका बहुत-कुछ भाग इस समय से खिलजी आक्रान्ताओं के हाथ में चला गया था। इसके अनन्तर मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने आसाम पर भी आक्रमण किया, किन्तु वहाँ वह पराजित हुआ और शीघ्र ही मर गया। बंगाल दिल्ली के तुर्की शासकों के अधीन रहा। उस पर खिल्जी विजेता के वंशज राज्य करते रहे।

दिल्ली से कुतुबुद्दीन ने सबसे प्रथम पड़ौसी विद्रोही सरदारों का दमन किया और गंगा-यमुना के बीच के प्रदेशों को कोल (अलीगढ़) तक जीत लिया। ११९५ में ऐबक ने गुजरात विजय किया और फिर चन्देलों से कालिंजर छीन लिया। इसके विपरीत मुहम्मद गूरी को मध्य एशिया में ख्वारिज्म के शाह के हाथों कई बार परास्त होना पड़ा और उसकी सारी शक्ति और सम्मान कम हो गया। १२०५ में खोखरों ने, जो मुल्तान के उत्तर में जेहलम और सिन्धु नदी के बीच के प्रदेशों में रहते थे, लाहौर पर अधिकार कर लिया और बहुत बलवान हो गए। मुहम्मद गूरी स्वयं आ पहुँचा और जेहलम और चनाव के बीच में अपनी सेना के डेरे डाल दिए, जहाँ घोर संग्राम हुआ जिसमें खोखरों की पराजय हुई। उनके साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार किया गया। सहस्रों खोखरों को मार डाला गया और अनेक को दास बना लिया गया। किन्तु जब सुलतान गज़नी को लौट रहा था तो खोखर एक रात्रि में उसके डेरे में घुस गए और उसको मौत के घाट उतार दिया।

मुहम्मद गूरी का चरित्र : मुहम्मद गूरी महमूद जैसा युद्ध-कुशल नहीं था। उसको मध्य एशिया में अपने शत्रुओं से परास्त होना पड़ा था। भारत में भी उसको सर्वत्र ही विजयलक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई थी। किन्तु कुछ भी हो, वह भारत में अपना राज्य स्थापित करने का इच्छुक था। महमूद ने भारत में राज्य स्थापित नहीं किया क्योंकि उसको ऐसा करने की लालसा नहीं थी। उसका लक्ष्य तो भारत से धन और जन लाकर अपने साम्राज्य को मध्य एशिया में दृढ़ और विस्तृत बनाना था। उसकी सेना में तरह-तरह के लोग थे, जैसे तुर्क, मुगल, अफगान, फारस-निवासी,

अरब और हिन्दू, जो सब के सब उसके नेतृत्व से प्रेरित होकर कार्य करते थे। धीरे-धीरे १५० वर्ष में ये सब लोग एक ही धर्म के बन्धन में बँध गए, और कदाचित् इसीसे उत्साहित होकर मुहम्मद गूरी ने भारत में राज्य की नींव डालनी चाही थी।

गुलाम या दास वंश

मुहम्मद के पक्ष में एक बात बड़ी उपयोगी यह थी कि उसकी सेना में अनेक तुर्की दास थे जो बड़े योग्य थे और उसीके समान महत्वाकांक्षी थे। उनमें कुतुबुद्दीन ऐबक सबसे योग्य था, जिसे सुल्तान ने अपने कार्य को पूरा करने के लिए भारत भेजा था। लगभग समस्त उत्तरी भारत को जीत लेने के बाद ऐबक ने शासन-प्रबन्ध को सुधारना चाहा। हिन्दू राजाओं ने उसका आधिपत्य मान लिया था। उनको मुसलमान बनने के लिए विवश नहीं किया गया। उनको इस्लामी राज्य में बसने के बदले में जजिया (एक प्रकार का कर जो केवल हिन्दुओं पर था) देना पड़ता था। धर्म के मामले में वह कट्टर था। उसने हिन्दुओं के अनेक मन्दिर अजमेर, बनारस, दिल्ली और अन्य स्थानों में नष्ट किए और उनके मलवे से मस्जिदें बनवाईं। इन सब बातों को छोड़कर कुतुबुद्दीन बड़ा दयालु और उदारचित था। अपनी सल्तनत को दृढ़ बनाने के लिए उसने अन्य तुर्की दासों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए जिन्होने देश के अन्य भाग जीते थे। केवल चार वष राज्य करने के बाद वह लाहौर में सन् १२१० में चौगान खेलते हुए घोड़े से गिरकर मर गया।

इल्तुत्मिश का शासन : इल्तुत्मिश इलबारी फिर्के के एक उच्च वंश का तुर्क था। वह अति सुन्दर तथा बुद्धिमान और होनहार युवक था। इस कारण उसके भाइयों ने ईर्ष्या से उसको एक सौदागर के हाथों बेच डाला था। इसी दशा में वह भारत लाया गया और उसके गुणों से प्रसन्न होकर उसको ऐबक ने खरीद लिया। ऐबक के शासन-काल में इल्तुत्मिश ने बहुत उन्नति की। वह ग्वालियर और बरन का सूबेदार बनाया गया और अन्त में ऐबक की मृत्यु के समय वह बढाइयों के सूबे का शासक था। ऐबक ने अपनी एक बेटी से उसका विवाह कर दिया था जिसके कारण उसका राजनीतिक महत्व और भी बढ़ गया था।

उत्तर-भारत की राजनीतिक परिस्थिति और इल्तुत्मिश की समस्याएँ

ऐबक ने मुसलमानी राज्य की स्थापना तो कर दी थी पर वह उसका संगठन न कर पाया था। इस समय तीन मुख्य समस्याएँ दिल्ली के सुल्तान के सामने थीं, जिनको हल किये बिना वह राज्य को चिरस्थायी नहीं बना सकता था। इन्हीं का समाधान करने के प्रयत्न में इल्तुत्मिश और उसके उत्तराधिकारी लगे रहे और उन की सफलता की मात्रा के अनुसार उनकी योग्यता का अनुमान किया जा सकता है।

सबसे बड़ी समस्या यह थी कि दास वंश के सुल्तान मुहम्पद गूरी के सैनिकों में से ही थे। वे किसी प्राचीन राजवंश के न थे। सभी एक बिरादरी के होने के नाते मुहम्मद के उत्तरधिकारी बनने का हक अपना-अपना मानते थे। इसलिए सभी

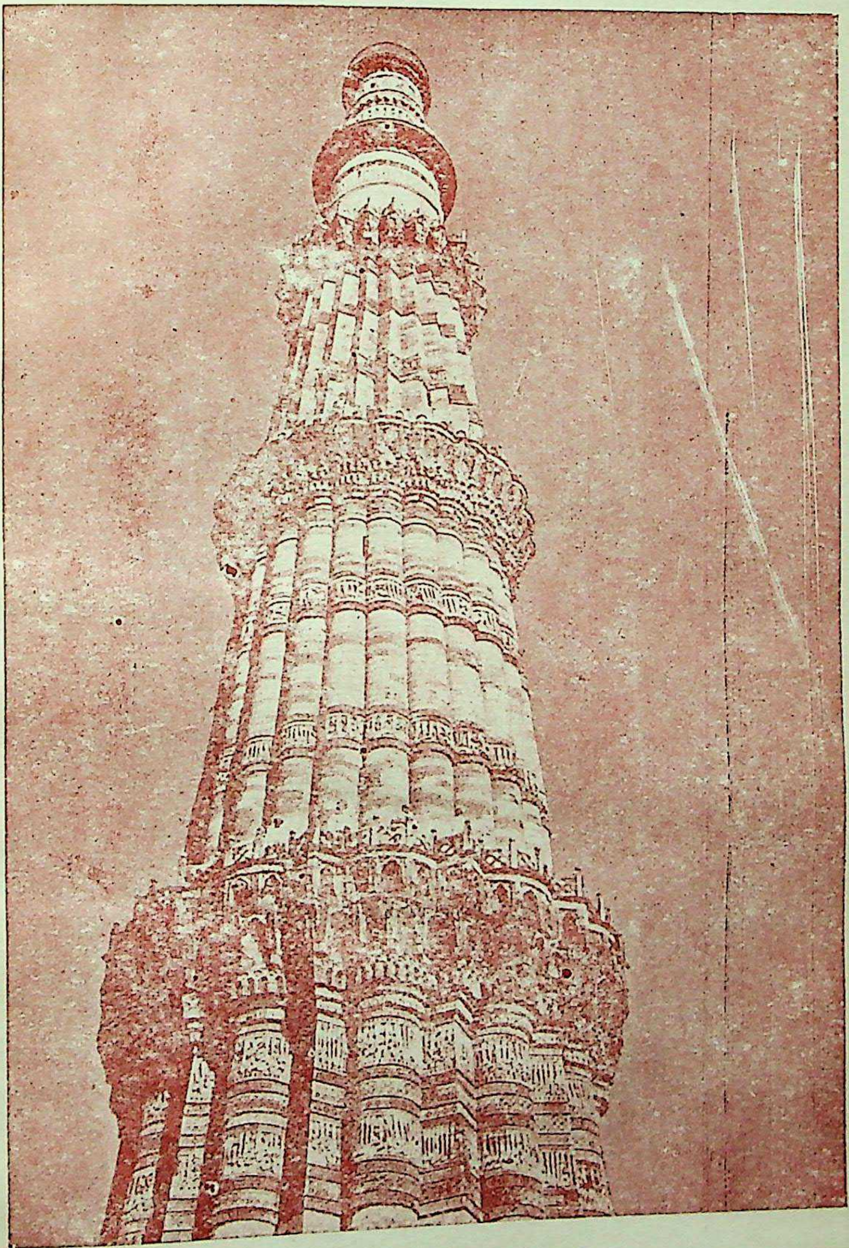

कुतुबमीनार (१२वीं शताब्दी के अन्त में)

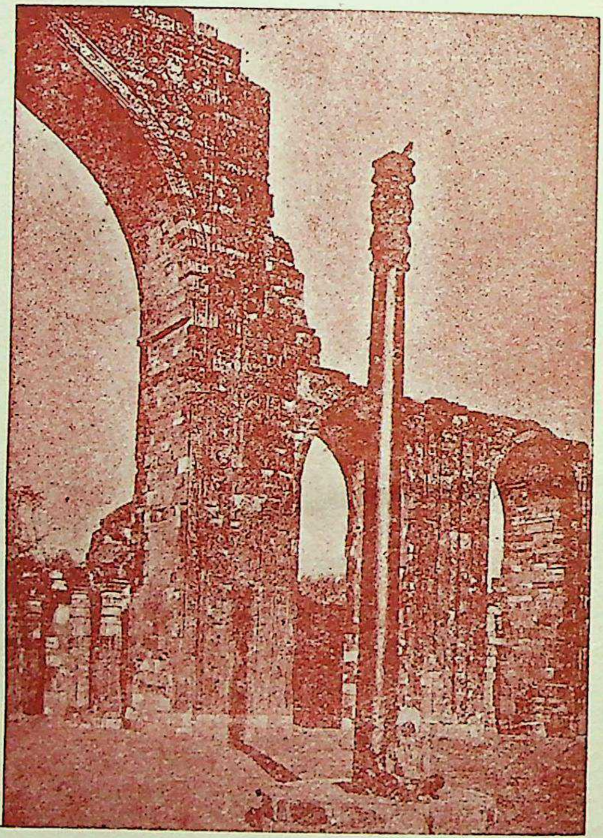

कुतुब मीनार के समीप कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद की मेहराबों का एक भाग। इसे कुतुबुद्दीन ऐबक ने ११९३ में बनवाया था। सामने विख्यात लोह-स्तम्भ है जिसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजयों का स्मृति-स्तम्भ बतलाया जाता है। इसे विष्णुपद पहाड़ी से लाकर यहां खड़ा किया गया है।

सुल्तान का पद प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे और इस ओर सचेष्ट रहते थे। यदि दिल्ली की गद्दी प्राप्त करना उन सबके हाथ में न था तो वे अपने अलग-अलग सूबों में स्वतन्त्र राज्य कायम करने पर उतारू रहते थे। साथ ही इन तुर्की सरदारों की यह इच्छा थी कि समस्त बड़े-बड़े पद तथा उच्च अधिकार उनके सिवाय किसी हिन्दुस्तानी को न मिलें चाहे वह मुसलमान हो या हिन्दू। इस संकुचित नीति का फल यह हुआ कि हिन्दुस्तानी मुसलमानों का दल पैदा हो गया जो तुर्कों के समान राज्याधिकार और पदों को प्राप्त करने का इच्छुक था। इन दलों के परस्पर वैमनस्य तथा विद्रोह-वृत्ति से राज्य की रक्षा करने की समस्या प्रतिक्षण सुल्तानों के सामने बनी रहती थी।

दूसरी समस्या उन हिन्दू राजाओं और सैनिकों की थी जो अपनी खोई हुई स्वाधीनता को भूल नहीं पाये थे। सुल्तानों की शासन-नीति भी कभी इतनी उदार तथा प्रजा-हितकारी न हुई जिस से जनता में उनके प्रति श्रद्धा तथा आदर के भाव उत्पन्न होते। परिणाम इसका यह हुआ कि हिन्दुओं के छोटे-बड़े सैनिक जगह-जगह विद्रोह करते रहते थे और सुल्तानों का अधिक समय इन्हीं विद्रोहों के दमन करने में व्यतीत होता था।

तीसरी समस्या थी पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा की। यह समस्या इल्तुतमिश के शासन-काल में मुगलों के हमले शुरू हो जाने के कारण बहुत ही भयानक बन गई थी। पहले तो चंगेज़खाँ ने मध्य एशिया के ख्वारज्मि शाह को मार भगाया और उसने हिन्दुस्तान की सरहद में शरण ली। फिर मध्य एशिया में ऐसी राजनीतिक अव्यवस्था थी कि जिसके कारण बहुत से मुगल सरदारों को अपना देश छोड़कर हिन्दुस्तान की तरफ आना पड़ा था। इसके अतिरिक्त वे लूट-मार करने के लिए भी लाखों की तादाद में हिन्दुस्तान में घुस आते थे।

पश्चिमोत्तर सीमा की समस्या के जटिल बनने का एक और भी कारण था। जेहलम और सिन्धु के बीच की भूमि में बसने वाली प्राचीन खोखर जाति तुर्की आक्रान्ताओं का सदा से विरोध करती रही। महमूद गज़नी के मुकाबले पर उन्होंने आनन्दपाल शाही की बड़ी वीरता के साथ सहायता की थी और इन्हीं के कारण महमूद परास्त होने से बाल-बाल बचा था। ये लोग मुहम्मद गूरी के विरुद्ध भी बड़े जोर से लड़े थे। उन्होंने उसका वध किया था। और जब हिन्दुस्तान पर तुर्कों का राज्य कायम हो गया, तब भी खोखर सदैव उनके शत्रु बने रहे और उनके विरुद्ध मुगल आदि बाहरी हमलावरों को हर प्रकार की सहायता देते रहे। खोखरों के प्रति तुर्क सुल्तान कभी ऐसी नीति न बना सके जिससे वे उनके मित्र बन जाते। तुर्कों की पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा की समस्या इन्हीं कारणों से बहुत काल तक अत्यन्त गहन और गम्भीर बनी रही।

इन मुख्य समस्याओं के अतिरिक्त एक समस्या सुल्तानों के सामने देश में सुख-शान्ति स्थापित करने तथा शासन व्यवस्था का नये सिरे से निर्माण करने की

थीं। यह रचनात्मक कार्य इन सुल्तानों के लिए, जो इस देश के पुराने रीति-रिवाज तथा राज-काज के ढंगों को न जानते थे, अत्यन्त कठिन था।

इल्तुत्मिश का कार्य : इल्तुतिमश ने उपरोक्त समस्याओं का सामना बड़े धैर्य तथा योग्यता के साथ किया और बहुत हद तक उनको सुलझा दिया। उसका राज्य आरम्भ में केवल दिल्ली बनारस तक था। इसके अन्दर भी तुर्की तथा हिन्दू सरदार बराबर विद्रोह पर उतारू रहते थे। बाकी के सब सूबे स्वतन्त्र हो बैठे थे। सबसे पहले उसने विद्रोही तुर्कों का दमन करना आवश्यक समझा। १२१६ में यल्दुज को और अगले वर्ष नासिरुद्दीन कुबाचा को लाहौर से निकाला। १२२१ में मुगलों के हमले शुरू हो गए। हम कह आये हैं कि चंगेजखाँ से हारकर ख्वारज्मियाँ का शासक जलालुद्दीन भागता हुआ भारतीय सीमा तक पहुँचा और लाहौर में आकर रहने लगा। वहाँ से उसने दिल्ली के सुल्तान से प्रार्थना की कि उसे अपनी राजधानी दिल्ली में आने की आज्ञा दें। किन्तु इल्तुतिमश ने मुगलों के भय से सल्तनत को बचाने के लिए यह आवश्यक समझा कि उनके शत्रु के प्रति मित्र-भाव प्रदर्शित न करे। इसलिए उसने जलालुद्दीन को एक बहाना करके दिल्ली आने से रोक दिया। सौभाग्य से चंगेज़खाँ की सेना ने हिन्दुस्तान की गर्मी के कारण देश के अन्दर घुसने से इंकार कर दिया और वह सिन्धु के किनारे से वापस लौट गया। इस प्रकार देश एक बड़े भयानक हमले से बचा।

इन कामों से छुट्टी पाकर सुल्तान ने सन् १२२५ में बंगाल के शासक गयासुद्दीन पर चढ़ाई करके उसको अपना प्रभुत्व स्वीकार करने को मजबूर किया। **१२२६ में उसने बड़ी कठिनता से रणथम्भौर का किला फिर से जीता और उसी साल मण्डावर के किले पर अधिकार किया,** जिसका शासक उस समय राहूप अग्रवाल था।

हिन्दुस्तान पर इस प्रकार अधिकार जमाने के पश्चात् तुरन्त उसको सिंध की ओर मुड़ना पड़ा। यहाँ कुबाचा स्वतन्त्र होकर राज्य कर रहा था। १२२७ में उसने कुबाचा पर चढ़ाई करके उसे नष्ट किया और सिंध के सूबे पर अपना अधिकार जमा लिया।

अपनी स्थिति को स्थायी बनाने के लिए सुल्तान ने यह आवश्यक समझा कि बगदाद का खलीफा उसके राज्याधिकार को स्वीकार कर ले। इसलिए उसने खलीफा से प्रार्थना करके एक घोषणा-पत्र द्वारा अपनी सुल्तान की उपाधि स्वीकार करा ली। खलीफा ने इल्तुतिमश के लिए अपने एल्ची द्वारा एक खिलत भिजवाई जिससे सुल्तान का मान बहुत बढ़ गया। सन्१२२६ से ३० तक वह फिर बंगाल के विद्रोही शासक का दमन करने में लगा रहा और अन्त में अलाउद्दीन जानी को उस सूबे का शासक नियुक्त किया। इन्हीं दिनों उसके बड़े बेटे नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गई।

१२३२ के आरम्भ में उसने ग्वालियर के किले पर १० महीने तक घेरा डाले रखने के बाद उसको अपने अधिकार में किया। वहाँ का राजा मंगलदेव बचकर भाग गया और इल्तुतमिश ने किले में घुसकर ७०० निर्दोष हिन्दुओं को तलवार के घाट

उतार दिया। १२३३ में उसने बलबन को मोल लेकर अपने गुलामों की मण्डी में भर्ती किया।

इतने दिन तक संघर्ष करने के बाद इल्तुतमिश फिर से उतने प्रदेश पर अधिकार कर पाया जिसको ऐबक जीत चुका था। अब उसका अधिक विस्तार करने की इच्छा से उसने मालवा पर चढ़ाई की और मार्ग में भेलसा को लूटता हुआ वह उज्जैन पहुँचा। वहाँ उसने नगर को बेदर्दी से लूटा और महाकाल के प्राचीन मन्दिर सहित समस्त देव-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया। मन्दिर की प्रतिमाओं को दिल्ली लाकर अपनी मस्जिद की सीढ़ियों पर चुनवा दिया।

१२३६ में खोखरों का विद्रोह दबाने के लिए सुल्तान रवाना हुआ, किन्तु मार्ग में बीमार पड़कर दिल्ली लौट आया और थोड़े दिन बाद उसकी मृत्यु हो गई। मरते समय उसने तुर्की सरदारों को अपने पास बुलाकर उनसे प्रार्थना की कि वे उसकी बेटी रजिया के सुल्तान बनने में सहायता करें क्योंकि वह अपने लड़कों को अयोग्य समझता था।

इल्तुतमिश का चरित्र और कार्य : दास वंश के सुल्तानों में इल्तुतमिश सबसे महान् और योग्य था। इसको सबसे अधिक जटिल समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जिस समय वह गद्दी पर बैठा वह चारों ओर शत्रुओं तथा विद्रोह की भावनाओं से घिरा हुआ था। उसको शासन-संगठन का भी नये सिरे से निर्माण करना था। इल्तुतमिश की महानता इस बात से प्रमाणित है कि उसने इन सब समस्याओं का बड़ी सावधानी तथा चतुराई के साथ समाधान किया, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। इस प्रसंग में यह भी याद रखना आवश्यक है कि वह पहला सुल्तान था जिसको केवल अपने भरोसे पर और बिना किसी बाहरी सहायता के इतने बड़े साम्राज्य के भार को सँभालना पड़ा। ऐबक को तो गजनी से सहायता मिलती रहती थी, किन्तु इल्तुतमिश के समय यह सब बन्द हो गई थी। उसने ऐबक के जीते हुए प्रदेशों पर पूरी तरह नियन्त्रण स्थापित किया और फिर मालवा तथा सिंध के दो नये प्रान्त जीतकर साम्राज्य का विस्तार किया। शासन को व्यस्थित करने में सुल्तान ने प्रशंसनीय कार्य किया, यद्यपि उस समय तक यह सम्भव न था कि केन्द्रीय सरकार प्रत्येक सूबे में एक ही नमूने की शासन-व्यवस्था स्थापित कर सकती। अतएव सुल्तान को स्थानीय शासकों को अपने-अपने प्रदेश पर आन्तरिक शासन कार्य का पूरा अधिकार देना आवश्यक था। किन्तु उन सब पर केन्द्र का आतंक बिठाने में इल्तुत्मिश ने कोई कसर न रखी। उत्तर-पश्चिमी सीमा की समस्या को भी उसने बड़ी बुद्धिमानी तथा सफलता के साथ हल किया। धार्मिक नीति उसकी सामान्य तुर्की विजेताओं से कुछ भिन्न न थी। यद्यपि इल्तुत्मिश बड़ा धर्म-परायण और विशेषतः सूफियों तथा सन्तों का भक्त था और उनकी संगति में काफी समय बिताता था, तथापि हिन्दुओं के प्रति वह किसी प्रकार कम कट्टर न था। अपने राज्य के अन्दर तो यह सम्भव न था कि जनता पर दिन-दिन अत्याचार किया जाय और उनके मन्दिरों

आदि को तोड़ा जाय, परन्तु अवसर पाने पर या नये प्रदेश जीतने पर अन्य मुसलमानों के समान वह हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ने और लूटने तथा नष्ट करने में कोई कसर न रखता था। स्पष्ट ही है कि धार्मिक संकीर्णता से बरी होना उस समय के मुसलमान राजाओं के लिए अत्यन्त दुष्कर था। किन्तु इस संकीर्णता ने उसकी अन्य योग्यताओं को लुप्त नहीं कर दिया था। इल्तुतिमश विद्या तथा कला-प्रेमी भी था। ऐबक की बनाई हुई मस्जिद को दोनों ओर १२३० में उसने दुगने से भी अधिक बढ़ा दिया था। इसी मस्जिद के उत्तरी कोने के पीछे एक अत्यन्त अलंकृत कब्र है जो इल्तुतिमश की जान पड़ती है। कुतुबमीनार के निर्माण में भी इल्तुतिमश ने काफी हिस्सा लिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इल्तुतिमश तुर्की राज्य तथा संस्कृति का वास्तविक संस्थापक था।

रज़िया, बहराम और मसूद का शासन (१२३६-४६)

इल्तुतिमश के बाद उसकी बेटी रजिया अपने भाई रुकनुद्दीन को बड़ी चतुराई से तख्त से हटाकर गद्दी पर बैठी। वह यह खूब अच्छी तरह समझती थी कि राज दरबार में तुर्की सरदारों का एक ऐसा शक्तिशाली दल खड़ा हो गया है जो राज्य की शक्ति को अपने हाथ में रखकर सुल्तान को अपने नियन्त्रण में कठपुतली के समान रखना चाहता है। इन तुर्कों में दो प्रतिरोधी दल बन गये थे। इन तुर्कों में सबसे कुटिल, आदर्शहीन तथा निःशंक षड्यन्त्री बलवन था। रजिया ने इस परिस्थिति का फायदा उठाया। इसके विरुद्ध हाँसी, लाहौर और बदायूँ के शासक तथा जुनैदी वजीर एक गुट बनाकर दिल्ली पर चढ़ आये। किन्तु रजिया ने बड़ी चालाकी से उन सबमें फूट डलवा दी और उनको एक-दूसरे पर इतना सन्देह हो गया कि उनके मुख्य-मुख्य नेता भाग निकले और जुनैदी भी भागकर उत्तर की पहाड़ी में जा छिपा और वहीं मर गया। रज़िया की धाक जम गई। सबने उसको सुल्तान मान लिया। शान्ति का अवसर पाकर रजिया ने रणथम्भौर के किले को फिर से लेने का प्रयत्न किया किन्तु उसे इसमें सफलता नहीं मिली।

रज़िया बड़ी महत्वाकाँक्षी थी। अपने को स्थायी रूप से स्थापित हुआ जान कर उसने पर्दे को त्याग दिया और मरदाना पहनावा पहनकर दरबार में बैठना शुरू किया। उसके इस कार्य से कट्टरपंथियों में काफी असंतोष फैला और उसके विरोधी दल को फिर से सर उठाने का अवसर मिला। उसके मुकाबले पर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए रज़िया ने याकूत नामक एक हब्शी को बादशाही अस्तबल का वज़ीर बनाया। इससे तुर्की दल में विरोध की आग भड़क उठी और प्रान्तों में बलवे हो गये। रज़िया को विवश हो इन बलबों का दमन करने के लिए तैयारी करनी पड़ी। तुर्की अमीरों से उसकी मुठभेड़ भटिण्डा के शासक अलतूनिया के नेतृत्व में हुई, किन्तु रजिया और याकूत हार गये और याकूत भाग गया। रज़िया ने एक अन्तिम प्रयास अपनी रक्षा करने का और किया। अलतूनिया तुर्की अमीरों के वर्ताव से असंतुष्ट था। इसका

लाभ उठाकर रज़िया ने उससे शादी कर ली। इधर तुर्की अमीर दिल्ली पर कब्जा करके इल्तुतमिश के लड़के बहराम को तख्त पर बैठा चुके थे और अपने एक नेता को वजीर बना दिया था। तब अलतूनिया और रज़िया ने दिल्ली पर चढ़ाई करके उस को फिर से जीतने की कोशिश की। किन्तु वे हार गये और कहा जाता है कि उनके साथियों ने ही उनको मार डाला।

बहराम : इधर बहराम की युवावस्था का लाभ उठाकर अमीरों ने राज्य पर पूरा अधिकार जमाने का प्रयत्न किया। ये अमीर वही थे जिनका संघ इल्तुतमिश ने तुर्की राज्य को स्थायी बनाने के लिए व्यवस्थित किया था। इल्तुतमिश ने इनको अपनी योग्यता से काबू में रखा था। किन्तु उसके कच्चे उत्तराधिकारियों के काल में इन दोनों को वश में रखना असंभव हो गया। बहराम के गद्दी पर बैठते ही इन लोगों ने ऐसा रवैया शुरू किया जिसको बहराम सह नहीं सका। उसने एक तरकीब से उनके नेता ऐतिगीन को मरवा डाला। परन्तु वजीर निजामुलमुल्क बच गया। इधर लाहौर पर मुगलों का हमला हो गया था। परन्तु इन अमीरों के झगड़ों के कारण बहराम मुगलों को हटाने के लिए सेना न भेज सका और उन्होंने लाहौर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अमीरों ने मौका पाकर बहराम को कत्ल कर दिया और इल्तुतमिश के पोते मसूद को सुल्तान बनाया।

उदार सुल्तान मसूद : मसूद बड़ा योग्य तथा साहसी नवयुवक था। उसके राजत्वकाल में चारों ओर विद्रोह शुरू हो गये और मुगलों के भी दो हमले हुए। इन सबका प्रतिकार करने के लिए मसूद ने बड़ी फुर्ती तथा साहस से काम लिया। इन गुणों के अतिरिक्त इस युवक सुल्तान ने एक ऐसे अद्वितीय गुण का परिचय दिया जो शायद ही किसी मुसलमान बादशाह में पाया जाता हो। उसने बड़ी उदारता के साथ अपने दो चाचाओं (अर्थात् नासिरुद्दीन और जलालुद्दीन) को कैद से मुक्त करके एक-एक सूबे का शासक बना दिया। ये दोनों केवल तेरह-चौदह बरस के बालक थे। कोई दूसरा सुल्तान बजाय शासक बनाने के इन लोगों को अवश्य मरवा डालता। इनमें से नासिरुद्दीन महमूद ने अपने भतीजे और इतने महान् उपकारी सुल्तान को उसकी उदारता का यह बदला दिया कि उसके विरुद्ध षड्यन्त्र में शामिल होकर उसको मरवा डाला और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। यह घटना १२४६ के मध्य में हुई। मसूद जैसे अनुपम, उदार तथा साहसी युवक का केवल-मात्र दोष यह था कि वह पुराने मक्कार तुर्की अमीरों से दबकर न रहना चाहता था और उन दुष्टों के गुट को वश में रखने लिए उसे काफी अनुभव न था।

नासिरुद्दीन महमूद (१२४६-१२६६) : नासिरुद्दीन महमूद इल्तुतमिश का एक छोटा लड़का था। तत्कालीन लेखक मिनहाज ने उसकी दयालुता, सादगी, धर्म-परायणता तथा प्रजा-वत्सल होने की बड़ी प्रशंसा की है। परन्तु उसका वास्तविक चरित्र इसके बिल्कुल विपरीत था। हम अभी बतला आये हैं कि उसने राजगद्दी के लालच से मसूद को किस प्रकार नष्ट करवाया। उसकी आँखों में अपने परोपकारी

भतीजे के प्राणों अथवा कृतज्ञता का कुछ भी मूल्य न था। मिनहाज़ का यह कहना भी निराधार है कि सुल्तान के केवल एक पत्नी थी, और वह अपना निजी व्यय कुरान की नकलें करके चलाता था। स्वयं मिनहाज़ बतलाता है कि एक बार सुल्तान ने उसकी बहन को चालीस दासियाँ तथा अन्य बहुत-सी मूल्यवान वस्तुएँ उपहार में दी थीं। इस प्रकार के और भी अनेक प्रमाण हैं जिससे यह स्पष्ट है कि नासिरुद्दीन भी अन्य सुल्तानों के समान ही सुख से रहता था। मिनहाज ने अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु नासिरुद्दीन का ऐसा चित्र खींचा है मानो वह बड़ा ही साधु-स्वभाव, दयालु व त्यागी हो। किन्तु वास्तविक चरित्र इस सुल्तान का इसके सर्वथा विपरीत था। उसका चरित्र क्रूरता की काली करतूतों से भरा पड़ा था। दुनिया की कोई ऐसी वस्तु न थी, कोई इतना प्रिय सम्बन्धी न था, जिसे वह अपने स्वार्थ की वेदी पर चढ़ा देने से अपने जीवन में कभी भी हिचका हो।

राजनीतिक क्षेत्र में उसकी परिस्थिति अपने पूर्वगामी तीन सुल्तानों के समान ही संकटमय थी। उसे भी तुर्की सरदारों के गुट से भुगतना था। इनका नेता इस समय बलबन था। महमूद की दशा में पिछले सुल्तानों से एक भेद अवश्य था। उसको पूरी तरह विदित था कि इन तुर्की सरदारों ने अपनी आकांक्षा-पूर्ति के कारण किस प्रकार रजिया और उसके उत्तराधिकारी दो सुल्तानों को विनष्ट किया था। ऐसी नाजुक परिस्थिति में उसकी सलाहकार उसकी बूढ़ी माँ थी जिसने सफेद-स्याह हर प्रकार के दिन देखे थे। अतएव वे दोनों खूब समझते थे कि बलबन को हर प्रकार से सन्तुष्ट रखने से ही उनका कल्याण है, अन्यथा उनका भी वही हाल होगा जो पहले सुल्तानों का हुआ था।

नासिरुद्दीन बहुत चाहता था कि राज्य के हर प्रकार के कामों में वह एक सुयोग्य सुल्तान के समान पूरी तरह भाग ले और उसने शुरू में इस बात का प्रयत्न भी किया।

किन्तु यह देखकर कि बलबन राज-काज में सुल्तान का हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं चाहता था, उसने दबकर चुप रहने की नीति में ही अपनी भलाई समझी। किन्तु वह मन-ही-मन कुढ़ता और बलबन के आतंक से मुक्त होने के अवसर की ताक में रहता था। वह अवसर उसे शीघ्र ही मिला। बलबन ने अपनी शक्ति के मद में तुर्की सरदारों से भी ऐसा बर्ताव किया था कि वे उसके दुश्मन बन गये थे। दूसरा दल उन हिन्दुस्तानी मुसलमानों का बलबन के विरुद्ध था जिनको तुर्कों ने कभी कोई बड़ा पद नहीं लेने दिया था और न उसके साथ आदर का व्यवहार किया था। इन हिन्दुस्तानी मुसलमानों को इस समय एक बड़ा योग्य नेता मिल गया जिसका नाम रैहान था।

इन दोनों दलों के विरोध के कारण बलबन निःशक्त हो गया। महमूद ने तुरन्त रैहान से सहायता लेकर इस परिस्थिति का लाभ उठाया, और बलबन को वजीर के पद से १२५२ में निकाल बाहर किया, और रैहान को उसके स्थान पर नियुक्त किया। रैहान ने वजीर बनते ही तुर्की पदाधिकारियों को हटाकर हिन्दुस्ता-

नियों को ऊँचे-ऊँचे पद दिये, और सुल्तान महमूद को इस प्रकार राज-काज में समुचित भाग लेने का अवसर दिया। रैहान ने यह भूल की कि लगभग सभी तुर्की अमीरों को उनके पदों से हटा दिया, जिससे वे उसके जानी दुश्मन बन गए और उसे निकलवाने तथा नष्ट करने पर तुल गए। इस उद्देश्य को पूरा करने हेतु उन्हें बलबन का नेतृत्व फिर से मानना पड़ा। बलबन को रैहान की सलाह से सुल्तान ने उसकी जागीर में हिसार भेज दिया, और फिर वहाँ से और भी दूर नागोर भेज दिया। बलबन ने बिना रोष दिखलाये इस आज्ञा का पालन इसलिए कर लिया कि वह अपनी नाजुक परिस्थिति को समझता था और उसकी शक्ति में रैहान का विरोध करना न था। अन्य तुर्की सरदारों का पतन होने के कारण बलबन को मौका मिला कि तुर्की दल को एकत्रित करके अपनी खोई हुई ऊँची स्थिति तथा शक्ति को फिर से प्राप्त करने के लिए उत्तेजित करे। बलबन ने जब देखा कि तुर्कों के दिलों में प्रतिक्रिया होने लगी है तो उसने इससे लाभ उठाया और उनको भड़काया कि वे संगठित होकर राजधानी की ओर प्रस्थान कर दें। किन्तु वे सुल्तान के साथ युद्ध करने से डरते थे, अतएव उससे शान्तिपूर्वक समझौता करना चाहते थे। नासिरुद्दीन ने देखा कि रैहान की स्थिति अब बिगड़ती जा रही है और अरक्षित है, इसी कारण उसने तुर्की दरबारियों से बातचीत आरम्भ कर दी, जिन्होंने शर्त रखी कि यदि रैहान को निकालकर बलबन को उसका पद पुन: दे दिया जाय तो वे राजभक्त बने रहेंगे। उनकी इस शर्त को कृतघ्नी सुल्तान ने अपनी जान बचाने के लिए बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लिया। रैहान को निकालकर प्रथम बदायूँ और बाद में बहराइच भेज दिया गया और अन्त में बलबन के षड्यन्त्र द्वारा, जो अब अपने पहले पद पर आरूढ़ हो चुका था, नष्ट कर दिया गया। पदारूढ़ होते ही बलबन ने उन सब लोगों से बदला लेना आरम्भ किया जो उसके पतन के कारण बने थे। रैहान के पश्चात् उसका वार सुल्तान की माँ पर हुआ जिसका जीवन इतना दुरूह बना दिया गया कि कहा जाता है कि उसने अपने बेटे सुल्तान से झगड़ा किया। **उस महत्वाकांक्षी कृतघ्न सुल्तान ने अपनी गद्दी सुरक्षित रखने के लिए बेचारी बूढ़ी मां को दरबार से निकाल दिया।** अन्त में सुल्तान की मृत्यु भी बलबन के षड्यन्त्र द्वारा हुई। यद्यपि इतिहासकारों ने इस विषय में चुप्पी साध ली है तथापि इस बात के काफी प्रमाण प्राप्त हैं। महमूद की मृत्यु के उपरान्त बलबन, जिसने अपनी स्थिति इतनी दृढ़ बना ली थी कि कोई भी उसका विरोध करने वाला शेष न रहा था, बिना तुर्की दरबारियों की अनुमति लिए ही, जिसकी उस समय प्रथा थी, राजसिंहासन पर बैठ गया।

बलबन : नासिरुद्दीन महमूद के शासन-काल में उन सब षड्यन्त्रों के अतिरिक्त, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, बलबन विद्रोहियों के दमन में व्यस्त रहा जो देश के भिन्न-भिन्न भागों में उत्तर-पश्चिमी सीमा पर फैले हुए थे। किन्तु ये विद्रोह बहुत सामान्य होते थे और उनका बुरी तरह दमन कर दिया जाता था। बलबन की नीति के कारण देश में शान्ति स्थापित न रह सकी और वह जनता का

विश्वास न पा सका। अतएव सिंहासन पर बैठते ही बलबन का ध्यान देश की अशान्ति और प्रजा में असंतोष की ओर गया, जिसको हटाने के लिए उसने अपना सबसे अधिक समय और ध्यान दिया।

बलबन का राजत्वकाल (१२६६-१२८६) : हम ऊपर कह चुके हैं कि गयासुद्दीन बलबन के गद्दी पर बैठने के समय राज्य की आन्तरिक दशा शान्तिमय न थी। सुल्तानों की संकीर्ण नीति तथा हिन्दू धर्म के ऊपर उनके आघातों के कारण वे हिन्दू जनता में विश्वास और सहानुभूति के भाव उत्पन्न न कर पाये थे। राजा और प्रजा का पारस्परिक द्वेष तथा वैमनस्य बढ़ता ही जाता था इसका कारण यह था कि सुल्तानों का एक-मात्र उद्देश्य केवल पाशविक बल से प्रजा का दमन करके अपनी वासनाओं तथा अपनी निरंकुश धार्मिक नीति को पूरा करना ही था। प्रजा का हित या उसके साथ प्रेम-प्रदर्शन करना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते थे। इस नीति का सबसे बड़ा पोषक बलबन था। प्रजा-वात्सल्य तथा प्रजा-पालन की नीति, जिससे शान्ति स्थापित हो सकती थी, बलबन के कठोर मस्तिष्क में घुस ही न सकती थी। प्रजा के गहरे असंतोष और अविश्वास का परिणाम यह हुआ कि राज्य के कोने-कोने में विद्रोह की आग भड़क उठी। आजकल के कुछ भोले-भाले पाठ्यपोथी लेखकों ने अनेक भ्रान्ति-मूलक बातों में एक बात यह भी लिखी है कि बलबन ने अपनी वज़ारत के काल में समस्त विद्रोहों का बड़ी कठोरता के साथ पूरी तरह दमन कर दिया था। परन्तु फिर वही लेखक उसके राज्य के वर्णन के आरम्भ में ही लिखते हैं कि गद्दी पर बैठते ही बलबन को विद्रोहियों की समस्या का सामना करना पड़ा। ये लेखक भूल जाते हैं कि थोड़ी ही देर पहले वे क्या कह आये हैं।* वास्तव में बलबन के जो शासन-सिद्धान्त थे और जिस निजी स्वार्थ को वह अपने समस्त जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाकर अपना राज्य-कार्य करता था उनसे शान्ति तथा प्रजा का विश्वास कभी स्थापित हो ही नहीं सकते थे। समस्या यह थी कि शांति की स्थापना दमन-नीति से हो सकती है अथवा दमन और प्रेम से। इस प्रश्न का उत्तर सुल्तानों के पास एक ही था—दमन ! और बलबन तो दमन-नीति का अवतार था। उसकी नीति थी कि अपने विद्रोहियों तथा विरोधियों को इतना कठोर दण्ड दिया जाये कि वे भय के मारे सिर न उठा सकें।

परन्तु यह नीति न सफल होने वाली थी, न हुई। अपनी वज़ारत के काल में जैसा हम बतला चुके हैं, उसने विद्रोहियों को समूल नष्ट करने और भयानक से भयानक यन्त्रणाएँ देने में कोई कसर न की, किन्तु देश में शांति स्थापित होना तो दूर बलवों की आग और भी जोर से भड़की। इससे स्पष्ट है कि बलबन की नीति सदा निरर्थक रही।

बलबन के समय की मुख्य घटनाएँ : बलबन ने सुल्तान के रूप में पूरे २०

---

*देखो डॉ० ईश्वरीप्रसाद कृत भारत का इतिहास।

वर्ष राज्य किया। इस अवकाश में उसे बहुत-सा समय विद्रोहों के दमन करने में लगाना पड़ा। रचनात्मक कार्य करने के लिए उसे बहुत ही कम अवसर मिला।

बलबन तुर्की अमीरों तथा दरबार के ऊँचे पदाधिकारियों पर अपना आतंक और रौब-दाँब जमाने के लिए बहुत ही संजीदा तरीके से व्यवहार करता था। उसको दरबार के शिष्टाचार का बहुत ख्याल था। उसने दरबार की अनेक कुरीतियों मदिरापान, जुआ आदि को बिलकुल बन्द कर दिया। वह किसी छोटे दर्जे के आदमी से मिलना तक पसन्द नहीं करता था। दरबार में इतनी गम्भीरता से रहता था कि कभी किसी ने उसके मुंह पर हँसी तक न देखी थी। उसका एकमात्र ध्येय यह था कि सल्तनत को अपनी सन्तान के लिए धरोहर बना जाय। उसने इतनी अटूट गम्भीरता इसी कारण धारण की थी कि वह बड़े-बड़े तुर्की अमीरों को नष्ट करना चाहता था ताकि उसके पश्चात् कोई शक्तिशाली तुर्क बाकी न रह जाय, जो उसके वंशजों के मुकाबले राज्य लेने का दावा कर सके। उदाहरण के लिए **उसने बदायूँ के शासक को, जो** ८००० सवारों का सरदार था, **तथा अवध के सूबेदार हैबतखां को केवल एक आदमी मार डालने पर इतनी निर्दयता के साथ दण्ड दिया कि वे दोनों मर गये**। इसी प्रकार अपने चचेरे भाई, बड़े वीर सैनिक, शेरखाँ संकर को विष दिलवाकर मरवा डाला। बलबन के भय से बंगाल के शासक ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

हिन्दुओं के विद्रोह : मेवात के हिन्दू सरदारों ने तुर्कों के राज्य को कभी भी स्वीकार नहीं किया था। वे बड़े निडर, स्वतंत्रता-प्रेमी तथा लड़ाकू थे। शुरू से ही वे बार-बार बलवे करते रहते थे। नासिरुद्दीन महमूद के समय में भी उनके कई बलवों का बलबन ने बड़ी बेरहमी से दमन किया था। किन्तु वे लोग बार-बार विद्रोह कर बैठते थे। बलबन के राज्यकाल में उनका साहस इतना बढ़ा कि वे राजधानी तक धावा मारने लगे। मेवों के भय से दिल्ली का पश्चिमी द्वार बन्द रखना पड़ता था। बलबन ने इन मेवों को फिर से चुन-चुनकर मरवा डाला। शहर की रक्षा के लिए पुलिस आदि का विशेष प्रबन्ध किया। मेवों से छुट्टी भी न मिली थी कि दोआब के हिन्दुओं ने बलवा कर दिया और वे इतने प्रबल हो गये कि बंगाल और दिल्ली के बीच का रास्ता उन्होंने बन्द कर दिया। बलबन ने अपनी पुरानी नीति के अनुसार इन लोगों का अत्यन्त भयंकर रूप से दमन किया और बड़ी कठिनाई के साथ उनके स्त्री-बच्चों तक को कत्ल करवा डाला और उनके वास-स्थानों को नष्ट कर दिया। यह काम पूरा भी न हुआ था कि कटेहर के हिन्दुओं का इतना भारी विद्रोह हुआ कि बदायूँ और अमरोहा के शासक इसका दमन न कर सके। बलबन ने बड़ी भारी सेना तैयार करके इन पर अचानक छापा मारा, और उनके आठ वर्ष से ऊपर सब मर्दों को तलवार के घाट उतार दिया। बदायूँ, अमरोहा और सम्भल आदि जिलों को बिलकुल उजाड़ दिया।

पश्चिमोत्तर : पहले दो वर्षों में अन्दरूनी बलवों का इस प्रकार दमन करके

उसने पश्चिमोत्तर के पहाड़ों पर चढ़ाई की और अपनी सेना के लिए बहुत से घोड़े लाया। इसके बाद उसने उन सैनिकों की जागीरें छीन लीं जो या तो बहुत बूढ़े हो चुके थे या मर गये थे। इस पर बड़ा हाहाकार मचा। दिल्ली के कोतवाल की विशेष याचना पर सुल्तान ने उन लोगों की कुछ जागीरें वापस कर दीं। इस कार्यवाही से भी शम्सी अमीरी की शक्ति को बड़ा धक्का लगा।

मुगलों के हमले : हम कह आये हैं कि बलबन ने ईर्ष्या से शेरखां संकर को विष दिलवा दिया था। उसकी वीरता के कारण मुगल हमले रुके हुए थे। उसके स्थान पर बंगाल से तातारखाँ को बुलाकर नियुक्त किया। फल यह हुआ कि मुगल, खोखर, और अन्य हिन्दू लोग, जो शेरखां के भय से चुप थे, एक साथ उठ खड़े हुए। इनका दमन करने के लिए उसने अपने बड़े बेटे मुहम्मद को मुल्तान के नाके पर भेजा। १२७९ में फिर मुगलों के हमले शुरू हो गये। एक बार वे दिल्ली के पास पहुँच गये। परन्तु इस समय सेना की अवस्था अच्छी थी। मुगलों को आसानी से पीछे हटा दिया गया। कोई पाँच वर्ष तक उत्तर-पश्चिमी सीमा पर कोई विशेष उपद्रव न हुआ। १२८५ में तैमूरखां मुगल ने एक बड़ी सेना लेकर मुल्तान पर हमला किया। युवराज मुहम्मद ने बड़ी वीरता से उसको हराया। परन्तु स्वयं लड़ाई में मारा गया। उमकी मृत्यु से सल्तनत का दीपक बुझ गया। बलबन की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। युवराज मुहम्मद की तत्कालीन लेखकों ने बड़ी प्रशंसा की है। वह बड़ा गुणवान, विद्याप्रेमी और सहृदय युवक था। विद्वानों का बड़ा आदर करता था। सुविख्यात कवि अमीर खुसरो और अन्य बहुत से विद्वान् उसकी उदारता के पात्र थे। शेखसादी को भी उसने बुलवा भेजा था। बलबन की सारी आशाएँ उस पर निर्भर थीं। उसकी मृत्यु से बूढ़े सुल्तान को इतनी असह्य वेदना हुई कि वह थोड़े ही दिन बाद (१२८६) में परलोक सिधार गया।

पूर्वी-प्रदेश की घटनाएँ : इन्हीं दिनों बंगाल के शासक तुग़राल ने स्वच्छन्दता का झंडा खड़ा कर दिया। इस विद्रोह का दमन करने के लिए सुल्तान ने दो बार सेना भेजी परन्तु तुग़राल ने उसे हरा दिया। बहुत से सैनिक, जो बलबन की नीति से असन्तुष्ट थे, शत्रु से जा मिले। इस पर बलबन ने एक बड़ी सेना लेकर पहली बार दिल्ली को छोड़कर इतनी दूर जाने की तैयारी की। तुग़राल लखनौती छोड़कर भाग गया, परन्तु एक सैनिक ने उसको पकड़ लिया और उसका सिर काटकर सुल्तान के पास भेज दिया। फिर बलबन ने इस बलवे का बदला लेने के लिए अपनी नृशंसता का भीषण प्रयोग किया। लखनौती के बाज़ार में दो मील तक सूलियाँ गड़वाकर तुगराल के साथियों को उन पर चढ़वा दिया और उस तरफ के अन्य लोगों को भी अत्यन्त कठोर दण्ड दिये।

चलते समय बलबन ने अपने दूसरे बेटे बुगराखाँ को समाना की जागीर से बदलकर बंगाल का शासक बनाया और लखनौती का भयानक दृश्य दिखलाकर कहा कि यदि कभी विद्रोह किया तो उसका भी वही हाल किया जायगा।

मरते समय बलबन ने बुगराखां को उत्तराधिकारी बनाना चाहा। परन्तु वह साम्राज्य के बोझ से डरता था, अतएव बलबन ने युवराज़ मुहम्मद के लड़के कैखुसरो को उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा प्रकट की, परन्तु अमीरों ने इसके विपरीत बुगराखां के बेटे कैकुबाद को गद्दी पर बिठाया।

बलबन के शासन की सफलता और विफलता : तुर्क सुल्तानों का शासन-सिद्धान्त हम बतला चुके हैं। इस एकांकी प्रजा-हित-हीन नीति का फल यह हुआ कि पूरे १०० वर्ष के शासन में तुर्क सुल्तान कोई ऐसा रचनात्मक कार्य न कर पाये जिससे प्रजा में सुख-शान्ति और अपने राजाओं के प्रति विश्वास और प्रेम के भाव उत्पन्न होते। यह भी बतलाया जा चुका है कि इनमें से बलबन, जिसने वज़ीर तथा सुल्तान के रूप में पूरे चालीस वर्ष शासन किया और जो इस अवसर का बड़ा उत्तम प्रयोग कर सकता था, केवल पाशविक शक्ति तथा डंडे की नीति में विश्वास करता था। इस नीति का जो परिणाम हुआ उसका दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। उसकी कठोरता बलवों की ज्वाला को बुझाने विपरीत और अधिक भड़काने का ही कारण बनी। अपनी नीति का पूरी तरह पालन करने के लिए उसने गुप्तचर विभाग को विशेष महत्व दिया। कोई ऐसी घटना न हो पाती थी जिसकी सूचना सुल्तान को न पहुँच जाय। पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा के लिए उसने बड़ी चतुराई और ध्यान से काम किया। पश्चिमोत्तर प्रदेश के मुख्य-मुख्य स्थानों पर किले बनवाये और उनमें पूरी तैयारी के साथ सेनाएँ रखीं, तथा अनुभवी सैनिकों को बड़े-बड़े नाकों पर रखा। स्वतः कभी दिल्ली से दूर न गया। परन्तु अपने स्वार्थ में अन्धा होकर बलबन ने बड़े-बड़े तुर्की अमीरों को नष्ट करके सीमा-रक्षा के उपरोक्त सब साधनों को निरर्थक कर दिया। उसके इन साधनों से उसके पीछे आने वाले खिलजी सुल्तानों को कुछ सहायता तो मिली किन्तु सीमा पर सुयोग्य सैनिकों के अभाव में मुगलों के हमले बार-बार होने लगें, जिसकी बाढ़ से खिलजी सुल्तानों को लोहा लेना पड़ा। इस प्रकार बलबन की सरहदी नीति भी निष्फल-सी ही रही। उसकी आंतरिक नीति तो निरर्थक थी ही।

बलबन के उत्तराधिकारी : गद्दी पर बैठने के समय कैकुबाद नवयुवक ही था। उसको बचपन में इतने कठोर बन्धन में रखा गया था कि वह सुल्तान बनते ही अत्यन्त विलासी तथा दुराचारी हो गया। एक बार, इस अवस्था को देखकर, उसके पिता ने जो बंगाल का शासक था उससे भेंट की और उसको सँभलकर शासन करने तथा सतर्क रहने का परामर्श दिया। किन्तु इसका युवक सुल्तान पर क्षणभर ही प्रभाव रहा। बड़े-बड़े तुर्की अमीरों के न रहने के कारण इस समय खिलजी सरदार जोर पकड़ते जा रहे थे। उनका नेता जलालुद्दीन फ़िरोज था। सुल्तान के वजीर ने खिलजी अमीरों को नष्ट करना चाहा। खिलजी और तुर्की दलों में झगड़े शुरू हो गए और अन्त में एक खिलजी सैनिक ने कैकुबाद को मारकर उसे राजमहल की छत से यमुना में फेंक दिया, और १२९० में जलालुद्दीन गद्दी पर बैठा।

Questions

1. How was the problem of North-West frontier defence faced by the Turkish Sultans of Delhi and with what results.
दिल्ली के सुल्तानों को उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की रक्षा की समस्या का सामना किस प्रकार करना पड़ा और उसका परिणाम क्या हुआ ?

2. Who was the greater of the two invaders Mahmud Ghaznavi or Mohammad Ghuri ? Give clear arguments for your answer.
महमूद गज़नवी तथा मुहम्मद ग़ूरी इन दोनों आक्रांताओं में कौन अधिक महान था। अपने उत्तर के कारणों का स्पष्टीकरण करो।

3- Balban restored the power and the prestige of the monarchy after its decline under the successors of Iltutmish. What were the measures which he adopted to achieve this purpose ?
इल्तुत्मिश के उत्तराधिकारियों के अधीन जो दिल्ली की सल्तनत का ह्रास हुआ उसे बलबन ने पुनः शक्तिशाली बनाकर साम्राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाई। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने क्या उपाय किये ?

4. Account for the failure of the Rajputs to make a successful stand against Muslim advent in India.
मुसलमानों को भारत में आने से रोकने में राजपूतों के असफल रहने के कारणों को बताओ।

5. Give a short accout of the military expeditions to India of Mohmmad Ghuri and account for their success.
मुहम्मद ग़ूरी ने भारत पर जो सैनिक चढ़ाइयाँ कीं, उनका संक्षिप्त हाल लिख कर उसकी सफलताओं के कारण बताओ।

6. Iltutmish is reckoned to be the greatest of the rulers of the slave dynasty. Why ?
दास वंश के समस्त शासकों में इल्तुत्मिश को सबसे महान् समझा जाता है, क्यों ?

7. Trace the history of the different stages of the establishment of Muslim Empire in India.
भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना का क्रमागत इतिहास बताओ।

अध्याय १५

तुर्की साम्राज्य का विस्तार—ख़ल्जी और तुग़लक वंश

जलालुद्दीन फीरोज खल्जी : गद्दी पर बैठने के समय सत्तर साल का बूढ़ा था। वह युवावस्था में बड़ा वीर तथा योग्य सैनिक रहा था, और प्रायः उसका जीवन सीमा-प्रदेश की रक्षा करने में व्यतीत हुआ था। इस प्रकार वह एक बड़ा अनुभवी सैनिक बन गया था। परन्तु दीर्घ आयु के कारण उसका हृदय कोमल हो गया था। एक शासक में जैसी दृढ़ता होनी चाहिए, उसमें न रह गई थी।

राजनीतिक कठिनाइयां : सुल्तान बनने के बाद उसने दास वंश के रहे-सहे तुर्कों के साथ बड़ी उदारता का बर्ताव किया था। उनमें से बलबन के एक भाई मलिक छज्जू को कड़ा मानिकपुर का सूबेदार बना दिया था। उसने पहले ही वर्ष स्वतन्त्रता की घोषणा करके दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। पर सुल्तान के बेटे अरकली खाँ ने उसको कैद कर लिया। फ़ीरोज ने विद्रोहियों को दण्ड देने के बजाय उनकी बड़ी प्रशंसा की, क्योंकि उन्होंने अपने पिछले राजा के प्रति इतनी स्वामि-भक्ति दिखलाई। अहमद चप, जो उसका एक सम्बन्धी, बड़ा हितैषी और बेधड़क साफ बातें करने वाला था, उसने सुल्तान की इस हरकत पर उसे खुले दरबार में समझाया कि ऐसा करना अपने पैरों पर कुलूहाड़ी मारना था।

फ़ीरोज ने अपने भतीजे अलाउद्दीन को कड़ा का शासक नियुक्त किया। इन्हीं दिनों एक हजार ठग और डाकू पकड़ कर लाये गये। सुल्तान ने इनको नावों में भरकर बंगाल भेज दिया और वहाँ छुड़वा दिया। इसी प्रकार यह बूढ़ा सुल्तान प्रत्येक विद्रोह में बड़ी अनुचित निर्बलता दिखलाता था। केवल एक मामले में उसने कठोरता से काम लिया। सीदी मौला नामक एक फ़कीर १२९१ में दिल्ली आया था। उसने एक धर्मशाला खोल रखी थी जिसमें हजारों आदमी रोज मुफ्त भोजन करते थे। पर किसी को यह पता न लगता था कि उसकी आमदनी का क्या साधन है। सुल्तान ने उसको पकड़वा कर बुलवाया तो उसने बड़ी उद्दंडता से वाद-विवाद करना शुरू किया। सुल्तान को उस पर इतना क्रोध आया कि उसने उसे हाथी के पैरों-तले कुचलवा डाला।

मुगलों का हमला तथा अन्य घटनाएँ : अपने शासन के शुरू में फ़िरोज ने झाई के किले पर चढ़ाई की और मालवा को भी लूटा, किन्तु रणथम्भौर को लेने का साहस न कर सका। इन्हीं दिनों मुग़लों का एक बहुत भारी हमला हुआ। उनका

नेता एक लाख मुग़लों का दल लेकर दिल्ली के उत्तर तक घुस आया। फ़िरोज ने उसे पराजित किया और वह बहुत से मुग़लों सहित मुसलमान बन गया। सुल्तान ने उसे अपनी बेटी ब्याह दी और वे लोग दिल्ली के पास बस गये। उनकी बस्ती का नाम मुगलपुरा रखा गया। इसी वर्ष अलाउद्दीन ने कड़ा से भेलसा के ऊपर चढ़ाई की और बहुत-सा लूट का माल दिल्ली लाया। सुल्तान ने खुश होकर उसे अवध की जागीर भी सौंप दी।

दक्षिणी भारत पर अलाउद्दीन की चढ़ाई : भेलसा में अलाउद्दीन ने सुना था कि दक्षिण भारत के राज्य अपार धन से भरपूर हैं। तभी से उसने उन पर चढ़ाई करने के लिए सेना एकत्रित करनी शुरू कर दी थी। इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। दक्षिणी भारत के उत्तर में उस समय देवगिरि तथा वारंगल अथवा तिलंगाना के दो मुख्य राज्य थे। देवगिरि का राजा यादव-वंशीय रामदेव था और वारंगल पर काकतीय वंश की रानी रुद्रम्मा राज्य कर रही थी। देवगिरि के दक्षिण में होयशल वंश का राज्य था जिसकी राजधानी द्वारसमुद्र पश्चिमी तट के निकट थी। होयशल वंश के पिछले राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने विष्णु के बहुत से मन्दिर बनवाये। उस वंश के राजा वीरवल्लाल ने चालुक्य राज्य का बहुत-कुछ भाग छीन कर उत्तर की तरफ अपना अधिकार देवगिरि की सीमा तक फैलाया था। किन्तु आगे चलकर देवगिरि के यादवों ने चालुक्य वंश का अन्त करके अपना अधिकार स्थापित कर लिया, और होयशल राजाओं का जीता हुआ प्रदेश वापस लेकर अपने अधिकार में ले लिया। १२वीं सदी के मध्य में जैत्रपाल यादव बड़ा पराक्रमी हुआ। वह स्वयं बड़ा विद्वान् था और विद्वानों का पोषक भी। **उसके दरबार में प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य का पुत्र लक्ष्मीधर और आदि मराठी कवि मुकुन्दराज सरीखे विद्वान् आश्रय पाते थे।** जैत्रपाल और उसके वंशजों ने महाराष्ट्र का बहुत-सा भाग ले लिया था और उत्तर में मालवा और गुजरात के राजाओं को भी हराया था। १३वीं सदी के अन्तिम चरण में इस वंश का राजा रामदेव था। इसी के समय में अलाउद्दीन ने दक्षिण की चढ़ाइयां शुरू कीं।

दक्षिण की आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दशा

इस शताब्दी में महाराष्ट्र में भाषा, साहित्य और कला की विशेष उन्नति हो रही थी। आर्थिक रूप से भी देश हर प्रकार से सम्पन्न और धन-धान्य से भरपूर था। धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत अनेक सामाजिक कुरीतियों ने सामान्य जनता को जकड़ लिया था। जात-पांत के भेद-भाव, हजारों प्रकार के कर्मकाण्ड, पाषाण-पूजा, अन्धविश्वास, दान-दक्षिणा आदि इतने फैल गये थे कि इनके प्रति समाज में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक हो गया। इन कुरीतियों के विरुद्ध विचारशील सुधारकों सन्त-महात्माओं ने आवाज उठाई और यह आन्दोलन धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। इस समय मराठी भाषा की भी बड़ी उन्नति हुई। रामचन्द्र यादव के मन्त्री हेमाद्रि तथा उसके मित्र बोपदेव ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में कई बड़े-बड़े ग्रंथ रचे। महाराष्ट्र

की प्रसिद्ध मुण्डी लिपि भी हेमाद्रि ने ही चलाई थी। आश्चर्य यह है कि इतनी साहित्यिक तथा आर्थिक उन्नति होते हुए भी उस समय के राजा तथा उनके मंत्रीगण सैनिक विज्ञान और युद्ध-कला की उपेक्षा करते थे, मानो वे अपने धार्मिक जीवन में इतने व्यस्त थे कि वे राज्य का सबसे मुख्य कर्त्तव्य अर्थात् बाहरी शत्रुओं से उसकी रक्षा करना भूल ही गये थे। दक्षिण के राज्यों की यही सैनिक निर्बलता मुसलमानों से उनकी पराजय होने का कारण हुई। इस विषय की व्याख्या आगे की जायेगी।

यादव तथा होयंशल राज्यों के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण में मदुरा का पाण्ड्य राज्य भी इस समय बड़ा सम्पन्न तथा विस्तृत राज्य था। पाण्ड्य वंश के शासकों ने प्राचीन चोल राजाओं से इस प्रदेश को छीनकर १३वीं सदी के उत्तरार्ध में अपनी सत्ता स्थापित की थी। भारतीय समुद्र के पूर्वी तट पर पाण्ड्य राज्य के उत्तर में काकतीय राज्य था जिसका निर्देश हम ऊपर कर आये हैं। इन बड़े-बड़े राज्यों के सिवा और भी बहुत से छोटे-छोटे राज्य दक्षिण भारत में बिखरे हुए थे। किन्तु इनमें कोई राजनीतिक एकता अथवा सम्बन्ध न थे। धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक उन्नति सभी में यथेष्ट थी। यहाँ पर एक बात ध्यानपूर्वक समझ लेना आवश्यक है, अर्थात् भारतीय राष्ट्र की एकता उसकी सांस्कृतिक समानता, धार्मिक व सामाजिक दृष्टिकोण तथा समस्त भारत-खंड के प्राकृतिक ऐक्य पर निर्भर थी, न कि उसके राजनीतिक ऐक्य पर। इसी देश के राष्ट्रीय ऐक्य के लिए उस पर एक सत्ता का शासन होने की अनिवार्यता का विचार पिछली दो सदियों में पाश्चात्य देशों में उत्पन्न हुआ है। भारतवर्ष में राष्ट्रीय ऐक्य के लिये इसकी कभी आवश्यकता न समझी गई। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारे प्राचीन पूर्वज सार्वदेशिक साम्राज्य के महत्व को न समझते थे।

तुर्की हमलों के समय दक्षिण भारत की परिस्थिति

१३वीं शती में बाहरी शत्रुओं के निरन्तर हमलों के कारण यह आवश्यकता थी कि देश और धर्म की रक्षा के हेतु सैन्य-बल तथा रक्षा-काल के अनेक अंगों को पूरी तरह समझा जाय और क्रियात्मक रूप से उनको दृढ़ किया जाय। इसी गुण की आवश्यकता की ओर मध्ययुगीन हिन्दू शासकों तथा सैनिकों का ध्यान न गया। वे केवल अपने पड़ौसी राजाओं से युद्ध करने में ही अपने क्षात्र-धर्म की पूर्ति समझने लगे। परिणाम यह हुआ कि जिस समय १३वीं सदी के अन्त में मुसलमानी हमले दक्षिण पर आरम्भ हुये तो इन हिन्दू राजाओं की ठीक वैसी ही शोचनीय दशा थी जैसी सौ वर्ष पहले उत्तर के हिन्दू राजाओं की। देश-भर के सामान्य हित का भाव इनके मस्तिष्कों से मिट चुका था। इसके विपरीत वे अपने पड़ौसी राज्यों के विरुद्ध आक्रान्ताओं की सहायता करने में भी नहीं हिचकते थे। वे यह भूल गये थे कि उनकी यह नीति हमने अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारकर की थी। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि आपस के झगड़ों के कारण वे बाहरी हमलों की आशंका ही न करते थे और न उनके लिए

तैयार थे । अतएव जब मुसलमानों के हमले एकाएक शुरू हो गये तो ये लोग विस्मय से भौंचक्के-से हो गये और लगभग तीन-चौथाई सदी तक दक्षिण के हिन्दुओं में यह चेतावनी पुनर्जीवित न हुई, जिससे वहाँ के राजनीतिक क्षेत्र में वह प्रबल प्रतिक्रिया हुई जिसने उत्तरी सम्राटों के आतंक को छिन्न-भिन्न करके फिर से हिन्दू सत्ता की नींव डाली ।

देवगिरि पर अलाउद्दीन की चढ़ाई

ऊपर कहा जा चुका है कि अलाउद्दीन ने, जब वह कड़ा का शासक था, मालवा और भेलसा पर चढ़ाई करके बहुत-सा धन लूटा और देवगिरि पर चढ़ाई करने के लिए दस हजार घुड़सवार सेना तैयार की । कड़ा का प्रबन्ध अलाउलमुल्क को सौंपकर वह दक्षिण की तरफ रवाना हुआ । दो महीने में वह मालवा के रास्ते से देवगिरि राज्य की सरहद पर पहुँच गया । आश्चर्य की बात यह है कि कोई छः सौ मील तक देश के अन्दर इतनी बड़ी सेना घूमती हुई चली गई और किसी ने उसका विरोध करने या उसे रोकने का प्रयत्न तक न किया । इससे भी अधिक आश्चर्य यह है कि देवगिरि राज्य में घुसने के बाद ही नहीं बल्कि देवगिरि नगर तक उसके पहुँच जाने की कोई सूचना राजा को न मिली । जब आक्रान्ता सिर पर ही आ गया तब उसकी नींद खुली, किन्तु सब बेसूद, क्योंकि उसकी बहुत बड़ी सेना यादव राजा के बेटे शंकर तथा उसकी माता के साथ सुदूर दक्षिण गई थी । ऐसी परिस्थिति में राजा रामदेव ने जल्दी-जल्दी में दो-तीन हजार सेना एकत्र की और लड़ने को निकला, किन्तु बहुत जल्द ही परास्त होकर किले में जा छिपा । किले में सेना के लिए खान-पान की सामग्री न थी, इसलिये जो कुछ इस उतावलेपन में मिला, भर लिया अलाउद्दीन ने शहर में घुसकर लूटमार करनी शुरू की, और साथ ही यह खबर उड़ा दी कि उसके पीछे दिल्ली का सुल्तान बीस हजार फौज लेकर उसकी सहायता के लिए आ रहा है । यह सुनकर रामदेव का साहस टूट गया और उसने सैकड़ों मन सोना, चाँदी, मोती, जवाहरात तथा हाथी, घोड़े आदि बहुत-सी सामग्री देने का वचन देकर शान्ति मोल ली । अलाउद्दीन यह सब सामग्री पाकर लौटने की तैयारी कर रहा था कि इतने में शंकरदेव आ पहुँचा । यद्यपि रामदेव ने उसको लड़ने से रोकना चाहा परन्तु वह शत्रु को इस प्रकार बचकर चला जाने देने को तैयार न हुआ । विवश अलाउद्दीन को लड़ना पड़ा । शंकरदेव की सेना इतने साहस से लड़ी कि मुसलमानी फौज को छिन्न-भिन्न कर दिया । इतने में दुर्भाग्य से नसरतखाँ, जिसको अलाउद्दीन किले को घेरे रखने के लिये छोड़ आया था, वहाँ से हट कर लड़ाई के मैदान की तरफ चला आया । हिन्दू सेना ने समझा कि दिल्ली का सुल्तान आ पहुँचा । बस वह हतोत्साह होकर भाग निकली । तब मुसलमानी सेना ने उसका पीछा किया और जी भर कर मारपीट की । यादव राजा को फिर से संधि की प्रार्थना करनी पड़ी और इस बार और भी अधिक धन देना पड़ा । फरिश्ता के अनुसार ६०० मन सोना, ७ मन मोती, २ मन जवाहरात

१०० मन चांदी और एलिचपुर प्रान्त की कुल आय वार्षिक कर के रूप में देनी पड़ी। इतनी असंख्य लूट बटोर कर अलाउद्दीन कड़ा को लौटा, परन्तु फिर भी मार्ग में किसी हिन्दू शासक या सैनिक ने उसको रोकने की चेष्टा न की मानो वह सारा प्रदेश एक अनाथ और निःशक्त जाति के समान सोया पड़ा था अथवा मृतप्राय हो गया था। अलाउद्दीन का उद्देश्य उस दूर देश से धन बटोर कर एक भारी सेना बनाने का था ताकि वह दिल्ली की सल्तनत पर बेरोक-टोक कब्जा कर सके। इस लालसा से अन्धा होकर वह उस दूर तथा अनजाने देश में कूद पड़ा। परन्तु भाग्य ने पग-पग पर उसका साथ दिया।

जलालुद्दीन का वध : कड़ा पहुँचकर अलाउद्दीन ने बड़े धोखे से अपने चचा बूढ़े सुल्तान को कड़ा बुलवा भेजा और अत्यन्त घृणित क्रूरता के साथ उसका वध कर डाला। **मृत सुल्तान का सिर कटवाकर एक बरछे पर लगवाया और समस्त कैंप में घुमाया।** तुरन्त ही वह दिल्ली की ओर रवाना हुआ। रास्ते में वह सेना तथा जनता को रुपया-पैसा लुटाता गया ताकि वह उसके नृशंस पाप को भूल जाय। दिल्ली पहुँचकर उसने जलालुद्दीन के परिवार को नष्ट किया और इस प्रकार अपने सम्बन्धियों तथा उपकारी चचा के रक्त की नदियाँ बहाकर गद्दी पर बैठा। उसकी शक्ति की इस प्रकार विजय देखकर पहले सुल्तान के बहुत-से अमीर उससे मिलने तथा अपनी स्वामि-भक्ति दिखलाने चले आये। उस समय तो अलाउद्दीन ने उनकी सहायता से पूरा लाभ उठा लिया, परन्तु बाद में इन सबको पूरी तरह सजाएँ दीं।

अलाउद्दीन का गद्दी पर बैठना और उसके शासन के आरम्भ में देश की स्थिति

अलाउद्दीन १२९६ में गद्दी पर बैठा। तत्कालीन भारत की परिस्थिति हम ऊपर बतला चुके हैं। बलबन की खड्ग नीति का बुरा परिणाम भी दर्शाया जा चुका है। फल यह हुआ कि आन्तरिक एवं बाह्य सब समस्याएँ जैसी-की-तैसी बनी रहीं, अतएव सल्तनत की नींव को दृढ़ करने की उतनी ही आवश्यकता अलाउद्दीन खिल्जी को थी जितनी उसके पूर्वजों को। तुर्की सल्तनत की मौलिक त्रुटि का कारण यही था कि सुलतानों ने प्रजा की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं किया। अलाउद्दीन को अपने शासन के आरम्भ से ही इन कार्यों को करना आवश्यक था—(१) बाहरी हमलों से साम्राज्य की रक्षा करना, (२) अन्दरूनी विद्रोहों का दमन करना, (३) शासन को अच्छी तरह स्थापित करना, और (४) साम्राज्य का विस्तार करना।

अलाउद्दीन को सौभाग्य से शुरू से ही कुछ ऐसे मित्र मिल गए थे जो पग-पग पर उसकी सहायता करते और संकटमय परिस्थिति में उसका पथ-प्रदर्शन करते थे। **इनमें खास नाम काजी अलाउलमुल्क का है।** वह बड़ा बुद्धिमान और नीतिज्ञ था। उसने सुल्तान को कई बार अत्यन्त मूर्खता के कामों से बचाया। अलाउद्दीन में कुछ-कुछ राजपूतों के-से गुण थे। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी तथा निडर सिपाही था, किन्तु बिल्कुल अन-

पढ़ और तुच्छ मस्तिष्क वाला । इसी कारण वह अपनी सफलता के मद में शेखचिल्ली वाली योजनाएँ बनाने लगा । उसके चार मुख्य मित्र थे । उसने यह सुन लिया था कि हजरत मुहम्मद के भी चार सहयोगी थे, जिनकी सहायता से मुहम्मद ने एक नया धर्म स्थापित किया था । अलाउद्दीन की छोटी बुद्धि में यह समा गया कि एक नया धर्म-प्रवर्तक बनने के लिये केवल चार सहयोगियों का होना काफी है । धन तथा सैनिक बल भी था । इस कारण उसने सोचा कि सिकन्दर महान् की तरह वह भी संसार-विजेता बन सकता है । उसने सिकन्दर-ए-सानी की उपाधि धारण की और अपने सिक्कों पर भी इस उपाधि को लिखवा दिया । काजी अलाउल्मुल्क को, जो उस समय राजधानी का कोतवाल था, जब उसकी इन बेतुकी बातों का पता चला तो वह फौरन दरबार में गया और सुल्तान को अलग बुलाकर बहुत धमकाया और समझाया कि नये धर्म की स्थापना करने का विचार तो तुरन्त अपने मन से निकाल देना चाहिये, क्योंकि धर्म स्थापित करना राजाओं का काम नहीं । सुल्तान को आकाँक्षा अर्थात् संसार-विजय को अलाउल्मुल्क ने अच्छा बतलाया । किन्तु उसने कहा कि इस महान् कार्य को सम्पन्न करने से पहले यह आवश्यक है कि अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर ली जाय, बाहरी हमलों तथा अन्दरूनी विद्रोहों से राज्य को सुरक्षित कर दिया जाय और तीसरे, सारे देश को जीतकर साम्राज्य में मिला लिया जाय । इन सब कामों को सफलतापूर्वक कर लेने के बाद ही यह सम्भव हो सकता है कि बाहर के प्रदेशों को जीतने का विचार किया जाय । सुल्तान इस वृद्ध काजी का बड़ा आदर करता था । उसने काजी से वायदा किया कि वह उसके परामर्श पर पूरी तरह अमल करेगा ।

उत्तर-पश्चिमी सीमा तथा आंतरिक विद्रोहों की समस्या : कह आये हैं कि खल्जी शासन के आरम्भ से ही मुगलों के हमले जल्दी-जल्दी होने लगे थे । १२९८ और १२९९ में मुगलों के दो बड़े हमले हुए । इनको उसके सेनापति उलूखाँ और ज़फरखाँ ने परास्त करके पीछे हटाया और सल्तनत की रक्षा की । इसी प्रकार ये हमले लगातार हर साल होते रहे । परन्तु सुल्तान ने इनके रोकने का कोई विशेष प्रबन्ध तो क्या, विचार ही न किया । इस सम्बन्ध में काजी अलाउल्मुल्क ने अत्यन्त विशद् रूप से कार्य करने का परामर्श दिया था परन्तु सुल्तान उसको बिलकुल भूल गया । उसने अपनी सेनाएँ देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों को विजय करने के लिए भेजनी शुरू कर दीं । १२९९ में गुजरात को जीतने के लिए, नसरतखां और उलूखाँ के नेतृत्व में एक सेना भेजी । वहाँ का राजा कर्ण बघेल मुसलमानी सेना का सामना न कर सका और जल्दी में जो कुछ सामान ले सका, लेकर अपने परिवार सहित दक्षिण की ओर भाग गया और देवगिरि में जाकर शरण ली । मुसलमान सेनापति नसरतखाँ सम्पूर्ण गुजरात पर अधिकार करता हुआ समुद्र के किनारे खम्भात तक पहुँचा । वहाँ पर उसने एक अत्यन्त सुन्दर हिन्दू युवक को, जिसका नाम काफूर था, १००० दीनार में मोल लेकर सुल्तान के पास भेज दिया । साथ ही राजा कर्ण की रानी

कमलावती तथा अनगिनत लूट का माल भी पहुँचाया। **कमलावती सुल्तान के अंतःपुर में प्रविष्ट हुई।** किन्तु राजा कर्ण अपनी छोटी बेटी देवलदेवी को बचाकर अपने साथ ले गया। इधर मुगलों का एक और हमला हो गया किन्तु उसके सैनिकों की योग्यता के कारण फिर उन शत्रुओं से किसी प्रकार देश की रक्षा हुई। इसकी परवाह न करके सुल्तान ने १३०१ में रणथम्भौर के किले को जीतने के लिए सेना भेज दी। यह लड़ाई वर्षों तक चली और उससे थककर सेनापतियों ने सुल्तान से स्वयं आने की प्रार्थना की। इसी बीच कई आन्तरिक विद्रोह भी हो चुके थे। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर को रवाना हुआ तो मार्ग में तिलपत के पास उसके भतीजे अकटखाँ ने उस पर हमला किया और मरा जानकर उसको छोड़कर अपने को सुल्तान घोषित करने की जल्दी में कैम्प की ओर भागा। इस प्रकार के और भी भयानक विद्रोह उसी समय हुए। तब तो सुल्तान की आँखें खुली और उसको अपनी निर्बल परिस्थिति का आभास हुआ और उसने रणथम्भौर पहुँचते ही अपने सैनिक मन्त्रिमण्डल से इस परिस्थिति को सँभालने के उपायों पर परामर्श किया। मन्त्रिमण्डल ने पूरी तरह विचार करने के बाद सुल्तान को बताया कि मुख्यतः चार काम करने की आवश्यकता है—(१) गुप्तचर विभाग को बढ़ाना, (२) दरबार में मदिरापान आदि कुरीतियों को बन्द करना, (३) सल्तनत के अमीरों तथा बड़े-बड़े अफसरों के ऊपर पूरी तरह निरीक्षण रखना ताकि वे कोई षड्यन्त्र रचने का विचार न कर सकें, और (४) सामान्य जनता को इतना दरिद्र बना देना जिससे वह पेट भरने के धन्धों में इतनी व्यस्त रहे कि विद्रोह करने का अवसर उसको न मिले।

आंतरिक संकट का समाधान : रणथम्भौर से लौटते ही उसने अपने बड़े-बड़े दरबारियों और सैनिकों को छोड़कर सबका माल छीनना शुरू कर दिया। जमीदारों तथा माफीदारों आदि की जमीनें ले ली गईं, और कर इतना वसूल करने की आज्ञा हुई कि उन लोगों के पास केवल खाने-भर को ही रह जाय। इस आज्ञा का इतनी कठोरता के साथ पालन किया गया कि जितने लोग खुशहाल थे सब त्रस्त हो गये। इस प्रकार की नीति से जनता में कहाँ तक संतोष तथा धैर्य बना रह सकता था, यह बात विचारणीय है। **किसी भी राज्य की नींव असन्तुष्ट प्रजा के ऊपर दृढ़ नहीं हो सकती।** आश्चर्य यह है कि सुल्तान ने मन्त्रिमण्डल के ऐसे उलटे परामर्श को बना सोचे-समझे लागू कर दिया। दूसरे, उसने गुप्तचरों का ऐसा जाल बिछाया कि अमीर या सरदार निजी बात भी करते हुए डरते थे। एक बात अच्छी थी कि मदिरा पीना छोड़ दिया और मदिरा के सब प्याले तथा पीपे तुड़वा डाले।

सीमा की समस्या : आन्तरिक झगड़ों की समस्या का तो कुछ उलटा-सीधा निराकरण सुल्तान ने कर दिया, परन्तु अब भी बाहरी हमलों के विरुद्ध व्यवस्था करने की इस मदान्ध सुल्तान को न सूझी। १३०२ के अन्त में उसने चित्तौड़गढ़ पर चढ़ाई की और एक सेना वारंगल को जीतने के लिए भेजी। दिल्ली बिल्कुल अरक्षित रह गई। इस दशा की सूचना पाकर मुगल सरदार एक भारी सेना लेकर दिल्ली पर चढ़ आया। मुगलों के भय से बलबन एक बार के सिवा कभी दिल्ली छोड़कर न

गया। इसके विपरीत अलाउद्दीन को आठ वर्ष तक राज्य करने और मुगलों के कई भयानक हमलों की चोट खाने पर भी इस महान् आपत्ति की अनुभूति न हुई। मुगलों ने दिल्ली का दो महीने तक ऐसा कड़ा घेरा डाला कि नगर-वासियों का आना-जाना और दाना-पानी सब बन्द कर दिया। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ से लौटकर यह दशा देखी तो वह बहुत घबराया और किसी प्रकार सीरी के अन्दर घुसकर मुगलों को हटाने का उपाय सोचने लगा। भाग्य से दिल्ली और देहातों को खूब लूट-खसोटकर थोड़े दिन बाद मुगल घेरा उठाकर अपने-आप ही लौट गये। अलाउद्दीन के इन कार्यों से स्पष्ट है कि उसमें राज्य की विभिन्न समस्याओं को समझने और उनके अनुकूल व्यवस्था करने की कितनी समझ थी। यहाँ याद रखना होगा कि काजी अलाउल्मुल्क ने शुरू में ही उसको सब आवश्यक बातों की पूरी चेतावनी दे दी थी। हमने देखा कि इस चेतावनी का भी अलाउद्दीन के मस्तिष्क में कुछ असर न हुआ।

अन्त में तरगी के इस बड़े हमले के बाद, जिसके कारण सल्तनत ही खतरे में पड़ गई थी, अलाउद्दीन की नींद खुली और उसे अनुभव हुआ कि जिस प्रकार आंतरिक व्यवस्था बहुत खराब थी, उसी प्रकार बाहरी हमलों के कारण सीमा की रक्षा की समस्या भी अत्यन्त भयानक रूप धारण कर चुकी थी और उसका प्रतिकार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। इस उद्देश्य से उसने अपने सैनिक मंत्रिमण्डल से फिर इस समस्या पर परामर्श किया। मंत्रिमण्डल ने कई दिन विचार करने के बाद जो सुझाव दिये उनको सुल्तान ने पूरी तरह काम में लाने का प्रयत्न किया। मंत्रिमण्डल की योजना के अनुसार उसने अपनी अस्थायी सेना की संख्या पाँच लाख से ऊँची कर दी। उसके लिए नियम बना दिए गए कि किस प्रकार अस्त्र-शस्त्र, कपड़े (वरदी) और घोड़े आदि सैनिकों को रखने होंगे। सीमा की तरफ के किले की मरम्मत करवाई और उसमें अनुभवी सेनापतियों को नियुक्त किया। सेना के ये सुधार उसी समय हो जाने चाहिएँ थे जब कि बूढ़े काजी अलाउलमुल्क ने सुल्तान को इस विषय में सलाह दी थी। इतनी भारी सेना रखने पर भी १३०५ के शुरू में मुगलों का फिर एक भारी हमला हुआ और वे उत्तरी मार्ग के द्वारा जमुना को पार करके अमरोहा तक घुस गए। यहाँ पर ग़यास तुगलक ने मुगल सेना को परास्त किया और पीछे हटाया। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि इतनी बड़ी सैनिक शक्ति बना लेने के बाद भी इस मूढ़ सुल्तान को यह ज्ञान न था कि उसका किस प्रकार प्रयोग किया जाय ताकि बाहरी हमले सीमा पर ही रोक दिये जा सकें जिस उद्देश्य से इतनी बड़ी सेना बनाई गई थी। इसी प्रकार १३०७ में भी मुगलों का एक और हमला हुआ और इस बार भी गाजीमलिक गयासुद्दीन की योग्यता के कारण ही देश की रक्षा हुई। सौभाग्य से इसके बाद मध्य एशिया की परिस्थिति के कारण अलाउद्दीन के जीवन में मुगलों का कोई और हमला न हुआ।

अलाउद्दीन की आर्थिक योजना : इतनी बड़ी सेना के भरण-पोषण के लिए बहुत धन की आवश्यकता हुई। विचार करने पर सुल्तान ने देखा कि राज्य की सामान्य आमदनी के आश्रय पर इस सेना को बहुत दिन तक न रखा जा सकेगा और

यदि पूरा वेतन प्रत्येक सैनिक को दिया गया तो थोड़े ही दिन में सरकारी खजाना खाली हो जायगा। अतएव अलाउद्दीन ने फिर इस गुत्थी को सुलझाने के लिए अपने मंत्रिमण्डल से राय माँगी। मंत्रिमण्डल ने देखा कि प्रजा के ऊपर पहले ही इतने कर लगाए जा चुके थे कि और अधिक कर लगाना असम्भव होगा। ऐसी अवस्था में सेना को रखने का एक ही उपाय था सैनिकों के वेतन घटाकर इतने कम कर दिये जायँ कि सरकारी आय सेना के व्यय को आसानी से चला सके। किन्तु साथ ही यह भी आवश्यकता थी कि सैनिकों की कार्य-कुशलता तथा रहन-सहन आदि में कोई कमी न हो। इस गुत्थी का उन्होंने एक ही उपाय सोचा कि सेना के लिए जितने सामान की आवश्यकता हो उन सबकी बिक्री-दर घटाकर इतनी कम कर दी जाय कि वे अपनी थोड़ी तलब में ही समस्त आवश्यक सामग्री को खरीद सकें। इस सुझाव को कार्यान्वित करने के लिए सुल्तान ने एक पूरा विभाग स्थापित किया, जिस के द्वारा हर प्रकार की आवश्यक वस्तुओं के भाव सरकारी आज्ञा से घटा दिए गए। इसमें खाने-पीने का सामान, कपड़े, नौकर-चाकर, मवेशी इत्यादि हर चीज़ बहुत सस्ती कर दी गई। **याद रहे कि यह सब व्यवस्था केवल दिल्ली शहर के ही अन्दर की गई थी। लगभग सभी लेखकों ने यह भ्रांति पैदा कर दी है कि अलाउद्दीन की यह आर्थिक योजना सारे राज्य के अन्दर लागू की गई थी।** किन्तु यह बात सर्वथा निराधार है। **उसकी इसी आर्थिक व्यवस्था** को बिना सोचे-समझे सभी लेखक आर्थिक सुधारों का नाम देते चले आये हैं। पर वास्तविकता बिलकुल इसके प्रतिकूल थी। यह सारी व्यवस्था, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, केवल सेना की आसानी और राज्यकोष का व्यय घटाने के उद्देश्य से की गई थी। आरम्भ में प्रजा का हित करने का विचार लेशमात्र भी इस योजना के मूल में नहीं था और यदि प्रजा को इससे कुछ लाभ हुआ भी तो केवल दिल्ली और उसके आस-पास के निवासियों को, जो राजधानी में आकर अपनी आवश्यक वस्तुएँ मोल ले सकते थे। सबसे अधिक लाभ तो उन बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारियों को हुआ जिनके वेतन नहीं घटाये गए। सैनिक वर्ग की कोई हानि नहीं हुई, क्योंकि जितने उनके वेतन कम किए गए उतनी ही मात्रा में सब वस्तुओं के भाव घटा दिए गए। बाकी प्रजा के सभी वर्गों को अत्यन्त कष्ट हुए और उनकी आर्थिक सम्पन्नता बिलकुल नष्ट हो गई। सुल्तान के घोड़ों के सौदागर, दिल्ली के हर माल के दलाल तथा सब दुकानदार डंडे के ज़ोर से राज्य-नियमों के पालन करने पर मजबूर किये गये। उनका कारबार सब बन्द हो गया। सौदागरों की आसानी के लिए इतना अवश्य हुआ कि माल खरीदने के लिए राजकोष से उनको सहायता दी गई। सबसे अधिक घाटा तथा अत्याचार किसानों और कारीगरों, दस्तकारों आदि वर्ग के लोगों को हुआ। कारण कि इन सबसे उनके माल को सरकार इतने कम भाव में मोल लेती थी कि उस माल को दिल्ली पहुँचा कर सरकार द्वारा घटाये हुए भावों पर बेचा जा सके। इससे स्पष्ट है कि बेचारे निस्सहाय किसानों, दस्तकारों, गाय-बैल, भेड़-बकरी, खाना पीना, मिठाई, कपड़ा आदि सामान के बेचने या बनाने वालों को सरकार के हाथ अपना माल राजधानी

की कम की हुई दर से भी बहुत कम भाव में बेचना पड़ता। गंगा-जमुना के दोआव व राजधानी के आसपास के किसानों तथा अन्य श्रमिकों अर्थात् अपनी मेहनत से पेट पालने वालों को अपना सामान प्रचलित भावों से आधे या उसमें भी कम दाम पर बेचना पड़ता था। इस प्रकार की व्यवस्था बिना घोर अत्याचार तथा पाशविक बल का प्रयोग किये चल ही नहीं सकती। इससे यह आवश्यकता पड़ी कि सरकार की इच्छा के अनुसार यह सब सामान वसूल करने के लिये एक पूरा विभाग बनाया गया जिसके कर्मचारियों को आज्ञा हुई कि वे हर प्रकार के कठोर-से-कठोर दण्ड दे कर इस कार्य को पूरा करें।

जिन जिलों अथवा प्रदेशों से यह सब सामान डंडे के जोर से वसूल किया जाता था, उनके अन्दर सामान्य बाजारों में हर चीज का भाव चौगुना हो गया। दिल्ली के अन्दर सामान का प्रचलित भावों से भी सस्ते दामों पर बिकना और बाकी प्रदेशों में चौगुने दामों पर, इस नीति से कितनी घोर अव्यवस्था हुई होगी इसका अनुमान आसानी से किया जा सकता है। निस्संदेह जनता अत्यन्त पीड़ित हुई होगी। यह था परिणाम इस निर्दयी सुल्तान की प्रसिद्ध **आर्थिक** योजना का, जिसकी आज-कल के नक्कालची पाठ्य-पुस्तक-लेखकों ने बड़ी भारी प्रशंसा की है और हमारे विद्यार्थियों को इस भ्रम में डाल दिया है कि आर्थिक सुधार से सर्वसामान्य को बड़ा लाभ पहुँचा, क्योंकि सबको अपनी आवश्यकता की चीजें बहुत ही सस्ती मिलने लगीं। हमारे इस विवेचन से यह बात समझ में आ गई होगी कि लेखकों का यह मत सर्वथा निर्मूल तथा असत्य है।

साम्राज्य-विस्तार : उत्तर भारत में गुजरात, चित्तौड़ आदि की विजय का निर्देश हम ऊपर कर आये हैं। चित्तौड़ के घेरे में सुल्तान को लगभग एक वर्ष लगाना पड़ा। वहाँ के राजा रत्नसिंह की अनुपम सुन्दरी रानी पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुनकर अलाउद्दीन ने उसको अपने अधिकार में लेने की ठानी। कुछ लेखकों का मत है कि जब सुल्तान ने राणा को धोखे से पकड़ लिया, तो रानी पद्मिनी ८०० राजपूत वीरों को डोलियों में अपनी बाँदियों के वेष में साथ लेकर सुल्तान के सेना-क्षेत्र में पहुँच गई और शत्रुओं पर एकदम हमला करके राणा को छुड़ा लाई। इस कथा के यथार्थ होने में विद्वानों में मतभेद है। पग्न्तु इतना तो सत्य है कि जब अन्त में सुल्तान ने चित्तौड़गढ़ को जीत लिया, तो रानी पद्मिनी ने सैकड़ों राजपूत स्त्रियों के साथ जौहर की आग में अपने को भस्म करके अपने सतीत्व की रक्षा की। अलाउद्दीन ने अपने बेटे खिज्रखां को चित्तौड़ का शासक नियुक्त किया, परन्तु वह वहाँ थोड़े ही दिन रह पाया और जब अलाउद्दीन की शक्ति कम हुई, राणा ने चित्तौड़ को वापस ले लिया। १३०५ में चंदेरी, उज्जैन, धार तथा माण्डू आदि स्थानों को भी जीत लिया गया।

दक्षिण भारत की विजय : इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अधिकार करने के बाद सुल्तान ने दक्षिण को अधिकृत करने की ठानी। कुछ समय सेना इत्यादि

के सुधार में लगा। १३०६ में मलिक काफ़ूर को बड़ी सेना लेकर देवगिरि तथा वारंगल पर चढ़ाई करने को भेजा। देवगिरि के राजा रामदेव ने तीन वर्ष से कर नहीं चुकाया था। मलिक काफ़ूर, जिसको नसरतखाँ सम्भात से खरीदकर लाया था इतना योग्य निकला कि थोड़े ही दिन के अन्दर सुलतान का सर्वोपरि मंत्री तथा विश्वास-पात्र बन गया। वह बहुत कुशल सैनिक भी निकला। उसको सुल्तान ने मलिक नायब की उपाधि से अलंकृत किया और दक्षिण की विजय का भार उसको सौंपा। जाते समय उसको यह भी कहा गया कि राजा कर्ण की बेटी देवलदेवी को, जिसे उसका पिता बचाकर ले आया था, तलाश करके दरबार में पहुँचाये क्योंकि उसकी माँ कमलादेवी उसकी याद में बहुत-दुखी थी। गुजरात के गवर्नर अलपखाँ को आज्ञा हुई कि यह मलिक नायब की सहायता करे। दोनों सेनाएँ गुजरात से दक्षिण की ओर चलीं। अलपखाँ को दैवयोग से देवलदेवी और राजा कर्ण रास्ते में मिल गया। देवलदेवी को मुसलमान सैनिकों ने छीनकर दिल्ली भिजवा दिया। इधर मलिक काफ़ूर ने देवगिरि पर हमला किया। राजा रामदेव ने बिना विरोध किये तुरन्त हार मान ली और बहुत-सा धन लेकर स्वयं दिल्ली गया और सुल्तान को भेंट चढ़ा आया। अलाउद्दीन ने खुश होकर उसको रायरायान की उपाधि दी और नवसारी का जिला जागीर में दिया।

तिलंगाना पर १३०३ में चढ़ाई असफल रही थी। अतएव १३०८ में मलिक काफ़ूर को उस प्रदेश को जीतने के लिए भेजा गया। वहाँ की राजधानी वारंगल की किलाबन्दी बहुत ही मजबूत थी, किन्तु फिर भी काफ़ूर ने अपने कौशल तथा दृढ़ता के कारण किले को अधिकृत कर लिया और राजा को दिल्ली का प्रभुत्व मानने पर मजबूर किया। उसने ३०० हाथी ७०० घोड़े तथा बहुत से हीरे-जवाहरात विजेता को उपहार-स्वरूप दिये। यह सब सम्पत्ति लेकर मलिक दिल्ली लौट आया। फिर १३१० में काफ़ूर ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और देवगिरि के मार्ग से होता हुआ द्वारसमुद्र के राजा होयशल वंशीय बल्लाल तृतीय के ऊपर यकायक टूट पड़ा और उसको परास्त करके नगर को खूब लूटा और मन्दिरों को विध्वंश किया।

द्वार समुद्र से काफ़ूर ने दक्षिण की ओर पाण्ड्य राज्य पर हमला किया। उस राज्य के सिंहासन के लिए दो भाइयों में झगड़ा हो रहा था और उनमें से एक सुलतान की सहायता मांगने के लिए दिल्ली गया था। यह परिस्थिति काफ़ूर के के लिए अत्यन्त अनुकूल थी। काफ़ूर ने मदुरा को जी-भरकर लूटा और उसके मन्दिर को तोड़ा। इन सब विजयों के बाद काफ़ूर बहुत-सा धन, सम्पत्ति तथा हाथी-घोड़े आदि एकत्रित करके दिल्ली को लौटा। उसकी लूट का मूल्य कोई दस करोड़ रुपये से अधिक था।

काफ़ूर की आखिरी चढ़ाई फिर देवगिरि पर हुई। रामदेव के बेटे शंकरदेव ने दिल्ली का आधिपत्य अस्वीकार कर दिया था। १३१३ में काफ़ूर ने शंकरदेव पर चढ़ाई की। लड़ाई में शंकरदेव मारा गया और देवगिरि को दिल्ली के अधिकृत कर लिया गया। इसके बाद काफ़ूर दक्षिण के अन्य छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर

और एक बार फिर द्वारसमुद्र पर हमला करके लूट का बहुत-सा माल लेता हुआ दिल्ली लौट आया। इस प्रकार लगभग समस्त दक्षिण भी दिल्ली साम्राज्य के अन्दर आ गया।

अलाउद्दीन की दक्षिण नीति को लेखकों ने खल्जी साम्राज्य-नीति का नाम देकर एक विशेष रूप देने की चेष्टा की है। किन्तु इसमें खल्जी सुल्तान के पूर्वजों की नीति से कोई भिन्नता नहीं थी। केवल विशेषता यही थी कि खल्जी सुल्तान के राज्य-काल तक लगभग सारा उत्तर भारत जीत लिया गया था और उसको अवसर मिला दक्षिण भारत पर चढ़ाई करने का। यदि उसके पहले सुल्तानों को इसी प्रकार का मौका मिला होता तो वे कदापि दक्षिण को जीते बिना न छोड़ते।

अलाउद्दीन का कार्य तथा चरित्र : हम कह आये हैं कि यद्यपि अलाउद्दीन में कोई विशेष बुद्धिमत्ता नहीं थी तथापि उसमें कुछ गुण ऐसे थे जिनके कारण वह बहुत से संकटों से अपने को बचा सका और कई प्रकार के परिवर्तन तथा संशोधन राज-काज में कर सका। उसकी सैनिक व आर्थिक योजनाओं का विवेचन हम कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त अपनी आय को बढ़ाने के लिये तथा शासन प्रबन्ध को पहले से उत्तम बनाने के लिये उसने कई नये नियम बनाये। उसने सब जागीरदारों की जागीरें जब्त करलीं। पैंशन आदि भी बन्द कर दीं। सारे हिन्दू मुकद्दमों और चौधरियों के विशेष अधिकार छीन लिए और उनको सामान्य किसानों के बराबर कर दिया। इस प्रकार जमींदारों का आतंक मिटा कर उसने एक अच्छा काम किया। किन्तु भूमिकर आदि की मात्रा सभी के ऊपर इतनी भारी अर्थात् ५० प्रतिशत लगा दी गई थी कि उसके कारण कोई भी सुखी अथवा सम्पन्न नहीं रह सकता था। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-छोटे कर लिए जाते थे। उसकी आर्थिक नीति के कारण विशेष कर किसान तो पिस ही गये थे। इसका वर्णन पूरी तरह किया जा चुका है। एक सुधार जो अलाउद्दीन ने किया वह भूमि को नपवाने का था, जो मुसलमानी शासन की स्थापना के समय से बन्द हो गया था। यदि और अनेक प्रकार से प्रजा की अवस्था इतनी असहनीय न हो गई होती तो इस सुधार से प्रजा तथा राजा दोनों को अवश्य लाभ होता। उसने पटवारियों के भूमि-सम्बन्धी हिसाब-किताब रखने का भी अच्छा प्रबन्ध किया और ईमानदार अफसरों की नियुक्ति की। इन सुधारों से राज्य की आय बहुत बढ़ गई। परन्तु इसका बोझ सौदागरों, व्यापारियों और मुख्यतः किसानों को सहना पड़ा। हिन्दुओं को इन करों के अतिरिक्त जजिया भी देना पड़ता था।

अलाउद्दीन के चरित्र के बारे में काफी कहा जा चुका है। हम देख आये हैं कि वह एक बड़ा निर्भीक सिपाही था और अपनी सांसारिक लालसाओं को पूरा करने में आगा-पीछा न देखता था। उसमें कोई युद्धकौशल या प्रतिभा नहीं थी। किन्तु भाग्य ने कभी उसका साथ न छोड़ा। उसकी सहायता तथा रक्षा करने के लिए उसको कई बड़े योग्य राजनीतिज्ञ तथा सेनानायक, मित्र और सच्चे हितैषी

मिल गये थे, जैसा हम बतला चुके हैं। जब ये सब मित्र इस संसार से चल बसे तो सुल्तान की योग्यता भी लुप्त हो गई।

कुछ लेखकों ने अलाउद्दीन के **शासन सिद्धान्त** का बड़ा आडम्बर रच डाला है। उसने अपने शासन के बारे में काजी मुगीसुद्दीन से बातचीत करते हुए जब यह देखा कि उसके बहुत से कार्य कुरान के सिद्धान्त के विरुद्ध थे तब उसको केवल यही कहते बना कि मैं तो निरक्षर होने के कारण कुरान को कुछ जानता नहीं। अतएव जो कुछ राज्य के हित के लिये मुझे ठीक जँचता है वही मैं कर डालता हूँ। सुल्तान के इस कथन के आधार पर उसकी स्वतन्त्र राजनीति का बड़ा भारी भवन खड़ा कर दिया है। किन्तु हम इस सुल्तान की शिक्षा तथा अन्य गुणों के आधार पर निश्चित रूप से कह सकते हैं कि किसी नई राजनीति का स्थापित करना तो कहाँ, वह इस योग्य भी नहीं था कि राजनीति के किसी सिद्धान्त को भी वह समझ सकता। वह तो केवल इतना जानता था कि एक राजा का काम है अपने राज्य को बढ़ाते जाना और राजा तथा शासक-वर्ग के सुख-सम्भोग के लिए प्रजा का प्रयोग करना। प्रजा का हित न तो तत्कालीन शासन का उद्देश्य समझा जाता था और न अलाउद्दीन ने उसमें कोई परिवर्तन किया। कट्टरता में वह किसी मुसलमान राजा से कम नहीं था। शत्रुओं तथा विद्रोहियों के सम्बन्धियों के साथ इतने घृणित और अमानुषिक बर्ताव की परिपाटी अलाउद्दीन ने चलाई जिसको तत्कालीन लेखक बरनी भी सहन न कर सका। उसने बड़े दुःख और आश्चर्य से लिखा है कि विद्रोहियों के पापों की सजा उनके निर्दोष बच्चों तथा स्त्रियों को बड़ी निर्दयता तथा निर्लज्जता से अनादर करके देने की प्रथा पहले-पहल अलाउद्दीन ने ही चलाई थी। इससे पूर्व इस प्रकार के अत्याचार कोई जानता भी न था।

खलजी वंश का अन्त : काफ़ूर के दक्षिण से लौटने के समय तक अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ चुका था और काफ़ूर पर उसको इतना अन्धविश्वास हो गया था कि वह उसके सामने अपने भले-बुरे को सोच ही न सकता था। काफ़ूर ने इस मौके से लाभ उठाकर सुल्तान के बेटे खिज्रखां की शिकायत करके उसे जेल में डलवा दिया और जब १३१६ के आरम्भ में सुल्तान की मृत्यु हुई तो काफ़ूर पाँच वर्ष के एक राजकुमार को गद्दी पर बिठाकर स्वयं शासन करने लगा। किन्तु उसके विरुद्ध बहुत लोग हो गये थे। ३५ दिन राज्य करने के बाद काफ़ूर मार डाला गया, और अलाउद्दीन का बेटा मुबारक अपने छोटे भाई को मारकर अप्रैल १३१६ में गद्दी पर बैठा।

मुबारक ने शुरू में ही बड़ी समझदारी से शासन किया। दरबार के सब बड़े-बड़े अमीरों से मैत्री का वर्ताव किया और जो अक्षम्य थे उनको दंड भी दिये। बाजार भाव का नियंत्रण, जिसके कारण सामान्य प्रजा को अत्यन्त कष्ट हुए थे, समाप्त कर दिया, जिन लोगों की जमीनें छीन ली गई थीं वे उनको लौटा दी गईं और बहुत से कर भी उठा दिये गये। प्रजा को इस नीति से बड़ी सान्त्वना मिली। अलाउद्दीन

के कठोर नियंत्रण के कारण सबका दम घुट रहा था। अब सबको आराम से साँस लेने का अवसर मिला।

बरनी के अनुसार इस नम्र नीति का एक दुष्परिणाम हुआ। अमीरों और दरबारियों के आचार के बन्धन टूट जाने से दुराचार बढ़ा। स्वयं सुल्तान भोग-विलास में डूब गया। जिस प्रकार अलाउद्दीन का प्रिय काफूर बन गया था, उसी प्रकार गुजरात का एक हिन्दू युवक जिसका नाम खुसरू रखा गया, सुल्तान की कृपा का परमपात्र बन गया। खूसरू को भी काफ़ूर की तरह दक्षिण के राज्यों का दमन करने के लिए भेजा गया। देवगिरि का राजा इस समय हरपाल देव था। उसने दिल्ली का आधिपत्य अस्वीकार करके राज्य कर देना बन्द कर दिया था। मुबारक ने स्वयं उस पर चढ़ाई की और उसे पकड़ कर उसकी जिन्दा खाल खिंचवाई। देवगिरि राज्य को तुर्की सरदारों में बांट दिया। वहां से उसने खुसरू को मदुरा को फिर से जीतने के लिए भेजा और स्वयं दिल्ली लौट आया। गुजरात का भी इसी प्रकार से दमन करना पड़ा। परन्तु अब उसके अपने प्रान्ताधिकारी ही विद्रोही हो गये और समस्त साम्राज्य के अन्दर अराजकता की आग-सी भड़क उठी। सुल्तान ने अपने कई भाइयों को मरवा डाला और शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी। इस दिशा में खुसरो ने अपने हिन्दू साथियों का संगठन करना शुरू किया और अप्रैल १३२० में सुल्तान को मरवा डाला। तब वह स्वयं सुल्तान बन बैठा और मुसलमानों तथा उनके धर्म-स्थानों आदि पवित्र वस्तुओं से पूरी तरह बदला निकालना शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ कि विरोध की आग एकदम भड़क उठी। इस अव्यवस्था से तुर्की साम्राज्य को बूढ़े सैनिक गयासुद्दीन तुगलकशाह ने बचाया। खुसरू और उसके बहुत-से साथी मारे गये और गयास तुग़लक बादशाह बना।

तुगलक वंश

गाजी तुग़लक एक बहुत मामूली वंश का था। उसका पिता बलबन का गुलाम था और उसकी माँ पंजाब के एक जाट घराने की थी। परन्तु वह अपनी योग्यता के कारण बहुत जल्दी एक ऊँचे सैनिक के पद पर पहुँच गया। १३०५ ई० में वह पंजाब का गवर्नर बना दिया गया और उसको सीमा की रक्षा करने का काम विशेष रूप से सौंपा गया। इस समय मुगलों के हमले बार-बार हो रहे थे। परन्तु ग़ाजी मलिक ने बड़ी वीरता के साथ इन सबका मुकाबला किया और पूरी तरह राज्य की रक्षा की। **खुशरोशाह को हराकर वह १३२५ ई० के सितम्बर मास में गद्दी पर बैठा और अपना नाम गयासुद्दीन तुगलकशाह ग़ाजी रखा।**

घरेलू शासन

गद्दी पर बैठते ही सुल्तान ने ऐसी नीति संचालित की जिससे राज्य के दरबारी तथा सामान्य जनता सुखी हो और सुलतान को सहायता दे। उसने बड़ी चतुराई से उन अमीरों को भी अपनी तरफ मिला लिया जिन्होंने उसके विरुद्ध खुसरो

का साथ दिया था। परन्तु उन सब लोगों को, जो बराबर सुलतान का विरोध करते रहे, पद से अलग कर दिया गया और उनकी जमीनें छीन ली गईं। सरकारी कोष को फिर से भरपूर करने के लिए उसने भरसक प्रयत्न किया। ख़ुसरो ने बहुत-सा धन दिल्ली के सूफी-साधुओं को बाँट दिया था। इसको भी उसने वापस लेने का प्रयत्न किया। इस मामले पर उसका दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी शेख निजामुद्दीन औलिया से झगड़ा हो गया और जीवन-भर यह मनमुटाव बना रहा। क्योंकि शेख निजामुद्दीन ने वह पाँच लाख तंका, जो उसे मिला था, गरीबों को बाँट दिया और इसलिये वापस देने से इन्कार कर दिया। सुल्तान बहुत आग-बबूला हुआ। परन्तु शेख की समस्त जनता में इतनी मान्यता और भक्ति थी कि बादशाह उसको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता था। किन्तु और लोगों से उसने बहुत-सा धन वापस ले लिया और इस प्रकार राजकीय कोष की दशा सुधारी।

ग़ाजी तुगलक के सामने सबसे गहन समस्या देश की आर्थिक दशा को सुधारने की थी, क्योंकि अलाउद्दीन खिलजी की आर्थिक नीति के फलस्वरूप लगभग सभी दस्तकारों की और विशेषतया किसानों की हालत बहुत ही खराब हो गई थी। दिल्ली के दोनों तरफ के दोआबों में किसानों को इतनी निर्दयता के साथ चूस लिया गया था कि वे खेती बाड़ी के काम को छोड़ने पर विवश हो गये थे। स्थानीय सरकारी कर्मचारी इतनी कठोरता से कर वसूल करते थे कि किसानों का जीवन अत्यन्त दुष्कर हो गया था। इसी कारण राजकीय कोष भी खाली हो गया था और उसकी आय बहुत घट गई थी। इस दुर्दशा को दूर करके किसानों की हालत को सुधारना और इस प्रकार अपनी आय को बढ़ाना तुगलकशाह ने अपना पहला कर्त्तव्य समझा। अतएव उसने आज्ञा दी कि भूमि-कर की मात्रा इतनी औसत दर्जे की रखी जाय जिसे किसान लोग बहुत आसानी से दे सकें और यदि उसमें कभी कुछ बढ़ोत्तरी करना आवश्यक समझा जाय तो वह १/१० व १/११ वार्षिक से अधिक न हो। उसने भूमिकर के निर्णय करने में मापन-विधि को छोड़कर सामान्य तरीकों से भूमिकर लगाने का प्रबन्ध किया। उसने खेती को बढ़ाने के लिए और अधिकाधिक भूमि पर खेती करवाने के लिए किसानों को हर प्रकार से प्रोत्साहित किया। सिंचाई के लिए नहरें खुदवाईं और बहुत से बाग लगवाये। साथ ही उसने सड़कों तथा अन्य सार्वजनिक हित के कार्यों को समुन्नत किया। सड़कें बनवाईं, जगह-जगह किले तथा पुल बनवाये। उसने आने जाने के मार्गों को बहुत उन्नत किया और डाक का प्रबन्ध भी किया।। डाक पैदल दौड़ने वाले मनुष्यों तथा घुड़सवारों के द्वारा ले जाई जाती थी और कम-से कम सौ मील बारह घण्टों में पहुँच जाती थी। उसने न्याय व्यवस्था में भी सुधार किये और दण्ड विधान को नरम करने का प्रयत्न किया।

इन सब कार्यों का परिणाम यह हुआ कि जनता की आर्थिक दशा सुधरने लगी और उसकी श्रद्धा सुल्तान के प्रति बढ़ती गई। किन्तु इस शुभ कार्य का बहुत अच्छा परिणाम उसकी कट्टर धार्मिक नीति के कारण नष्ट हो गया। हिन्दुओं के प्रति उसने बड़ी कठोरता का व्यवहार किया। उसने आज्ञा दी कि किसी हिन्दू को

सम्पत्ति जमा न करने दी जाय। उनको केवल उतना धन रखने का मौका दिया जाय जो साधारण जीवन बिताने के लिए काफी हो।

उस समय की राजनीतिक परिस्थिति का मुख्य पहलू यह था कि हिन्दू सरदार तथा शासक अभी मुसलमानी विजेताओं के प्रभुत्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए थे। राजा और प्रजा में परस्पर विश्वास तथा प्रेम के भाव उत्पन्न नहीं हो पाये थे। तुर्की सुल्तानों की नीति ने कभी भी ऐसा रूप धारण नहीं किया जिससे हिन्दू जनता उनको अपना राष्ट्रीय शासक तथा हितचिन्तक मान सके। हम कह आये हैं कि सुल्तान ने जनता की दशा को सुधारने के लिये अनेक सराहनीय उपाय किए, किन्तु अपनी संकीर्ण धार्मिक नीति के कारण इस सब पर पानी फेर दिया। हिन्दुओं को स्वतन्त्रता के साथ धनोपार्जन करने तथा तदनुसार सुख-सम्पदा के भोगने से वंचित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिन्दुओं ने अपना रुपया-पैसा छिपाने के लिये जमीन में गाड़ना शुरू कर दिया। इसका एक अच्छा परिणाम यह तो हुआ कि ये गड़े हुए धन, जो आधुनिक खोज से मिलते जाते हैं, तत्कालीन इतिहास के **निर्माण में** बहुत सहायक होते हैं।

चढ़ाइयाँ तथा लड़ाइयाँ

शासन व्यवस्था को ठीक करने के बाद तुगलकशाह ने साम्राज्य के बिखरे हुए टुकड़ों को भी फिर से जीतने का विचार किया। खिलजी वंश के पतन के कारण दूर-दूर के प्रान्त, बंगाल तथा बारंगल स्वाधीन हो गये थे। बारंगल को जीतने के लिए तो उसने अपने बड़े लड़के जूनाखाँ को भेजा। जूनाखाँ को वारंगल पर दो बार चढ़ाई करने के बाद सफलता मिली और वहाँ के राजा प्रतापरुद्रदेव को दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। बंगाल पर सुल्तान ने स्वयं चढ़ाई की और बड़ी आसानी से पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल को अधिकार में लेकर वापस लौटा। रास्ते में उसने जौनपुर के पास मनायक का सूबेदार ज़फरखाँ को बनाया और इसने उस नगर का नाम बदलकर **जफराबाद** रखा।

बंगाल से लौटने पर जूनाखाँ ने अपने पिता के स्वागत के लिये एक काठ का मण्डप तैयार कराया और जब सुल्तान और उसका छोटा बेटा इस मण्डप के नीचे भोजन करने बैठे हुए थे तो हाथियों की एक टुकड़ी बादशाह का सम्मान करने के लिए मण्डप के इतने पास से दौड़ाई गई कि उनका धक्का लगने से यह मण्डप गिर पड़ा और बाप-बेटा दोनों उसके नीचे दब कर मर गये। कतिपय आधुनिक लेखकों ने अपनी बहुत-सी शक्ति तथा समय इस बात को सिद्ध करने के निरर्थक प्रयत्न में व्यतीत किया है कि यह घटना अकस्मात हो गई और इस में किसी प्रकार जूनाखाँ (मुहम्मद तुगलक) का हाथ नहीं था।

गयास तुगलक का चरित्र

गयास का चरित्र उसके उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट हो जाता है। दिल्ली के समस्त सुल्तानों में एक वही ऐसा था जिसका चरित्र कुछ-कुछ शेरशाह से मिलता

था। सूरी सुल्तान के समान वह भी क्रियाशील, कर्त्तव्यपरायण तथा शासन की वास्तविक समस्याओं को समझने वाला था। उसमें किसी प्रकार की प्रतिभा अथवा तीक्ष्ण बुद्धि नहीं थी, जिससे शासन के मौलिक सिद्धान्त तथा नीति में परिवर्तन अथवा नवीनता लाई जा सके परन्तु प्रस्तुत शासन-पद्धति को अत्यन्त योग्यता तथा निष्ठा के साथ संचालित करने की पूरी-पूरी क्षमता इस सुल्तान के अन्दर थी। अपने बेटे मुहम्मद तुगलक की तरह वह कोई मानसिक उड़ान नहीं भरना चाहता था। इसके प्रतिकूल जनता तथा राज्य की उस अत्यन्त दुर्दशा को दूर करने और प्रजा को सुखी बनाने में उसने कोई कोर-कसर न छोड़ी। उसकी धार्मिक संकीर्णता ने उसके शुभ कार्य का पूरा लाभ प्रजा को न उठाने दिया, किन्तु वह नीति उस युग के वायुमण्डल की देन थी और इससे ऊपर उठकर उदारता तथा मानवीय नीति का संचालन करना तुगलकशाह जैसे सामान्य सैनिक का काम न था। यदि वह अपनी समकालीन संकीर्णता से ऊपर उठकर एक नवीन राजनीतिक सिद्धान्त तथा शासन-नीति का संचालन कर सकता तब तो उसकी गिनती सर्वोत्कृष्ट, कुशाग्र-बुद्धि तथा नवीन पथ के आविष्कर्त्ताओं में होती। उसकी विशेषता उसके क्रियाशील तथा चतुर शासक होने में थी। यदि उसके उत्तराधिकारी उसकी परिपाटी का अनुसरण करते तो इतनी जल्दी उनको साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का दृश्य न देखना पड़ता।

गयास का व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा था। उसका बर्ताव अपने साथियों से बहुत अच्छा था। उसमें अपने पद का घमण्ड बिलकुल नहीं था। वह कला-प्रेमी भी था। विशेषतः बड़े-बड़े किले तथा भवन बनवाने में उसको बड़ी रुचि थी जिसका वर्णन आगे किया जायगा। जिस वर्ष उसकी मृत्यु हुई उसी वर्ष दो और महापुरुषों का निधन हुआ, अर्थात् प्रसिद्ध सूफी निज़ामुद्दीन औलिया तथा सुविख्यात कवि अमीर खुसरो। अमीर खुसरो हिन्दी का बड़ा प्रेमी था और उसने उर्दू तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में अनेक कविताएं लिखकर इन भाषाओं को बहुत-कुछ समुन्नत किया। खुसरो का समकालीन तथा मित्र हसन निजामी भी बड़ा प्रसिद्ध कवि था। यह हसन देहलवी के नाम से प्रसिद्ध है।

मुहम्मद बिन-तुगलक (१३२५-५१)

इतिहास में मुहम्मद तुग़लक़ ऐसा विचित्र बादशाह हो गया है, जिसका जोड़ मिलना कठिन है। मस्तिष्क के गुणों में वह मुसलमान बादशाहों में अद्वितीय था। उसकी स्मरण-शक्ति, तीक्ष्ण-बुद्धि तथा विद्या-प्रेम उसके समकालीन लोगों को चकित करते थे। वह कई विद्याओं का प्रकाण्ड पण्डित था। गणित, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा-शास्त्र, शरयत आदि विभिन्न विद्याओं में उसका कोई मुकाबला न कर सकता था। वह कवि भी था और लेखक एवं वक्ता भी। उसका वैयक्तिक जीवन भी सर्वथा निर्मल और निर्दोष था। धार्मिक नित्यकर्मों से वह बड़ा सावधान रहता था। परन्तु सामाजिक तथा राजनीतिक नीति में उसने बड़ी स्वतन्त्रता से काम करना शुरू किया। धार्मिक संकीर्णता भी उसमें न थी और समाज-सुधार में उसने

सती आदि कुप्रथाओं को बन्द करना भी चाहा। शासन-नीति में वह न तो शरयत की अधिक परवाह करता था और न मुल्लाओं के मिजाज की। आदर्श उसके बहुत ऊँचे थे। वह सच्चा प्रजापालक बनना चाहता था और हिन्दुओं को भी प्रोत्स हित करना चाहता था। सिन्ध का सूबेदार उसने एक हिन्दू को बनाया था। किन्तु उसके चरित्र में एक प्रकार की ऐसी अस्थिरता थी कि कभी तो वह अत्यन्त कोमल-हृदय हो जाता था और कभी इतना क्रूर और पाशविक कि उसके हाथों हजारों असहाय मनुष्यों को अत्यन्त हृदय-विदारक दण्ड मिलते थे। युवावस्था में उसके साथी कई उदार विचारों वाले विद्वान् थे, किन्तु उसका सबसे गहरा दोष यह था कि उसमें

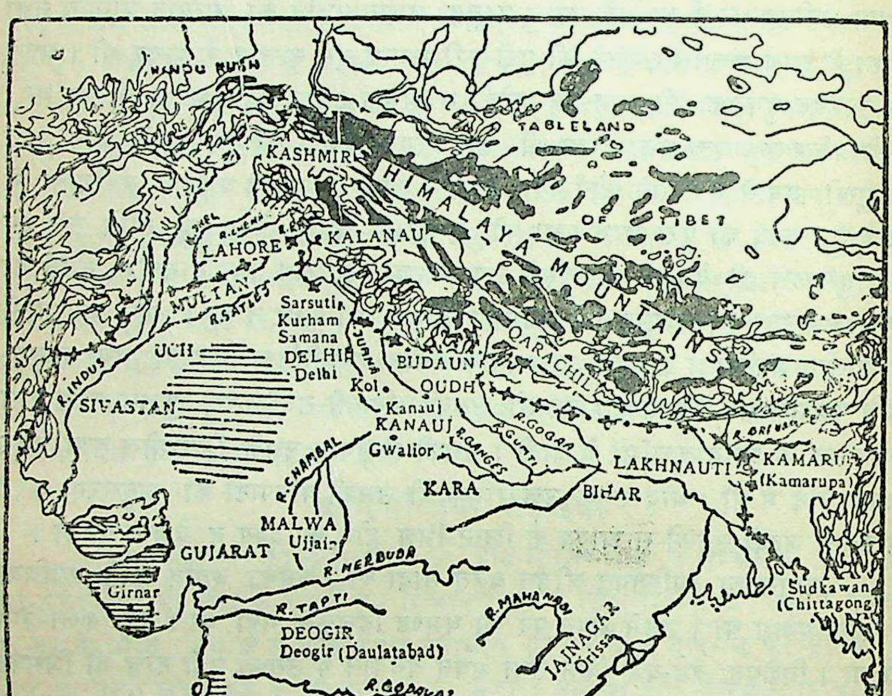
HINDU KUSH
TABLELAND
OF TIBET
KASHMIR
HIMALAYA MOUNTAINS
LAHORE
KALANAU
MULTAN
R. SATLEJ
R. CHENAB
R. JHELUM
Sarsuti
Kurham
Samana
DELHI
Delhi
R. JUMNA
UCH
R. INDUS
SIVASTAN
BUDAUN
Kol
OUDH
QARACHIL
Kanauj
KANAUJ
R. GANGES
R. GUMTI
R. GOGRA
R. BRAHMAPUTRA
Gwalior
R. CHAMBAL
KARA
BIHAR
LAKHNAUTI
KAMARU
(Kamarupa)
MALWA
Ujjain
GUJARAT
Girnar
R. NERBUDA
R. TAPTI
R. MAHANADI
Sudkawan
(Chittagong)
DEOGIR
Deogir (Daulatabad)
JAJNAGAR
Orissa
R. GODAVRI
Warangal
(Sultanpur)
Gulbarga
TELINGANA
R. KRISHNA
Vijaynagar
Sindabur
(Goa)
Nellore
DVARA
SAMUDRA
Manjarur
(Mangalore)
Jurfattan
Cannanore
Calicut
MALABAR
MABAR
KAVERI
Madura
Kawlam
(Quilon)
SAYLAN
Southern extent of Allauddin's Empire + + + +
Southern extent of Muhammad Bin Tughluq's Empire — — — — —
Northern extent of both being common + · + · +

THE EMPIRE OF ALLAUDDIN KHALJI AND MUHAMMAD BIN TUGHLUQ

इतने महान् विद्वानों और विचारकों की-सी विरक्ति न थी। उसे राज्य तथा शक्ति का मोह सर्वोपरि था और साथ ही अपनी योग्यता का भारी घमण्ड तथा अपनी शक्ति का अहंकार। उसको शासन-कार्यों में नई-नई योजनाएँ बनाने तथा उनको कार्य-रूप में परिणत करने की बड़ी लालसा बनी रहती थी। किन्तु वह यह न समझ पाता था कि सामान्य जनता बजाय उसकी अनेक नवीन योजनाओं को समझने तथा सराहने के उनसे अत्यन्त हैरान तथा चकित हो जाती थी। उसकी सभी नवीन योजनाएँ इसी प्रकार अक्रियात्मक होने के कारण सफल न हो पाईं। साथ ही यह कह देना भी न्याययुक्त होगा कि कुछ हद तक भाग्य ने भी उसका साथ न दिया और इस कारण भी उसको सफलता न मिली।

मोहम्मद तुग़लक़ के शासन का पहला भाग (१३२५-१३४२)

ग़यास तुग़लक़ के भूमिकर-सम्बन्धी बन्दोबस्त के कारण राजकीय आय इतनी कम हो गई थी कि वह मोहम्मद तुग़लक़ की असामान्य योजनाओं के लिए काफी न थी। अतएव उसने राज्य की भूमि, आय तथा पैदावार इत्यादि का पूरा-पूरा ब्यौरा करवाया। उसके महल में कई वर्ष तक इस काम को पूरा करने के लिए एक बड़ा दफ्तर काम करता रहा। सूबों की आय निश्चित करके सूबेदार को उसका जिम्मेवार बना दिया गया।

इसी समय उसके एक सम्बन्धी गुरुशास्प ने विद्रोह किया। परन्तु वह अंत को हारा और पकड़ लिया गया। मोहम्मद ने उसकी जीते-जी खाल खिंचवाई तथा उसका माँस पकवाकर उसके सगे सम्बन्धियों को बंटवाया। फिर कपिल के राजा पर, जिसने गुरुशास्प को शरण दी थी, हमला किया। इस वीर ने अपनी स्त्रियों को जौहर की ज्वाला के अर्पण करके बड़ी बहादुरी से युद्ध करते हुए वीरगति पाई। मोहम्मद ने उसके पुत्रों को मुसलमान बनाया।

राजधानी परिवर्तन (१३२७) : इस वर्ष सुल्तान ने राजधानी को दिल्ली से हटाकर दक्षिण के देवगिरि नगर में ले जाने का निश्चय किया। सौभाग्य से इस समय मुगलों के आक्रमण बन्द हो चुके थे और उत्तर-पश्चिम की रक्षा की समस्या बहुत कम हो गई थी। दक्षिण के सूबों के शासन को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता सुल्तान को अनुभव हुई। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं कि मोहम्मद दक्षिण में मुस्लिम संस्कृति का प्रचार करना भी आवश्यक समझता था। इन्हीं कारणों से उसने तुरन्त आज्ञा दी की देवगिरि में राजभवन तथा कार्यालय आदि बहुत जल्दी बनाये जायँ। दिल्ली के समस्त सरकारी कर्मचारियों को आज्ञा हुई कि वे अपना दण्ड-कमण्डल उठाकर देवगिरि पहुँच जायँ। देवगिरि का नाम दौलताबाद रखा गया। सरकारी दफ्तरों पर ही दिल्ली का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन आश्रित था। इसके चले जाने से दिल्ली ऊजड़ हो गई, नगर के जीवन का रस चला गया। फलतः जनता में भारी असंतोष हुआ। इब्नबतूता के अनुसार दिल्ली के लोगों ने अपना रोष सुल्तान के कानों तक पहुँचाने के लिए बहुत से पत्र निन्दासूचक शब्दों

में लिखकर महल के अन्दर डलवाये। इनको पढ़कर सुल्तान को इतना क्रोध आया कि उसने एकदम दिल्ली की समस्त जनता को देवगिरि जाने की आज्ञा दे दी। इस आठ सौ मील के लम्बे रास्ते पर लोगों की सुविधा के लिए राज्य की ओर से कुछ प्रबन्ध किये गये, किन्तु इतनी बड़ी भीड़ के लिए वे सब अपर्याप्त साबित हुए। लोगों को मार्ग में घोर कष्ट हुए और उनमें से हजारों मर गये। थोड़े दिन बाद बादशाह ने अनुभव किया कि उसके इतने दूर चले जाने के कारण उत्तरी प्रदेशों की शासन-व्यवस्था बिगड़ने लगी और विशेषतः पंजाब तथा सीमाप्रान्त की फिर वही अरक्षित अवस्था हो गई जो खिल्जी-काल में थी। सुल्तान के सूबेदार ने विद्रोह किया और मध्य एशिया से मुगलों का एक बड़ा हमला हुआ। मोहम्मद ने बड़ी कठिनाई से मुल्तान के सुबेदार को हराया और मुग़ल सेना, जो दिल्ली और बदायूँ तक पहुँच चुकी थी, सौभाग्यवश स्वयं लौट गई। कहा जाता हैं कि सुल्तान ने उसको चुपके से घूस दे दी। इन घटनाओं के कारण थोड़े दिन बाद मोहम्मद ने राजधानी को फिर दिल्ली लौटने की आज्ञा दी। सन् १३३५ में राजकीय कार्यालय तथा दिल्ली की बची-खुची जनता फिर वापस आई।

6719

संकेत-मुद्रा का संचालन (१३३०)

इस वर्ष उसने एक और नवीन योजना का प्रयोग किया जो इस युग में अत्यन्त विचित्र जान पड़ती थी। इस प्रयोग के कारणों के बारे में एक मत नहीं हैं। कुछ लोगों का विचार है कि दोआब के अकाल के कारण जो हानि हुई थी, उससे राजकीय आय कम हो गई थी तथा व्यापार आदि पर भी उसका असर पड़ा था। अतएव सुल्तान व्यापार आदि की वृद्धि करना चाहता था। दूसरा मत यह है कि मोहम्मद तुगलक़ को समकालीन चीन व फारस आदि देशों का इतिहास भली-भाँति विदित था और इन देशों में कागज तथा चमड़े के नोट प्रचलित हो चुके थे। ऐसे नवनीता के प्रेमी बादशाह को इस प्रकार की अद्भुत योजना का प्रयोग करने की इच्छा होना स्वाभाविक था। इस इच्छापूर्ति के लिए उसको एक बहाना भी मिल गया। तत्कालीन योरुप में चाँदी के सामान की बहुत माँग थी और इस कारण चाँदी की बहुत कमी होगई थी। अतएव बादशाह ने शासन की सुगमता तथा व्यापार की वृद्धि के उद्देश्य से ताँबे की संकेत-मुद्राएँ चलाई। किन्तु इन पर सरकारी इजारा इसलिए न रखा गया कि स्वयं लोग संकेत-मुद्रा के लाभ को अनुभव करके उसका सदुपयोग करें। परन्तु सुलतान की यह आशा पूरी न हुई और थोड़े ही समय में घर-घर में ताँबे के संकेत-सिक्के बनने लगे। फलतः बादशाह की यह उपयोगी योजना भी विफल रही। इसमें सुल्तान का कोई दोष न था, किन्तु परिस्थिति ने यहाँ भी उसका साथ न दिया। **एक बड़े आधुनिक विद्वान् ने मोहम्मद को 'मुद्रा' तत्वज्ञों का राजा' कहा है।** वह वास्तव में इस प्रशंसा का पात्र था। जब उसने देखा कि उसकी यह योजना न चल सकेगी तो उसने बड़ी उदारता से समस्त प्रचलित ताँबे के टंकों को वापस लेकर उनके मूल्य के चाँदी के सिक्के सरकारी कोष में दे दिये।

उसने मुद्रा-विभाग में बड़े उत्तम संशोधन किए। सिक्के शुद्ध धातु के तथा उत्तम कोटि के बनवाये और बहुत-सी नई टकसालें खुलवाईं।

(इब्नबतूता का आना १३३३)

इस वर्ष अफ्रीका का एक प्रसिद्ध यात्री इब्नबतूता सिन्ध, मुल्तान और पंजाब होता हुआ दिल्ली पहुँचा। वहाँ सुल्तान ने उसकी बड़ी उदारता के साथ आवभगत की। उस के व्यय के लिए बहुत-सा धन दिया गया। इब्नबतूता सुल्तान के दरबार में कई वर्ष रहा और फिर भारतवर्ष में बहुत दूर-दूर स्थानों पर घूमा। मोहम्मद के शासन के विषय में उसने जो कुछ देखा-सुना उसका हाल उसने अपने सफरनामे में लिखा है। बादशाह ने उसको राजधानी का काजी बना दिया था और क्योंकि वह हिन्दुस्तानी भाषा न जानता था, अतः उसकी सहायता के लिए दो और काजी नियुक्त किये गए थे।

अन्य घटनाएँ : १३३५ ई० में बादशाह को मदुरा के शासन के विद्रोह की सूचना मिली। वह स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिए देवगिरि तक पहुँचा था कि उसकी सेना में मरी फैल गई और वह स्वयं बहुत दिन तक बीमार रहा। इस कारण उसे वापस लौटना पड़ा और मदुरा के शासक को एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का अवसर मिल गया। मदुरा के शासकों ने दक्षिण के हिन्दू राज्यों से लगातार लड़ाई रखी और अत्यन्त भीषण अत्याचार किए। किन्तु विजयनगर के साम्राज्य के सामने यह मदुरा का राज्य न ठहर सका। उसके एक सेनापति ने उसका अन्त कर दिया और उसको विजयनगर साम्राज्य में मिला लिया।

१३३५ ई० तक सुल्तान ने कई नवीन योजाओं का प्रयोग किया, किन्तु दुर्भाग्यवश उसको किसी में सफलता न मिली। परन्तु सन् १३३५ के बाद दैव का ऐसा प्रकोप हुआ कि राज्य की रही सही दशा भी बिगड़ती गई और बादशाह के सँभाले न सँभली। इसी समय से साम्राज्य का ह्रास तथा विच्छेद आरम्भ हो गया। अपनी बीमारी के बाद जब सुल्तान दौलताबाद से लौटा तो उसने उत्तरी भारत को एक भारी अकाल से पीड़ित पाया। कहा जाता है कि पूरे सात वर्ष तक वर्षा न हुई मनुष्य एक-दूसरे को मार-मारकर खाने लगे। इस दशा को देखकर सुल्तान ने दिल्ली के लोगों को छः महीने तक बना-बनाया खाना बाँटा, गाँव वालों को खेती के लिए धन दिया और कुएँ बनवाए। परन्तु बहुत लोगों ने इस रुपये को खेती के बजाय अपने निजी काम में खर्च कर डाला, इस पर सुल्तान ने उनको अत्यन्त कठोर दण्ड दिए।

जब दिल्ली में अन्न आदि मिलने की सम्भावना न रही और बाहर से लाना भी कठिन हो गया, तब सुल्तान ने दिल्ली से कोई डेढ़ सौ मील की दूरी पर कन्नौज के निकट एक नया नगर बसाया जिसका नाम 'सरगद्वारी' रखा और दिल्ली के लोगों को आज्ञा दी कि वे वहाँ जाकर रहें। क्योंकि अवध में अकाल नहीं था, अतः वहाँ के योग्य सूबेदार ऐन उलमुल्क ने सुल्तान की बड़ी सहायता की। सुल्तान ने दिल्ली

वालों के साथ सरगद्वारी में छः वर्ष बिताए और इस प्रकार दया तथा बुद्धिमत्ता का परिचय दिया।

अन्य देश विजय करने की योजनाएं (१३३७-१३३९) :

इस दुर्भिक्ष और आपत्ति के काल में भी मोहम्मद नई-नई योजनाओं के करने से न रुका। उसको विदित हुआ कि खुरासान के वजीर और बादशाह के परस्पर वैमनस्य के कारण उस देश की दशा अत्यन्त निर्बल हो गई है। यह देखकर मध्य एशिया का चगताई सरदार तरमाशिरीन और मिस्र का बादशाह दोनों मिलकर खुरासान पर चढ़ाई करने का विचार कर रहे थे। मोहम्मद भी इस गुट में सम्मिलित हो गया और एक बड़ी भारी सेना तैयार कर डाली। किन्तु एक वर्ष तक यह सेना सरकारी कोष खाती रही और बादशाह उसका कुछ प्रयोग न कर सका। मिस्र के शासक ने खुरासान से संधि कर ली और तरमाशिरीन बहुत दिन तक प्रतीक्षा करके हतोत्साह हो गया और वापस लौट गया, क्योंकि चीन के राजा ने भी उसकी सीमा पर चढ़ाई कर दी थी। यह योजना भी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण विफल हुई, किन्तु इसमें बादशाह की कोई मूर्खता नहीं थी। देश में अकाल आदि विपत्तियों के कारण सुल्तान इस अवसर का लाभ न उठा सका।

दूसरी चढ़ाई सुल्तान ने कराचल पहाड़ अर्थात् रुहेलखण्ड के प्रदेश पर की, क्योंकि वहाँ के राजा ने दिल्ली साम्राज्य के कुछ जिलों पर कब्जा कर लिया था। कुछ लेखकों ने इसको चीन की चढ़ाई कहा है, परन्तु यह निराधार है। इतना अवश्य है कि इस चढ़ाई में दिल्ली की सेना की बहुत हानि इस कारण हुई कि वह पहाड़ी प्रदेश तथा उसके मार्गों से परिचित न थी। अन्त में सुल्तान को राजा से सुलह करनी पड़ी।

नगरकोट की चढ़ाई : सन् १३३७ में मोहम्मद ने पंजाब के कांगड़ा जिले में नगरकोट के किले पर चढ़ाई की। इसको महमूद गज़नवी के बाद और कोई तुर्की सुल्तान न ले पाया था। इस प्रयास में बादशाह को सफलता मिली। नगरकोट के राजा ने हार मानकर बादशाह से संधि कर ली।

चीन आदि विदेशों से राजनीतिक सम्बन्ध :

एशिया के कई देशों से मोहम्मद तुगलक ने मित्रता के सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। चीन के बादशाह ने १३४१ में मोहम्मद के पास अपना एक दूत भेजा और इस बात की आज्ञा मांगी कि वह उन बौद्ध-मन्दिरों को फिर बना दे जिनको सुल्तान की फौज ने कराचल की चढ़ाई के अन्दर नष्ट कर दिया था। सुल्तान ने अपनी ओर से इब्नबतूता को चीन के मुगल सम्राट् के पास दूत बना कर सन् १३४२ में भेजा और वह पांच वर्ष बाद लौटा। मन्दिरों के विषय में मोहम्मद ने यह उत्तर दिया कि इस्लाम मत के अनुसार मन्दिरों को फिर से बनाने की आज्ञा तब तक नहीं दी जा सकती जब तक प्रदेश की जनता जजिया न दे।

सुल्तान की स्वतन्त्र नीति का परिणाम :

मोहम्मद तुगलक बहुत हद तक स्वतन्त्र विचार रखता था और अपने को 'जिल्लेअल्लाह' अर्थात् ईश्वर का साया मानता था। इस प्रकार की बातें उसने अपने सिक्कों पर भी उत्कीर्ण कराई थीं। अतएव उसने अपने सिक्कों तथा अन्य आवश्यक अवसरों पर खलीफ़ा का नाम लेना छोड़ दिया था। उसकी इन दोनों नीतियों अर्थात् नवीन योजनाओं तथा धार्मिक मामले में स्वतन्त्र विचारधारा का फल यह हुआ कि सुल्तान जनता में अप्रिय होता चला गया। जब उसने अपनी इस बढ़ती हुई अप्रियता को अनुभव किया तो अपने चरित्र के अनुकूल इस अप्रियता को मिटाने तथा सर्वप्रिय बनने के उद्देश्य से धार्मिक क्षेत्र में अपनी नीति को सर्वथा बदल दिया। उसने देखा कि उस समय कोई खलीफ़ा मुस्लिम संसार में सर्वमान्य न था। केवल मिस्र में एक मनुष्य, जो अपने आपको खलीफ़ा कहता था, मौजूद था। उसने इसी खलीफ़ा से याचना की कि उसके सुल्तान पद को स्वीकृत करने की घोषणा करे। सिक्कों पर से अपना नाम हटाकर खलीफ़ा का नाम लिखवाया और समस्त राजाज्ञाएँ खलीफ़ा के नाम से निकालनी शुरू कीं। १३४० में इस दरिद्र तथा नपुंसक मिस्र के खलीफ़ा के प्रतिनिधि को दिल्ली बुलवाया और उसका इतना आदर-सत्कार किया जैसा कोई दास अपने स्वामी का करता है। उसके ऊपर अतुल धन व्यय किया किन्तु उसकी इस नीति से कोई लाभ न हुआ।

साम्राज्य के ह्रास तथा विच्छेद का आरम्भ :

इधर सुल्तान अपनी लम्बी योजनाओं के प्रयोग करने में अपना समय व्यतीत कर रहा था और उधर उसके जर्जर साम्राज्य का ढाँचा टूटता जा रहा था। सन् १३३५ में मदुरा के मुस्लिम शासक के स्वतन्त्र होने का उल्लेख किया जा चुका है। इसी समय विजयनगर का राज्य भी स्थापित हो चुका था। इसके उद्गम तथा उत्कर्ष का वर्णन आगे किया जायगा। सन् १३३८ में लखनौती के सूबेदार को मारकर बंगाल का फ़खरूद्दीन नामक एक सरदार स्वाधीन बन बैठा। सुल्तान इतने झगड़ों में फँसा था कि इस विद्रोही का दमन करने का अवसर उसे न मिला। सन् १३४० में ऐनउलमुल्क, जो बड़ी योग्यता के साथ अवध का शासन कर रहा था, बादशाह की ईर्ष्या से शंकित होकर विद्रोही हो गया। मोहम्मद ने बड़ी कठिनाई से इस विद्रोह का दमन किया और ऐनउलमुल्क के सहायकों को अत्यन्त कठोर दण्ड दिए। परन्तु उसकी पहली सेवाओं के विचार से ऐनउलमुल्क को क्षमा करके बादशाही बागों का निरीक्षक बना दिया।

अकाल-पीड़ित प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध :

साम्राज्य में जगह-जगह विद्रोह हो रहे थे। किन्तु बादशाह ने सरगद्वारी से लौटते ही अपना काफी समय अकाल-पीड़ितों की रक्षा करने के प्रबन्ध में लगाया। एक नया विभाग खेती की उन्नति के लिए स्थापित किया गया और एक मन्त्री के

अधिकार में रखा गया । समस्त भूमि कुछ ऐसे ठेकेदारों को बाँटी गई जो अपने-अपने प्रदेशों में खेती तथा आबादी को बढ़ावें ।

दक्षिण के विद्रोह (१३३४) : इस समय दक्षिण में स्वयं मोहम्मद की अदूरदर्शिता तथा नृशंसता के कारण इतना प्रबल विप्लव हुआ कि उसमें सुल्तान और सल्तनत दोनों गर्क हो गए । दक्षिण की मालगुजारी ९० फी सदी घट गई । सुल्तान ने दक्षिण के कर्मचारियों को दोषी समझकर वहाँ के शासन की नई व्यवस्था की और योग्य सूबेदारों को हटाकर कई ऐसे कर्मचारी नियुक्त किये जो सर्वथा अयोग्य थे । मालवा में भी उसने एक ऐसे निर्दयी सूबेदार को नियुक्त किया, जिसने दक्षिण और गुजरात के सैकड़ों 'सादा अमीरों' (सादा-अमीर वे कहलाते थे जो सौ गाँवों की मालगुजारी वसूल करने के जिम्मेदार होते थे) को मरवा डाला । सुल्तान ने उस सूबेदार के इस घृणित कार्य की खुले तौर पर सराहना की । फल यह हुआ कि दक्षिण तथा गुजरात के अमीर भयभीत हो गए और उन्होंने तुरन्त बलवा कर दिया । इसकी सूचना पाते ही सुल्तान दिल्ली का शासन एक विशेष समिति को सौंपकर बलवे का दमन करने के लिए चल पड़ा और दिल्ली वापस न लौटा । भड़ौच (भृगुकच्छ) पहुँचकर उसने देवगिरि के सादा अमीरों को बुलवा भेजा । वे लोग सुल्तान के बुरे इरादे से शंकित होकर विद्रोही हो गये और उन्होंने स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा कर दिया तथा अपने एक वृद्ध नेता इस्मायलखाँ को अपना सेनापति बनाकर दौलताबाद पर अधिकार कर लिया । जब सुल्तान उस तरफ चढ़ा तो वे शहर छोड़कर पीछे हट गए । इसी समय गुजरात और सिन्ध के सूबेदारों ने बलवा कर दिया । सुल्तान इधर गया तो दक्षिण के बलवाइयों ने फिर दौलताबाद पर अधिकार कर लिया और अपने में से एक बड़े योग्य सैनिक हसन को अपना शासक बनाकर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । अगस्त सन् १३४७ में यह हसन अलाउद्दीन-अबू-मुज़फ्फर बहमानशाह के नाम से दौलताबाद का स्वाधीन राजा हुआ । बादशाह इस नये शासक का दमन करने में सर्वथा असमर्थ रहा । वह लगभग चार वर्ष तक गुजरात और सिन्ध के बलवों को दबाने का यत्न करता रहा और इसी अवकाश में मार्च १३५१ में थट्टा के पास उसकी मृत्यु हो गई ।

सिंहावलोकन : मोहम्मद तुग़लक के चरित्र का वर्णन किया जा चुका है । उसके शासन की घटनाओं से विदित होता है कि यह बादशाह अत्यन्त उच्च विचार तथा विलक्षण बुद्धि वाला था । अपने विचारों के अनुसार वह साम्राज्य को हर प्रकार से आदर्श बनाने की चेष्टा करता था । किन्तु उसमें न अवसर की पहचान थी और न मानव चरित्र की समझ । **उसकी विद्वत्ता ही प्रायः उसके दुर्भाग्य का कारण हुई । इसके प्रतिकूल अलाउद्दीन खिल्जी जो कोरा लंठ था, सौभाग्य से अपनी आकांक्षाओं में सर्वथा सफल हुआ ।** अलाउद्दीन में एक बड़ी खूबी यह थी कि अपने सलाहकारों की सलाह से ही काम करता था ।

मोहम्मद के चरित्र में एक विशेष बात यह थी कि शासन के मामलों में वह **धर्म के ठेकेदार मुल्ला मौलवियों को हस्तक्षेप न करने देता था** और न कोई विशेष

अधिकार देता था। यदि वे कोई अपराध करते थे तो साधारण लोगों के समान दण्ड पाते थे। धार्मिक नीति भी उसकी प्रायः उदार थी। रणथम्भौर और चित्तौड़ के राजपूतों को उसने अजेय समझकर छेड़ा ही नहीं। उसकी इस नीति से इस्लाम मत के नेतागण अत्यन्त असन्तुष्ट हुए। तत्कालीन इतिहास-लेखक बरनी भी कट्टर मुल्ला होने से मोहम्मद से असन्तुष्ट था और इसी कारण उसने सुल्तान की निन्दा की है। अतएव यद्यपि मोहम्मद के शासन का चित्र एक दृष्टि से बड़ा भयानक दीख पड़ेगा, किन्तु उसी के अन्दर ध्यानपूर्वक देखने से हमें इस विलक्षण बादशाह की प्रतिभा तथा विशेषताएँ भी छिपी हुई मिलेंगी।

सुल्तान फ़ीरोजशाह तुग़लक़ (१३५१--१३८८)

जिस समय सुल्तान मोहम्मद की मृत्यु थट्टा के निकट हुई, उसका चचेरा भाई फीरोज तुगलक़ सेना के साथ था, किन्तु जब तक वह मुहम्मद का स्थानापन्न न चुन लिया गया तब तक सेना नेताविहीन रही और सिन्ध के बलवाइयों तथा मंगोल लुटेरों ने उसमें लूट-मार करना शुरू किया। मुहम्मद के संग्राम को जारी रखने के लिए परिस्थिति किसी प्रकार भी अनुकूल न थी। सेना को दिल्ली वापस लौटा लाना और दक्षिणी प्रदेश को उसी अवस्था में छोड़ देना ही श्रेयस्कर था। मुहम्मद ने कोई पुत्र न छोड़ा था। कुछ लेखकों के अनुसार उसने फ़ीरोज को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था। अतएव सेना के साथ जो अमीर थे उन्होंने फ़ीरोज को सिंहासन पर बैठने का प्रस्ताव किया और उसके हिचकिचाहट दिखलाने पर उन्होंने आग्रह किया कि साम्राज्य तथा तुग़लक वंश के हित के लिए उसके राज्य की बाग-डोर सँभालना आवश्यक है। फ़ीरोज़ ने अमीरों के अनुरोध को स्वीकार किया और सेना को व्यवस्थित रूप से वापस लौटाना आरम्भ किया और मुलतान व दीपालपुर के मार्ग से वह दिल्ली वापस आया।

फ़ीरोज़ तुग़लक़ गयासुद्दीन तुग़लक़ के छोटे भाई रज्जब का बेटा था। माँ अबोहर के भट्टी राजपूत राजा की लड़की थी। गयास ने अपने आतंक द्वारा इस राजपूतानी से रज्जब का विवाह कराया था। फ़ीरोज़ के दिल्ली पहुँचने से पहले ही वयोवृद्ध शासक ख्वाजाजहाँ ने मुहम्मद के एक फर्जी बेटे को गद्दी पर बिठा दिया, क्योंकि उसने फ़ीरोज़ के मरने की अफवाह सुनी थी। वापस लौटने पर अमीरों के आग्रह के कारण फीरोज ने ख्वाजाजहाँ को प्राण-दण्ड दिया, यद्यपि उसने अपनी भूल की क्षमा माँग ली थी।

फ़ीरोज़ तुगलक की शासन-नीति तथा व्यवस्था के कुछ मुख्य पहलू हैं जिनका समझ लेना आवश्यक है। एक हिन्दू माता का पुत्र होते हुए भी फ़ीरोज अत्यन्त कट्टर व असहनशील मुसलमान था। उसने सुल्तानों की जो कुछ उदार-नीति उस समय तक बन पाई थी उसे सर्वथा उलट दिया। दूसरे, फ़ीरोज एक साधारण कोटि का शासक था। उसमें न राजनीतिक दूरदर्शिता थी और न ही साम्राज्य के खोये

हुए प्रदेशों को वापस लेने की चिन्ता। जो कुछ आधे से कम तुग़लक साम्राज्य मुहम्मद तुग़लक के बाद बच गया था, फीरोज़ ने उसी पर सन्तोष रखा। किन्तु एक सराहनीय कार्य उसने अवश्य किया। मुहम्मद के अस्त-व्यस्त शासन से व्यथित तथा दुःखी प्रजा के दुखों को निवारण करने की भरसक चेष्टा की। किन्तु उसमें यह क्षमता न थी कि वह मुहम्मद की अनेक उन्नतिशील रचनात्मक योजनाओं को परिपक्व कर सके।

फ़ीरोज़ की शासन-व्यवस्था : फ़ीरोज़ ने आरम्भ से ही शासन को व्यवस्थित करने के लिए अपने एक योग्य अमीर मलिक मक़बूल को अपना वजीर बनाया और उसकी सहायता से प्रजा को सुखी बनाने के कई कार्य किये। बहुत से लोगों पर जो सरकारी ऋण थे उन सबको माफ़ कर दिया गया। जिन लोगों को मुहम्मद ने बहुत कष्ट दिये थे उन्हें हरजाना देकर संतुष्ट किया। किसानों की हालत सुधारने के लिए उसने मालगुजारी की दर बहुत-कुछ घटाई, जिससे गाँवों की दशा काफ़ी सुधर गई। जनता से कर लेने के विषय में उसने अत्यन्त कट्टरता का परिचय दिया। इस्लामी विधान के अनुसार खिराज, जज़िया, जकात आदि करों के अतिरिक्त शेष सभी कर व अबवाब बन्द कर दिये। इससे सरकारी आय तो अवश्य घटी किन्तु सर्वसामान्य की आर्थिक स्थिति के समुन्नत होने से राज्य को विशेष हानि न हुई। फ़ीरोज़ का सबसे सराहनीय कार्य था उसके सार्वजनिक-हित के कार्य। उसने कई नहरें और सैंकड़ों कुएँ आबपाशी के लिए खुदवाये। दिल्ली के चारों तरफ सैंकड़ों फलदार बाग लगवाये जिससे जनता के सुख में वृद्धि हुई और राज्य की आय भी बढ़ी। फ़ीरोज ने बहुत-सी इमारतें बनवाईं और पुरानी इमारतों की मरम्मत तथा उनके रक्षण का प्रबन्ध किया। उसने फ़ीरोजाबाद, नई दिल्ली, फ़ीरोजपुर, हिसार, फतिहाबाद आदि बहुत से नए शहर बसाये और उसमें मदरसे व मस्जिदें, सराय, तालाब, औषधालय, हम्माम तथा महलात आदि भी सर्वसामान्य के आराम व उन्नति के लिए बनवाये।

साथ ही यह याद रखना आवश्यक है कि उसके प्रजा-हित के ये सब कार्य बहुत हद तक निरर्थक ही गए, क्योंकि फ़ीरोज ने हिन्दुओं के प्रति बड़ी कठोर नीति का व्यवहार किया। वह इस्लाम मत का इतना अनन्य भक्त था कि कुरान की शिक्षाओं का अक्षरशः पालन करने की चेष्टा करता था। तो भी वैयक्तिक जीवन में वह इस्लामी सिद्धान्तों का पालन न कर सकता था। वह शराब भी पीता था और शिकार आदि में बड़ा समय व्यय करता था। तथापि जहाँ तक हिन्दुओं के साथ बर्ताव का प्रश्न था, वह पूरी तरह कठमुल्लों के कहने पर चलता था और इस्लाम मत न मानने वालों को दण्ड देता था। उड़ीसा पर आक्रमण करने के समय उसने जगन्नाथ के मन्दिर से मूर्ति को दिल्ली लाकर उसका बड़ा निरादर किया। जजिया उगाहने में उसने बड़ी कड़ाई से काम लिया और ब्राह्मणों को भी इस कर से न छोड़ा। उसने सब नए मन्दिरों को तुड़वा डाला और हिन्दुओं के मेले में मुसलमानों का सहयोग देना बन्द किया। हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की भरसक चेष्टा की

और बहुतों को बनाया भी। शिया मुसलमानों पर भी उसने उनके मत के कारण अत्याचार किये। फ़ीरोज को ये सब कार्य करने का अवसर इसलिए भी मिला कि उसके शासन-काल में विद्रोहादि बहुत कम हुए और आन्तरिक शान्ति बनी रही। शासन-क्षेत्र में सुल्तान ने कुछ ऐसी योजनाएँ कीं कि जिनसे राज्य की शक्ति का बहुत ह्रास हुआ। उसने अपने राज्य को जागीरों में बाँट दिया और इसी प्रकार सैनिकों के प्रति अनावश्यक नम्रता का व्यवहार करके सैन्य-शक्ति को निर्बल किया। न्याय-विभाग में मुल्लाओं व काजियों को सर्वोच्च स्थान देकर उसने धार्मिक संकीर्णता को प्रोत्साहन दिया। परन्तु फौजदारी के अभियुक्तों के दण्ड नरम कर दिये। इनके अतिरिक्त फ़ीरोज ने गरीबों की सहायता के लिये एक विभाग खोला और कई औषधालय खुलवाए। इन संस्थाओं से हिन्दुओं को कितना लाभ होता होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। सुल्तान के इन कामों पर व्यय बहुत बढ़ जाने से उसे आवश्यकता हुई कि सरकारी सिक्का बहुत बनाया जाय। अतएव सिक्कों में मिलावट की गई और टकसालों की व्यवस्था भी उसकी नरमाई के कारण बहुत बिगड़ गई। साहित्य और कला का भी सुल्तान बड़ा प्रेमी था। बहुत से संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद उसने फ़ारसी में करवाए। वह स्वयं भी अच्छा विद्वान् और लेखक था।

फ़िरोज़ के समय की घटनाएँ : कहा जा चुका है कि शासन सुदृढ़ करने और साम्राज्य के खोए हुए टुकड़ों को वापस लेने के लिए फ़िरोज ने कोई प्रयत्न न किया। भाग्य ने भी उसका साथ दिया। उत्तर-पश्चिम से उसके समय कोई हमले न हुए और आन्तरिक उपद्रव भी बहुत ही कम। दक्षिण प्रदेश को वापस लेने का तो विचार ही उसने छोड़ दिया। १३५३-५४ में बंगाल के विद्रोही शासक शम्सुद्दीन पर उसने चढ़ाई की, किन्तु जब वह अपने किले में बन्द हो गया और अन्दर से ही स्त्रियों का हाहाकार फ़ीरोज ने सुना तो उसका मन पिघल गया और वह घेरा उठाकर वापस आ गया। इस प्रकार बंगाल भी हाथ से निकल गया। सन् १३५६ में उसने नई दिल्ली और हिसार फ़ीरोजा बसाये। उसको इमारतों का इतना शौक था कि वह अशोक की दो लाटें दूर-दूर से उठवाकर बड़ी सावधानी के साथ दिल्ली लाया। एक को उसने अपने नये किले (महल) के अन्दर बड़ी मस्जिद के निकट एक तिमंजले मीनार के ऊपर खड़ा कराया और दूसरी को अपने दूसरे महल के अन्दर, जो पहाड़ी के ऊपर था, खड़ा करवाया। सन् १३५६ में पूर्वी बंगाल में फिर उपद्रव हुआ। शम्सुद्दीन का बेटा सिकन्दर और एक अमीर जफरखाँ बंगाल के शासक-पद के दावेदार थे। इस झगड़े को मिटाने के लिए सुल्तान बंगाल की तरफ चला। मार्ग में उसने गोमती नदी के किनारे प्राचीन नगर के स्थान पर नयी बस्ती बसाई और उसका नाम जौनपुर रखा। बंगाल पहुँचकर उसने सिकन्दर से सुलह कर ली और ज़फरखाँ को दिल्ली लाकर एक वजीर का पद दे दिया। इसी चढ़ाई से लौटते समय उसने जगन्नाथ के मन्दिरों का संहार किया। १३६० के अन्त में उसने नगरकोट पर चढ़ाई की, किन्तु छः महीने तक घेरा डालने पर सफल न हुआ और वापस लौट आया।

सन् १३७१-७२ में सुल्तान ने बड़ी भारी सेना के साथ थट्टा पर चढ़ाई की। यद्यपि सिन्ध के सरदार की हार हुई तथापि सुल्तान की बहुत-सी सेना मारी गई। सुल्तान को उससे सन्धि करनी पड़ी और फिर बड़ी कठिनाइयों के साथ दिल्ली वापस लौटा।

फ़ीरोज के अन्तिम दिन व चरित्र : पिछले दिनों फीरोज बहुत बूढ़ा हो चला। जब उसकी शक्ति शिथिल पड़ गई तो उसके लड़के मुहम्मद और वजीर में परस्पर झगड़े हुए, जिनमें मुहम्मद का प्राबल्य स्थापित हुआ और उसने अपने विलासी साथियों को ऊँचे ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। प्रजा ने उसका विरोध किया। बूढ़ा सुल्तान इस स्थिति को अपने जीते-जी सँभालने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु १३८८ में उसकी मृत्यु हो गई। उसी के साथ दिल्ली सल्तनत का महत्व भी समाप्त हो गया।

फ़ीरोज तुगलक में गुण व अवगुणों का मिश्रण था। सैनिक दृढ़ता, कार्य-पटुता, महत्वकांक्षा आदि शासकों के गुण उसमें न थे। उसकी धर्मान्धता व असहिष्णु नीति ने भी राज्य की शक्ति को उतनी ही हानि पहुँचाई जितनी उसकी अपने तुर्की अमीरों व गुलामों आदि के प्रति नरमी और अनावश्यक उदारता ने। परन्तु प्रजा-हित के कामों में उसकी बड़ी रुचि थी, जैसा कि हम देख चुके हैं। इतने नगर, सराएँ, मदरसे, शफाखाने व नहरें आदि उससे पहले किसी सुल्तान ने नहीं बनवाये थे। कहना न होगा कि इन सार्वजनिक कार्यों का लाभ केवल मुसलमानों के लिए ही परिमित न रह सकता था। हिन्दू ग्रामीण जनता को भी इनसे काफी लाभ पहुँचा होगा। वह मानव-चरित्र का भी अच्छा पारखी था। अपने समय में उसने सुयोग्य शासकों को मंत्री आदि उच्च पदों पर नियुक्त किया, अतएव उसके मरने तक तो साम्राज्य को कोई धक्का न पहुँचा। उसकी लोकप्रियता को भी इसका बहुत-कुछ श्रेय है। अतएव सुल्तान के मरते ही राज्य में कलह शुरू हो गई और वह टुकड़े-टुकड़े हो गया।

फ़ीरोज के उत्तराधिकारी और तैमूर का आक्रमण—फ़ीरोज तुग़लक के उत्तराधिकारी सभी अयोग्य निकले। परिणाम यह हुआ कि तुगलक-परिवार के तीन-चार राजकुमारों ने राजगद्दी का दावा करना आरम्भ किया। १३९४ से ९७ तक दिल्ली के आस-पास ही दो राजकुमारों ने शासन करना आरम्भ किया। उनमें फ़ीरोजशाह का पोता महमूद पुरानी दिल्ली में सुल्तान बन बैठा और एक भतीजा नसरखाँ फ़ीरोजाबाद में। इसी अस्त-व्यस्त परिस्थिति के दिनों में मध्य एशिया का तुर्क सैनानी तैमूर एक भारी सेना लेकर दिल्ली पर चढ़ आया।

तैमूर तुर्की वंश का एक महान् सैनिक और विजेता था। चंगेज़खाँ के बाद उसका विस्तीर्ण साम्राज्य उसके वंशजों में बँटकर छिन्न-भिन्न हो गया था। तैमूर ने फिर से मध्य एशिया के लगभग सभी देशों को अपने अधिकार में करके एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। अन्य मध्य एशियाई विजेताओं के समान तैमूर

भी अत्यन्त निर्दयी आततायी था। फ़ारस, अफ़गानिस्तान और मैसोपोटामिया आदि देशों को जीतने के बाद ३३ वर्ष की अवस्था में वह चगताई फ़िरक़े का नेता बन गया। इसके तुरन्त बाद उसने हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। अपने पोते पीर मुहम्मद को उसने एक नेता के साथ आगे भेज दिया और उसने मुल्तान पर छः महीने तक घेरा डालकर उसे ले लिया। १३९८ के अन्तिम दिनों में तैमूर स्वयं लगभग १ लाख घुड़सवार सेना लेकर सिन्धु नदी को पार करता हुआ तुलम्बा के स्थान पर अपने पोते की सेना से आ मिला। कहना न होगा कि मार्ग में ये दोनों अत्यन्त निर्दयता से जनता को मार-काट करते व लूटते तथा सैंकड़ों को गुलाम बनाते हुए चलते थे। तुलम्बा से इसी प्रकार यह आततायी भटनेर के मार्ग से होता हुआ आगे बढ़ा और सुल्तान महमूद तुग़लक की निर्बल सेना को हराता हुआ अम्बाला के निकट जमुना को पार करके मेरठ पहुँचा और वहाँ से जमुना के पूर्वी किनारे पर दिल्ली के उस पार लोनी के प्रसिद्ध किले के पास आकर ठहरा। तैमूर की छावनी में इस समय १ लाख हिन्दू कैदी थे। इस बात से अनुमान किया जा सकता है कि मार्ग में तैमूर ने कितने अत्याचार किए होंगे। इस डर से कि कहीं ये लोग दिल्ली पर हमला करते समय बलवा करके शत्रु का साथ न दें, उसने इन सब निर्दोष वन्दियों को कत्ल करवा डाला और तब दिल्ली की सेना से युद्ध करने के लिए दिल्ली से कई मील उत्तर की ओर नदी को पार करके पहाड़ी की उपत्यका में पहुँचा। सुल्तान महमूद एक बड़ी सेना इकट्ठी करके वीरता से लड़ा परन्तु उसकी हार हुई। तब तैमूर आगे बढ़ा और अलाउद्दीन के बनाये हुए हौज़ खास के पास पड़ाव डाला। वहाँ से उसने दिल्ली को निर्दयता से लूटा। हजारों नगर-निवासियों को कत्ल किया और बहुत-से शिल्पियों व कारीगरों को पकड़कर ले गया, जिनकी सहायता से उसने अपनी राजधानी समरकन्द में बड़े-बड़े प्रासाद बनवाये। दिल्ली में १५ दिन तक इसी प्रकार विध्वंस की ज्वाला जलाकर और नगर को भस्मीभूत छोड़ कर तैमूर मेरठ के रास्ते से होता हुआ हरिद्वार पहुँचा। वहाँ की जनता ने उसका बड़ी वीरता से मुकाबला किया। किन्तु उनका दमन करके तैमूर ने हरिद्वार को भी लूटा और उसके मन्दिरों को तोड़ा। फिर वह सिरमूर के राज्य पर जा उतरा और वहाँ बहुतों को बलात् मुसलमान बनाया। इसके बाद सुल्तान के सूबेदार खिज्रखाँ को लाहौर, दीपालपुर और मुल्तान का जागीरदार बनाकर वह नृशंस आततायी लौटा।

तैमूर के आक्रमण का परिणाम : तैमूर का आक्रमण इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि दिल्ली सल्तनत का सर्वथा ह्रास हो चुका था और उसमें किसी बाहरी शत्रु को रोकने की शक्ति न रह गई थी। उसके आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि उसकी लूट-मार और अनन्त संहार के कारण दिल्ली तथा पश्चिम प्रदेशों की दशा अत्यन्त शौचनीय हो गई। कोई शक्ति उत्तर भारत में न रह गई जो शान्ति व जनता की रक्षा स्थापित कर सकती। दिल्ली में निर्बल सुल्तान महमूद और उसके महत्वा-

कांक्षी मल्लू इकबाल में परस्पर संघर्ष हो रहा था। सन् १४०५ में मल्लू इकबाल मुल्तान के शासक खिज्रखाँ सैयद के विरुद्ध लड़ाई में मारा गया। सुल्तान महमूद अपने विलासी जीवन के कारण कोई सुधार न कर पाया और सन् १४१२ में उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद खिज्रखाँ ने मुल्तान से आकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

सल्तनत का संध्याकाल

(१)

सैयद वंश

चौदहवीं सदी के पूर्वार्ध में देश की स्थिति : खिज्रखाँ सैयद वंश का प्रथम बादशाह था जो १४१४ से १४२१ तक दिल्ली की गद्दी पर आसीन रहा। उसके शासनकाल में दिल्ली की सल्तनत का दबदबा बिलकुल घट गया था। खिज्रखाँ में एक तो साम्राज्य के पुनरुद्धार करने और सुदृढ़ बनाने की शक्ति और योग्यता वैसे ही नहीं थी, इसके अतिरिक्त देशव्यापी विद्रोहों के दबाने में ही उसका सब समय नष्ट हो गया।

खिज्रखाँ के उत्तराधिकारी : खिज्रखाँ का उत्तराधिकारी उसका लड़का मुबारक हुआ। उसके शासनकाल में भी विद्रोह हुए। १४३४ में उसका धोखे से वध कर दिया गया और उसका भतीजा मुहम्मद गद्दी पर बैठा जो बहुत अयोग्य और अशक्त शासक सिद्ध हुआ। इसके बाद १४४५ में चौथा सैयद बादशाह गद्दी पर बैठा जो इतना निकम्मा निकला कि २ वर्ष पश्चात् राजकाज बहलोल लोदी को सौंपकर अपनी जागीर बदायूँ में रहने लगा। थोड़े दिन पश्चात् १४५१ में बहलोल स्वयं सुल्तान बन बैठा।

(२)

लोदी वंश

बहलोल लोदी : बहलोल लोदी समझदार शासक था। उन दिनों पठानों को सन्तुष्ट करना बड़ा कठिन कार्य था। बहलोल ने बनावटी नम्रता से काम लिया, किन्तु छिपे-छिपे उन सभी अमीरों को नष्ट किया जिनसे उसे आशंका थी। मुल्तान के सूबेदार ने विद्रोह किया। जब बहलोल विद्रोह को दबाने सरहिन्द पहुँचा तब उसे समाचार मिला कि जौनपुर के शासक ने दिल्ली पर हमला किया है। अतः वह दिल्ली लौटा और जौनपुर का शासक महमूद भी वापस लौट गया। सन् १४८९ में बहलोल की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र सिकन्दर लोदी गद्दी पर बैठा।

सिकन्दर लोदी : वह सुयोग्य और शक्तिशाली शासक था। उसने सल्तनत के पुनरुद्धार का भरसक प्रयत्न किया। उसके शासन-काल में भी अनेक बलवे हुए किन्तु उसने बड़ी वीरता से उनका दमन कर दिया। उसने आगरा शहर बसाया और यहाँ छावनी रखी। उसने विकट युद्ध करके नरवर के प्रसिद्ध किले पर विजय

पाई तथा इसके पश्चात् चन्देरी और नागौर को भी अपने अधीन किया। १५१७ में आगरा में उसकी मृत्यु हो गई। सिकन्दर के बाद उसका बेटा इब्राहीम गद्दीनशीन हुआ।

सिकन्दर का शासन : शासन को पुनः संगठित करने का भरसक प्रयत्न सिकन्दर ने किया। उसने केन्द्र की शक्ति को दृढ़ करने के उद्देश्य से राजकाज के अधिकार अपने हाथ में लेकर अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने में काफी सफलता प्राप्त की, यद्यपि अफगान सरदार यह सिद्धान्त न भूले थे कि वे बादशाह के बराबर ही हैं क्योंकि वह केवल उनकी बिरादरी का मुखिया है। सिकन्दर ने शासन-व्यवस्था में कुछ और भी सुधार किए। सरकारी आय-व्यय की जांच-पड़ताल का उत्तम प्रबन्ध किया और बीच के कर्मचारियों की बेईमानी को बहुत हद तक रोका। न्याय में भी बहुत कड़ाई की और सबके साथ समान व्यवहार करने की चेष्टा की। न्यायालय में छोटे-बड़े, गरीब-अमीर के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया। गाँवों की रक्षा के उपाय किए तथा खेती की वृद्धि का प्रबन्ध किया गया। वाणिज्य व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया और दरिद्र प्रजा के दुःख निवारण करने के उपाय भी किए। सिकन्दर कुछ कविता भी करता था और उसका उपनाम गुलरुख था। वह कवियों तथा विद्वानों को उत्साहित करता तथा आश्रय देता था।

इब्राहीम अयोग्य शासक था और परिस्थितियाँ उसके प्रतिकूल थीं। उसे अपने जीवन में कभी शान्ति न मिली। अन्त में सन् १५२६ में एक बाहरी विजेता ने उसका अन्त करके अफगान सल्तनत का भी अन्त कर दिया।

सुल्तानों की राज्य-प्रणाली :

सुल्तानों का मुस्लिम राज्य इस सिद्धांत पर आधारित था कि वास्तविक शासक खुदा है और सुल्तान उसके खलीफा अर्थात् प्रतिनिधि के रूप में पृथ्वी पर कुरान में लिखी हुई उन आज्ञाओं के अनुसार शासन करने के लिए है, जिन्हें खुदा के पैगम्बर मुहम्मद ने कुरान में लिखा है। अतएव जो मुसलमान नहीं था उसको न तो नागरिकता के अधिकार थे और न वह मुस्लिम राज्य का सदस्य था। जब मुसलमानी राज्य दूर-दूर तक फैल गया और मुसलमान अन्य सम्प्रदाय वालों पर शासन करने के लिए विवश हुए तो मौलवियों ने उन पर जजिया लगाकर इस समस्या को हल किया। जजिया दे देने के बाद एक गैर-मुस्लिम भी मुसलमानी राज्य का सदस्य हो सकता था। जजिया व्यक्तिगत कर था जो प्रत्येक मुस्लिम धर्म के न मानने वाले को मुस्लिम राज्य में रहने के लिए देना पड़ता था। लगभग सभी सुल्तानों ने बलपूर्वक इस्लाम के नियमों को अन्य सम्प्रदाय वालों पर लादने का प्रयत्न किया—जहाँ तक भी राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों ने उनको ऐसा करने दिया। किन्तु आवश्यकता उनको अपने संकीर्ण विचारों और कटु व्यवहार को काफी मात्रा तक सीमित करने के लिए बाध्य करती थी।

अपने शासन-प्रबन्ध में उनको बहुत-कुछ वही पद्धति अपनानी पड़ती थी, जो भारत में पहले से प्रचलित थी। किन्तु उनकी केन्द्रीय सरकार फारस के ढंग पर

बनी हुई थी। सुलतान ही सब आज्ञाएं निकालता था और वही इस्लाम धर्म की व्याख्या करने वाला था तथा सार्वजनिक व्यक्तिगत जीवन दोनों में उसे इस्लाम धर्म के अनुकूल व्यवहार करना पड़ता था। किन्तु बहुत से सुल्तान अपने व्यक्तिगत जीवन में व अपने शासन-प्रबन्ध में क़ुरान की आज्ञाओं से कोसों दूर थे। केन्द्रीय सरकार कई विभागों में बँटी हुई थी। प्रत्येक विभाग एक मंत्री के अधीन होता था। सेना विशेषकर दो भागों में विभक्त थी—अश्वारोही और पैदल। हाथियों का प्रयोग होता था, परन्तु केवल भारी सामान को खींचने व ढोने के लिए। न्याय-विभाग पर काजियों का शासन था। सुलतान के मुख्य काजी से लगाकर परगने अथवा बड़े नगर तक का काजी होता था। राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि-कर था। साधारणतया उपज का एक-तिहाई कर के रूप में लिया जाता था, परन्तु कुछ सुलतानों ने, जैसे अलाउद्दीन खिल्जी व मुहम्मद तुग़लक ने, आधी उपज भी कर के रूप में ली। आय के दूसरे साधन—हिन्दुओं पर जजिया और अमीर मुसलमानों पर धार्मिक कर था जिसे जकात कहते थे।

प्रांतीय शासन सैनिक अधिकारी के अधीन होता था, जिससे आशा की जाती थी कि जिन लोगों का शासन उसको सौंपा गया है, उनको वह अपने वश में व नियन्त्रण में रखेगा। उनको अपने प्रदेश में शासन करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी और उनके कार्य में उस समय तक कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था, जब तक कि केन्द्र की निर्धारित भेंट अदा करते रहें। स्थानीय शासन पूर्ण-रूप से स्थानीय संस्था, जैसे गाँव-सभा या गाँव-पंचायत पर छोड़ दिया जाता था।

इन स्थानीय संस्थाओं के कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था और उनसे सरकार की आय को इकट्ठा करने का कार्य लिया जाता था। प्रायः कोई भी सुलतान आम लोगों के लिए लाभ के कार्य करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता था। फ़ीरोज़ तुगलक ही इसका अपवाद था, जिसके सार्वजनिक कार्यों का वर्णन पहले किया जा चुका है। अन्य सब सार्वजनिक कार्य, जिनमें डाक भेजने का कार्य भी सम्मिलित है, केवल सरकार की ही सेवा के लिए थे। कुछ समझदार और दूरदर्शी सुलतानों, जैसे ग़यासुद्दीन तुग़लक ने देश की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा को सुधार कर उसको समृद्ध बनाने के प्रयत्न किए थे। किन्तु उन्होंने समझ लिया था कि सल्तनत कायम नहीं रह सकती है। अतएव उनके प्रयत्नों का उद्देश्य राज्य की जड़ मजबूत बनाना था।

Questions

1. Examine the administration of Firoz Tughlaq. How were the Tughlaqs responsible for the disintegration of the Delhi Sultanate ?

   फ़ीरोज तुग़लक के शासन की समीक्षा करो। दिल्ली की सल्तनत के छिन्न-भिन्न होने के लिए तुगलक सुलतान कहां तक उत्तरदायी हैं ?

2. Alauddin Khilji succeeded in saving his empire from internal disruption and Mughal conquest. How did he succeed ?
   अलाउद्दीन खिल्जी ने अपना साम्राज्य आन्तरिक बलवों व मुगलों के आक्रमणों से बचाया । उसे किस प्रकार सफलता मिली ?
3. What contributions were made by Alauddin Khilji to the consolidation of Muslim rule in India ?
   भारत में मुस्लिम राज्य को सुदृढ़ बनाने में अलाउद्दीन खिल्जी ने कितना योग दिया ?
4. Do you think that Mohammad-Bin-Tughlaq was mad ? Give reasons for your opinion.
   क्या मुहम्मद-बिन-तुगलक पागल था ? अपना मत कारणों सहित प्रकट करो ।

अध्याय १६

दिल्ली की सल्तनत का विच्छेद व अन्य रियासतों का उत्थान

हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल में राज्य के अनेक टुकड़े हो गए थे और दूरस्थ प्रान्त के मुसलमान सूबेदारों ने स्वतन्त्र रियासतें बना ली थीं। उसी काल में विजयनगर की हिन्दू रियासत भी स्थापित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य हिन्दू रियासतें पहले से ही बनी हुई थीं। इस प्रकार जब बाबर ने उत्तरी भारत को विजय किया था उस समय भारत में अनेक स्वतन्त्र छोटे-छोटे राज्य थे।

जौनपुर की रियासत के विषय में कुछ बतलाना बहुत आवश्यक है जिसको १३९४ में फ़ीरोज़ तुग़लक के एक कर्मचारी ने स्थापित किया था। १३९९ में उसका दत्तक पुत्र मुबारकशाह गद्दी पर बैठा। तीसरा शासक इब्राहीम बड़ा विद्वान् था और विद्या का पोषक था—विशेषकर वास्तुकला का। उसने १४०२ से १४३६ तक शासन किया और इस बीच में उसने जौनपुर को इस्लामी विद्या और सभ्यता का केन्द्र बना दिया। इन शासकों का राज्य शर्क़ी राज्य कहलाता था। यह राज्य ८० वर्ष तक रहा और अन्त में १४७९ में बहलोल लोदी ने इसको दिल्ली की सल्तनत में मिला लिया। अन्तिम शर्क़ी शासक हुसैनशाह पराजित हुआ और बंगाल भाग गया।

गुजरात : १३९६ में जफरखाँ ने गुजरात की महत्वपूर्ण रियासत बनाई। उसके पोते सुलतान अहमद ने इस रियासत की सीमा को खूब बढ़ाया और योग्य शासन-प्रबन्ध से इसे दृढ़ बनाया। उसने अहमदाबाद नामक नगर बसाया और उसको अपनी राजधानी बनाया। इस वंश का सबसे महान् शासक सुलतान महमूदशाह बेगड़ा था (१४५८-१५११)। उसने बहुत से प्रदेश जीत लिए और पश्चिम में कच्छ व द्वारिका से लेकर पूर्व में चम्पानेर तक का प्रदेश उसके अधीन हो गया। उसके ही शासन में पुर्तगाल के व्यापारी भारत के पश्चिमी तट पर आए और पूर्वी तट के मुस्लिम व्यापारियों के प्रतिद्वन्द्वी बने। महमूद ने कालीकट के जमोरिन, मिस्र के सुलतान और अन्य स्थानीय शासकों से सन्धि करके पुर्तगाल वालों को १५०८ में समुद्री युद्ध में बुरी तरह पराजित किया। किन्तु अगले वर्ष पुर्तगालियों ने मुस्लिम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बेड़े पर शानदार विजय पाई। सन् १५०० में इन्होंने गोआ पर अधिकार किया और महमूद ने ड्यू में कोठी बनाने का स्थान दिया।

महमूद बेगड़ा की शारीरिक शक्ति दानवों जैसी थी। उसकी खुराक बहुत ज्यादा थी। प्रातः नाश्ते में वह १५० केले और एक सेर शहद खाता और तीसरे पहर जलपान में २१ सेर रोटी खाता था। उसकी भुजाएँ घुटने तक पहुँचती थीं और मूँछें ५ फुट लम्बी थीं जिनको वह सिर पर साफ़े की भाँति लपेट सकता था। वह इतनी अफीम खाता था कि उस पर विष का भी असर नहीं हो सकता था। मुहम्मद के बाद उसका बेटा मुजफ्फरशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा (१५११-१५२६)। उसको मेवाड़ के शासकों से लगातार युद्ध करना पड़ा था। उसने मालवा के शासक महमूद द्वितीय को राजपूत राजा मेदनीराय के विरुद्ध युद्ध में सहायता दी। मुजफ्फर की मृत्यु के पश्चात् इस राज्य का पतन होने लगा और अन्त में १५७२ में अकबर ने इसको अपने राज्य में मिला लिया।

मालवा : मुहम्मद गूरी का वंशज दिलावर गूरी, जो फीरोज तुलग़क के अधीन मालवा का सूबेदार था, १४०१ में स्वतंत्र बन बैठा। उसने धार को अपनी राजधानी बनाया। उसका लड़का होशंगशाह बड़ा वीर था और कहा जाता है कि उसने दूरस्थ उड़ीसा पर सफल आक्रमण किया था। उसके चारों ओर गुजरात, मेवाड़ और बहमनी आदि शक्तिशाली राज्य थे, जिनमें से प्रत्येक के साथ होशंग को युद्ध करना पड़ा। उसने नर्वदा के तट पर होशंगाबाद नामक नगर बसाया। १४३५ में उसकी मृत्यु हो जाने के अनन्तर १४३६ में उसके आरामतलब बेटे से उसके मंत्री महमूद खिल्जी ने गद्दी छीन ली, जो मालवा का सबसे महान् शासक सिद्ध हुआ। उसने गुजरात व मेवाड़ के राणा कुम्भा के साथ अनेक युद्ध किए जिनमें कभी उसकी विजय और कभी पराजय होती रही। उसने अपने राज्य का काफी विस्तार किया। अन्य मुस्लिम शासकों की भाँति वह भी धर्मान्ध था और उसने अनेक हिन्दुओं के मंदिर और मूर्तियाँ तोड़कर नाम कमाया। उसकी मृत्यु १४६९ में हो गई। उसके अयोग्य उत्तराधिकारी के शासन-काल में मालवा की शक्ति कम होने लगी—यहाँ तक कि महमूद खिल्जी द्वितीय ने विवश होकर अपने दरबारियों के षड्यंत्रों से बचने के लिए अपने पड़ोसी राजा मेदनीराय की सहायता माँगी। मेदनीराय ने शीघ्र ही राजपूत सैनिकों की एक सुदृढ़ सेना लेकर माँडू में अपना राज्य कायम किया। सुलतान महमूद तथा उसके दरबारी राजपूतों की शक्ति से तंग आकर मेदनीराय का वध करने का उपाय करने लगे, किन्तु असफल हुए। अतएव मेदनीराय ने राणा संग्रामसिंह की सहायता से उसको पराजित करके बन्दी बना लिया, परन्तु संग्रामसिंह ने दया करके उसको छोड़ दिया। उसने दोनों के साथ कृतघ्नता दिखाई। फलस्वरूप मेवाड़ के राजपूतों ने उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया और १५३१ में गुजरात के शासक बहादुरशाह ने उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया।

खानदेश : खानदेश की नींव १३६५ ई० में नर्वदा-ताप्ती की उपत्यका में बहमनी राज्य के एक अमीर मलिक अहमद फारुकी ने डाली और २० वर्ष में अन्य

विजयों द्वारा उसको दृढ़ बनाया। उसके लड़के नसीरखाँ ने असीरगढ़ का महान् दुर्ग उसके हिन्दू राजा से छीन लिया। नसीरखाँ १४३७ में मर गया और उसके वंशजों ने एक शताब्दी तक शांतिपूर्वक राज्य किया। इस शांतिकाल में खानदेश के व्यापार और उद्योग-धन्धों ने अपार उन्नति की। यह जरी के लिये प्रसिद्ध था जो विदेशों को भेजी जाती थी। सोलहवीं शताब्दी में इसकी शक्ति कम हो गई और अकबर ने १६०१ में इसको अपने राज्य में मिला लिया।

मेवाड़ : अलाउद्दीन खिल्जी की चित्तौड़-विजय (१३०३) के बाद मेवाड़ केवल एक पीढ़ी तक मुसलमानों के अधिकार में रहा। मुहम्मद तुग़लक के विप्लव-युक्त शासन-काल में सिसोदा के अधिपति हम्मीर गहलौत ने चित्तौड़ व अपने पूर्वजों का खोया प्रदेश पुनः ज़ीत लिया। इस प्रकार मेवाड़ में सिसोदिया वंश के राज्य की नींव पड़ी और इसके महाराणा हम्मीर ने (१३२६-१३६४) अपने लम्बे शासनकाल में इसके उन्नत व महान् बनने की नींव डाली। उसके उत्तराधिकारी राणा लाखा (जिसका नाम लक्षसिंह था) ने (१३८२-१३९७) मन्दिरों व चित्तौड़ के दुर्ग के महलों का पुनः निर्माण करवाया जिनको खिल्जी शासकों ने गिरवा दिया था। लाखा ने कृषि की उन्नति के उपाय किये और उसके काल में शीशा, जस्ता और चाँदी की खानें पाई गईं, जिनसे मेवाड़ में धातुएँ निकलने लगीं और देश की आर्थिक अवस्था बहुत सम्पन्न हो गई। लाखा के बाद उसका बेटा महाराणा मोकल (१४२१-३३ ई०) गद्दी पर बैठा। वह भी बड़ा वीर योद्धा था। उसने अजमेर और सांभर तक का प्रदेश दिल्ली के सुल्तान से छीनकर अपने राज्य में मिला लिया। नागौर तथा मांडू के सुल्तानों को भी परास्त किया। मोकल अपने सम्बन्धियों के विश्वासघात के कारण मारा गया। मोकल का बेटा कुम्भा सन् १४३३ में सिंहासनासीन हुआ और १४६८ तक राज्य किया। मेवाड़ के जितने महाराणाओं ने अपने पराक्रम, अपूर्व वीरत्व, नैतिक क्षमता तथा सामरिक शक्ति से देश के इतिहास को समुज्जवल किया है उनमें महाराणा कुम्भा का स्थान सर्वोपरि है। उसने सैंकड़ों युद्ध अपने पड़ोसियों से किये और सबको पराजित किया। कुम्भा केवल वीर योद्धा ही न था, वरन् वैसा ही विद्वान् और विद्या तथा कला का पोषक भी था। वह मालवा के शासक महमूद खिल्जी प्रथम का समकालीन था जिससे उसने कई बार युद्ध किया था। राणा ने महमूद के ऊपर विजय पाई थी और इस विजय के स्मारक-स्वरूप उसने चित्तौड़ के दुर्ग में जयस्तम्भ बनवाया जो हिन्दू वास्तुकला का एक सर्वोत्तम उदाहरण है। कुम्भा ने मेवाड़ के आस-पास पहाड़ियों पर कई दुर्ग बनवाये, जिनमें कुम्भलगढ़ का दुर्ग प्रसिद्ध था। उसने रणपुर का जैन मंदिर भी बनवाया जो भारतीय वास्तुकला का एक अद्भुत नमूना है। गुजरात और मालवा के सुल्तानों से अनेक बार युद्ध करके उनको हराया और उनके तथा पड़ोसी हिन्दू राजाओं के बहुत से प्रदेश हस्तगत कर मेवाड़ राज्य की सीमा एवं गौरव को बहुत बढ़ाया। सैनिक दृष्टि से तो राणा कुम्भा अति महान् था ही, किन्तु वह विद्याव्यसनी तथा पंडित भी अद्वितीय था। कविता-कलाप, संगीत, नाट्य-शास्त्र, वास्तु आदि समस्त ललितकलाओं का वह प्रकाण्ड पण्डित था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसने कई ग्रन्थ संगीत एवं नाट्य-शास्त्र पर लिखे और चार नाटकों की रचना की। उसके बनवाये हुए मन्दिर, प्रासाद तथा स्तम्भ आदि वास्तुकला के बड़े भव्य उदाहरण हैं। वास्तु-शास्त्र पर उसने ८ ग्रन्थ लिखे, जो उसकी विद्वत्ता को प्रदर्शित करते हैं।

भक्त मीरांबाई, जिसने अपना जीवन कृष्ण-प्रेम व कृष्ण-भक्ति के लिए अर्पण कर दिया था, राणा कुम्भा के बेटे भोजराज की पत्नी थी।

इस काल का एक और प्रसिद्ध राजा राणा संग्रामसिंह था जिसने १५०८ से १५२९ तक शासन किया। जैसा कि ऊपर वर्णन हो चुका है, राणा संग्रामसिंह ने १५१७ में मालवा के महमूद खिलजी को परास्त किया था। सिसोदिया वंश के राजाओं का विश्वास था कि वे सूर्यवंशी थे और किसी समय इन्द्रप्रस्थ के स्वामी रह चुके थे। इसलिए वे सर्वदा दिल्ली को जीतने के इच्छुक रहते थे। लोदी सुल्तान से दिल्ली का राज्य छीन लेने की ही कामना से राणा ने काबुल के बादशाह बाबर से सहायता मांगी थी किन्तु उसकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। बाबर ने भारत के शासकों की आपसी फूट का लाभ उठाकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। राणा सांगा को इससे कोई लाभ नहीं हुआ वरन् इसके विपरीत बाबर के साथ खानवा के युद्ध में उसके राज्य की शक्ति नष्ट हो गई। इस घटना का सविस्तार वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

बंगाल : बंगाल ने भी बलबन की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र बुगराखाँ के अधीन अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उसके उत्तराधिकारियों को विवश होकर दिल्ली के शक्तिशाली सुल्तानों से चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक मेल करना पड़ा था। जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, फ़ीरोज तुग़लक के शासनकाल में बंगाल के शासक इलियास शाह ने समस्त बंगाल पर अधिकार जमा लिया था और स्वतन्त्र शासक बन गया था। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में एक हिन्दू राजा ने इस वंश से बंगाल का राज्य छीन लिया था और कुछ काल तक उसके वंशजों ने राज्य किया, परन्तु १४४२ में पुनः इलियास के वंशजों ने इसको जीत लिया। १४९३ में सैयद हुसैन ने बंगाल के राज्य पर अधिकार कर लिया। हुसैन बंगाल का सबसे बड़ा मुसलमान शासक था। उसके उत्तराधिकारी नुसरतशाह (१५१८-३३) के शासनकाल में पुर्तगालियों ने बंगाल में पदार्पण किया। जब बाबर ने बंगाल पर आक्रमण किया तो नुसरतशाह ने उससे संधि कर ली। बाबर के पश्चात् पठानों ने शनैः शनैः अपना नेतृत्व बंगाल पर जमा लिया और अन्त में शेरशाह ने इसको अपने राज्य में मिला लिया। शेरशाह के पश्चात् सुलेमान कर्रानी बंगाल का स्वतन्त्र शासक बन गया। उसका लड़का दाऊद १५७६ में अकबर की सेना से हार गया और भगा दिया गया और यह प्रांत मुगलों के राज्य में मिला लिया गया।

बहमनी राज्य : हम देख चुके हैं कि किस प्रकार मुहम्मद तुग़लक के शासनकाल में अफगान राजा अलाउद्दीन हुसैन बहमनशाह ने बहमनी राज्य की नींव १३४८ में डाली। उसने गुलबर्ग को राजधानी बनाया और १० वर्ष के शासन में अपनी

सैनिक योग्यता और सुप्रबन्ध के कारण अपनी शक्ति को ठोस बना लिया। उसने उत्तर में ताप्ती और वेणीगंगा से दक्षिण में कृष्णा नदी तक, पश्चिम में समुद्र तट से पूर्व में भौंगीर तक का प्रदेश जीत लिया। उसने अपने राज्य को दौलताबाद, गुलबर्ग, बरार, बीदर, चार प्राँतों में बाँटा। प्रांत 'तरफ़' कहलाते थे और शासन-प्रबन्ध के लिए उनके पुनः भाग और उपविभाग किये गये थे। उसने मंत्रियों की एक सभा बनाई थी जो उसे राज्यकार्य में सहायता देती थी। १३५८ में बहमन की मृत्यु हुई। उसके पश्चात् १५२७ तक इस वंश के १७ राजाओं ने शासन किया। विजयनगर राज्य के साथ इस राज्य के अनेक युद्ध होते रहे। उनमें परस्पर संघर्ष का कारण कृष्णा व तुंगभद्रा नदी के बीच रायचूर का दोआबा था। दूसरा राजा मुहम्मद (१३५८-१३७५) एक परिश्रमी और योग्य शासक था। उसने राज्य को संगठित तथा दृढ़ बनाया। अन्य योग्य शासक अहमद शाह (१४२२-३६) था जो बड़ा बलवान योद्धा था। उसने वारंगल को अपने राज्य में मिलाया और बीदर को राजधानी बनाया। मुहम्मद द्वितीय (१३७८-९७) और फीरोज़शाह (१३९७-१४२२) इसी वंश में हुए जो स्वयं भी विद्वान् थे और कला तथा विद्या के पोषक थे। व्यक्तिगत जीवन में वे कदाचित् धर्म के नियमों का पालन करते हों। बहुत से शासक शराबी और विलासी थे जिनके कारण उसका पतन हुआ। बहमनी राज्य को विजयनगर के अतिरिक्त अन्य पड़ोसी राज्यों, जैसे गुजरात, खानदेश, मालवा आदि से भी युद्ध करने पड़े थे। इन युद्धों के कारण उनकी आर्थिक और सैनिक शक्ति क्षीण हो गई। किन्तु उनके पतन का मुख्य कारण था स्थानीय तथा विदेशी दरबारियों की दरबार में स्पर्धा। उनमें विद्वेष इस कारण और भी बढ़ गया था कि दक्षिणी तो सुन्नी थे और विदेशी (अधिकतर फारस वाले) शिया थे। विदेशियों की संख्या यद्यपि बहुत कम थी परन्तु अपनी दक्षता और उच्च सभ्यता के कारण शासकों पर उनका प्रभाव अधिक था। दक्षिणी अमीर जिनका पद नीचा था, अपने से उच्च पद वालों से ईर्ष्या करते थे। इन विदेशियों में सबसे योग्य महमूद गावान था जो मुहम्मद तृतीय (१४६३-८२) का मन्त्री था। दक्षिण के अमीरों ने बादशाह को बहकाकर षड्यंत्र के संदेह में उसके राजभक्त और योग्य मंत्री को १४८१ में मरवा डाला। इस निर्दय और अन्यायपूर्ण हत्या के बाद बहमनी राज्य के टुकड़े होने लगे, क्योंकि इस राज्य की एकता, अयोग्य और निकम्मे शासक के होते हुए भी, केवल गावान के सुप्रबन्ध के कारण बनी हुई थी। सन् १४९० में अहमदनगर, बीजापुर और बरार स्वतंत्र हो गए और १५१२ में गोलकुण्डा भी। १५२६ में बीदर भी एक नये वंश के अधीन पृथक् रियासत बन गया।

बहमनी राज्य भौगोलिक स्थिति के कारण दक्षिण को उत्तर से जोड़ता था। यद्यपि कुछ बहमनी शासक धर्मान्ध थे, फिर भी उनका शासन-प्रबन्ध अच्छा था। उन्होंने सिंचाई के कार्य किए, कला और साहित्य को प्रोत्साहन दिया और विद्यालयों को दान दिया।

विजयनगर : (जिसको विद्वान् विद्यारण्य के नाम पर विद्यानगर भी कहा जाता था) राज्य व नगर की नींव १३३६ में संगम के पुत्रों ने डालकर उस स्वतंत्रता-आन्दोलन को पूरा कर दिया जो १३२७ में ही आरम्भ हो चुका था जबकि सुल्तान मुहम्मद तुग़लक देवगिरि से लौट गया था। दक्षिण में उस समय बड़ी उत्तेजना फैली हुई थी और मुस्लिम राज्य की जड़ खोदने के लिए कई हिन्दू राजा मिल गये थे। १३३१ तक समस्त पूर्वी तट स्वतन्त्र हो चुका था। पश्चिम में चालुक्य राजा सोमदेव और द्वारसमुद्र के राजा बल्लाल तृतीय ने दिल्ली की अधीनता ठुकरा दी। संगम के पुत्र हरिहर और बुक्का ने वारंगल को छोड़ कर काँपीली में नौकरी करली थी। उसको सम्भवत: बन्दी बनाकर दिल्ली ले जाया गया था और १३२७ में मुसलमान बना लिया गया था। अवसर पाकर वे दक्षिण लौट आए और विद्यारण्य की सहायता से इस्लाम धर्म त्यागकर तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी तट पर विद्यानगर की नींव डाली, जो एक बड़े राज्य की राजधानी बना (वर्तमान हेम्पी, जिला बैलारी)। लगभग उसी समय तेलंगाना के गवर्नर मलिक मकबूल व अन्य मुस्लिम शासकों को दक्षिण से मार भगाया गया और जगह-जगह हिन्दू रियासतें बन गईं, जैसे पीठपुरम, राजकोंडा इत्यादि। कुछ ही वर्षों में हरिहर और बुक्का ने समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक का सब प्रदेश जीत लिया और इस घटना को मनाने के लिए शृंगेरी में विजयोत्सव मनाया, जिसमें विद्वान् विद्यारण्य भी उपस्थित था (१३४६)।

विजयनगर की नींव डालने वाले तैलगू राजा थे। जैसा कि ऊपर वर्णन हो चुका है, विजयनगर का बहुत-सा धन और समय बहमनी राज्य तथा पाँचों सल्तनतों से लगातार युद्ध करते रहने में नष्ट हो गया था। इन संघर्षों में रायचूर का दोआबा कभी एक के हाथ में चला जाता था तो कभी दूसरे के। दक्षिण में जितनी हिन्दू संस्कृति व सभ्यता फैली उसका श्रेय विजयनगर ही को था, दूसरा राजा बुक्का महापति व उसके उत्तराधिकारी ब्राह्मणों के धर्म के बड़े समर्थक कहे जाते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् विद्यारण्य और वैदिक भाष्यकर सायन उनके दरबार में रहते थे। इस वंश के राजा संगम वंशीय कहलाते थे। उनका राज्य अन्य प्रदेशों को मिला लेने तथा अनेक बन्दरगाहों पर अधिकार कर लेने के कारण दृढ़ हो गया था। इस वंश का सबसे महान् राजा देवारय द्वितीय था (१४२६-१४४६)। उसने बहमनी राज्य से युद्ध में बड़ी सफलता पाई थी। उसने अनेक भवन निर्माण करवाये तथा वह कवियों और विद्वानों का संक्षरक था। उसके शासन-काल में निकोलो कोन्टी नामक इटली का यात्री तथा समरकन्द के शाह रुख का राजदूत अब्दुर्रज्जाक विजयनगर पधारे थे और उन्होंने राजा की शक्ति की और नगर की शानोशौकत का बड़ा सुन्दर वृत्तान्त लिखा है।

लगभग १४८५ में संगम वंश के निकम्मे राजा को हटाकर चन्द्रगिरि का राजा सुलुव नरसिंह विजयनगर की गद्दी पर बैठा, क्योंकि उसने सोचा था कि इस राज्य को बचाने का एकमात्र उपाय केवल यही था। सुलुव नरसिंह को देश के भीतर तथा बाहर के विरोधों का सामना करना पड़ा और एक बार तो पूर्वी तट के राजा

गनपति ने उसको बन्दी बना लिया था। नरसिंह के निर्बल उत्तराधिकारी को उसके अभिभावक सुलुवा नरसा नायक ने एक प्रकार से बन्दी ही कर रखा था और स्वयं गद्दी का स्वामी बनकर सुलुब वंश के राज्य की नींव डाली थी। नरसा नायक ने बीजापुर के शाह से रायचूर का दोआबा छीन लिया था, किन्तु १५०२ में आदिल-शाह ने उसे पुनः जीत लिया। फिर नरसा ने सारे दक्षिण को जीतना आरम्भ कर दिया। कृष्णदेवार्य अपने भाई वीर नरसिंह (१५०३-१५०९) के अल्प शासन के पश्चात् १५०९ में राजा बना। कृष्णदेवार्य की अधीनता में विजयनगर शक्ति और निष्कर्ष में अपनी चरम-सीमा को पहुँच गया था। उसने अपना आधिपत्य भारत पूर्वी तट पर कटक तक जमा लिया था और बीजापुर के सुल्तान को बुरी तरह से परास्त किया था। कृष्णदेवार्य की कथाएँ सम्राट् अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और भोज के समान प्रसिद्ध हैं। वह एक वीर योद्धा और योग्य शासक था और युद्ध में अपनी सेना के आगे रहता था और अपने राज्य का दौरा जल्दी-जल्दी किया करता था। वह बहुत बड़ा विद्वान्, कवि और लेखक भी था और विद्वानों को खूब धन देता था। उसने अनेक मन्दिर और दान संस्थाएँ बनवाईं। पुर्तगाल वालों से उसके संबंध बहुत अच्छे थे और फारस तथा अन्य देशों से भी उसने राजनीतिक सम्बन्ध रखे हुए थे। पुर्तगाल यात्री पेज (Paes) उसके दरबार में आया था। उसने कृष्णदेवार्य को अत्यन्त योग्य, धर्म-भीरु, हँसमुख, महान् शासक और न्यायी बतलाया है। कृष्णदेव की मृत्यु १५२९ में हो गई, जब वह ५० वर्ष का भी नहीं हुआ था। उसके बाद उसका सौतेला भाई अच्युतराम गद्दी पर बैठा, जिसने अनेक युद्धों के होते हुए भी, जो उसे अपने यहाँ भी राजाओं से करने पड़े थे, प्रतिष्ठा को बनाए रखा था। परन्तु उसके शासन-काल के अन्तिम दिनों में कृष्णदेवार्य के दामाद रामराय और उसमें आपसी झगड़ों के कारण उसकी शक्ति कम हो गई थी। उन्होंने झगड़े का निर्णय करने के लिए आदिलशाही सुलतान को मध्यस्थ बनाया था। इब्राहीम आदिलशाह के परामर्श से उन लोगों ने यह निर्णय किया कि अच्युत तो राजा बना रहे, परन्तु राम-राय उसकी जागीर पर राज्य करे और अच्युत उसके अधिकार में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप न करे। १५४३ में रामराय ने अच्युत के भतीजे सदाशिव को जेल खाने से मुक्त करके विजयनगर की गद्दी पर बिठा दिया, परन्तु राज्य-काज का समस्त अधिकार अपने ही हाथ में रखा। इस प्रकार सात-आठ साल तक शासन करने के बाद रामराय स्वयं राजा बन बैठा और राजा की उपाधि धारण कर ली। रामराय अरविंद-वंशज था। वह योग्य शासक था और उसने विजयनगर को पुनः दृढ़ बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किया। उसने दक्षिण के मुसलमान शासकों को परस्पर लड़वा-कर सदा मंध्यस्थ का काम किया। परन्तु कालान्तर में उसने उन सबको अपना शत्रु बना लिया। फलस्वरूप चारों सुलतानों ने मिल कर १५६५ में तालीकोट के युद्ध में रामराय को बुरी तरह पराजित किया। तब मुसलमान सेना ने उस समृद्ध नगर में प्रवेश किया। उन्होंने कई महीनों तक वहाँ लूट-मार जारी रखी और अनेक

मन्दिरों और भवनों को तोड़ डाला और उनमें आग लगा दी। इस प्रकार विजयनगर के महान् राज्य का अन्त हो गया। तीरुमल और वेकट द्वितीय ने उसके पुनरुद्धार का सफल प्रयत्न किया। पचास वर्ष तक और भी विजयनगर हिन्दू सभ्यता का केन्द्र बना रहा। फिर केन्द्र के शक्तिहीन होने के कारण उसके प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र बन बैठे, जिनमें से एक मैसूर की रियासत थी।

विजयनगर का राज्य मुसलमानों के शासन के विरुद्ध हिन्दुओं की प्रतिक्रिया थी। वह हिन्दुओं की जागृति का केन्द्र था। उसके संरक्षण में हिन्दू-संस्कृति, संस्कृत भाषा तथा स्थानीय भाषाओं ने खूब उन्नति की। महात्मा महादेव विद्यारण्य ने स्वयं इसकी नींव डालने में सहायता दी थी। विजयनगर के राजाओं ने वैष्णव मत की उन्नति के लिए बहुत कुछ कार्य किया और राज्य-भर में दूर-दूर तक मन्दिरों का निर्माण करवाया। संस्कृत भाषा के पुनरुद्धार में भी विजयनगर का समान हाथ रहा था। बुक्का के मन्त्री माधवाचार्य ने न्याय-शास्त्र पर एक बड़ा प्रामाणिक ग्रंथ लिखा था। उसका छोटा भाई सायन दयानन्द सरस्वती से पूर्व वेदों का अन्तिम महान टीकाकार हुआ है। विजयनगर के अनेक राजा व रानियाँ स्वयं बहुत बड़े विद्वान, लेखक और प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उनके संरक्षण में तेलगू, कन्नड़ भाषा का बहुत उच्च कोटि का साहित्य बना था। विजयनगर के राजा अपने-आपको प्राचीन राजाओं की परम्परा पर चलने वाला समझते थे। परन्तु इन राजाओं में भी पतित हिन्दू समाज के अनेक दुर्गुण आ गए थे, जिसका राजनीतिक फल यह हुआ कि वे हिन्दू-समाज में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाओं को नहीं जगा सके।

विजयनगर की सैनिक शक्ति ने दो सौ वर्ष तक बराबर अपने बलवान शत्रुओं का बड़ी वीरता से सामना किया। उन्होंने अपने योग्य शासन-प्रबन्ध से अपने देश को समृद्धशाली और सुखी भी बनाया। उन्होंने विदेशों से राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किए थे और उनका यश दूर देशों तक फैल गया था।

योरुप वालों की प्रारम्भिक बस्तियाँ : पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त के लगभग योरुप के व्यापारियों ने भारत का मार्ग ढूँढ निकाला और कुछ वर्षों में ही पश्चिमी तट पर अपनी व्यापारिक कोठियां बना लीं। योरुप और भारत के मध्य व्यापार प्राचीन काल से चला आता था। किसी समय में महीन सूती वस्त्र, गर्म मसाले, मोती और मूल्यवान मणियाँ इतनी मात्रा में रोम भेजी जाती थीं कि वहाँ का अपरिमित सोना इस देश में खिंच आया था। इन वस्तुओं का निर्यात समुद्र-तट वासियों तथा उनके व्यापारिक बेड़ों के हाथ में था। जब बड़ा भारी सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन हुआ, जिसका वर्णन बहुत पहले किया जा चुका है और भारतीयों की समुद्र-यात्रा पर प्रतिबन्ध लग गया तो अनेक मल्लाह मुसलमान बन गए और अरबी मल्लाहों से मिल गए जिनके हाथों में व्यापार की बागडोर का चला जाना स्वाभाविक ही था। अतएव दसवीं शताब्दी से अरबी और भारतीय मुसलमान मल्लाहों के साथ योरुप व पूर्वी द्वीप-समूहों के साथ भारतीय व्यापार का एकाधिकार

चला गया। फलस्वरुप एक ओर स्पेन में इस्लाम की खूब वृद्धि हुई और दूसरी ओर तुर्कों ने पन्द्रहवीं शताब्दी में बाल्कन राज्यों को जीत लिया।

मुसलमानों की बढ़ती हुई बाढ़ से भयभीत होकर योरुपीय देशों में बड़ा आन्दोलन उठा, जिसके फलस्वरूप अनेक धार्मिक युद्ध हुए। विस्मृत यूनानी ज्ञान की पुनः खोज की गई और योरुप में भारी बौद्धिक जागृति हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में पुर्तगाल के यान-चालकों ने अरबों के भारतीय व्यापार के एकाधिकार को तोड़ना चाहा। उन्होंने थोड़े समय में अफ्रीका के तट से होते हुए भारत का नवीन समुद्री मार्ग खोज निकाला और १४९८ में वास्कोडिगामा कालीकट के कुछ उत्तर में पश्चिमी समुद्र-तट पर पहुंच गया। फलस्वरूप हिन्द महासागर और लाल सागर में मुसलमानों का भारत के साथ जो समुद्री व्यापार होता था वह सहसा रुक गया और पुर्तगाल वालों का व्यापार जोरों से चलने लगा, जिसकी उन्नति की समता योरुप का कोई अन्य देश नहीं कर सकता था। समूरी (जमोरिन) और केरल प्रदेश के अन्य राजाओं ने अपना-अपना व्यापार बढ़ाने की आशा से इन व्यापरियों का स्वागत किया। जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, मुसलमानों व गुजरात के बादशाह ने उन का विरोध किया, किन्तु अन्त में उन्होंने पुर्तगालियों के बेड़े की सत्ता का मान लिया और उनको गोआ, दामन, ड्यू में अनेक कारखाने और कोठियां बनाने दीं। सौ वर्ष तक पुर्तगालियों के व्यापार ने खूब उन्नति की, जिसके पश्चात् पूर्वी समुद्रों पर हालैंड वालों का अधिकार हो गया। उन्होंने १६०२ में राजाज्ञा से एक व्यापार-मंडल बनाया और उसका नाम 'नीदरलैंड यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी, रखा। डचों ने पहले ही मलाया द्वीप-समूह में अपनी शक्ति स्थापित कर ली थी। भारत में उन्होंने पुलीकट, नेगापट्टम, चिनसुरा, कोचीन, और सूरत में अपने दुर्ग और व्यापारिक मण्डियाँ बनाईं। उन्होंने सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों से मलक्का और लंका को जीत लिया था। डच लोग प्रायः गर्म मसाले वाले द्वीपों से व्यापार में ही अधिक व्यस्त थे। भारत के साथ व्यापार तो उनका गौण रूप से ही था। अतएव अगली शताब्दी में जब अंग्रेजों की समुद्री शक्ति बढ़ गई तो लंका व भारत में कई स्थान डचों के हाथ से निकल गए। अंग्रेजों और फ्रांसियों का अभ्युदय किस भांति आ, इसका वर्णन आगे किया जायगा।

Questions

1. Discuss the condition of India on the eve of Babar's conquest.
   बाबर की विजय के समय भारत की परिस्थितियों की आलोचना करो।
2. Give an account of the rise and fall of the Kingdom of Vijayanagar.
   विजयनगर राज्य के उत्थान तथा उसके पतन का विवरण दो।

अध्याय १७

समाज व सभ्यता तथा भक्ति-सम्प्रदाय

कबीर और नानक : तत्कालीन सन्त व सुधारकों में कबीर और नानक के नाम समाज-सुधार के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। कबीर के जन्म तथा बाल-जीवन के विषय में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु इतना निस्सदेह है कि उन का पालन-पोषण बनारस के एक जुलाहे-दम्पति ने किया था और इन्होंने उनका नाम कबीर रखा था। बालक कबीर आरम्भ से ही अपने अद्वितीय आत्मिक बल का चमत्कार प्रगट करने लगे थे। कह आए हैं कि वे रामानन्द को अपना गुरु मानते थे, परन्तु अनेक सामाजिक एवं वैयक्तिक कुरीतियों का इतना प्रबल व निर्भय खण्डन किसी और ने इस समय नहीं किया। कबीर ने न हिन्दू पण्डित को छोड़ा और न मुस्लिम मुल्ला को। इन सभी रंगे गीदड़ों की खूब ही खबर ली। जीव-हिंसा, मूर्ति-पूजा, दिखावटी स्नान-ध्यान और तीर्थगमन आदि सभी को कबीर ने सर्वथा व्यर्थ साबित किया और केवल एक निराकार ईश्वर की अनन्य भक्ति तथा दैनिक जीवन में सत्य व धर्म के पालन करने का प्रचार किया। इन्हीं को कबीर ने मोक्ष का वास्तविक मार्ग बतलाया। स्वाभाविक ही था कि कबीर को मूढ़, ब्राह्मणों व पड़ा-पूजारियों के घोर विरोध व ईर्ष्या का सामना करना पड़ा। कबीर की साखियों तथा अन्य रचनाओं से हिन्दी साहित्य तथा भाषा की भारी अभिवृद्धि हुई। कबीर की मृत्यु मगहर में १५१८ में हुई।

नानक : कबीर के समान ही और कबीर की शिक्षाओं से प्रभावित होकर गुरु नानक ने पंजाब में सामाजिक कुरीतियों का बेधड़क खण्डन किया और हिन्दू व मुस्लिम जनता को सच्चा मार्ग दिखलाने का प्रयत्न किया। नानक एक खत्री वंश में लाहौर जिले के तलवंडी कस्बे में १४६९ में उत्पन्न हुए थे। नानक ने भी बचपन से ही अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। नानक ने समस्त भारतीय जनता को शिक्षा दी कि सच्चा धर्म ऊपरी बातों में, पूजा-पाठ अथवा नमाज में नहीं है। इसके प्रति-कूल सच्चा धर्म मनुष्य-मात्र को एक समान समझना, सबसे एक समान व्यवहार करना, सचाई का पालन करना, किसी को कष्ट न पहुँचाना, सबकी सहायता करना आदि-आदि सत्कर्मों में सम्मिलित है, न कि कब्रों तथा पीर पैगम्बरों के पूजने और तीर्थ-स्थानों में घूमने में। नानक प्रचार से प्रभावित होकर बहुत से लोग उसी प्रकार उनके अनुयायी बन गये जिस प्रकार कबीर की शिक्षाओं से बहुत से लोग प्रभावित हुए

थे। नानक, लोदी सुल्तान तथा बाबर हुमायूँ के समकालीन थे। उनका निधन १५३८ में हुआ।

चैतन्य : मध्य काल में बंगाल के सर्वश्रेष्ठ सन्त-महात्मा चैतन्य, गौरांग महाप्रभु हुए। ये वल्लभाचार्य के समकालीन थे। एक ब्राह्मण वंश में १४८५ में नदिया (नवद्वीप) में इनका जन्म हुआ था। चैतन्य आरम्भ से ही बड़े प्रतिभाशाली तथा दिव्यशक्ति-सम्पन्न थे। बहुत थोड़ी आयु में ही उन्होंने उच्च कोटि की विद्या प्राप्ति कर ली थी और धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। २४ वर्ष की युवावस्था में ही वे संन्यासी हो गए थे। तभी उन्होंने अपना समस्त जीवन देशान्तर में भ्रमण करने वैष्णव धर्म तथा मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम करने की शिक्षा के प्रचार में लगाया। वे बहुत काल तक जगन्नाथ के मन्दिर में पुरी के स्थान पर रहे। जात-पाँत के भेद, छूत-छात आदि सामाजिक त्रुटियों का चैतन्य ने भी बड़े बलपूर्वक खण्डन ही नहीं किया अपितु खुले तौर पर एक चाण्डाल को गले लगाकर, क्रियात्मक रूप से किया। उनके अनुयायियों में अन्त्यज एवं मुसलमान भी थे उनका संदेश था कि कृष्ण की सच्ची भक्ति तथा गुरु की पूजा करने से कृष्ण की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष मिल सकता है। चैतन्य के सम्प्रदाय ने मानसिक भक्ति के आधार का अधिक प्रसार किया। उनके उत्कृष्ट जीवन का उनकी समकालीन जनता पर भारी प्रभाव पड़ा।

तुलसीदास : इस काल के भक्त-सन्तों में गोस्वामी तुलसीदास का नाम सर्वोपरि है। गोस्वामीजी की कार्य-शैली उपर्युक्त सन्तों से भिन्न थी। उन्होंने भक्ति के सर्वश्रेष्ठ काव्य द्वारा भारतीय जनता की संतप्त आत्मा को शान्ति व संतोष देने में शीतल जल का काम किया। गोस्वामीजी का जन्म १५४५ ई० में राजापुर गाँव जिला बाँदा में हुआ माना जाता है। इनके शैशव व प्रौढ़ जीवन का वृत्तान्त अनिश्चित-सा है, पर इतना सत्य है कि उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन में बहुत भ्रमण किया था और दीर्घकाल तक विद्योपार्जन करके वेदवेदांग, छहो शास्त्रों का पूरा पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। अन्त में गोस्वामीजी त्यागी बनकर काशी में आकर रहे और १५७४ ई० में उन्होंने **'रामचरितमानस'** की रचना आरम्भ की। यह ग्रन्थ लगभग ढाई बरस में समाप्त हुआ। इस ग्रन्थ से इनकी बड़ी ख्याति हुई। तत्कालीन प्रसिद्ध पण्डित व संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। इस अद्वितीय ग्रंथ-रत्न में गोस्वामीजी ने मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन चरित्र के विवरण के द्वारा मानव-जीवन एवं संसार-समस्या के अंग-प्रत्यंग का इतना गम्भीर व विवेकपूर्ण विश्लेषण किया है और जीवन की अनेक परिस्थितियों एवं जटिलतम समस्याओं का मार्ग-दर्शन कराया है, जिसका जोड़ तत्कालीन तथा बाद के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। गोस्वामीजी ने आदि कवि बाल्मीकि रामायण कथा को लेकर उसमें अन्य आर्य-धर्म ग्रन्थों के तत्वों का समावेश किया और उन तत्वों को अपनी प्रतिभा तथा ओजस्विनी भाषा से अद्भुत चमत्कारमय बनाया, जिससे उनकी अद्वितीय प्रगाढ़ मौलिक बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है, गोस्वामीजी के बाद थोड़े ही समय में उनका रामचरितमानस भारत के कोने-कोने में इस प्रकार प्रचारित तथा सर्वप्रिय

हुआ जिस प्रकार कमल-सुरभि वायुमण्डल में व्याप्त हो जाती है। गाँव गाँव के नर-नारी आबाल-वृद्ध रामचरितमानस को सुनकर अथवा गाकर अपने संतापों को भूल गए और भक्ति-विभोर होकर जीवन के वास्तविक रूप को ग्रहण कर सके। इस प्रकार राज्य व उच्च समाज के प्रहारों से संतप्त जनता को जो सांत्वना गोस्वामीजी के ग्रन्थ से मिली वह किसी अन्य स्रोत से न हुई। गोस्वामीजी ने अन्य कई ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें 'विनयपत्रिका', 'गीतावली', 'रामसतसई' आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार आजीवन उन्होंने समाज-सेवा की। साथ ही हिन्दी भाषा और साहित्य-भण्डार को भी इन ग्रन्थों की अनमोल देन से गोस्वामीजी ने भरपूर किया। १६८० वि० (१६२७ ई०) में असीघाट पर उन्होंने शरीर त्याग दिया।

मीराबाई व सूरदास : मीराबाई राणा संग्रामसिंह (सांगा) के पुत्र भोजराज की स्त्री थी। अल्पायु में ही विधवा हो जाने पर मीरा ने अपना चित्त कृष्ण-प्रेम और कृष्ण-भक्ति में विलीन कर दिया। मीरा के दोहा और गीत जितने भाषा व साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं उससे भी अधिक भगवत्-भक्ति और प्रेमरस के लिए लोक-प्रसिद्ध हैं और उत्तर भारत के घर-घर में गाए जाते हैं।

सूरदास : प्रसिद्ध काव्य 'सूरसागर' के रचयिता थे। तुलसी व मीरा के समान वे भी हिन्दी के अमर कवि माने जाते हैं। काव्य की दृष्टि से तो बहुत लोग सूर को तुलसीदास से भी उत्तम मानते हैं। इन्होंने भी अपनी कविता में कृष्णप्रेम व जीवन को कृष्णार्पण करने के मधुर गीत गाए और हजारों मनुष्यों को अपनी वाणी से अमृतपान कराया। ये दोनों भक्त भी तुलसीदास के लगभग समकालीन थे। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से सन्त-सुधारक हुए, जिनमें रैदास, मलूकदास, गिरिधर कवि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उत्तर में भक्ति-आन्दोलन : जिस प्रकार नवीन ब्राह्मण धर्म के प्रति कुरीतियों व अत्याचारों के विरुद्ध दक्षिण में बहुत पहले प्रतिक्रिया उठ चुकी थी, उसी प्रकार १५वीं शती में यह प्रतिक्रिया उत्तर भारत में भी उठी और धीरे-धीरे इसका बल बहुत विस्तृत हुआ। साथ ही सैकड़ों सदियों तक हिन्दुस्तान में बसने के कारण तथा इसलिए भी कि अधिक संख्या हिन्दुस्तान के मुसलमानों की यहाँ के प्राचीन हिन्दुओं में से ही थी, मुस्लिम जनता में भी अनेक प्रकार के अन्धविश्वास, पीर-पैगम्बरों की पूजा आदि अनेक त्रुटियाँ आ गई थीं। इन सबके विरुद्ध मुसलमान सूफियों ने एक नये ढंग से प्रचार किया। उन्होंने अन्य सब ऊपरी धार्मिक कार्यों के स्थान पर ईश्वर-भक्ति, सांसारिक प्रलोभनों का त्याग तथा मनुष्य-मात्र से प्रेम करने की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। साथ ही हिन्दू संत-महात्माओं व सुधारकों ने हिन्दू जाति की अनेक कुरीतियों व अन्धविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई और समस्त उत्तर भारत में एक बड़ी हलचल मचा दी। मुस्लिम सूफियों में चिश्ती परम्परा के सूफी सबसे प्रसिद्ध हुए। इस परम्परा के भारतीय संस्थापक मुईनुद्दीन चिश्ती ने १२वीं शती में फारस से आकर अजमेर में अपनी गद्दी बनाई। उनकी शिष्य

परम्परा से ख्वाजा कुतुबुद्दीन, काकी बाबा फरीदुद्दीन, गज शंकर तथा निजामुद्दीन औलिया सरीखे सन्त सूफी हुए, जिनका जनता पर बड़ा लाभकारी प्रभाव पड़ा। हिन्दु सन्तों में सबसे पहले **रामानन्द** ने सामाजिक सुधार का कार्य आरम्भ किया। यह काशी के बाबा राघवानन्द के श्री सम्प्रदाय के वैष्णव सन्त थे। यह राम-भक्ति शाखा के प्रचारक थे। रामानन्द ने दक्षिण के रामभक्तों की बहुत-सी शिक्षाओं को ग्रहण किया था। रामानन्द के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने पहले-पहल जाति-भेद को मिटाकर बड़ी उदारता से धर्म-प्रचार किया। कहा जाता है कि पहले वे अन्य ब्राह्मण सन्तों के सदृश शूद्रों आदि को मन्त्र-दीक्षा देने में सहमत नहीं थे किन्तु महात्मा कबीर ने, जो जाति-जन्मना ब्राह्मण नहीं थे, निश्चय किया कि वे रामानन्द से अवश्य दीक्षा लेंगे। रामानन्द प्रतिदिन बहुत सवेरे गंगा-स्नान करने जाया करते। एक दिन कबीर उस घाट की सीढ़ियों पर जाकर लेट गये जहाँ रामानन्द स्नान किया करते थे। दुर्भाग्य से सीढ़ियों से उतरते समय रामानन्द के पैर कबीर पर पड़े और वे तुरन्त 'हर-हर' करके खड़े हो गये और गुरु से याचना की कि अब तो आपने मुझको स्पर्श कर लिया। इस घटना से रामानन्द को ज्ञान हुआ कि धर्म के प्रचार में कोई जाति-भेद करना उचित नहीं। तभी से उन्होंने अपने शिष्यों में शूद्र तथा स्त्रियों तक को अंगीकार करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने की शिक्षा दी। उनके १२ शिष्यों में राजपूत, चमार, जुलाहा, नाई और जाट सम्मिलित थे। नाभाजी-रचित 'भक्तमाल' में इन भक्तों का विवरण मिलता है। १५वीं शती में राजस्थान की लोकप्रसिद्ध साध्वी मीराबाई भक्ति-सम्प्रदाय में एक सर्वोत्कृष्ट भक्त हुई, जिसने कृष्ण-भक्ति में अपने को तल्लीन करके अत्यन्त उत्तम कोटि की कविता हिन्दू उपजाति भाषाओं में लिखी और इन भाषाओं के साहित्य को उज्ज्वल व संवर्धित किया।

वल्लभ : इसी समय के तेलगु ब्राह्मण वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार उत्तर भारत में आरम्भ किया। वल्लभ १४७९ में बनारस के निकट, जबकि उनके माता-पिता यात्रा के लिए जा रहे थे, उत्पन्न हुए थे। बालक वल्लभ अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। उन्होंने छोटी-सी आयु में ही वेद-वेदान्त आदि की शिक्षा समाप्त कर ली और देश के समस्त मुख्य-मुख्य तीर्थ-स्थानों का भ्रमण करके अन्त में वृन्दावन में अपना निवास-स्थान स्थापित किया। उन्होंने शुद्ध अद्वैत मत का प्रचार किया और भक्ति-मार्ग को जीवन-बन्धन से मुक्त होने का साधन बताया। उसके अनुयायियों ने कृष्ण-लीला तथा उनके गोपियों के साथ क्रीड़ा-कल्लोल आदि पर अधिक बल दिया जिसका परिणाम हिन्दू समाज के लिए बहुत हानिकारक हुआ।

हिन्दू भारत का पतन : पिछले एक अध्याय में बतलाया जा चुका है कि हर्ष के पश्चात् हिन्दू समाज की विचारधारा व उनके कार्यों में कितना अंतर हो गया था और तुर्कों के आक्रमण से भारत का जो राजनीतिक पतन हुआ था उसका मूल कारण था भारत का नैतिक पतन, अर्थात् हिन्दु समाज में अनेक कुरीतियों का फैल

जाना और उनकी विचारधारा का प्रवाह अन्यत्र दिशा में हो जाना। यह देखने से पूर्व कि हिन्दुओं की विचारधारा का प्रवाह कैसे-कैसे बदलता गया, पहले इसके राजनीतिक कारणों को खोजना चाहिए। यहां यह बतला देना आवश्यक है कि बहुधा लेखकों ने हिन्दू राजाओं की पराजय के अनेक कारण बतलाए हैं, जैसे जाति-पाँति भेद, गर्म जलवायु के कारण हिन्दुओं की शारीरिक दुर्बलता, सेना में हाथियों के होने से हानि, हिन्दू राजाओं में एकता का अभाव और उनके पारस्परिक झगड़े व फूट। परन्तु ये सब कारण न ऐतिहासिक तौर पर ठीक हैं और न विवेकपूर्ण। हिन्दू राजा उनकी सैनिक शारीरिक शक्ति और व्यक्तिगत वीरता में किसी से भी कम न थे और न उनके अस्त्र-शस्त्र ही निकृष्ट थे। भारत के गरम मैदानों में युद्ध करने की असुविधा विदेशियों को ही अधिक थी जो इस जलवायु के अभ्यस्त नहीं थे। दूसरे, विदेशियों को भारत के समान धन-जन की सुविधा न थी। अनेक भारतीय राज्य इतने बड़े थे जितना बड़ा राज्य किसी भी तुर्की आक्रान्ता का न हुआ होगा। **युद्ध में हाथियों का प्रयोग केवल हिन्दू ही नहीं करते थे, बल्कि महमूद गजनवी ने ५०० हाथियों की सेना लेकर इलकखाँ के विरुद्ध सफल आक्रमण किया था।** हिन्दू राजाओं की भांति तुर्की शासक भी इस दुर्गुण से वंचित नहीं थे। कई बार आक्रान्ताओं को यह समाचार पाकर अपने देश को वापस लौटना पड़ा था कि उनके राज्य पर किसी पड़ोसी राजा ने आक्रमण कर दिया। अतएव यह सिद्ध करता है कि उपर्युक्त बातों में आक्रान्ता भारतवासियों से किसी बात में श्रेष्ठ नहीं थे। इसके विपरीत विदेश में लड़ने से उनको अनेक असुविधाएँ थीं।

अतएव हमको उन कारणों को ध्यानपूर्वक अन्यत्र खोजना चाहिए। प्रथम कारण तो, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, यह है कि हिन्दू सदा रक्षात्मक युद्ध करते थे। महमूद गजनवी प्रतिवर्ष आक्रमण करता था और उसके डेढ़ सौ वर्ष बाद मोहम्मद गूरी ने भारत पर आक्रमण किये, किन्तु भारत के राजाओं ने न तो सीमाओं तक बढ़कर इन आक्रान्ताओं को रोकने का प्रबन्ध किया और न ही इन आक्रांताओं के देशों पर संगठित होकर चढ़ाई की। इसके अतिरिक्त हम वर्णन कर चुके हैं कि किस प्रकार उन्होंने उन स्थानों की अवहेलना की जहाँ से वे आक्रान्ताओं को रोक सकते थे और जहाँ पर उनको रोकना सरल था। परन्तु उन्होंने बड़े आराम से उनको आगे बढ़ने दिया। हिन्दू सैनिक आलस्यवश उस समय की प्रतीक्षा करते रहे जब विदेशी उनके राज्य में घुस आए। अन्त में जब युद्ध होता था तो हिन्दू बड़ी वीरता दिखाते थे किन्तु युद्ध की चालों से बिलकुल अनभिज्ञ थे, जैसाकि जो युद्ध हुये थे उनकी मीमाँसा करने से स्पष्ट हो जायेगा। ब्राह्मणों द्वारा बनाये हुए धर्म-कार्य, जैसे पूजा-पाठ, तप, व्रत आदि में हिन्दू राजा इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें अपनी शक्ति और द्रव्य के उपयोग का अवकाश ही न था कि वे सेना की ओर अपना ध्यान दे सकें और युद्ध-कौशल सीख सकें। इस अवस्था ने समस्त हिन्दू समाज को जकड़ लिया था और उसको पतन की ओर ले जा रही थी। यही कारण था कि उनकी मर्यादा और कामना अपने दुर्बल पड़ोसियों को सताने तक ही सीमित थी। दूसरे, उच्च कहलाने वाली

कुछ जातियों को छोड़कर, जिन्हें अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं और जो संसार के सब सुख भोगते हुए अन्य लोगों को तुच्छ दृष्टि से देखते थे, शेष वर्ग अपने-आपको भाग्य के भरोसे पर छोड़कर उदासीन हो गये थे। अतएव राजपूतों के युद्धों में जनता की राष्ट्रीय भावनाएँ दबी रहती थीं। राजा के परिवर्तन से भारत के बहुसंख्यक लोगों में क्रोध की भावना का पैदा न होना बड़ा महत्व रखता है। एकाध युद्ध में किसी पक्ष की हार आकस्मिक कारणों से व भाग्यवश भी हो सकती है, परन्तु धन-धान्य और जन से पूर्ण विस्तृत देश का ऐसे लोगों से हार जाना, जिनके अन्दर स्वयं कोई राजनीतिक एकता व संगठन नहीं था, निस्सन्देह इस बात को प्रकट करता है कि हमारा समाज भ्रष्ट और दुर्बल हो चुका था। हमारा राजनीतिक पतन हमारे नैतिक पतन के कारण हुआ।

इस काल में हिन्दू समाज के चित्र का रंग इससे पूर्वकाल के रंग से कुछ गहरा ही हो चला था। अनेक सामाजिक निषेध, जाति विवाह तथा खानपान पर लगे हुए, प्रतिबन्ध, सती और पर्दे की कुप्रथाएँ और विधवा-विवाह पर रोक आदि नियम और भी कड़े हो गये थे। ऐसी दशा में जहाँ इस समाज का विकास और उन्नति रुक गए वहाँ इसकी दृढ़ता ने इसको विजेताओं की संस्कृति और सभ्यता में डूब जाने से भी बचाया। पराजित हो जाने पर उन्होंने इस गर्व को नहीं छोड़ा कि वे जाति और सभ्यता में विजेताओं से ऊँचे थे और उनको अस्पृश्य समझकर उनसे घृणा करते थे। समाज की इस विचारधारा ने इस देश के लोगों के भाग्य-निर्माण पर बड़ा प्रभाव डाला, परन्तु इन सब बातों की मीमांसा इस छोटी-सी पुस्तक में नहीं की जा सकती।

इस काल में हिन्दू समाज की एक विशेषता अन्धाधुन्ध मूर्ति-पूजा थी। मूर्तिकला और चित्रकला के विकास के कारण इसको स्वतः ही और भी प्रोत्साहन मिला। ये मूर्तियाँ और चित्र अनेक प्रकार के बने—नर के, देवताओं के, सगुण तथा निर्गुण आदि। उसके देवी-देवताओं के गुणों का, ऋतुओं का तथा राग-रागनियों का भी प्रदर्शन किया गया। साधारण जन-समुदाय, जिसको स्वतन्त्र विचारों का अधिकार बहुत काल से प्राप्त नहीं था और अन्धविश्वासों में डूबा हुआ था, विश्वास करने लगा कि पत्थर और धातु की मूर्तियाँ और दूसरे पदार्थ, जैसे वृक्ष, नदी आदि स्वयं देवता हैं और उनमें भला-बुरा करने की पूरी-पूरी सामर्थ्य है। सिद्धों की अलौकिक शक्ति में लोग विश्वास करने लगे। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं का वध होने लगा। इस ढंग के धार्मिक विकास का दूसरा पहलू वाममार्गियों का सम्प्रदाय बना, जिनके आचरण तरह-तरह के भोग-विलासों से युक्त और घृणित बने। साधारण मनुष्यों के लिये, अनेक संस्कारों और विधियों ने ही धर्म का रूप धारण कर लिया, जिनको करना प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक बन गया। देश के विभिन्न भागो में अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ जो इन विचारों से भरे पड़े हैं। देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र के मन्त्री हेमाद्रि द्वारा रचित पुस्तक इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उसके वृहद् खंड में २००० से ऊपर

संस्कारों के आदेश हैं, जिन्हें हिन्दुओं को ३६५ दिन में करना चाहिए और उसने धर्म तथा ब्राह्मणों को भोजन कराना, इन दोनों को एक ही बतलाया।

इस कट्टरपंथी सम्प्रदाय का प्रभाव भारत के भिन्न-भिन्न लोगों पर अनेक प्रकार से पड़ा। इस धर्म की अनेक बुराइयों में से कुछ ये हैं—शूद्रों व स्त्रियों को अशिक्षित रखना, लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को तुच्छ दृष्टि से देखना, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार करना तथा अछूतों के मन्दिरों में जाने और पूजा करने पर रोक लगाना, इत्यादि।

भक्ति-सम्प्रदाय का कार्य : इस प्रकार हिन्दू समाज का निम्न वर्ग दो पाटों के बीच में पिसा जा रहा था, अर्थात् एक ओर तो कथित उच्चवर्णों का धार्मिक अत्याचार और दूसरी ओर धर्मान्ध मुसलमानों का राजनीतिक धार्मिक कारणों से अत्याचार। ऐसे घातक और दम घोटने वाले वातावरण में पड़े हुए पीड़ित समुदाय को भक्ति-आन्दोलन से बड़ी साँत्वना मिली। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तकों का उद्देश्य था उपासना की विधियों में सुधार करना, पुरोहितों के एकाधिकार को व ब्राह्मणों और अन्य द्विजों के विशेषाधिकारों व सुविधाओं को छीनना, हर प्रकार के सामाजिक अन्याय और अत्याचारों को मिटाना और धर्म-ग्रंथों व उनकी शिक्षाओं को सामान्य लोगों की बोल-चाल की भाषा में बतलाना। दलित समुदाय को पुरोहितों की दासता से व राजनीतिक अत्याचारों से मुक्त करने वाले भक्ति-आन्दोलन के प्रसिद्ध संचालकों में सबसे प्रसिद्ध **महात्मा ज्ञानदेव** का नाम आता है, जो यादव राजा रामचन्द्र के समकालीन थे (तेरहवीं शताब्दी के अन्त में)। ज्ञानेश्वर प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' (भावार्थ दीपिका) के लेखक थे। ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता की प्रसिद्ध तथा ओजस्विनी टीका है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी ग्रंथ लिखे थे। बड़ी रोचक बात यह है कि जिस समय रामचन्द्र यादव का मुख्य मन्त्री हेमाद्रि अपना वृहद् ग्रंथ 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' लिखकर नवीन ब्राह्मण धर्म तथा दान-दक्षिणा, पूजा-पाठ, व्रत-तीर्थ आदि आडम्बरों का प्रचार एवं परिपोषण कर रहा था, उसी समय ज्ञानेश्वर इन बाह्य आडम्बरों और बाह्य उपासना की निरर्थकता लोगों को समझा रहा था तथा विवेक और आत्मज्ञान की सार्थकता का उपदेश उनको सुना रहा था। ज्ञानेश्वर के बाद दक्षिण में कई महात्मा हुए जिन्होंने अपना जीवन पतितों और अत्याचार-पीड़ितों के उद्धार के लिए अर्पण कर दिया था। उत्तर में इस आन्दोलन के प्रथम प्रवर्त्तक **रामानन्द** हुए (चौदहवीं शताब्दी), जिनके अनेक शिष्यों में से **महात्मा कबीर** भी थे जो मध्य-काल के बड़े जबरदस्त सुधारक थे। दक्षिण तथा उत्तर दोनों भागों में इन महात्माओं में से अधिकाँश नीच जाति के हिन्दुओं की निम्न श्रेणी के लोग थे, किन्तु उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति व आदर्श जीवन से अनेक लोगों को आकर्षिक किया। अनेक हिन्दू व मुसलमान दोनों की बुराइयों को बतलाया और पुरोहितों और मुल्लाओं की नीचता व स्वार्थपरता का दिग्दर्शन लोगों को कराया, जो लोगों की सादगी और श्रद्धा को स्पष्ट करके उनमें भ्रम और फूट का बीज बो रहे थे। उन्होंने लोगों को प्रेम का

उपदेश दिया और उनको बतलाया कि वे सर्वव्यापक परमात्मा पर पूरा भरोसा रखें जो अपने भक्तों के दुःख सदा दूर करने वाला है।

उसी काल में मुसलमानों में भी महात्माओं का एक वर्ग था जिनमें चिश्ती का सूफीमत सबसे प्रसिद्ध है। ये लोग भी उपर्युक्त सिद्धान्तों पर समाज का उत्थान कर रहे थे। सूफ़ियों का सबसे मुख्य सिद्धान्त था धन-दौलत से दूर रहना तथा राजाओं और अमीरों की संगति को विष समझकर छोड़ देना। अपने निर्धन और त्यागमय जीवन से, व सब सुखों से मुँह मोड़कर इन महापुरुषों ने दीन जातियों के अनेक लोगों को अपना भक्त बना लिया था और समाज पर बड़ा अच्छा और स्थायी प्रभाव उसी समय डाला था जबकि स्वार्थी मुल्ला समाज के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे और धर्मान्ध शासक सर्वसाधारण को निराश व हताश बना रहे थे।

देशी भाषाओं की उत्पत्ति: सर्वसाधारण के उत्थान के साथ-साथ ही इन महात्माओं ने स्थानीय भाषाओं की उन्नति में भी बड़ा भारी भाग लिया, क्योंकि वे सर्वसाधारण की भाषाओं में लिखते तथा उपदेश देते थे। इसी काल में हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, मैथिली, पंजाबी व अन्य प्रान्तीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई। अवध और काशी में **गोसाईं तुलसीदास ने**, ब्रज में **सूरदास व मीराबाई ने**, पंजाब में नानक ने, बनारस में **कबीर ने**, राजपूताना में **रैदास ने**, बिहार में **चण्डीदास** और **विद्यापति ने**, महाराष्ट्र में **ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नामदेव** और **रामदास ने** और हिन्दी के अनेक मुसलमान कवियों, जैसे **जायसी, कुतबन, मंझन** और **रहीम** आदि ने इस काल में सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों की रचना की। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' सूरदास का 'सूरसागर' व मीरा के गीत अपने ढंग में संसार के भक्ति-काव्य में अनुपम हैं।

हिन्दी व उसके प्रान्तीय रूप काफी तौर से परिमार्जित हो चुके थे। इसके अतिरिक्त फ़ारसी शब्दों व फारसी मुहावरों से युक्त एक और प्रकार की हिन्दी बनी, जिसका फारसी जानने वाले विदेशियों और भारतीयों की बोलचाल में प्रयोग होता था। यह भाषा छावनी की भाषा होने के कारण उर्दू कहलाई। फ़ारसी के कवियों में **अमीर खुसरो** और **हसन देहलवी** के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु उस काल का सर्वोच्च साहित्य सूफियों की पुस्तकें व उक्तियाँ हैं जो दुर्भाग्यवश प्रसिद्ध न हो सकीं।

सूफ़ियों का सद्प्रभाव : हिन्दू व मुसलमान दोनों जातियाँ इन महात्माओं को बड़े आदर से देखती थीं, जिनके फलस्वरूप उनके आपसी मतभेद दूर होकर उनमें परस्पर सद्भावना पैदा हो गई। कुछ मुस्लिम शासकों जैसे काश्मीर के जैनुलाब्दीन व बंगाल के हुसैनशाह ने बड़ी उदार नीति बरती थी और अनेक संस्कृत के ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद करवाया था। फिरोज तुग़लक जैसा कट्टर मुसलमान शासक भी, जैसा ऊपर वर्णन हो चुका है, संस्कृत के ग्रंथों का फारसी में अनुवाद करवाने के लिए राजी हो गया था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि दोनों सम्प्रदायों में अनेक विद्याओं जैसे खगोल विद्या, चिकित्सा-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र रसायन शास्त्र आदि का परस्पर आदान-प्रदान होता रहा। इन महात्माओं ने जो दोनों जातियों के दृष्टि-

कोण को सम बनाने वाला वातावरण तैयार किया था वह बढ़कर सत्यपीर नामक सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया, जिसके अनुयायी अनेक व्यक्ति हुए।

साहित्य की उन्नति : इतिहास, औषधि, कविता व अनेक विज्ञान तथा कला की पुस्तकों से संस्कृत तथा फारसी साहित्य की अपार उन्नति हुई। इनमें लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि जयदेव-रचित मुग्ध कर देने वाला ग्रन्थ 'गीत-गोविन्द' विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त वेद और स्मृतियों पर बहुत-सी टिप्पणियाँ और मीमांसाएँ लिखी गईं।

जैसाकि ऊपर वर्णन हो चुका है, साधारण लोगों के सामाजिक व आर्थिक जीवन का उनकी धार्मिक क्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था। परन्तु दोनों जातियों में जो परस्पर एक-दूसरे की सहायता देने, मेल रखने, दूसरे के धर्म का आदर करने और सद्व्यवहार करने की जो परम्परा चली आती थी उसमें कोई अन्तर नहीं आया। इसके लिए प्राचीन सार्वलौकिक स्थानीय संस्थाएँ धन्यवाद की पात्र हैं। समाज के समस्त अंगों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में जो अद्भुत शान्ति विराजती थी वह केवल व्यापार व व्यवसाय तक ही सीमित नहीं थी, उनके मेलों, उत्सवों, पूजागृहों व स्थानी मन्डियों में भी झलकती थी। इन बाजारों व मेलों में गरीब अमीर आदि सभी लोगों को दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की लगभग समस्त वस्तुएँ मिल जाती थीं और राजनीतिक आन्दोलनों का जनता के आर्थिक जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता था, केवल उस समय को छोड़कर जब वे सुल्तान या उनके कर्मचारियों द्वारा सताये जाते हों। किन्तु जैसे ही शान्ति स्थापित हो जाती थी, ग्रामीणों में यह अद्भुत गुण था कि वे पुनः पूर्ववत् हो जाते थे। साधारणतया लोग सुखी और सम्पन्न थे, क्योंकि दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ सस्ती और बहुतायत से प्राप्त थीं।

ललितकला और वास्तुकला : बचे हुए हिन्दू राजा व मुस्लिम शासकों के राज्य में समान रूप से संरक्षण पाने के कारण अनेक कलाओं का विकास होता रहा। कोणार्क (उड़ीसा का सूर्य का मन्दिर), आबू और गिरनार के जैनियों के मन्दिर तथा चित्तौड़ रामपुर और विजयनगर के मन्दिर व महल इसी काल में बने थे। इन सबके साथ-साथ एक नये ढंग की वास्तुकला का विकास हुआ, जिसमें इस बात का ध्यान रखा गया कि भवन-निर्माण में प्राचीन भारतीय परम्परा और सिद्धान्तों को तो अपनाया जाय, परन्तु उनमें ऐसा संशोधन किया जाय जिससे वे विजेताओं के लिये सुविधाजनक बन सकें। यह परिवर्तन विभिन्न रूपों में मस्जिदों, मकबरों व अन्य इमारतों में पाया जाता है, जिनको भारतीय शिल्पज्ञों ने अपने मुस्लिम स्वामी के निर्देश के अनुसार बनाया था। वास्तुकला में जो शनैः शनैः परिवर्तन होता गया वह विशेषतः मेहराबों का आम प्रयोग, सजावट का भिन्न ढंग, इमारत के भिन्न भिन्न भागों की बनावटों में अन्तर तथा कुछ और सामान्य अन्तर कर देना, जैसे मीनारों का बनवाना, इत्यादि। किन्तु सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि इमारतों के लिये खुली हुई विस्तृत भूमि का प्रयोग किया गया और दीवारों व फर्श आदि को मन्दिर की दीवारों, फर्श आदि के समान अलंकृत न कर सादा बनाया गया। इस्लाम धर्म में

चित्रकला व मूर्तिकला वर्जित होने के कारण वे सुल्तानों के दरबारों में संरक्षण नहीं पा सकीं, किन्तु हिन्दू राजाओं के अधीन वे फलती-फूलती रहीं। संगीत और काव्य दूर-दूर तक फैल गये। राजमहलों में वे उतने ही प्रिय थे, जितने सूफियों और साधुओं की झोंपड़ी में। संगीत में एक विशेष अन्तर यह अवश्य आ गया कि लोग ध्रुवपद के स्थान पर ख्याल शैली का प्रायः प्रयोग करने लगे। अधिकांश लोग सुन्दर लेख्य व कला में प्रवीण होने का प्रयास करते थे।

Questions

1. Describe briefly the social life of the people of Northern India in the 15th & the 16th centuries.
   १५वीं व १६वीं शती में उत्तर भारत में लोगों के सामाजिक जीवन का संक्षिप्त वर्णन करो।
2. Sketch briefly the life of any one of the saints of the Bhakti Movement. Explain his teachings.
   भक्ति-सम्प्रदाय के किसी एक महात्मा का जीवन-वृत्तान्त संक्षेप में दो। उसकी शिक्षाओं की व्याख्या करो।

अध्याय १८

मुगल सत्ता का युग

१. राज्य के लिए संघर्ष (१५२६--१५५६)

बाबर के आक्रमण के समय देश की दशा : पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत के राज्यों का जो वृत्तान्त पीछे दिया गया है उससे स्पष्ट है कि वह शताब्दी परिवर्तनमय थी। साम्राज्यों के टुकड़े हो रहे थे और शासन-प्रणाली भंग होती जा रही थी, पर इसके साथ-साथ एक नए समाज का अभ्युदय हो रहा था। यह समाज उन लोगों का था, जो कई सदियों से अत्याचार और अन्याय के शिकार हो रहे थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में कई शक्तियाँ संघर्ष कर रही थीं, जिनका एकमात्र उद्देश्य दिल्ली की सलतनत छीनना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तीन शक्तियाँ विशेष रूप से प्रयत्नशील थीं—दिल्ली के उत्तर-पूर्व में जौनपुर, उसके दक्षिण में चित्तौड़, जिसका शासक राणा कुम्भा था तथा मालवा जिसका शासक महमूद खल्जी (१४३६--१४६९) था। १५वीं शताब्दी के अन्त में दिल्ली राज्य का केवल एक ही भीषण शत्रु मैदान में डटा रहा। यह था चित्तौड़, जिसके राजसिंहासन पर राणा संग्रामसिंह (१५०९—१५३०) आसीन था, जो बड़ा वीर और उच्चाभिलाषी योद्धा था। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार बहलोल लोदी ने जौनपुर की रियासत को दिल्ली की सल्तनत में मिला लिया था और महमूद खल्जी के बाद मालवा अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति खो बैठा था, क्योंकि एक ओर तो उसकी शत्रुता गुजरात तथा चित्तौड़ जैसे बली राज्यों से थी, दूसरी ओर वह घरेलू झगड़ों और विद्वेषों में डूबा हुआ था। गद्दी पर बैठने के दस वर्ष के अन्दर राणा-सांगा ने अपना राज्य राजपूताना में गागरों और रणथम्भोर तक, उत्तर-पूर्व में कालपी और बाँदोगढ़ तक (अर्थात् बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड तक) और पूर्व में गढ़कटंगा (गोंडवाना) की सीमा तक, जिसका शक्तिशाली राजा संग्रामशाह था (१४९१—१५४१), बढ़ा लिया और उससे भेलसा और चन्देरी को छीन लिया।

लोदियों ने दिल्ली की सल्तनत को फिर से जीवित करने और उसके पुराने गौरव को स्थापित करने का भरसक प्रयास किया किन्तु वह सब निरर्थक रहा। उनकी राजनीतिक दुर्बलता का कारण था उनका वर्गीय पद्धति पर आधारित होना। अफगान लोग सब अपने को एक प्राचीन कुल (clan) या वर्ग (tribe) के वंशज मानते थे। इस व्यवस्था के कारण उनमें स्वाधीनता एवं स्वच्छन्दता के भाव उत्पन्न

होते रहते थे। और वे अपने अधिकारी अथवा शासक का विरोध करने पर उतारू रहते थे। जब इब्राहीम लोदी गद्दी पर बैठा उस समय प्रमुख अफगान अमीरों का व्यवहार ऐसा था जिससे सुल्तान उनकी ओर से शंकित हो गया था। दरयाखां लोहानी ने अपने-आपको बिहार का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और पंजाब का सूबेदार दौलतखाँ नाम-मात्र के लिये सुल्तान का आधिपत्य मानता रहा। इसी समय शेरखाँ (जो बाद में शेरशाह कहलाया) बिहार के शासक बहारखाँ लोहानी के वजीर की हैसियत से शासन के अनुभव प्राप्त कर रहा था। सुल्तान का चाचा आलम खां, जो अपने को सल्तनत का उत्तराधिकारी समझता था, पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ से मिल गया था। दोनों ने मिलकर काबुल के राजा बाबर को निमंत्रण दिया जो तैमूर का वंशज था। राणा साँगा, जो आगरा तक बढ़ना चाहता था, गुजरात व मालवा के शासकों द्वारा रोक दिया गया। अतएव जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसने बाबर से सहायता माँगी (१५२४)। **इन देशी रियासतों के आन्तरिक विद्वेषों के कारण दिल्ली की सल्तनत कुछ काल के लिए विछिन्न होने से बची रही और बाबर को अवसर मिल गया कि वह अपनी विजयकामना की प्यास को बुझा सके। इस प्रकार जब भारत के अदूरदर्शी राजा परस्पर संघर्ष कर रहे थे भारत के राज्य को एक विदेशी ने हड़प लिया।**

बाबर : जहीरुद्दीन मुहम्मद उपनाम बाबर, १४९४ में ११ वर्ष की आयु में छोटे-से राज्य फरगाना (पीमर के उत्तर में खोखण्ड) का शासक बन गया। बाबर का पिता तैमूर के वंश से था और माता चंगेज़ वंश से। इस प्रकार उसमें तुर्कों का साहस आदि गुण थे, मुगलों की अथक कार्यक्षमता थी। बाबर ने आरम्भ में ओक्सस नदी के तटवर्ती अपने पूर्वजों के प्रदेश को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु वह विफल रहा। अन्त में जब उसने समरकन्द को लेने का प्रयत्न किया तो उसको फरगना व समरकन्द दोनों से हाथ धोना पड़ा। उसके शत्रु, जिन्होंने उसके उद्देश्य प्राप्ति में बाधा डाली, उसी के चचेरे भाई तथा एक मुगल सरदार, शैबानीखाँ उजबक थे। शैबानीखाँ की शक्ति इस समय बहुत बढ़ रही थी। इसी से बाबर का पाँव फरगना में न जम सका। अब बाबर नीचे उतर कर काबुल में आया और उसको उसके मंगोलियन शासक से छीन लिया। १५११ में फारस के शाह इस्माइल सफवी की सहायता से बाबर ने समरकन्द को जीत लेने का फिर प्रयत्न किया, किन्तु १५१२ में उजबक सरदार ने उसे फिर पीछे धकेल दिया। इस प्रकार भारत को छोड़कर और कोई प्रदेश नहीं बचा जहाँ बाबर अपना भाग्य आजमाता और अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता। किन्तु भारत में उस जैसे वीर योद्धा के लिए मैदान तैयार था, अतएव उसने अब अपना ध्यान भारत की ओर दौड़ाया। काबुल के राज्य को दृढ़ बनाने के अनन्तर उसने कुछ ही समय पश्चात कुनार और स्वात नदियों के बीच हिन्दुओं की बाजौर नामक घाटी पर आक्रमण किया और वहाँ की हिन्दू जनता को बड़ी क्रूरता के साथ कत्ल किया। इसके बाद तुरन्त बाबर सिन्धु

को पार करके पंजाब में घुस गया और उस सूबे को तैमूर के साम्राज्य का भाग होने के नाते से उस पर अपने अधिकार का दावा किया।

पानीपत की पहली लड़ाई : इब्राहीम लोदी पर अन्तिम चढ़ाई करने से पूर्व भारत की सीमा पर बाबर ने चार और आक्रमण किए, जिनमें वह स्यालकोट तक बढ़ गया। इसी समय उसने गक्खरों का दमन किया। इसी बीच में उसने कंधार को उसके शासक से छीन लिया और उस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद पंजाब के शासक दौलतख़ाँ लोदी तथा आलमखाँ (जो दोनों सुल्तान इब्राहीम के सम्बन्धी थे) के आक्रमण पर बाबर ने पूरी तैयारी करके पंजाब पर चढ़ाई की। दौलतखाँ लोदी ने, जो पंजाब का शासक था, उससे लड़ने की हिम्मत न की और उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। थोड़े दिन बाद दौलतखाँ की मृत्यु हो गई और बाबर का समस्त पंजाब पर अधिकार हो गया। तब वह आगे बढ़ा। उसकी सेना में केवल १२,००० घुड़ सवार थे, ऐसा तत्कालीन लेखकों ने कहा है, परन्तु जान पड़ता है कि इससे कहीं अधिक संख्या उसकी सेना में होगी। इब्राहीम लोदी १ लाख सैनिक और १०० हाथी लेकर उसका सामना करने के लिए पानीपत के भाग्य-निर्णायक मैदान में पहुँचा। निस्संदेह बाबर एक अनुभवी व तीव्र-बुद्धि सेनानायक था। उसकी तुलना में इब्राहीम बहुत ही निम्नकोटि का सैनिक था। दूसरे उसकी सेना भी अनसिखे फौजियों का एक अनियमित समूह था, जिसे युद्ध-कला की कोई शिक्षा न मिली थी। तीसरे बाबर के साथ तोपखाना भी था। इस प्रकार यद्यपि बाबर की सेना संख्या में इब्राहीम की सेना से शायद बहुत कम थी, तथापि उसकी युद्ध-शक्ति उससे कहीं अधिक थी। स्वाभाविक ही था यदि बाबर जैसा युद्ध-कुशल सेनानी इस अस्त-व्यस्त जन-समूह को आसानी से परास्त कर देता। १२ अप्रैल १५२६ को यह युद्ध हुआ और लगभग दिन-भर लड़ाई होती रही। दिन छिपने तक हिन्दुस्तानी सेना के लगभग १५,००० आदमी मारे जा चुके थे और उनमें इब्राहीम भी था। बाबर ने इस विजय के बाद ईश्वर का बड़ा धन्यवाद किया कि उसकी कृपा से उसने एक बड़े कठिन कंटक को अपने मार्ग से हटा दिया था। बाबर की पूरी तरह जीत हुई। पानीपत की लड़ाई को जीतने के बाद बाबर ने दिल्ली और आगरा पर अधिकार कर लिया और अपने-आपको हिन्दुस्तान का सम्राट् घोषित कर दिया। बाबर की विजय ने पूर्व में अफगान-विरोधियों व दोआब के राजाओं की कमर तोड़ दी। जौनपुर व अवध ने बाबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और उनकी सहायता से बाबर के पुत्र हुमायूँ ने कुछ ही मास में बिहार तक का प्रदेश जीत लिया।

खानवा का युद्ध : २७ अप्रैल को दिल्ली में बाबर ने अपना नाम खुतबे में पढ़वाया। पानीपत के युद्ध में ग्वालियर का राजा विक्रमाजीत भी लड़ता हुआ मारा गया था। उसके परिवार का धन हुमायूँ के हाथ आया, जिसमें लोक प्रसिद्ध हीरा कोहनूर भी था। इसे हुमायूँ ने अपने पिता को भेंट में दिया और बाबर ने उसे अपने बेटे को ही वापिस कर दिया। धन एकत्रित करने का बाबर को शौक न

था। इसके प्रतिकूल वह अपनी सब सम्पत्ति को अपने अमीरों व सैनिकों आदि में बाँटकर बड़ा खुश होता था। इसी कारण उसका नाम कलंदर पड़ गया था। उस समय लोदी सल्तनत के अतिरिक्त उत्तर भारत में गुजरात तथा मालवा में स्वाधीन मुसलमान राज्य थे। पूर्व में बंगाल भी एक मुसलमान शासक के अधीन था और दक्षिण में प्रसिद्ध बहमनी राज्य विद्यमान था। बहमनी राज्य के दक्षिण का लगभग समस्त प्रदेश विजय नगर साम्राज्य के अन्तर्गत था। राजपूताना में मेवाड़ का राज्य सर्वोपरि था। इसका नृपति परम वीर राणा-साँगा (संग्रामसिंह) अपने शौर्य के के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। इन सफलताओं के मिलते हुए भी बाबर की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। उसको महा शक्तिशाली राणा-साँगा से निबटना था, जो राजपूताना के समस्त राजाओं को संगठित करके उनके संघ का नेता बन गया था। हसन मेवाती और महमूद लोदी भी राणा साँगा से मिल गये थे। परन्तु राणा साँगा ने बयाना के सूबेदार पर हमला कर दिया, इस कारण वह साँगा का विरोधी हो गया और बाबर की ओर चला गया। इस प्रकार एक देसी सरदार की सहानुभूति तथा सहायता खोकर राणा ने सामरिक दृष्टि से बड़ी भूल की। बयाना के सूबेदार ने अपना प्रदेश बाबर को सौंप दिया और स्वयं उसका जागीरदार बन गया। इससे लाभ उठाकर बाबर ने ग्वालियर तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। किन्तु वह भली भाँति समझता था कि जो युद्ध करने वह जा रहा था, वह धार्मिक न होकर राजनीतिक था जिसमें भारत के हिन्दू व मुस्लिम राजा दोनों मिलकर उसको इस देश से मार भगाने पर तुले हुए थे। जनता भी खुले रूप से उसकी शत्रु बनी हुई थी। ऐसी परिस्थिति में उसने युद्ध को धार्मिक रूप देने का प्रयत्न किया और अपने-आपको काफिरों को मारने वाला गाजी घोषित कर दिया जिससे अफगान उससे आ मिले। **सीकरी के समीप साँगा की सेना ने बाबर की एक बड़ी सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया**। इस घटना से बाबर का कलेजा भी काँप उठा परन्तु वह अपने दृढ़ संकल्प से विचलित नहीं हुआ। उसके अनेक सेनापतियों ने खुले तौर पर उसका विरोध किया और बाबर के सम्मुख काबुल लौट जाने की इच्छा प्रदर्शित की। बाबर ने उनकी खूब भर्त्सना की और उनसे कहा कि उसने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि या तो वह विजय प्राप्त करेगा अथवा युद्ध करते हुए वीर की भाँति मरेगा। बाबर की इस दृढ़ता को देखकर उनका साहस लौट आया और उन्होंनें अन्त समय तक युद्ध करने की सौगन्ध खाई। सीकरी के समीप खानवा के स्थान पर बाबर और साँगा के लश्कर सामने आये। राजपूत बड़ी वीरता के साथ जी तोड़कर लड़े, घमासान युद्ध हुआ। राजपूत सेना ने शत्रु के अनेक सैनिकों को मार गिराया और उसकी सेना का खूब ही विध्वंश किया, किन्तु अन्त में बाबर ने अपनी युक्ति से काम लिया जिसका वर्णन हम पानीपत की लड़ाई के अवसर पर कर चुके हैं। उसने अपनी सहायक सेना को पीछे से राजपूतों पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इसका मनोवाँछित परिणाम हुआ और बाबर की हार होते-होते जीत में बदल गई। राणा

संग्रामसिंह घायल हुआ और मूर्छित हो गया। इस पर कुछ सरदारों ने उन्हें पालकी में बिठाकर जयपुर के गाँव बसवा तक पहुँचा दिया। बाबर ने राजपूत सेना का पीछा किया और बहुतों का वध किया (मार्च १५२७)। इस युद्ध में अनेक राजपूत सेनापति मारे गए। जब सांगा को चेतना हुई तो युद्ध क्षेत्र से इस प्रकार हटाये जाने पर बड़ा क्रोधित हुआ और प्रतिज्ञा की कि जीते-जी चित्तौड़ नहीं जाऊँगा। थोड़े दिन बाद जब राणा के घाव ठीक हुए तो उसने युद्ध करने की फिर तैयारी की। परन्तु उसके साथी इस नीति के विरुद्ध थे कि बाबर से बार-बार युद्ध किया जाय। इस कारण उन लोगों ने राणा को विष देकर मार डाला। शीघ्र ही बाबर ने राजपूत राजा मेदनीराय से चन्देरी को भी छीन लिया। अगले वर्ष (१५२९) अफगान शासकों से बंगाल और बिहार भी ले लिया, जिनको उसने गोगरा के तट पर परास्त किया। **बाबर अपनी विजयों का फल भोगने के लिए अधिक काल तक जीवित नहीं रहा। वह बीमार हो गया और १५३० में आगरा में मर गया।** उसकी इच्छा के अनुसार उसको काबुल में दफनाया गया।

बाबर का चरित्र और उसकी सफलताएँ : यह कहना बहुत हद तक ठीक है कि पूरब के मुसलमान बादशाहों में बाबर का व्यक्तित्व सबसे मनोहर है। चंगेज खाँ और तैमूर जैसे दो महान् विजेताओं का रक्त उसकी नसों में दौड़ रहा था और तैमूर के उत्तराधिकारियों का शौर्य और वीरता, जो इतने काल तक मृतवत् पड़ी थी, वह बाबर में पुनः जीवित हो गई थी। किन्तु वह केवल वीर योद्धा ही न था। अपितु उसमें नागरिकता के अलौकिक गुण विद्यमान थे और वह एक अत्यन्त सभ्य पुरुष था। इतिहास में उसका नाम उसके विशाल साम्राज्य के निर्माण के कारण अमर नहीं है, वरन् उसके समस्त जीवन के कारण जो अनेक साहसिक घटनाओं, अटल धैर्य और उन सभी सैनिकोचित गुणों से ओत-प्रोत था, जिनके कारण वह एक महान् राज्य की नींव डाल सका। उसकी महानता साम्राज्य के कारण नहीं, परन्तु दिल और दिमाग के श्रेष्ठ मानवीय गुणों के कारण है, जिसका दिग्दर्शन उसने अपने अनुपम जीवन-चरित्र में कराया है। उसकी लेखन-शैली अत्यन्त सादा थी और बनावट से सर्वथा रहित थी। अपनी जीवनी में बाबर ने अपने जीवन का कोई रहस्य गुप्त नहीं रखा है, वरन् सबका दिग्दर्शन बड़ी विचित्र सादगी से कराया है। उसने अपनी कमजोरियाँ भी बताई हैं। उसने बताया है कि वह अपनी सन्तान से कैसा प्रेम करता था। अपने जीवन में उसने जो-कुछ अनुभव किये थे, सभी का वर्णन करके जीवनी को अत्यन्त रोचक बना दिया है। उसकी दृष्टि बहुत गहरी थी। उसने इस देश और देश की सभी वस्तुओं, जड़ एवं चेतन, इसकी ऋतुओं इसके फल-फूलों व पशु-पक्षियों का बड़ा मनमोहक वर्णन किया है। उसके प्रकृति-प्रेम, सबको प्रेम व आदर की दृष्टि से देखने और अन्य मानव-गुणों के कारण उसका प्रशंसनीय होना उचित ही है। **बाबर को इमारतें व बगीचे आदि बनवाने का बड़ा शौक था।** उसको युद्धों से जो थोड़ा-सा अवकाश मिला था, उसमें उसने आगरा में बहुत-सी इमारतें बनवाईं,

विशेषकर बड़े-बड़े बाग । कुछ अन्य स्थानों, जैसे अयोध्या आदि में उसने मस्जिदें बनवाईं ।

हुमायूँ : बाबर के पश्चात् उसका सबसे बड़ा बेटा हुमायूँ गद्दी पर बैठा । यद्यपि उस समय वह केवल २२ वर्ष का नवयुवक ही था, परन्तु वह अपने-आपको एक वीर सैनिक सिद्ध कर चुका था । किन्तु न तो उसमें अपने पिता-जैसे राजनीतिक गुण थे और न काम करने की शीघ्रता थी । उसने अपने दस वर्ष के शासन-काल में देश को पूर्णरूप से वश में करने और शासन-सुधार करने का विफल प्रयास किया । हुमायूँ ने अपने पिता की अन्तिम इच्छा के सम्मान में अपने राज्य के मुख्य-मुख्य प्रान्त अपने भाइयों को दे दिये । कामरान को काबुल, कन्धार और पंजाब, अस्करी को सम्भल तथा हिन्दाल को अलवर । इससे उसकी स्थिति और भी हीन हो गई । उसके कृतघ्न भाई इन प्रदेशों को पाकर भी संतुष्ट न हुए । वे सदा सल्तनत को छीन लेने के लिए षड्यन्त्र रचते रहते थे । किन्तु तीन और व्यक्ति शक्तिशाली बनते जा रहे थे, जिनका हुमायूँ को सामना करना पड़ा । राणा साँगा की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् उसके बेटे राणा रतनसिंह को उसके सरदारों और निकम्मे अल्पायु पुत्र विक्रमादित्य ने मिलकर मार डाला (१५३२) । गुजरात के शासक बहादुरशाह द्वितीय ने राणा रतनसिंह की सहायता से मालवा के दक्षिणी भाग को पहले ही जीत लिया था । विक्रमादित्य के अधीन मेवाड़ की निर्बलता को देखकर उसने उत्तरी मालवा पर भी चन्देरी और रणथम्भौर तक अधिकार कर लिया । अन्त में बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाल दिया और उसको जीत लिया । इसके कारण उसको हुमायूँ से युद्ध करना पड़ा । जोधपुर में मालदेव राठौर ने अजमेर, नागौर तथा उनके आस-पास के प्रदेश ले लिए । पूर्व में बंगाल का शासक नसरत मर गया था (१५३२) और शेरखां को शक्ति-संचय के लिए छोड़ गया था । १५३५ में हुमायूँ ने गुजरात के शासक बहादुरशाह के विरुद्ध चढ़ाई कर दी और उत्तरी मालवा को जीतकर दक्षिणी गुजरात में भी घुस गया । जब वह वापस लौट रहा था तो मंदसौर के समीप बहादुरशाह की सेना ने उसका मुकाबला किया, किन्तु एक रात को बहादुरशाह अपनी सेना को उसके भाग्य पर छोड़कर भाग गया । इस प्रकार हुमायूँ मालवा और गुजरात का स्वामी हो गया, परन्तु आगरा में कुछ उपद्रव हो जाने के कारण उसको शीघ्र ही लौटना पड़ा । ज्योंही उसने पीठ मोड़ी कि बहादुरशाह ने फिर गुजरात पर अधिकार कर लिया । इसी समय गुजरात के बादशाह ने पुर्तगालियों को उनकी तटवर्ती बस्तियों से भगाना चाहा, परन्तु वे सफल न हो सके ।

२. शेरशाह का उत्थान और हुमायूँ का ह्रास

उत्पत्ति व शैशव : जिन शत्रुओं से हुमायूँ को युद्ध करना पड़ा था, उनमें शेरखाँ सबसे अधिक शक्तिशाली था, जिसने अफगानों का पुनरुद्धार किया था । अफ़गान सरदार इस बात को नहीं भूले थे कि उनकी शक्तियाँ छिन गई थीं, परन्तु

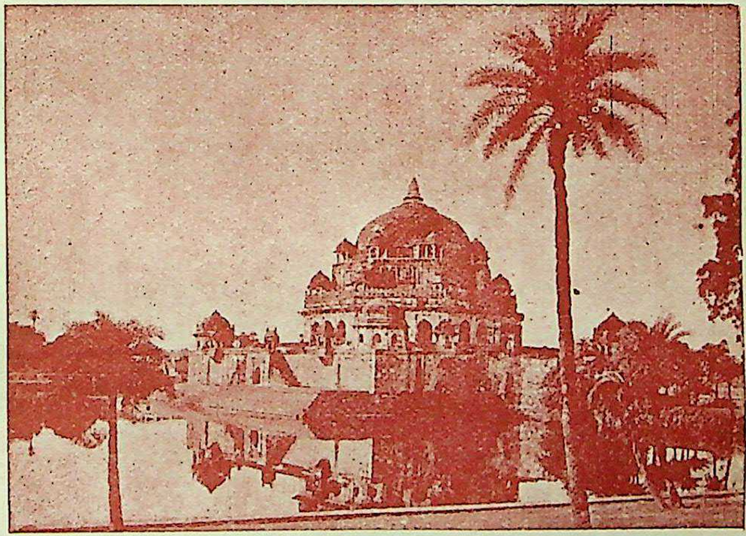

शेरशाह का मकबरा—सहस्राम विहार (जिसे १५४४ में बनाया गया)

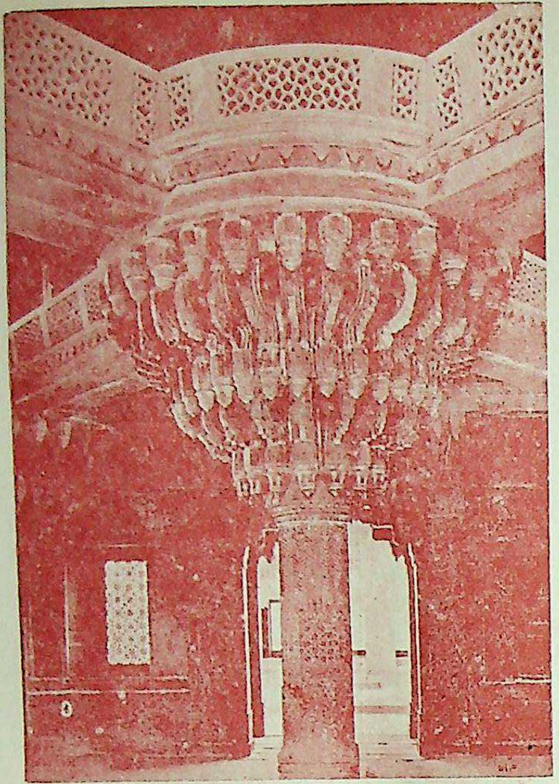

फतहपुर सीकरी में अकबर के दीवाने-खास
में विष्णु-स्तम्भ

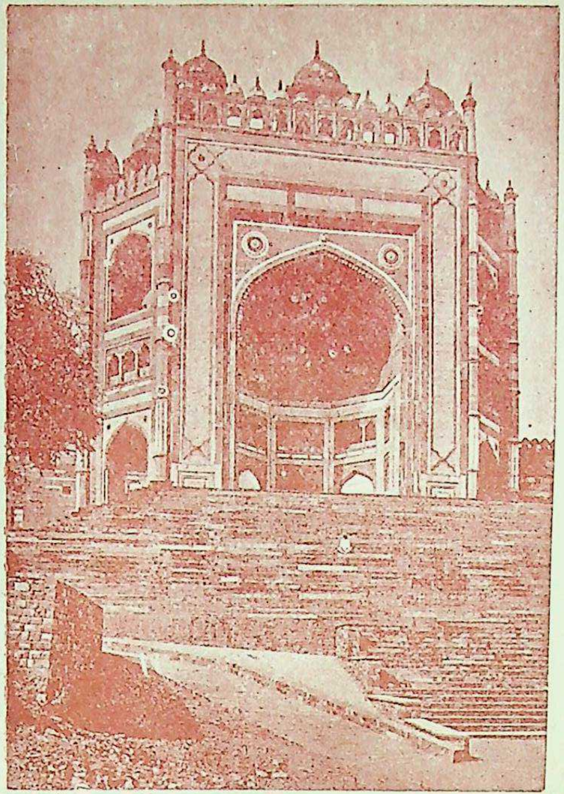

अकबर का बनाया हुआ बुलन्द दर्वाजा, फतहपुर सीकरी,
जिसका निर्माण १५७४ में हुआ।

उन्हें एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी, जो उनकी छिन्न-भिन्न शक्तियों को बटोर कर उन्हें ठीक मार्ग पर लाये। शेरशाह में उन्होंने ऐसा नेता होने के गुण देखे। शेरशाह का जन्म १४७३ में बजवाड़ा के परगने में हुआ था जहाँ उसका दादा इब्राहीम सूर बहलोल लोदी के समय में बस गया था। उसका नाम फरीद रखा गया। उसके पिता हसन सूर ने उमरखाँ सरवानी के यहाँ नौकरी कर ली।

शिक्षा व शासन का अनुभव—जब उसका स्वामी जौनपुर का सूबेदार बनकर गया तो हसन को अपने साथ लेता गया और उसको दो परगने, सहसग्राम और खवासपुर टाँडा जागीर में दिये। फरीद अब वयस्क हो चुका था। उसका झगड़ा अपने बाप से हो गया, क्योंकि उसके बाप का बर्ताव उसकी माँ के साथ ठीक न था। अतएव वह जौनतुर चला आया और उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगा। परिश्रमी और कुशाग्र-बुद्धि होने के अतिरिक्त फरीद एक श्रेष्ठ नेता और शासक के गुण लेकर पैदा हुआ था। कुछ समय के बाद उसका अपने बाप के साथ मेल हो गया और उसने फरीद को अपनी जागीर का प्रबन्ध करने के लिये भेज दिया और स्वयं अपने स्वामी के पास जौनपुर ठहरा। इस प्रकार फरीद को दो परगनों का शासन करने का यह प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। उसने दिखला दिया कि उसने अफगानों के शासन में क्या-क्या भ्रष्टाचार और कमियाँ देखीं और किस प्रकार उसने जमींदारों की परवाह न करके बड़ी योग्यता और स्थिरता तथा हिम्मत से शासन में सुधार किये।

शासन का आरम्भ—उसका दूसरा महत्वपूर्ण अवसर १५२२ में आया, जब अपने पिता की मृत्यु हो जाने से उसका जागीर पर अधिकार हो गया और उसने अपनी योग्यता तथा दयानतदारी से बिहार के शासक बहारखाँ लोहानी को प्रसन्न कर लिया। बहारखाँ ने अकेले ही एक शेर को मार लेने के कारण फरीद को शेरखाँ की उपाधि प्रदान की और उसको अपने राज्य का नायब तथा अपने बेटे जलालखाँ का शिक्षक बनाया। कुछ दिन बाद किसी कारण से शेरखाँ का स्वामी उनसे अप्रसन्न हो गया और उसको पद से हटा दिया। तब उसने कुछ दिनों के लिए आगरा में बाबर की सेना में नौकरी कर ली, किन्तु वह शीघ्र ही जौनपुर लौट गया और अपने पुराने शिष्य जलालखाँ का संरक्षक और वकील बन गया, जो बाप के मरने पर बादशाह बन गया था, किन्तु नाबालिग था। अब शेरखाँ राज्य में सर्वेसर्वा बन गया। कुछ ही वर्षों में चुनार के स्वामी की मृत्यु हो जाने पर उसकी विधवा से शादी कर लेने पर उसको चुनार का दुर्ग मिल गया।

बिहार पर अधिकार—शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर लोहानी जलने लगे और बंगाल के शासक की सहायता से उसे मार्ग से हटा देना चाहा। शेरखाँ ने उनकी सम्मिलित सेना को मुंगेर के पश्चिम में सूरजगढ़ के समीप क्यूल नदी के किनारे बुरी तरह परास्त किया (१५३४)। इस विजय से वह निस्सदेह ही बिहार का यथार्थ स्वामी बन गया, परन्तु हुमायूँ का आधिपत्य मानता रहा।

हुमायूँ से मुठभेड़—जब हुमायूँ गुजरात के युद्ध में व्यस्त था, शेरखाँ ने धीरे-

धीरे सम्पूर्ण बंगाल पर अधिकार कर लिया, उसके शासक को मार भगाया और समस्त महत्वपूर्ण दुर्गों पर आधिपत्य जमा लिया, जिनमें गौड़ भी सम्मिलित था। शेरखाँ को इस प्रकार बढ़ते हुये देखकर हुमायूँ चुपचाप न रह सका और उसने १५३८ में उसके विरुद्ध प्रस्थान कर दिया। उसके पहुँचने से ही शेरखाँ चुनार से पीछे हट गया और छल से रोहतासगढ़ का दुर्ग उसके स्वामी से ले लिया। यह गढ़ सोन नदी के तट पर था। जब हुमायूँ बंगाल की तरफ बढ़ा, शेरखाँ गौड़ का दुर्ग छोड़कर रोहतास में आ गया। जब हुमायूँ ने देखा कि उसका कहीं भी सामना नहीं किया गया तो उसने गौड़ के दुर्ग में दो मास तक खूब आमोद-प्रमोद किये। इसी बीच शेरखाँ ने रोहतासगढ़ के दुर्ग से निकलकर सम्पूर्ण बिहार पर जौनपुर तक अधिकार कर लिया और अपने न्यायपूर्ण सुशासन से कृषकों को प्रसन्न कर लिया। इस प्रकार हुमायूँ का दिल्ली से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और जब उसको इस बात का ध्यान आया तो समय निकल चुका था। शेरशाह ने उसको बीच में ही रोककर नष्ट कर देने की पूरी-पूरी तैयारियाँ कर ली थीं। हुमायूँ की श्रान्त सेना को शेरखाँ ने चौसा नामक गांव के समीप उस स्थान पर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, जहाँ कर्मनासा नदी गंगा में गिरती है। हुमायूँ एक भिश्ती की सहायता से गंगा के दूसरी ओर बचकर निकल गया और शीघ्र ही आगरा पहुँच गया। शेरखाँ ने अब 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण की और आगरा की ओर बढ़ा। आगरा पहुँचने पर हुमायूँ ने अपने भाई कामरान से सहायता माँगी, परन्तु उसने इन्कार कर दिया। उसने किसी तरह अपने ही प्रयत्न से एक बड़ी सेना इकट्ठी की और शेरशाह का सामना करने के लिए बढ़ा। मुगल सेना, जिसमें किसी समय अपार साहस था, अब धैर्य खो बैठी थी और भयभीत थी। गंगा के तट पर कन्नौज से दूसरी ओर बिलग्राम के समीप दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई, किन्तु परिणाम यह हुआ कि मुगलों का जबरदस्त विनाश हुआ जो बचकर भाग निकले, उनमें सहस्रों नदी की धार में बह गये। हुमायूँ बचकर आगरा पहुँचा। शेरशाह ने उसका पीछा किया। हुमायूँ के जो-कुछ हाथ पड़ा, पंजाब लेकर भागा और महलों में स्त्रियों तक को भी पीछे छोड़ गया।

हिन्दुस्तान पर कब्जा—शेरशाह ने अब जेहलम तक का प्रदेश जीत लिया। उसने जेहलम के तट पर एक बड़ा दुर्ग बनवाया, जिसका नाम उसने पश्चिमी रोहतास रखा। इस दुर्ग को बनवाने में उसका उद्देश्य बागी गक्खरों को वश में करना और काबुल तथा काश्मीर के मार्गों द्वारा होने वाले हमलों से देश की रक्षा करना था। शेरशाह के राज्य के दक्षिण में मालवा और गुजरात की शक्तियां क्षीण हो चुकी थीं और उनका स्थान मालदेव राठौर ने लिया था, जो राजपूताना के एक बहुत बड़े भाग का स्वामी हो गया था। राजपूताना की ओर मुड़ने से पूर्व शेरशाह ने पंचनद तक मुल्तान और सक्खर को विजय कर लिया। तब उसने सात मास तक घेरा डालकर पूरनमल चौहान से रायसेन का दुर्ग जीत लिया। १५४४ में शेरशाह ने मालदेव पर चढ़ाई की। मालदेव भी पूरे दलबल से उसका सामना करने के लिए आया।

मेड़ता के निकट दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। शेरशाह को शीघ्र पता चल गया कि कि वह मालदेव पर विजय नहीं पा सकता। तब उसने कुछ चाल खेलनी चाही। उसने कुछ जाली पत्र मालदेव के डेरे में डलवा दिए। यह पत्र मानो राजपूत सरदारों ने शेरशाह को लिखे थे, जिनमें उन्होंने उसे सहायता देने का वचन दिया था। जब मालदेव ने इन पत्रों को देखा तो वह इतना शंकित हो गया कि अपने सरदारों के प्रतिवाद को भी उसने नहीं सुना और शीघ्रता से रण-भूमि को छोड़कर सीवान के दुर्ग में चला गया। तब भी वीर राजपूत, जिनकी राजभक्ति पर इस प्रकार संदेह किया गया था, शेरशाह की सेना पर टूट पड़े और उसके रक्त से रणभूमि को लाल कर दिया। शेरशाह को विजय तो अवश्य मिली, परन्तु इतनी हानि उठानी पड़ी कि उसने बड़ी ठण्डी सांस भरकर कहा कि "**एक मुट्ठी बाजरे के लिए मैं सारे हिन्दुस्तान का राज्य ही करीब-करीब खो बैठा था।**" इसके अनन्तर उसने बुन्देलखण्ड के विख्यात गढ़ कालिंजर को अपना लक्ष्य बनाया और १५४५ में उस पर घेरा डाल दिया। अन्त में दुर्ग विजय कर लिया गया, परन्तु आकस्मिक बारूद के फट जाने के कारण शेरशाह अत्यन्त घायल हुआ और शीघ्र ही मर गया (मई १५४५)।

शेरशाह का राज्य पश्चिम में जेहलम नदी के पूर्व में चुनार गाँव तक फैल गया था। उत्तर में उसकी सीमा हिमालय को छूती थी, दक्षिण में उसका राज्य मुल्तान से सक्खर तक, राजपूताना के एक बड़े भाग पर, मालवा, बुन्देलखण्ड बिहार, जिसमें कुछ भाग झारखण्ड का भी शामिल था और समस्त बंगाल तक फैला हुआ था।

शेरशाह का शासन : यद्यपि शेरशाह ने पाँच वर्ष से कुछ ही अधिक राज्य किया, किन्तु उसका शासन इतना उत्तम था कि लोग कई पीढ़ियों तक उसको स्मरण करते रहे। उसने देश में ऐसी शान्ति और सुरक्षा स्थापित कर दी, जैसी उससे पूर्व कई शताब्दियों में भी नहीं देखी गई थी। **इतिहास में उसका नाम युद्ध में विजयों के कारण अमर नहीं है, वरन् शासन-प्रबन्ध में उसकी अनुपम सूझ और प्रवीणता के कारण है।** इतने थोड़े-से शासन-काल में ही वह ऐसी उत्तम शासन-पद्धति की स्थापना कर सका, यह उसकी व्यवहार-कुशलता का पक्का प्रमाण है। शेरशाह की इस अलौकिक पटुता और तत्परता का रहस्य यह है कि उसने बचपन से ही राजकार्य करना सीखा था और परगने से लगाकर बड़े साम्राज्य तक छोटे-बड़े सभी मामले उसके नेत्रों को सामने से गुजरे थे। उसके पूर्व किसी शासक को ऐसा अद्वितीय अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। अतएव जब वह बादशाह बन गया तो उसको कोई नई बात सीखने तथा अनुभव करने में समय व्यतीत करने के लिए कुछ भी शेष न रहा था। शासन का समस्त ढांचा और उसकी समस्त योजनाएँ पहले ही उसके हृदय पर अंकित थीं, अतएव हम उसका शासन-प्रबन्ध अत्यन्त अद्भुत पाते हैं। उसका प्रत्येक विभाग तथा उसकी व्यवस्था यथाशक्ति सोच-विचार करके निश्चय कर दी गई थी। तुर्कों की प्राचीन शासन-प्रणाली अत्यन्त हीन और जर्जरित थी, जिसे न तो लोधी सुलतान और न ही बाबर या हुमायूं अच्छी तरह सुधार सके।

उसमें नया जीवन संचार करने के लिए शेरशाह जैसे अनुभवी, योग्य और परिश्रमी पुरुष की आवश्यकता थी।

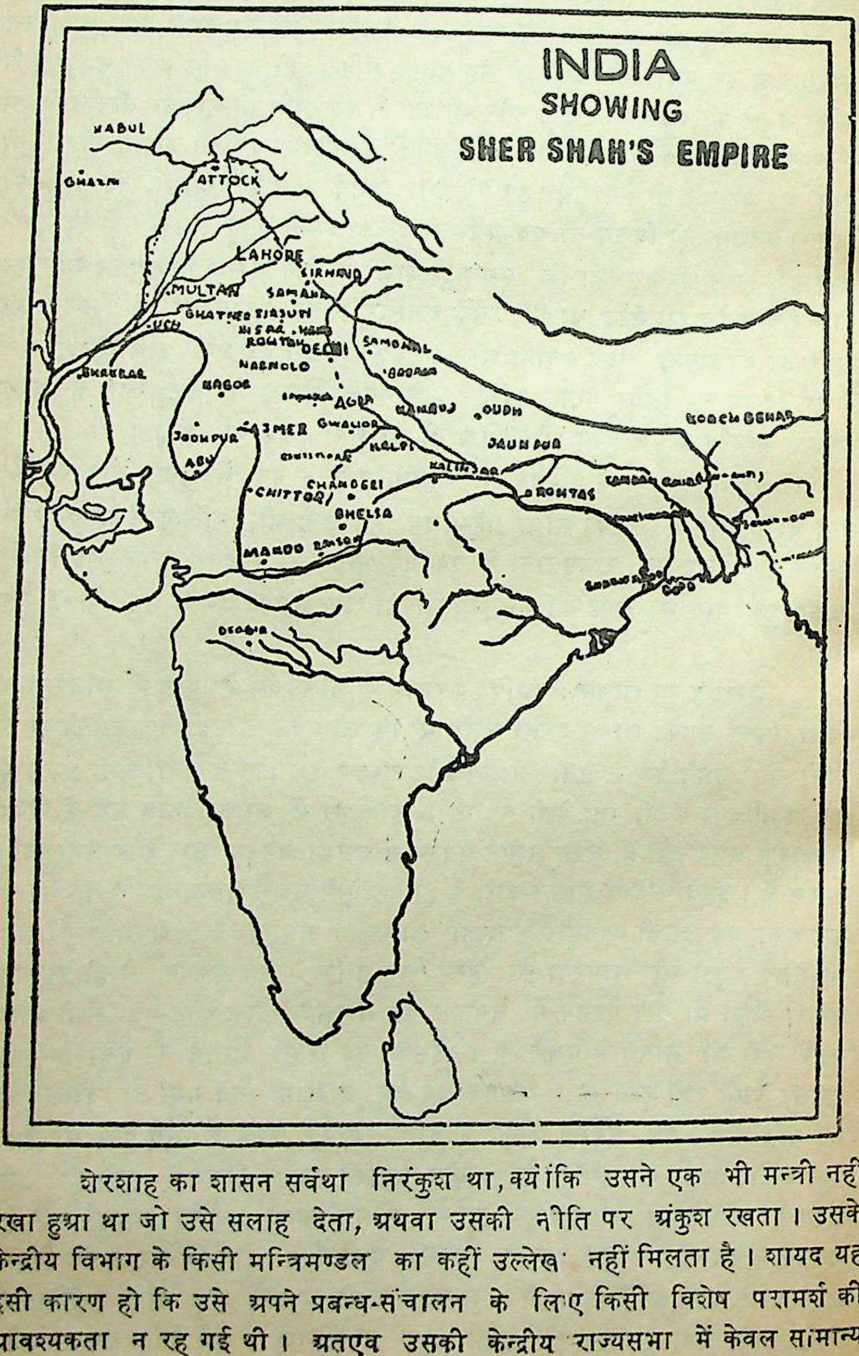
INDIA
SHOWING
SHER SHAH'S EMPIRE
KABUL
GHAZNI
ATTOCK
LAHORE
SIRHIND
MULTAN
SAMANA
GHATNER
UCH
HISAR
ROHTAK
DELHI
SAMBHAL
NARNOL
BHAKKAR
NAGOR
AGRA
KANAUJ
OUDH
AJMER
GWALIOR
JODHPUR
KALPI
ABU
JAUNPUR
KALINJAR
CHANDERI
CHITTOR
BHELSA
ROHTAS
MANDU
RAISEN
DEOGIR
KOOCH BEHAR

शेरशाह का शासन सर्वथा निरंकुश था, क्योंकि उसने एक भी मन्त्री नहीं रखा हुआ था जो उसे सलाह देता, अथवा उसकी नीति पर अंकुश रखता। उसके केन्द्रीय विभाग के किसी मन्त्रिमण्डल का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। शायद यह इसी कारण हो कि उसे अपने प्रबन्ध-संचालन के लिए किसी विशेष परामर्श की आवश्यकता न रह गई थी। अतएव उसकी केन्द्रीय राज्यसभा में केवल सामान्य

सचिव थे, जिनको वह प्रतिदिन आज्ञाएँ लिखवा देता था और वे उनकी नकलें करके समस्त अफ़सरों को भेज देते थे। ये लोग उसकी आज्ञाओं के अनुसार कार्य करते व लोगों से उसके आदेशों का पालन करवाते थे। उसकी कार्यशीलता का यह दूसरा रहस्य है जिसके अनुसार उसकी समस्त योजनाएँ कार्यान्वित होती थीं। राज्य प्रान्तों में विभाजित था, प्रान्त सरकारों में और सरकार परगनों में। परगना वर्तमान जिले के समान शासन की इकाई होता था। शेरशाह ने इस बात का प्रयत्न किया कि परगने का शासन आदर्श बने और वही समस्त शासन का आधार-रूप हो। प्राचीन ग्राम-पंचायतों और मुखियों को उसने पूरी तरह स्वीकार किया और उनको पूर्ववत् कार्य करते रहने की अनुमति दे दी गई। परगने के अधिकारी होते थे—शिकदार, अमीन, फ़ोतदार अथवा खजाञ्ची, कानूनगो और दो कारकुन अथवा नवीसिंदाह, जिनमें से एक हिन्दी में और दूसरा फ़ारसी में लिखता था। सिक़दार परगने का हाकिम होता था। उसका कार्य था—परगने की देखभाल, थोड़ी-सी सेना के द्वारा परगने में शान्ति और व्यवस्था रखना और कुछ फौजदारी अभियोगों का निर्णय करना। यह धूर्त किसानों, चोरों और डाकुओं को दण्ड भी देता था। अमीन अथवा आमिल का मुख्य कार्य अपने अधीन कर्मचारियों की सहायता से कर निर्धारित करना और उसे उगाहना था। फोतदार कोषाध्यक्ष होता था और कानूनगो गांव के हिसाब का पूरा ब्यौरा रखता था और भूमि-कर को उगाहने में सहायता देता था। शेरशाह ने एक प्रशंसनीय सुधार यह किया कि उसने फ़ारसी के साथ-साथ हिन्दी को भी राज्य-भाषा बनाया, क्योंकि यह लोगों की दैनिक बोलचाल की भाषा थी। अतएव पृथक्-पृथक् कारकुन थे, जो दोनों भाषाओं में सब हिसाब-किताब रखते थे। न्याय काजियों के हाथ में था। परन्तु उसका बहुत-कुछ कार्य पंचायतें करती थीं। कई परगने मिल कर सरकार बनाते थे। सरकार के अधिकारीगण यह थे—मुख्य शिकदार, मुख्य आमिल अथवा मुख्य मुन्सिफ, एक काजी और एक पुलिस का अफ़सर। प्रान्त में कितने अफ़सर होते थे, इसका ठीक-ठीक वृत्तान्त ज्ञात नहीं है परन्तु संभवतः आम न्याय तथा पुलिस के पृथक्-विभाग होते थे और वे सब विभिन्न अधिकारियों के अधीन होते थे।

आय-व्यय विभाग : भूमि-कर आय का मुख्य साधन था। **शेरशाह ने घूसखोरी, भ्रष्टाचार तथा अत्याचार बड़ी कठोरता से बन्द करवा दिये थे।** किसानों की रक्षा तथा आराम का तुर्की राज्यकाल में कभी इतना ध्यान नहीं दिया गया था। सैनिकों को भी कड़ी हिदायत थी कि वे खेतों को नष्ट न करें। और यदि कुछ हानि अनिवार्य रूप से हो जाती थी तो किसानों को उसका पूरा-पूरा हर्जाना दिया जाता था और अपराधी को कठोर दण्ड दिया जाता था। बादशाह से किसानों ने सीधा सम्पर्क रखा था, जिससे यदि स्थानीय शासक कुछ दुर्व्यवहार करें तो उसको तुरन्त उसका पता लग जाय। सामान्यतः उपज का एक-तिहाई और कहीं-कहीं एक-चौथाई भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। भूमि-कर वसूल करने का तरीका यह था कि बहुत-सी फसलों पर तो किसान को अधिकार था कि चाहे नकद रुपया दे दे, चाहे अन्न आदि

जो पैदावार हो उसे ही दे दे। ऐसी सूरत में सरकारी कर्मचारीगण उस पैदावार को बाजार-भाव के अनुसार बेचकर उसकी कीमत सरकारी कोष में जमा कर देते थे। आय के दूसरे साधन थे—जकात, जजिया, युद्ध में लूटी हुई सामग्री, जुर्माने तथा कई प्रकार की स्थानीय चुंगियाँ। व्यय के मुख्य विषय थे—सेना और अन्य कर्मचारियों पर व्यय, सार्वजनिक कार्य, दान, विद्वानों को वेतन और राजमहल का व्यय आदि।

पुलिस : शेरशाह का पुलिस-शासन बड़ा पक्का था, क्योंकि उसने इस प्राचीन सिद्धान्त का अनुकरण किया था कि स्थानीय संस्थाओं को पूर्ण स्वायत्त-शासन प्रदान किया जाय। हर गांव का एक दायरा होता था, जिसकी रक्षा की पूरी जुम्मेवारी उस गाँव के मुखिया, मुकद्दम तथा गांव-पंचायत की होती थी। शेरशाह ने इस प्रथा को बड़े जोर से लागू किया। यदि किसी गांव में चोरी, मारपीट, हत्या या अन्य किसी प्रकार का जुर्म होता था, तो उन सबका उत्तरदायित्व गांव के उस मुखिया व अन्य पुलिस अफसरों पर होता था, जिनके शासन-क्षेत्र में वह गाँव हो। यदि वे अपराधी का पता नहीं लगा सकते थे तो उनको या तो चोरी आदि का नुकसान स्वयं भरना पड़ता था, अथवा दण्ड भुगताना पड़ता था। इसका परिणाम बहुत ही सन्तोषजनक हुआ। चोरी-चकारी बिल्कुल बन्द हो गई। दिन व रात में लोग-बाग बेधड़क माल-मताल के साथ सफर करते थे।

सेना : शेरशाह की सेना में अश्वारोही, तोपची, पदाति और हाथी-सवार होते थे। केन्द्र में लगभग १,५०,००० अश्वारोही, २५,००० पदाति, ५००० हाथी-सवार और काफ़ी बड़ा तोपखाना रखा जाता था और लगभग इतनी ही सेना प्रान्तों में रखी जाती थी। सेना का प्रबन्ध भी शेरशाह ने बड़ा उत्तम किया। सिपाहियों और घोड़ों आदि के भरती करने के लिए उसने नियम बनाये। घोड़ों को दाग देने की प्रथा जारी की। हर महीने प्रत्येक फौज का निरीक्षण होता था। सब सवारों तथा घोड़े, ऊँट आदि की जाँच होती थी।

राज्य के प्रत्येक सूबा-केन्द्र तथा अन्य आवश्यक स्थानों में फौजें रहती थीं। कुल फौज तीन लाख से कम न थी।

सार्वजनिक कार्य : शेरशाह की ख्याति उसके उन कामों के कारण सबसे अधिक हो गई थी, जो उसने सर्वसाधारण अथवा अपनी प्रजा के हितार्थ किये। दूर-दूर प्रदेशों को मिलाने वाली अनेक सड़कें शेरशाह ने बनवाईं। उसकी सबसे लम्बी सड़क पूरब में सुनार गाँव से जेहलम तट पर बसे हुए रोहतास दुर्ग तक बनी हुई थी, जो आगरा, दिल्ली और लाहौर होती हुई जाती थी। सड़कों पर चार-चार मील की दूरी पर सरायें बनी हुई थीं, जिनमें हिन्दू व मुसलमान यात्रियों की सुविधा की सभी वस्तुएँ मिलती थीं। सरायें डाक-चौकियों का भी काम देती थीं। शेरशाह ने सड़कों के किनारे फलवाले और छायादार वृक्ष भी लगवाये थे तथा कुएँ खुदवाये थे। कुछ गाँवों की आय सरायों के व्यय के लिए नियत कर दी गई थी। शेरशाह गरीब विद्यार्थियों को बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियाँ देता था और गरीब लोगों के लिए एक भोजनालय खोल दिया था, जिस पर नित्य ५०० अशर्फियाँ व्यय की जाती थीं।

३. शेरशाह के उत्तराधिकारी और हुमायूँ का वापस लौटना।

शेरशाह की मृत्यु हो जाने के अनन्तर उसका दूसरा पुत्र **जलालखाँ**, जो उस समय रीवाँ में था, अफ़गान दरबारियों की सम्मति से **गद्दी पर बैठा और इस्लामशाह की उपाधि धारण की**। इस्लामशाह का बड़ा भाई भी जीवित था और उस समय ग्वालियर में था। इस कारण इस्लामशाह बहुत शंकित था। अतएव उसने अपने भाई को बन्दी करना चाहा। फलस्वरूप अनेक षड्यंत्र होने लगे और विरोधी पार्टी बन गई। इस्लामशाह ने अपने शत्रुओं का दमन करने का जो प्रयत्न किया उसने शीघ्र ही राज्य में कलह की आग भड़क उठी और षड्यन्त्र होने लगे। **इस्लामशाह अपने पिता का अयोग्य पुत्र नहीं था**। उसने शेरशाह के सार्वजनिक कार्यों तथा शासन-विभाग में भी सुधार करने का यत्न किया। परन्तु सबसे बड़ा कार्य उससे यह किया कि अफ़गानों की स्वच्छन्दता का खूब दमन किया और राज्य के महत्त्व तथा अधिकार को परिपक्व किया। इस्लामशाह की सख्ती के कारण उसके विरुद्ध कई दल बन गए और राज्य में उपद्रव हो गए। इनको शान्त करने में उसका बहुत-सा समय व शक्ति लग गई। पर वह बहुत दिन न जिया। **१५५४ में, कोई १० वर्ष राज्य करने के बाद उसकी मृत्यु हो गई**। उसके बाद सूरी राज्य कई पार्टियों का शिकार होने लगा, जिनके नेता अयोग्य थे। उसके मासूम बच्चों की उसके चचा ने बड़ी निर्दयता से हत्या कर डाली और मुहम्मदशाह आदिल की उपाधि लेकर गद्दी पर बैठ गया। आदिल संगीत तथा आमोद-प्रमोद में मस्त रहता और राज-काज में मन न लगाता था। अतएव उसने राज्य का सब भार हेमू नामी एक बड़े योग्य पुरुष को सौंप दिया था। हेमू (हेमचन्द्र) रिवाड़ी (मेवात) का निवासी था और एक वणिक घराने का था। वह अपने ही अध्यवसाय व योग्यता से इतने उच्च-पद को पहुँचा था। आदिल के आधिपत्य को उसके आत्मीयजन सिकन्दर तथा इब्राहीम सूर ने अस्वीकार किया और विरोध का झण्डा खड़ा किया। राज्य में ऐसी गड़बड़ी फैल जाने के कारण हुमायूँ को भारत लौटने का अवसर मिल गया। उस समय वह काबुल पर अधिकार कर चुका था।

हुमायूँ का भारत लौट कर आना : जब शेरशाह ने हुमायूँ को पंजाब से खदेड़ दिया तो वह केवल कुछ साथियों को लेकर राजपूताना व सिन्ध में एक स्थान से दूसरे स्थान में मारा-मारा फिरता रहा। जब उसको कहीं से भी सहायता न मिली तो अन्त में वह शेरशाह के विरुद्ध सहायता माँगने के लिए राव मालदेव के पास गया, परन्तु, तब समय निकल चुका था। शेरशाह ने उत्तरी भारत पर अपना दृढ़ आधिपत्य जमा लिया था। अतएव उसने मालदेव को विवश किया कि वह हुमायूँ को किसी प्रकार की भी सहायता न दे। तब हुमायूँ सिन्ध भाग गया। इसी समय अमरकोट में उसके बेटे का जन्म हुआ जो भविष्य में अकबर बना (अक्तूबर, १५४२)। बच्चे का जन्मोत्सव केवल एक कस्तूरी का नाफा तोड़कर मनाया गया, क्योंकि उसके पास उस नाफे के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं थी। इसको उसने अपने साथियों में बांट दिया। हुमायूँ तब अपने भाई के पास शरण लेने के लिए कंधार पहुँचा परन्तु वहाँ अपने भाई अस्करी के द्वेषपूर्ण व्यवहार के कारण फारस के शाह तहमास्प

के दरबार में शरण लेने के लिए पहुँचा, जिसकी सहायता से वह अपने भाइयों से काबुल और कंधार वापस ले सका। १५५५ में वह फिर भारत लौटा और शेरशाह के बनाये हुए रोहतासगढ़ को मिस्मार किया। तब वह लाहौर आया और उस पर अधिकार किया। उसी साल उसने सिकन्दर सूर को पराजित करके भगा दिया और आगरा व दिल्ली पर अधिकार कर लिया। तेरह वर्ष के बालक अकबर को बैरमखाँ के संरक्षण में पंजाब का गवर्नर बना कर भेज दिया।

हुमायूँ की मृत्यु और चरित्र : जिस समय अकबर बैरमखाँ के सहयोग से पंजाब प्रान्त को शान्त व सुरक्षित करने के प्रयत्न में लगा हुआ था उसके पिता सम्राट हुमायूँ की २४ जनवरी सन् १५५६ को एक असामयिक घटना के कारण मृत्यु हो गई। वह शाम के समय अपने महल में एक भवन के ऊपर जिसे आमतौर से पुस्तकालय कहा जाता है, खड़ा हुआ सितारों का निरीक्षण कर रहा था कि वह वहां से फिसलकर नीचे गिर पड़ा और बेहोश हो गया। इस घटना की सूचना गुप्त-रूप से बैरमखाँ को पहुँचाई गई और उसने कलानौर के स्थान पर अकबर का राजतिलक कर दिया। हुमायूँ घटना के दूसरे दिन मर गया, किन्तु इस घटना को गुप्त रखा गया।

हुमायूँ का चरित्र एक प्रकार से बड़ा मनोरंजक है। उसमें बड़े सराहनीयगुण थे, किन्तु साथ ही कुछ ऐसी त्रुटियां भी थीं जिनके कारण उस समय की अव्यवस्थित परिस्थिति में हुमायूँ का सफलता के साथ राज्य को कायम रखना बहुत कठिन था। हुमायूँ बड़ा वीर और अपने समय के सैनिकों में उच्चतम कोटि का सैनिक था। उसने कई अवसरों पर अपनी निर्भीकता एवं योग्यता का परिचय दिया। इसके अतिरिक्त उसके अन्दर एक उच्च वंश के सदस्य के भी गुणों की कमी न थी। वह अपने अमीरों तथा अन्य सभी कर्मचारियों के प्रति यथाशक्ति उदारता का व्यवहार करता था। वह स्वयं बड़ा विद्वान् था और विशेषकर उसे ज्योतिष तथा नभोमण्डल-शास्त्र में बड़ी रुचि थी। वह अपने पिता का अनन्यभक्त था। उसकी अन्तिम आज्ञा पालन करने के प्रयत्न में ही हुमायूँ को शेरशाह से हारकर अपना राज्य खोना पड़ा और कई वर्ष तक महान् कष्ट सहन करने पड़े। युद्ध-क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि वह किसी युद्ध-कार्य को दृढ़ संकल्प के साथ न करता था। जब वह शेरशाह का दमन करने के लिए चुनार आदि स्थानों को लेता हुआ गौंड तक पहुँच गया तो वहाँ पहुँचकर वह भोग-विलास में दो महीने के लिए निमग्न हो गया और उसकी आँख तब तक न खुली जब तक कि शत्रु ने अपने दल तथा युद्ध-सामग्री को एक भयानक रूप से तैयार न कर लिया। उसकी अपने भाइयों के प्रति बार-बार उदारता की नीति ने राजनीति की दृष्टि से अत्यन्त निर्बलता का रूप धारण कर लिया था। उनका अनवरत विरोध तथा हर प्रकार से उसको हानि पहुँचाने के कार्य हुमायूँ के लिए घातक सिद्ध हुए, जैसा कि हम देख चुके हैं। इन्हीं कारणों से अफ़गानों के विरुद्ध हुमायूँ की हार हुई और उसे हिन्दुस्तान से भागना पड़ा। धार्मिक क्षेत्रों में भी हुमायूँ की नीति प्राय: उदारता की थी। बाबर तथा हुमायूँ दोनों दूरदर्शी नीतिज्ञ

थे। वे समझते थे कि अमुस्लिम जनता पर राज्य करने के लिए आवश्यक है कि वे उस जनता से मैत्री करके उसका सहयोग प्राप्त करें। इसी कारण उन्होंने राजपूतों से विवाह-सम्बन्ध करने का प्रस्ताव किया था।

Questions

1. Compare Babar and Sher Shah as generals and empirebuilders.
   सेनानायक तथा साम्राज्य-निर्माता के रूप में बाबर तथा शेरशाह की तुलना करो।
2. "Humayun's difficulties were his own creation." Discuss.
   "हुमायूँ की कठिनाइयाँ उसी के द्वारा उत्पन्न हुई थीं।" आलोचना करो।
3. Had Babar been more successful in his administration many of the difficulties of Humayun's reign would not have occurred." Discuss.
   युक्तियाँ देकर बताओ कि यदि बाबर अपनी शासन-व्यवस्था में अधिक सफल हुआ होता तो हुमायूँ के शासन काल में जो कठिनाइयाँ उसके सम्मुख आईं, वे न आतीं।
4. Describe the administrative system of Sher Shah Suri.
   शेरशाह सूरी की शासन-प्रणाली का हाल लिखो।

अध्याय १९

अकबर का शासन-काल

पानीपत की दूसरी लड़ाई (१५५६) : हम पिछले अध्याय में बतला आये हैं कि १५५५ ई० में हुमायूँ ने सिकन्दर सूर को हरा कर फिर दिल्ली व आगरा पर अधिकार कर लिया था। किन्तु इसके कुछ मास बाद ही १५५६ में अपने भवन की छत से गिर कर उसकी असामयिक मृत्यु हो गई थी। इसी बीच हेमू अपने स्वामी मुहम्मदशाह आदिल के साथ पूर्व की तरफ विद्रोहियों का दमन कर रहा था। जब मुहम्मदशाह को हुमायूं के मरने का समाचार मिला तो उसने अपने एक योग्य सेनापति हेमू को एक भारी सेना के साथ आगरा की तरफ भेजा ताकि वह दिल्ली तक का प्रदेश अपने अधिकार में करले। सूरी वंश के कुछ अयोग्य सरदारों को पछाड़कर हेमू ने दिल्ली तक अपना अधिकार कर लिया। अल्पायु अकबर के लिए यह समय बड़े संकट का था। जो सेना हेमू को दिल्ली पर अधिकार करने से रोकने के लिए भेजी गई थी वह हरा कर पीछे हटा दी गई थी। अकबर के साथ बैरमखाँ थानेश्वर होता हुआ पानीपत के ऐतिहासिक रणक्षेत्र में पहुँच गया जहाँ ३० वर्ष पूर्व बाबर ने इब्राहीम लोदी की विशाल सेना पर विजय पाई थी। उधर पश्चिम की ओर से हेमू भी एक विशाल सेना लेकर, जिसमें १०,००,००० सिपाही व १,५०० हाथी थे, पानीपत की ओर बढ़ा। ५ नवम्बर १५५६ ई० के दिन दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। हेमू एक चतुर सेनापति था। वह बड़ी वीरता से लड़ा और कुछ समय के लिए ऐसा जान पड़ा कि अकबर की सेना के पैर उखड़ने लगे, किन्तु दुर्भाग्य से सहसा एक तीर उसकी आँख में लगा और वह अचेत हो गया। अपने सेनापति को खोकर सेना का धीरज जाता रहा और वह भाग निकली। अकबर की सेना यद्यपि संख्या में बहुत कम थी किन्तु अन्त में उसकी विजय हुई। हेमू बन्दी बनाकर अकबर के सम्मुख लाया गया और वहीं उसका वध कर दिया गया। विजय प्राप्त करते ही अकबर ने दिल्ली और आगरा पर आधिपत्य जमा लिया।

राज्य का विस्तार और उसको सुदृढ़ बनाना : हम कह चुके हैं कि (हेमचन्द्र) हेमू और सिकन्दर सूर को परास्त करने के बाद अकबर ने तुरन्त दिल्ली व आगरा पर अधिकार कर लिया तथा ग्वालियर और जौनपुर तक के प्रदेश भी उसके अधीन हो गये। परन्तु अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाने के लिए अभी अकबर को उत्तरी भारत का बहुत-सा भाग जीतना शेष था। बिहार और बंगाल अफ़गानों के अधीन थे

मालवा में बाजबहादुर स्वतन्त्र बन बैठा था और उसके पूर्व में गौंडवन का राज्य दलपतशाह की विधवा रानी दुर्गावती के अधीन था। राजपूताना में उदयसिंह ने अजमेर और रणथम्भौर पर पुनः अधिकार कर लिया था तथा जोधपुर और अम्बर के राजाओं ने उसे अपना महाराजाधिराज मान लिया था। उसने उदयपुर नगर की स्थापना करके अपने राज्य को अधिक सुरक्षित बना लिया था। गुजरात का राज्य दुर्बल हो रहा था, किन्तु खानदेश उन्नति कर रहा था। विजयनगर का राजा सदाशिव बहमनी राज्यों की आपसी कलह से लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहा था, परन्तु अन्त में उसने सबको अपना शत्रु बना लिया।

लगभग चार वर्ष से **बैरमखाँ** अकबर का संरक्षक बनकर निर्द्वन्द्व शासन-प्रबन्ध करता रहा था, किन्तु अकबर पर भी उसने अंकुश रखना चाहा और उसके व्यक्तिगत जीवन में भी दखल देने लगा, तो अकबर को असह्य हो गया। बैरमखाँ उस अल्पायु बादशाह की तीक्ष्ण बुद्धि को न परख सका और उसको सामान्य नवयुवक समझता रहा। बादशाह की माँ भी बैरमखाँ के व्यवहार से अप्रसन्न थी और उसकी धाय माहम अंकाह भी चाहती थी कि इस बूढ़े से पीछा छूटे। अकबर शासन की बागडोर अपने हाथों में लेने के लिए बहुत उत्सुक था। अतएव १५६० में उसने अपने रक्षक को उसके पद से अलग कर दिया और उसको हज करने के लिए मक्का चले जाने के लिए आग्रह किया। बैरमखाँ तुरन्त राजी हो गया। परंन्तु उसके एक व्यक्तिगत शत्रु पीर मोहम्मद ने उसके साथ ऐसा बुरा बर्ताव किया कि हुमायूँ के कुटुम्ब के लिए उसकी जो राजभक्ति थी वह टूटने को हो गई। परन्तु उसका यह विचार क्षणिक था। अल्पायु अकबर ने उसकी अनन्त सेवाओं को ध्यान में रखते हुए उसका उचित आदर सम्मान करके अपनी महानता का परिचय दिया। जब वह मक्का जा रहा था तो मार्ग में एक लोहानी अफ़गान ने उसका छुरे से वध कर दिया। उसके मासूम बच्चे अब्दुर्रहीम का (जो बाद में खानखान. बना) पालन-पोषण अकबर की देखरेख में हुआ।

अकबर के हाथ में अब पूर्ण शक्ति आ गई और वह अकेला ही राजकाज को सँभालने तथा उसकी नीति का निर्धारण करने लगा। उसने तुरन्त अपने राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। १५६१ में उसने बाजबहादुर से साधारण युद्ध के बाद मालवा छीन लिया। उसकी प्यारी रानी रूपमती ने आत्महत्या करके अपनी इज्ज़त बचाई। मालवा के लश्कर के सेनापति, माहम अंकाह के पुत्र. अधमखां ने वहां के निर्दोष और बेबस लोगों के साथ बड़ी क्रूरता और निर्दयता का बर्ताव किया। १५६२ में अम्बर के राजा भारमल ने अकबर से सन्धि कर ली और अन्य भेंटों के साथ अपनी लड़की भी अकबर को भेंट में दी। भारमल के इस कार्य से अकबर और उसके उत्तराधिकारियों के लिए राजपूतों से बेटियाँ माँगने का रास्ता खुल गया और मुगल बादशाहों का कई बड़े-बड़े राजपूत घरानों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। भारमल के इस कार्य का दूसरा परिणाम यह हुआ कि राजपूताना का एक महत्व-

पूर्ण प्रदेश अकबर के साम्राज्य का अंग बन गया। अगले दो वर्षों में सम्राट् की आज्ञा पाकर कड़ा मानिकपुर के सूबेदार आसफ़खाँ ने पन्ना (बुन्देलखण्ड) के राज्य को जीत लिया और तब गौंडवन के राज्य पर आक्रमण कर दिया। गौंडवन की योग्य शासिका रानी दुर्गावती ने उसका बहुत कड़ा मुकाबला किया और स्वयं युद्ध करते हुए रणभूमि में ही प्राण त्याग दिये (१५६४)। उसका राज्य भी दिल्ली राज्य में मिला लिया गया।

अकबर के अधीन मुगलों का अभ्युदय उत्तर में उस काल में हुआ जब कि वे प्रादेशिक शक्तियाँ क्षीण होने लगी थीं जो तुर्की सल्तनत के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थीं। विजयनगर का शक्तिशाली साम्राज्य, जैसा कि हम देख चुके हैं, १५६५ में दक्षिण की सम्मिलित शक्तियों के द्वारा छिन्न-भिन्न हो चुका था। ये समस्त शक्तियाँ भी अयोग्य शासकों और आपसी कलह के कारण निर्बल होती जा रही थीं।

भारी संकट का समय : १५६५ का साल युवक सम्राट् के लिए बड़े संकट का समय था। राज्य के अनेक भागों में विद्रोहों ने एक भयंकर स्थिति पैदा कर दी थी। मालवा और जौनपुर के सूबेदारों ने विद्रोहों का झण्डा गाड़ दिया, किन्तु सबसे अधिक विपत्तिजनक था पंजाब से अकबर के सौतेले भाई मिर्जा हकीम का आक्रमण। हकीम को अकबर ने काबुल के सूबे का पूरा अधिपति बना दिया था। अकबर को खतरों से घिरा हुआ जानकर हकीम इस अवसर से लाभ उठाना चाहता था। अकबर ने परिस्थिति को बड़े साहस तथा योग्यता के साथ संभाला। उसने तुरन्त एक फौज पंजाब की तरफ भेज दी। इधर हकीम लाहौर तक पहुँच गया था और उसके आस-पास के गाँव में लूट-मार कर रहा था। परन्तु जब वह लाहौर के किले पर पहुँचा तो पंजाब के अमीरों ने एकत्रित होकर उसे हराकर पीछे हटा दिया और इस प्रकार किले को सुरक्षित रखा। जब हकीम ने शाही सेना के आने की खबर सुनी तो उसकी हिम्मत टूट गई और वह काबुल को वापस भाग गया।

दूसरा विद्रोह अकबर के भाई-बन्दों ने किया था। ये लोग 'मिर्जा' कहलाते थे, और बाबर के वंश के थे। इनका नायक खाजमान था, जो शुरू से अकबर का विरोध करता रहा था। उसने गगा पार के जिलों में कई बार विद्रोह का झण्डा उठाया और कई बार माफ़ी माँगकर शान्त रहने का वायदा किया। मिर्जा हकीम की चढ़ाई के समय उसने यहाँ तक किया कि हकीम के नाम से खुतबा पढ़ना शुरू कर दिया। अकबर ने कई बार खांजमान को क्षमा किया पर बार-बार उसने अपना वचन तोड़ा। अन्त में बादशाह ने पूरी तैयारी करके प्रयाग के निकट उसकी सेना को नष्ट किया। इस प्रकार समस्त राज्य में शान्ति स्थापित हो गई।

मेवाड़ : उपर्युक्त संकट से छुट्टी पाने के बाद अकबर ने राजपूताना के मुख्य राज्य मेवाड़ को अधिकृत करने की ठानी। **अकबर की आकांक्षा समस्त भारत को जीतकर एक महान् साम्राज्य की छत्रछाया में लाने की थी।** अतएव किसी नए प्रदेश को जीतने के लिए कुछ-न कुछ कारण मिल ही जाता था। परन्तु असली कारण तो एक ही था, अर्थात् उसकी **'साम्राज्य-नीति'**। १५६७ में उसने चित्तौड़ के दुर्ग

पर घेरा डाल दिया । राणा उदयसिंह अत्यन्त भीरु था । अकबर के पहुँचते ही वह दुर्ग छोड़कर अरावली की पहाड़ियों में शरण लेने के लिये भाग गया और दुर्ग की रक्षा के लिए अपने वीर सेनापति जयमल राठौर को छोड़ गया जो प्रसिद्ध मीराबाई का चचेरा भाई था । उसके बाद दूसरा सेनापति सिसोदिया वंश का पत्ता (फत्ता या फतेहसिंह) था । दुर्ग का घेरा डालने वाली सेना का प्रबन्धक व नायक स्वयं अकबर था । उसने सुरंगें तैयार करवाई, जिनके अन्दर से उसके सशस्त्र सैनिक दुर्ग के नीचे गुप्त रूप से पहुँच जायँ । किन्तु तब भी वीर राजपूतों ने शत्रुओं को रोके रखा और उनमें से सहस्रों को प्रतिदिन मार गिराया । मुगलों के हमले से किले की दीवार कई जगह से टूट गई थी । एक दिन अकबर ने एक व्यक्ति को देखा कि वह प्राचीर की मरम्मत करवा रहा था । अकबर ने उसको लक्ष्य बनाकर बंदूक छोड़ी, जिससे उस व्यक्ति की टांग टूट गई और वह गिरा पड़ा यह स्वयं जयमल था । इस घटना से राजपूतों की सेना, जो दुर्ग में थी, हताश हो गई । दुर्ग की स्त्रियों ने जौहर-अग्नि में प्रवेश करके अपने सतीत्व की रक्षा की । सिसोदिया राजपूत अब जान पर खेल गये और किले के द्वार खोलकर शत्रु की सेना पर घायल शेरों की तरह एकदम टूट पड़े और मुगल सेना में ऐसी भयानक मारकाट की कि उनके दिल दहल गये । परन्तु मुगल सेना राजपूतों से बहुत अधिक थी । मुग़ल के बहुत से आदमी मारे गये तथापि अन्त में राजपूत एक-एक करके खत्म हो गये । घायल जयमल एक सैनिक के कंधे पर चढ़कर मुग़लों की सेना में घुस गया । मरने से पूर्व जयमल और पत्ता दोनों ने मुगलों की सेना में भयंकर मार-काट मचा दी । **अकबर जयमल और पत्ता की बीरता को देखकर इतना प्रभावित हुआ कि मेवाड़ को पूर्णरूप से विजय कर लेने के बाद उसने वीर जयमल व पत्ता की लाल-पत्थर की गजारोही मूर्तियाँ बनवाकर आगरा के किले के सामने स्थापित कीं और इस प्रकार अपनी उदारता का परिचय दिया ।** उदयसिंह ने कुम्भलगढ़ के सुदृढ़ दुर्ग में शरण ली । चित्तौड़ के पतन के बाद रणथम्भौर और कालिजर के दुर्ग भी जीत लिए गए। किन्तु उदयसिंह के वीर पुत्र राणा प्रताप के अधीन राजपूतों ने अकबर का कड़ा मुकाबला किया । उसने कुम्भलगढ़ और गोगूँदा की पहाड़ियों को अपना केन्द्र बनाया और जो मुगल सेना गुजरात और मालवा जाती उसको वह परेशान करता व लूट लेता था । इस प्रकार उसने उसका मार्ग काट दिया । अतएव अकबर ने मानसिंह को प्रताप के विरुद्ध भेजा । हल्दीघाटी के मैदान में मुगल व राजपूत सेनाओं में घोर युद्ध हुआ और यद्यपि अन्त में प्रताप को रणभूमि छोडकर भागने के लिए विवश होना पड़ा परन्तु शत्रु की सेना को इतनी हानि उठानी पड़ी कि यह नहीं कहा जा सकता कि किसी को भी इस युद्ध में निश्चित रूप से विजय प्राप्त हुई हो । यद्यपि प्रताप की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी परन्तु तो भी उसने अनेक विपत्तियों और कठिनाइयों को झेलते हुए स्वतन्त्रता का संग्राम जारी रखा और अन्त में बीस वर्ष के युद्ध के पश्चात् लगभग समस्त मेवाड़ फिर से स्वतन्त्र कर लिया ।

रणथम्भौर और कालिजर : चित्तौड़ को जीतने के बाद सम्राट् अकबर ख्वाजा

मुईनुद्दीन चिश्ती की कब्र की यात्रा करने के लिए अजमेर गया और वहाँ से लौटने के बाद रणथम्भौर के प्रसिद्ध गढ़ को जीतने के लिए रवाना हुआ। जिस प्रकार चित्तौड़गढ़ के घेरे में सुरंगों आदि से काम लिया गया था, उसी प्रकार रणथम्भौर का घेरा भी बड़ी कुशलता के साथ शुरू किया गया। जब किले के सरदार राय सुर्जन ने देखा कि सुलह करने के सिवा बचने का और कोई उपाय नहीं है तो उसने अपने दो बेटों को जमानत के तौर पर सम्राट् के पास भेजकर सुलह कर ली। रणथम्भौर लेने के बाद कालिंजर के किले को भी इसी प्रकार उसके शासक राजा रामचन्द्र से ले लिया गया। इन विजयों का परिणाम यह हुआ कि राजपूताना के अन्य कई राजाओं ने भी दिल्ली सम्राट का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया।

सन् १५७२ में गुजरात की बारी आई। गुजरात का प्रदेश बड़ा सम्पन्न तथा वैभावशाली था। हुमायूँ ने उसे जीत लिया था परन्तु उसके वापस आते ही गुजरात के शासक ने फिर उस पर अपना अधिकार कर लिया था।

गुजरात के सूबे का सर्वोपरि महत्व यह था कि उसके अन्दर समुद्रतट पर अनेक बन्दरगाह थे जिनके द्वारा अन्य देशों से यातायात होता था। इसी के बीच से दक्षिण को जाने वाले मार्ग थे। उत्तरी भारत के अन्य आवश्यक स्थानों को जीतने के बाद गुजरात को अधिकृत करना स्वाभाविक ही था। सन् १५७२ की गर्मी के दिनों में ही सम्राट् ने उस सूबे पर धावा बोल दिया। अहमदाबाद पर सम्राट् के पहुँचने से पहले ही घेरा डाल दिया गया था। जब शाही सेना पटना होती हुई अहमदाबाद के निकट पहुँची तो सुल्तान महमूद गुजराती का बेटा मुजफ्फर बड़ी नम्रता तथा विनीत-भाव से बादशाह के पास आया और अहमदाबाद का राज्य उसे सौंप दिया। इसके बाद अकबर ने खम्भात तक का सारा प्रदेश विद्रोही मिरजा लोगों से छीना और १५७३ में अपने दूध के भाई मिर्जा अज़ीज कोका को गुजरात का शासक बना कर राजधानी वापस आया।

परन्तु छः महीने के अन्दर ही गुजरात में विद्रोह हो गया। उस सूबे के समस्त सरदार और जागीरदार इस विद्रोह में शामिल हो गये। इस विद्रोह की खबर सुनकर बादशाह का खून खौल उठा। उसने तुरन्त गुजरात पर फिर से चढ़ाई की और ११ दिन के अन्दर वहाँ पहुँच गया। थोड़े ही समय में शाही सेना ने सब विद्रोहियों को छिन्न-भिन्न कर दिया। विद्रोहियों को शिक्षा देने के लिये अकबर ने उनके सिरों की एक मीनार चुनवाई। इसके बाद वह गुजरात के शासन तथा विद्रोही सम्भावना को रोकने की पूरी-पूरी व्यवस्था करके वापस लौटा।

बिहार तथा बंगाल : गुजरात से छुट्टी पाकर अकबर १५७६ में बिहार और बंगाल की तरफ मुड़ा। वहाँ का शासक दाऊद, सुलेमान करारानी का बेटा था। बंगाल के शासक सदैव हिन्दुस्तान के सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। दाऊद ने अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया। दाऊद बड़ा अयोग्य शासक था। सम्राट् की आज्ञा के अनुसार खानखाना मुनीमखाँ ने उस पर हमला किया और बिहार तथा

बंगाल के आवश्यक स्थानों को अधिकार में लेता गया। अन्त में दाऊद मारा गया और पूरब का प्रदेश भी अकबर के साम्राज्य में शामिल किया गया।

अकबर के प्रारम्भिक सुधार : प्रदेशों को जीतने के साथ-ही-साथ अकबर अनेक सामाजिक और राजनीतिक सुधार करके अपनी शासन-नीति को उदार करता गया। १५६२ में उसने एक फरमान जारी किया जिसके अनुसार युद्ध के बन्दियों को दास नहीं बनाया जा सकता था। एक बार आगरा जाते हुये उसने देखा कि मथुरा अथवा अन्य तीर्थस्थानों में जाने वाले यात्रियों से सरकार कर लेती है। उसने इस कर को अत्यंत अनुचित समझा और तुरन्त बन्द करवा दिया। १५६४ में उसने हिन्दुओं के ऊपर से जजिया बन्द करके बड़े साहस तथा उदारता का परिचय दिया। समस्त हिन्दुओं व मुसलमानों को छोड़कर अन्य सब सम्प्रदाय वालों को यह कर इसलिये देना पड़ता था कि वे इस्लाम मत की छत्रछाया में निवास करते थे तथा सुरक्षा पाते थे, अतएव इन उपकारों की कीमत अर्थात् जज़िया चुकाये बिना उनको मुसलमानों की सल्तनत में रहने का कोई अधिकार न था। इस प्रकार के समस्त करों और नियमों को हटाकर, जो केवल इसलिए लगाये गये थे कि अन्य सम्प्रदाय वाले अपने को मुसलमानों के समक्ष हीन और तुच्छ समझें, अकबर ने अपनी समस्त प्रजा को, चाहे वह किसी भी जाति व वर्ग की क्यों न हो, मुसलमानों के बराबर एक ही धरातल पर ला दिया और इस प्रकार शासन में एक महान् परिवर्तन कर दिया। निष्पक्ष स्वभाव का होने के कारण अकबर ने हिन्दुओं से अपना सम्पर्क बढ़ाया और अपने दरबारियों व उच्चाधिकारियों को भी उनसे सम्बन्ध रखने के लिये उत्साहित किया। वह गुणों का भारी पारखी था और प्रत्येक वर्ग में से योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को चुन लेता था और उनको शासन व सेना में ऊँचे-से-ऊँचे पद देता था। जैसे ही उसे अवसर मिला उसने हिन्दुओं से सामाजिक सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया। उसने हिन्दू-मुसलमानों में अन्तर्जातीय विवाह पर जोर दिया। इससे पूर्व भी मुस्लिम शासकों ने हिन्दू लड़कियों से विवाह किये थे, परन्तु वे सब बलपूर्वक किये गये थे। किन्तु अकबर ने ऐसे सम्बन्ध बराबरी के आधार पर जोड़े और अपने सम्बन्धियों के साथ वैसा ही व्यवहार किया जैसा शाही महल के अन्य आत्मीय जनों से किया जाता था। इन उपकरणों से अकबर लोकप्रिय हो गया और लोगों के हृदय में उसका विश्वास बढ़ गया। केवल कुछ कट्टर पन्थियों को छोड़कर सब उसको आदर की दृष्टि से देखने लगे। स्वाभाविक ही था कि हिन्दू-मुसलमान दोनों मतों के अनुसार जड़ पंडे व मौलवी, उसकी नवीन नीति से असन्तुष्ट थे। अकबर ने एक ही साहसपूर्ण वार से मुसलमानी राज्य को एक साम्प्रदायिक रूप के राज्य से उठाकर सार्वजनिक राज्य का रूप दे दिया। इस प्रकार राज्य की नींव राष्ट्र की सद्इच्छा पर रखी गई और राज्य की शक्ति तथा गौरव इतने बढ़ गये जितने पहले कभी नहीं बढ़े थे।

शासन व्यवस्था का पुनर्निर्माण : सामाजिक और राजनीतिक सुधार के साथ

साथ शासन-सम्बन्धी और आर्थिक सुधार भी किये गये, जिससे राज्य की शक्ति और भी दृढ़ हो गई। जिस उत्तम शासन की नींव शेरशाह ने डाली थी इस्लामशाह के बाद, राजनीतिक गड़बड़ी के कारण, वह नष्ट-भ्रष्ट हो गई। बाबर और हुमायूँ इस स्थिति में नहीं थे कि उसमें सुधार कर सकते। अतएव यह आवश्यक था कि शेरशाह की पद्धति को अपनाया जाय और उसे राज्य भर में लागू कर दिया जाये। तब अकबर ने शासन के विभिन्न विभागों में संशोधन करने आरम्भ किये। अन्त में उसने इतनी उत्तम एवं पूर्ण शासन-प्रणाली बनाई कि मुगल राज्य के अन्त तक उसकी मुख्य बातें अपनाई गईं। उसकी शासन-प्रणाली की नींव पर अंग्रेजों ने भी अपने शासन का भवन खड़ा किया।

अब हम संक्षेप में अकबर की शासन-पद्धति का अवलोकन करेंगे। केन्द्रीय सरकार में बादशाह तथा उसके वजीर होते थे। अन्य मुसलमान शासकों की भांति अकबर भी यही विश्वास करता था कि वह ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में उसी की इच्छानुसार शासन करता है। किन्तु उसका विश्वास अधिक युक्तिसंगत था। वह ईश्वर के बनाये हुए सभी लोगों पर शासन करने के लिए था, न कि केवल एक जाति-विशेष पर। अतएव वह अपनी प्रजा को अपनी संतान के समान समझकर सबके साथ समान व्यवहार करता था। इस प्रकार अकबर ने इस्लामिक राजनीति के उस सिद्धान्त में बड़ा भारी परिवर्तन कर दिया, जिसको कि सामान्य रूप से सभी मुसलमान उचित और माननीय समझते थे। इस्लामिक राजनीति के सिद्धान्त को उसने इतना विस्तृत कर दिया कि एक मुस्लिम राज्य के अन्दर केवल मुसलमान ही नहीं, मनुष्यमात्र समान रूप से रह सकें।

अकबर का शासन: एक केन्द्रीय मन्त्रिमंडल के परामर्श से चलता था, जिनमें सबसे मुख्य थे वकील, प्रधान सदर, प्रधान बख्शी और वजीर। वकील अकबर के समय में प्रधान मंत्री का नाम था, सदर राज्य का मुख्य न्यायाधीश तथा धार्मिक मामलों का मुख्य अधिकारी होता था। बख्शी सेना-मंत्री का कार्य करता था। बख्शी के कर्त्तव्य अत्यन्त विस्तृत होते थे। वजीर अर्थ-मंत्री का नाम था। अकबर के बाद प्रधान-मंत्री की संज्ञा वजीर या वजीर आजम हो गई और अर्थ-मंत्री दीवान कहलाने लगा। प्रधान-मंत्री बादशाह के नबाव की भाँति कार्य करते हुए शासन के समस्त विभागों की देखभाल करता, आवश्यक बातों को बादशाह के सामने पेश करता, उसकी आज्ञाएँ मानता और लोगों से उसके आदेशों का पालन करवाता और राजनीतिक मामलों में बादशाह को सलाह देता था। सदर धार्मिक व दान संस्थाओं की देख-भाल करता, योग्य व्यक्तियों व संस्थाओं की सिफारिश करता व उनको आर्थिक सहायता देता था। आमतौर से वही राज्य का मुख्य काजी होता था और न्याय-विभाग का प्रधान होता था। बख्शी अनेक कार्य करता था। उसके जुम्मे सेना की भर्ती, उसका नियंत्रण, उसकी शिक्षा व उसके वेतन आदि कार्यों की देख-भाल थी। सेनाओं के प्रस्थान का प्रबन्ध, सेना के पृथक्-पृथक् विभागों पर उनके नायकों की नियुक्ति आदि कार्य उसके ही कर्त्तव्य के अंग थे। दीवान राज्य की आय और व्यय का प्रबन्ध

करता और भूमि-विषयक झगड़ों को तय करता था।

अकबर ने सैनिक विभाग में अनेक सुधार करके उसको अत्यन्त श्रेष्ठ बना दिया। धर्म तथा न्याय विभाग में कार्य करने वाले व्यक्तियों को छोड़कर समस्त कर्मचारी मुगल सेना के सदस्य थे, यद्यपि शान्तिकाल में वे भिन्न-भिन्न असैनिक विभागों में कार्य करते थे, सेना के उच्चाधिकारी मनसबदार कहलाते थे।

अकबर का साम्राज्य सूबों, सरकारों और परगनों में विभक्त था। अकबर के शासन के अन्त में उसके राज्य में १५ सूबे थे। सूबे का प्रधान नाज़िम होता था, जिसकी सहायता के लिए दीवान और काजी अथवा सदर होते थे। सरकार का प्रधान फौजदार होता था जो थोड़ी-सी सेना रखता था, जिससे वह अधिकृत क्षेत्र में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखे। सरकार के अन्य अधिकारी-वर्ग आमिल काजी और कोतवाल होते थे। परगना शिकदार के अधीन होता था जिसकी सहायता के लिए एक आमिल, एक कानूनगो तथा एक या अधिक काज़ी होते थे। शासन की सबसे न्यूनतम इकाई गाँव था, जिसका शासन प्राचीन प्रथा के अनुसार बड़े-बूढ़ों की एक सभा करती थी।

भूमि-कर : भूमि-कर विभाग में भी काफी संशोधन करके उसे उत्तम बनाया गया। अकबर ने कर निर्धारित करने के कई ढंगों का प्रयोग किया और अन्त में दसवर्षीय बन्दोबस्त नामक प्रणाली बनाई, जिसके अनुसार विभिन्न प्रकार के अन्नों की पिछली दस वर्ष की उपज का औसत लेकर कर लगाया गया। जिस भूमि में खेती होती थी उसकी पैमायश की गई और सरकार का भाग निर्धारित किया गया। राजा टोडरमल की देख-भाल में सबसे प्रथम गुजरात के सम्पन्न प्रान्त की भूमि की नाप की गई। किन्तु इस प्रणाली को कतिपय प्रान्तों, जैसे बंगाल, काश्मीर, बिहार और राजपूताना के अधिकांश भाग पर लागू नहीं किया गया। जिन प्रदेशों में नाप या पैमायश का नियम लागू नहीं किया जा सकता था वहां या तो बटाई (गल्ला-बख्शी) या कनकूत से सरकार की वाजिब रकम का निर्णय किया जाता था। अकबर ने ३१ अंगुल का एक प्रमाणिक गज बनाया और लम्बाई तथा क्षेत्रफल की माप को सर्वमान्य बना दिया। उपजाऊपन की दृष्टि से भी भूमि की श्रेणियाँ बनाई गईं। उपज का एक-तिहाई भाग राज्य लेता था और कृषकों को यह स्वतन्त्रता होती थी कि वे भूमि-कर चाहे नकदी में चुका दें चाहे निर्धारित किस्म के अन्नों के रूप में दे दें।

न्याय पक्षपातरहित होता था। मुकद्दमों के तय करने में आज की तरह देर न होती थी। बहुत जल्दी झगड़ों का निपटारा तथा न्याय किया जाता था। अभियोगों की कार्यवाही वर्तमान समय की कार्यवाही से अधिक सादी होती थी। सप्ताह में कई दिन बादशाह भी न्याय का कार्य करता था। काज़ी के अतिरिक्त कर तथा शासन-विभाग के अन्य अधिकारी और कोतवाल भी कुछ अभियोगों की सुनवाई करते और अपराधियों को दण्ड देते थे। यदि किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा राज-

कर्मचारी पर अभियोग लगाया जाता तो उसकी जाँच की जाती और अपराध प्रमाणित हो जाने पर कठोर दण्ड दिया जाता था।

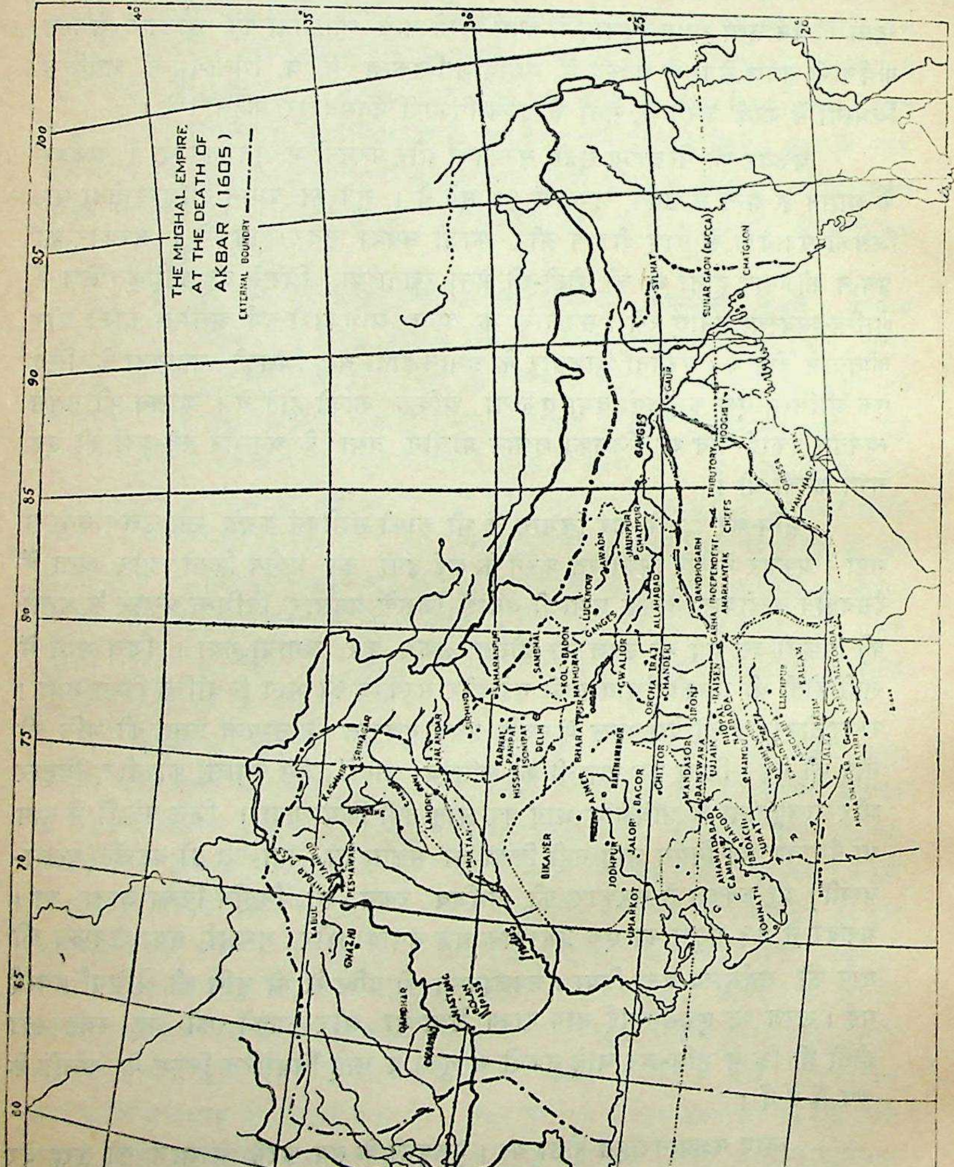
THE MUGHAL EMPIRE AT THE DEATH OF AKBAR (1605)
EXTERNAL BOUNDRY
SYLHAT
SUNAR GAON (DACCA)
CHATGAON
GAUR
GANGES
HOOGHLY
TRIBUTORY
ORISSA
MAHANADI
INDEPENDENT CHIEFS
AMARAKANTAK
GARHA
BANDHOGARH
ALLAHABAD
JAUNPUR
GHAZIPUR
AWADH
LUCKNOW
GWALIOR
ORCHA
CHANDERI
SIRONJ
KOL
SAMBHAL
SAHARANPUR
MATHURA
BHARATPUR
DELHI
SONIPAT
PANIPAT
KARNAL
HISSAR
SIRHIND
JALANDHAR
SRINAGAR
KASHMIR
LAHORE
MULTAN
PESHAWAR
KABUL
GHAZNI
QANDHAR
BOLAN PASS
INDUS
BIKANER
AJMER
JODHPUR
JALOR
CHITTOR
MANDASOR
BANSWARA
UJJAIN
RAISEN
BHOPAL
NARBADA
MANDU
AHMADABAD
CAMBAY
BARODA
BROACH
SURAT
SOMNATH
UMARKOT
ELLICHPUR
KALLAM
BASIM
JALNA
AHMADNAGAR
PATHRI

राज्य का अधिक विस्तार : सम्राट् अपना राज्य दो दिशाओं में बढ़ाने के लिए उस समय भी उत्सुक था—उत्तर-पश्चिम में व दक्षिण में। उसके पास जल-शक्ति न होने से, उसने पुर्तगालियों को समुद्रतट पर बनी हुई उनकी बस्तियों से

निकालने के लिए जो प्रयत्न किये वे असफल रहे। इसके अतिरिक्त वह औक्सस के पार का प्रदेश भी न जीत सका, क्योंकि मध्य एशिया में अब्दुल्लाखाँ उज़बेग शक्तिशाली बन रहा था। उसी समय सीमान्त प्रदेशों के पठानों ने विद्रोह कर दिया। अतएव उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा का प्रश्न जटिल हो गया, इसी कारण १५८० में अकबर लाहौर पहुँचा और उसने वहाँ लगभग १५ वर्ष पठानों को दबाने और उज़बेगों के विरुद्ध रक्षात्मक कार्यों में व्यतीत किए। राजा मार्नासह को काबुल का सूबेदार बनाकर भेजा गया और राजा टोडरमल ने पठानों को दबा दिया। उसी समय काश्मीर, सिंध, कन्धार और मकरान भी जीतकर राज्य में मिला लिए गए। पूर्व में उड़ीसा पूर्ण रूप से विजय कर लिया गया।

१५९४ में अकबर ने अपने दूत दक्षिण के राज्यों में भेजे और वहाँ के सब राजाओं को संदेशा भेजा कि वे सम्राट् (अकबर) का प्रभुत्व स्वीकार करें। खानदेश का शासक राजी हो गया परन्तु बाद में शत्रु बन गया। दक्षिण के अन्य राजाओं ने गोल-मोल उत्तर दिए। अतएव अकबर ने निज़ामशाही राज्य की राजधानी अहमदनगर पर चढ़ाई करने के लिए सेना भेजी। उसका चाँदबीबी ने डटकर सामना किया। वह निजामशाही शासक की चाची थी। अन्त में विवश होकर उसे सम्राट् का प्रभुत्व मानना पड़ा। १६०० ई० तक खानदेश का शक्तिशाली दुर्ग असीरगढ़ भी छीन लिया गया और खानदेश को राज्य में मिला लिया गया।

अकबर का स्वास्थ्य अब गिरने लगा था। इसके अतिरिक्त शहजादा सलीम ने, जो भविष्य में जहाँगीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ, अपने-आपको इलाहाबाद का शासक घोषित कर दिया। उसने अबुलफ़जल को भी ओरछा-नरेश वीरसिंह बुंदेले द्वारा मरवा डाला। परन्तु अन्त में उसने अपनी गलती मान ली और अपने पिता की मृत्यु के कुछ समय पहले (१६०५) उससे मेलकर लिया।

अन्य सुधार और धार्मिक कार्य-क्रम : अकबर ने केवल राजनीतिक व शासन-सम्बन्धी सुधार ही नहीं किए, वह लोगों के विचारों और चरित्रों को भी सुधारने के लिए बहुत इच्छुक था। यद्यपि उसके सामाजिक सुधारों के कारण हिन्दू व मुसलमान दोनों उससे अप्रसन्न थे, परन्तु इस बात की परवाह न करते हुए उसने शिशु-हत्या, सती-प्रथा, अधिक नशाखोरी, गौवध आदि बंद कर दिए और विधवा-विवाह पर जोर दिया तथा बहुविवाह-प्रथा को रोकना चाहा। उसने वर्ष की गणना चाँद से न करके सूर्य से की, क्योंकि चाँद से गणना करने में कठिनाई होती थी। सारांश यह कि उसने मनुष्य-जीवन और समाज के प्रत्येक पहलू में सुधार करने का प्रयत्न किया।

उसकी धार्मिक व आध्यात्मिक प्रवृत्ति बहुत तीव्र थी। वह सत्य का अन्वेषक था और उसकी आत्मा जीवन के वास्तविक रहस्य को समझने के लिए अत्यन्त जिज्ञासु थी। संसार के बड़े-बड़े धर्मों के तत्व का अध्ययन करने और समझने के लिए उसने बारी-बारी से हिन्दू, जैन, पारसी और ईसाइयों के बड़े-बड़े विद्वानों और

महात्माओं को निमन्त्रित किया और प्रत्येक धर्म के सिद्धान्तों को बड़े ध्यान से सुना। उसका उदार हृदय मुल्लाओं के संकुचित और विचार-शून्य विश्वासों व जरा-जरा-सी बात पर कलह करने के कारण अत्यन्त दुखी हो गया। इन मतभेदों को दूर करने के लिए उसने फतहपुर-सीकरी में इबादतखाना (पूजागृह) बनवाया। उसने ईसाई पादरियों और मुस्लिम विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ का भी प्रबन्ध किया। इन प्रयोगों से उसको निश्चय हो गया कि इन कट्टरपंथियों को उदार बनाना असम्भव है। अतएव उसने इस्लाम धर्म का असली अर्थ समझने के लिए सर्वाधिकार अपने हाथों में ले लिए। अन्त में उसने इस बात का प्रयत्न किया कि हर मजहब और जाति के लोग एक ऐसे सांस्कृतिक समाज के सदस्य बनें कि जिसमें वे बिना भेदभाव के परस्पर व्यवहार कर सकें। इस सांस्कृतिक संघ का नाम उसने **दीनइलाही** रखा। **दीनइलाही** को एक नया मत समझना भूल है। यह अकबर के जीवन-भर के अनुभवों और प्रयत्नों का परिणाम था। अकबर बड़ा मेधावी पुरुष था। सत्यान्वेषण उसकी जीवन साधना थी। इस साधना से वह इस परिणाम पर पहुँचा था कि सब धर्मों की मुख्य बातों का आधार प्रायः समान है। परन्तु अकबर अपने समय से बहुत आगे बढ़ गया था। समाज को सुधारने के लिए उसके अनेक प्रयत्न और लोगों के हृदय में इस बात को जमा देना कि चाहे वे किसी जाति व मजहब के क्यों न हों वे सब भाई हैं, उसके समकालीन लोगों को असामयिक जान पड़ते थे। अकबर महान् आदर्शवादी था और उसका दृष्टिकोण बहुत विशाल था। उसको सामाजिक एकीकरण तथा समाज को बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचाने के स्वप्न में जो विफलता मिली वह विफलता भी गौरवपूर्ण थी, क्योंकि बड़े-बड़े प्रतिभाशालियों के भाग्य में यही विफलता लिखी रहती है।

किन्तु व्यवहारिक तथा ठोस कार्यों में अकबर को जो सफलता मिली वह न तो किसी को उससे पहले मिली थी और न बाद में आने वालों को ही मिली। उसने अपने शासन को सुयोग्य तथा परिपक्व ही नहीं बनाया वरन् उसने अपने दरबार में बड़े-बड़े विद्वान् और अनुभवी मनुष्य रखे। उसके दरबार में बड़े प्रतिभाशाली विद्वान्, दार्शनिक, साधु, महात्मा, कलाकार और कवि, संगीतज्ञ तथा चित्रकार, मूर्तिकार तथा शिल्पज्ञ थे। उसके समय में भारतीय वास्तुकला उन्नति के शिखर पर पहुँच गई थी। उसकी अधिकांश इमारतें लाल पत्थर की थीं। अकबर के भवनों में हम वास्तु के सभी मुख्य-मुख्य लक्षणों का समन्वय पाते हैं, यथा क्रियात्मक लाभ, दृढ़ता और शोभा। इन सब इमारतों में उनके बनाने वाले का अपूर्व कौशल तथा प्रतिभा झलकती है। किन्तु इनसे पहले के हिन्दुओं व भारतीय मुसलमानों के वास्तु के जो सिद्धान्त थे वे सब अकबर की इमारतों में उपस्थित हैं। यही उसकी इमारतों की विशेषता है। वे सम्राट् के दिलोदिमाग़ की उच्चता के अमर चिह्न हैं। अकबर ने जो अनेक इमारतें बनवाईं उनमें मुख्य हैं आगरा, इलाहाबाद और लाहौर के किले, फतहपुर सीकरी की नई राजधानी। इस नये शहर में राज्यप्रसाद तथा अन्य

राजभवनों के अतिरिक्त एक बहुत बड़ा उत्तुंग द्वार बनवाया जो विशालता, दृढ़ता तथा वास्तु के अन्य सभी गुणों की दृष्टि से एक अत्युत्तम नमूना है। इसके अतिरिक्त अकबर ने अपने जीवन-काल में ही अपने मकबरे का निर्माण कराया, जिसकी क़ला समस्त मुस्लिम-भवनों में एक अनुपम प्रकार की है। अकबर के समय में हिन्दुओं की वास्तुकला आदि ललितकलाओं को भी काफी प्रोत्साहन मिला। वृन्दावन में जो राजा मानसिंह का बनवाया हुआ गोविन्ददेव का मन्दिर है, वह इतना विशाल और सुन्दर है कि मन्दिर-निर्माण-कला का सर्व-सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार उस सम्राट् के संरक्षण में संगीत, चित्रकारी और हस्त-लेखन कला ने भी अपार उन्नति की। अतुलनीय गायक तानसेन उसके दरबार के नवरत्नों में से था।

अकबर ने साहित्य और शिक्षा को भी काफी संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। उसने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद करवाया जिनमें महाभारत और अथर्ववेद भी हैं। उसके संरक्षण में इतिहास, साहित्य, धार्मिक तथा अन्य विषयों पर बड़े-बड़े उत्तम ग्रन्थ बने। **अबुलफ़जल द्वारा लिखित 'आइन-ए-अकबरी' उस काल का अनुपम और अमूल्य ऐतिहासिक ग्रंथ है।** यह उस काल के तथा उससे पूर्व काल के समाचारों की खान है। अकबर के दरबार की शोभा, उस काल को दैदीप्यमान बनाने वाले अनेक गुणी जनों से थी। इन्हीं में से अकबर ने प्राचीन भारतीय सम्राट् विक्रमादित्य के दरबार के नवरत्नों के समान अपना नवरत्न-मण्डल भी बनाया था। इनमें **अबुलफ़जल का नाम सबसे प्रथम आता है**। वह बादशाह के अनुपम गुणों तथा प्रतिभा पर मुग्ध था। स्वयं बड़ा कुशाग्र-बुद्धि, प्रकाण्ड विद्वान्, दार्शनिक तथा इतिहासज्ञ होने के अतिरिक्त वह धार्मिक मामलों में बड़ा उदार तथा निष्पक्ष था। इसी कारण अकबर के वह इतना निकट पहुँच गया था कि उसको सम्राट् अपना निजी परामर्शदाता मानता था। हिन्दू दरबारियों में सबसे अधिक बुद्धिमान तथा उदार-चित्त बीरबल था। इनके अतिरिक्त कवि तथा प्रसिद्ध लेखक फ़ैज़ी, चतुर्मुखी प्रतिभा वाला टोडरमल, जो एक साथ ही महान् अर्थशास्त्री, कुशल राजनीतिज्ञ व दक्ष सेनापति था। अनेक भाषा-भाषी तथा लेखक एवं कवि, अब्दुर्रहीम खानखाना, प्रसिद्ध तानसेन जैसा अद्वितीय संगीतज्ञ, बसावन, दशवंथ, अब्दुस्समद और शीराजो जैसे चित्रकार तथा भगवानदास और मानसिंह जैसे वीर योद्धा उसके नवरत्नों में थे।

अकबर के समय में जो सन्त और सुधारक हुए, उनके उपदेशों तथा ग्रन्थों का लोगों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। सन्तों तथा सूफियों के कार्यों का वर्णन पहले किया जा चुका है। **अकबर के समय में जो बड़े महात्मा और कवि हुए तथा जिनका हिन्दू-समाज पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, वे हैं तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, दादू, रैदास और उत्तर-काल में मलूकदास।** तुलसीदास के राम-चरितमानस ने राम, सीता व रामायण के अन्य पात्रों के चरित्रों के द्वारा लोगों में उच्चादर्शों और उच्च भावनाओं की पुनर्जागृति की। यह हिन्दुओं का सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ बन गया। नानक के उत्तराधिकारी गुरु अंगद ने काश्मीर की शारदा लेखन-विधि अपनाई और

उसको गुरुमुखी कहा, जिसमें सिक्खों के धार्मिक ग्रन्थ लिखे गए। गुरु अर्जुनदेव ने 'ग्रन्थ साहिब' का संकलन किया जो गुरुओं व अन्य महात्माओं की सूक्तियों से बना हुआ सिक्खों का धार्मिक ग्रंथ है।

Questions

1. Describe Akbar's conquest between 1560-1605.
   १५६० व १६०५ के बीच अकबर की विजयों का वर्णन करो।
2. Write a short note on Akbar's Din-i-Illahi.
   अकबर के दीन-इलाही पर एक संक्षिप्त नोट लिखो।
3. What were the cultural effects produced in the Sixteenth Century by the contact between Hinduism and Islam in India ?
   १६वीं शती में हिन्दू व मुसलमानों के सम्पर्क से भारत की संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा ?
4. State and discuss the Revenue Settlement made by Akbar.
   अकबर द्वारा बनाये गये भूमि-कर सम्बन्धी प्रबन्ध की व्याख्या करो तथा उसकी आलोचना करो।
5. Compare the character and achievements of Alauddin Khilji and Akbar.
   अकबर तथा अलाउद्दीन खिलजी के चरित्र व सफलताओं की तुलना करो।
6. In what sense may Akbar be regarded as the real founder of the Mughal Empire in India ?
   अकबर को भारत में मुग़ल साम्राज्य की नींव डालने वाला किस अर्थ में कहा जा सकता है ?

अध्याय २०

जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब

(१६०५—१७०७)

अपने से पूर्व के तथा बाद के बादशाहों में अकबर का स्थान वैसा ही है जैसा आस-पास के छोटे मकानों के बीच में एक ऊंची मीनार का। उसके उत्तराधिकारी उसके महान् कार्य का मूल्य नहीं आँक सके। जिस नीति को अकबर ने अपनाया था उसका वे सामान्यरूप से अनुकरण करते रहे, क्योंकि वे सब उसी शिष्ट वातावरण में उत्पन्न हुए तथा पाले-पोसे गए थे जिसकी रचना अकबर ने जीवन-भर के परिश्रम से की थी। किन्तु उनकी आत्मा उस परम्परा से प्रारम्भ ही से संघर्ष करती रही। गद्दी पर बैठने के बाद जहाँगीर ने कट्टरपंथियों को विश्वास दिलाया कि वह इस्लाम-धर्म का रक्षक बनेगा। दूसरी ओर जहाँगीर के मन में एक विचित्र भावना जाग उठी कि वह भी प्राचीन ईरानी बादशाह नौशेरवाँ का अनुकरण करेगा, जो अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध था। मुगलवंश के अन्य शासकों की भाँति उसने भी १२ राजाज्ञाएँ निकालीं, जिनके द्वारा शासन-सम्बन्धी अनेक सुधारों की घोषणा की गई और बहुत से अनुचित करों को बन्द करने की आज्ञा दी गई थी। यह उसकी केवल भावुकता थी। कदाचित् इन आज्ञाओं को लागू करने के लिए कभी भी अधिक जोर नहीं दिया गया, किन्तु फिर भी उसकी सद्इच्छा में सन्देह नहीं किया जा सकता।

जहाँगीर का चरित्र : जहाँगीर के चरित्र में कई गुण व अवगुण थे। वह किसी समय बड़ी दयालुता एवं न्यायप्रियता का परिचय देता था तो कभी बड़ी नृशंसता तथा अन्याय का भी। एक महान् बाप का बेटा होने के कारण उसे एक विस्तृत, सुसंगठित साम्राज्य के साथ उच्च शिक्षा तथा सभ्य समाज भी बपौती में ही मिले थे। परन्तु वह एक बड़ी कठिन समस्या की उलझन में पड़ गया था। अकबर ने देश में, जनता तथा दरबार दोनों ही में, एक उदार नीति तथा उदार वायुमण्डल की लहर चला दी थी। जहाँगीर का पालन-पोषण इसी वायुमण्डल में हुआ था। साथ ही वह स्वयं बड़ा विलासी था और अपने विलास के लिए इस्लाम मत की शिक्षाओं को तोड़ने में उसे जरा भी हिचक न थी। किन्तु वह कई बार यह भी सोचता था कि किसी प्रकार इस्लाम मत की शिक्षाओं का पालन करे। इसी कारण उसने पुष्कर, कांगड़ा आदि कई स्थानों पर हिन्दू-मन्दिरों को भ्रष्ट करके अपनी संकीर्णता दिखलाई, परन्तु यदि वह आमोद-प्रमोद में बहुत व्यस्त नहीं रहता तो

वह सुयोग्य और दृढ़शासक बन सकता था। जहाँगीर कला और प्रकृति का अद्वितीय प्रेमी था। वह चित्रकला का अद्भुत पारखी, संगीत का प्रेमी तथा वास्तुकला का अत्यन्त शौकीन था। अकबर का मकबरा उसकी देखरेख में पूरा हुआ था। **उसने अपना जीवन-चरित स्वयं लिखवाया था, जिससे ज्ञात होता है कि उसको फारसी भाषा का बड़ा अच्छा ज्ञान था।** अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में अधिक मदिरापान के कारण वह अशक्त होकर नूरजहाँ के हाथों की कठपुतली बन गया था। किन्तु उसके चरित्र में सबसे मार्के की बात यह थी कि अकबर ने सब मनुष्यों की समानता का जो आदर्श रखा था और सब मतों को समान आदर से देखने का उसका जो विचार था उसको जहाँगीर ने जान-बूझकर नष्ट करना चाहा और यद्यपि वह काँगड़ा व पुष्कर के मन्दिरों को अपवित्र करके, अहमदाबाद के जैनियों को कष्ट देकर तथा गुरु अर्जुनदेव के साथ निष्ठुरता का व्यवहार करने पर भी अकबर के आदर्श को विफल करने में समर्थ न हो सका था तो भी उसकी धर्मान्धता ने उसके उत्तराधिकारियों के लिए मार्ग तैयार कर दिया था। इसके बाद शाहजहाँ और औरंगजेब ने अपनी संकीर्ण नीति से अकबर के महान् और श्रेष्ठतम कार्य पर पूरी तरह पानी फेर दिया।

खुसरो का विद्रोह तथा गुरु अर्जुनदेव से कलह : गद्दी पर बैठते ही एक ऐसी घटना हो गई जिससे भविष्य में देश की राजनीति पर बहुत घातक प्रभाव पड़ा। जहाँगीर के सबसे बड़े पुत्र लोकप्रिय राजकुमार खुसरो ने अपने पिता का ही उदाहरण लेकर विद्रोह कर दिया। उसको हराकर पंजाब तक खदेड़ दिया गया जहाँ उसने सिखों के गुरु से सहायता की याचना की और गुरु ने उसको कुछ सहायता दी थी। जब विद्रोह का दमन कर दिया गया तो लाहौर के गवर्नर चन्दूशाह ने, जो गुरु से शत्रुता रखता था, जहाँगीर को भड़काया कि वह गुरु को उसके राजविद्रोह के लिए कड़ा दण्ड दे। जहाँगीर ने गुरु को बुलवाकर उसको एक भारी जुर्माना देने की आज्ञा दी। गुरु ने, जो अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था, सम्राट् का शासन स्वीकार न किया। इस पर जहाँगीर ने लाहौर के गवर्नर को ही गुरु का मामला तय करने का अधिकार दे दिया। **चन्दूशाह ने गुरु को सम्राट् का प्रभुत्व न मानने के कारण बड़ी कठोर यन्त्रणाएँ देकर मरवाया। इस घटना से सिक्ख मुगलों के कट्टर शत्रु बन गए और गुरु अर्जुनदेव के बाद गुरुओं ने अपने अनुयायियों को सैनिक शिक्षा देनी आरम्भ कर दी।**

नूरजहाँ से विवाह : एक दूसरी घटना, जिसने जहाँगीर के जीवन और नीति में बड़ा परिवर्तन किया, उसका नूरजहाँ से शादी करना था। नूरजहाँ बड़ी बुद्धिमती महत्वाकाँक्षी, अद्वितीय सुन्दरी, अत्यन्त आकर्षक तथा अत्यन्त शिष्ट थी। माँ-बाप ने उसका नाम मेहरुन्निसा रखा था। वह फारस के एक योग्य अमीर गयासबेग की कन्या थी जो भाग्य से सताया हुआ आजीविका की खोज में भारत आया था। गयासबेग को अकबर के दरबार में नौकरी मिल गई थी और उसने अपनी कन्या का विदाह अलीकुली बेग नामक एक अफसर से कर दिया था। अलीकुली बेग १६०७ में

एक युद्ध में मारा गया और मेहरुन्निसा को दरबार में भेज दिया गया। १६११ में जहांगीर ने उससे विवाह कर लिया और शीघ्र ही उसे नूरजहाँ की उपाधि दे दी।

राजनीतिक समस्याएँ और सम्राट् की नीति : अकबर के समय में केवल मेवाड़ और दक्षिण की राजनीतिक समस्या हल नहीं हो सकी थी। जहाँगीर ने सन् १६१२ में कई बार राणा अमरसिंह के विरुद्ध सेना भेजी और अन्त में राजकुमार खुर्रम ने, जो बाद में शाहजहाँ बना, राणा को आत्म-समर्पण के लिये विवश किया (१६१४)। किन्तु सन्धि की जो शर्तें राणा ने रखीं और जिनको जहाँगीर ने मानकर बड़ी बुद्धिमता का परिचय दिया, इतनी सम्मानपूर्ण थीं कि किसी राजपूत राजा की इस प्रकार की शर्तें स्वीकार नहीं की गई थीं। इसके अतिरिक्त जहाँगीर ने राणा व उसके पुत्र करनसिंह की मूर्तियाँ हाथी पर बैठी हुई आगरा में खड़ी करके उनका और भी सम्मान प्रदर्शित किया। साथ ही खुर्रम को २०,००० जात और १०,००० सवार का मनसबदार बनाया गया और शाहजहाँ की पदवी से उसको विभूषित किया गया। इसी समय उसको दक्षिण की सेना का सर्वोच्च सेनापति नियुक्त करके भेजा गया। इन दिनों जहाँगीर अजमेर में ठहरा हुआ था और यहाँ पर अंग्रेजी राजदूत टामस रो ने उससे पहले-पहल भेंट की थी, जिसका विवरण आगे दिया जायगा।

जहाँगीर के शासन की आरम्भिक घटनाएँ : सलीम अकबर की मृत्यु के एक सप्ताह बाद ३ नवम्बर, १६०५ को राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ और नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर की उपाधि धारण की। वह इस समय ३७ वर्ष का था। एक बड़े सम्राट् का पुत्र होने के कारण उसे अत्यन्त भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने की आदत पड़ गई थी। उसके कई सिक्कों पर बादशाह की मूर्ति शराब का प्याला लिये हुए है। तथापि जहाँगीर में एक महान् सम्राट् के गुणों की कमी नहीं थी। यदि वह भोगविलास में अपना बहुत-सा समय व्यतीत न करके राज-काज में ध्यान देता तो अवश्य ही वह बड़ी योग्यता से शासन कर सकता था। वह बड़ा तीक्ष्ण-बुद्धि तथा स्वयं पर्याप्त मात्रा में शिक्षित मनुष्य था। ललित कलाओं में, विशेषतया नैसर्गिक वस्तुओं और चित्रकला में उसकी गहरी रुचि थी और वह उच्च कोटि के चित्रों का अद्वितीय पारखी था। जहाँगीर स्वयं अपने जीवन में तो इस्लाम मत का अनुकरण करने की लेशमात्र भी परवाह अथवा चेष्टा नहीं करता था, किन्तु अकबर की मानव-मात्र के प्रति समता का व्यवहार करने की नीति को वह न समझ सका। यद्यपि अकबर के आजीवन प्रयत्न से जो उदार वायुमंडल उत्पन्न हो गया था उसका एकाएक प्रतिकार करना किसी भी बड़े-से-बड़े सम्राट् के वश का नहीं था, तथापि जहाँगीर की मानसिक प्रवृत्ति इस्लाम मत को संकुचित नीति संचालित करने की ही थी। इसीलिये जहाँगीर के समय से ही एक ओर अकबर द्वारा प्रसारित सामाजिक समन्वय व साम्य का वायुमण्डल और दूसरी ओर इन सम्राटों की मानसिक प्रवृत्तियाँ, इनमें एक प्रकार का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। जहाँगीर भी अपने पिता के समान कभी-कभी अपने मन बहलाव के लिए मुल्लाओं और ईसाई-पादरियों के

वाद-विवाद कराता था। इसके प्रतिकूल यह भी ध्यान देने की बात है कि जहाँगीर ने अपने राज्यारोहण के समय इस्लाम मत का परिपोषण करने का वचन दिया था। इस वचन की पूर्ति उसने दो-चार अवसरों पर अपनी इस्लामी असहनशीलता का परिचय देकर की। काँगड़ा के मन्दिर की विजय के समय उसने ज्वालामुखी के मन्दिर में गोवध कराके अपनी इस्लामी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट किया। इसी प्रकार अन्य अवसरों पर भी उसने यह प्रमाणित किया कि वह अपने आत्मिक विश्वास से सच्चा मुसलमान है, यद्यपि परिस्थिति प्रतिकूल होने के कारण वह उसका पूरी तरह पालन नहीं कर पाता है।

जहाँगीर ने अपना शासन शान्त वायुमण्डल में ही आरम्भ न किया। गुरु अर्जुनदेव के प्रति अदूरदर्शिता का व्यवहार करके उसने एक गहरी और दूरगामी समस्या साम्राज्य के लिए उत्पन्न कर दी।

बंगाल और दक्षिण के विद्रोह : साम्राज्य के अन्य सूबों में भी विद्रोह होने लगे। १६१२ में बंगाल का शासक उस्मानखाँ, जो अकबर के समय से ही विद्रोह करने लगा था, सम्राट् की सेना द्वारा परास्त हुआ और मारा गया। इस प्रकार थोड़े समय के लिये बंगाल प्रान्त में शान्ति स्थापित हुई। दक्षिण में कुछ छेड़-छाड़ जहाँगीर के राज्य के आरम्भ से ही चली आती थी। अहमदनगर इस समय एक योग्य हब्शी सरदार मलिक अम्बर के नेतृत्व व रक्षा में था। जहाँगीर ने जिन सैनिकों को मलिक अम्बर के विरुद्ध भेजा वे कभी आपस में एका न रख सके। अम्बर ने उनके परस्पर वैमनस्य और झगड़ों से काफी फायदा उठाया। उसने महाराष्ट्र के लड़ाकू पहाड़ी मरहठों को छापामार लड़ाई की शिक्षा देकर मुगलों का मुकाबला करने के लिये तैयार किया। इस नई युद्ध-कला का पहले-पहल प्रयोग मलिक अम्बर ने ही किया और बाद में शिवाजी ने इसी युक्ति के द्वारा मुगल सम्राट् के अतुल सैन्यबल का बड़ी सफलता के साथ विरोध किया। १६१४ में दक्षिण में राजा मानसिंह की मृत्यु हो गई, तब जहाँगीर ने राजकुमार खुर्रम को आज्ञा दी कि वह पहले मेवाड़ के दीर्घकालीन संग्राम को किसी-न-किसी तरह समाप्त करे। इसका विवरण ऊपर दे आये हैं। शाहजहाँ की सहायता के लिये अब्दुल्लाखाँ फिरोजंग भी कालपी से २,००० सुरक्षित सेना के साथ बुरहानपुर पहुँचा। इसके अतिरिक्त दक्षिण के उन जमींदारों ने भी मुगल सेना की सहायता की जिनकी जागीरें मलिक अम्बर ने छीन ली थीं। तथापि मलिक अम्बर को परास्त करना आसान न था, किन्तु वह स्वयं इस भारी सेना और प्रतिकूल परिस्थिति से भयभीत हो गया और उसने शाहजहाँ से सन्धि करने की बातचीत शुरू कर दी। उसने शान्ति स्थापना के बदले में मुगलों की वह सब भूमि, जो उसके पास आ गई थी वापिस दे देने का प्रस्ताव किया और अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों से ५० लाख रुपये की हानिपूरक रकम दिलवाने को कहा। उसने अहमदनगर भी मुगलों को देकर अपने आप दक्षिण में बालाघाट तक पीछे हट जाने का वायदा किया। इस सफलता

के बाद शाहजहाँ उत्तर की ओर चला तो सम्राट् ने उसका मांडू के स्थान पर बड़े समारोह के साथ स्वागत किया और उसे ३०,००० जात और २०,००० सवार का मनसबदार बनाया। नूरजहाँ ने भी इस अवसर की खुशी में बड़ी भारी दावत दी। इसी समय जहाँगीर ने तत्कालीन लोकप्रसिद्ध हिन्दू सन्त चिदरूप से उज्जैन में भेंट की। सम्राट् अकबर भी १५ वर्ष पहले १६०२ में उस साधु से मिलने आया था।

मलिक अम्बर ने अपनी नीति से दक्षिण की रियासतों को बचाने के लिये मुगलों से सन्धि भले ही करली थी, किन्तु उसका चुप बैठने का विचार कदापि न था। मुगल सेना के हटते ही उसने फिर लगभग वे सब प्रदेश वापस ले लिये जो मुगलों के अधिकार में चले गये थे। मलिक अम्बर दक्षिण के तत्कालीन सैनिक व राजनीतिज्ञों में सर्वोच्च स्थान पर रखे जाने का अधिकारी था। वह अत्यन्त योग्य शासक व बुद्धिमान होने के अतिरिक्त अद्वितीय राजभक्त भी था। चाँदबीबी के बाद मृतप्राय अहमदनगर के राज्य को एक पीढ़ी तक फिर से जीवित रखने का और अपने पड़ौसी अन्य राज्यों को भी प्रोत्साहित करने का श्रेय उसी को है। उसी ने दक्षिण में उस युद्ध-कला का सूत्रपात किया जिसे बारगीरी (छापामार) युद्ध कहा जाता है। अपने जीते-जी उसने दक्षिण के विद्रोही लोगों को दबाये रखा और शान्ति को भंग न होने दिया। १६२६ में उसकी मृत्यु हो गई।

कांगड़ा की चढ़ाई : दक्षिण में शासन व्यवस्था को फिर से ठीक करने के लिए शाहजहाँ थोड़े दिन वहीं ठहरा। इन्हीं दिनों जहाँगीर सख्त बीमार हुआ और उसका छोटा बेटा परवेज उसके पास था। अब शाहजहाँ को राजगद्दी की चिन्ता बढ़ने लगी थी। उसने अपने अभागे भाई खुसरू को, जिसे वह अपनी रक्षा में दक्षिण लेता गया था, एक वधिक के हाथों गला घुटवाकर मरवा डाला और जहाँगीर को यह सूचना दे दी कि वह गुर्दे के दर्द से मर गया। तथापि शाहजहां का यह घोर पातक किसी से छिपा न था और सबसे अधिक इसका प्रभाव स्वयं उसके लड़कों पर ही हुआ जैसा हम आगे देखेंगे। इन्हीं दिनों कई अन्य घटनाएँ ऐसी हुईं जिनके कारण राज्य की स्थिति में बड़ी हलचल पैदा हो गई।

नवम्बर १६२० में जहाँगीर ने काँगड़ा पर चढ़ाई की और उसके मन्दिर में एक गौ का वध करवाया और किले के अन्दर एक बहुत बड़ी मस्जिद बनवाई। अपनी इस सफलता पर जहाँगीर को बहुत गर्व था। परन्तु जैसा हम कह चुके हैं, जहाँगीर की समस्याएं बहुत जटिल होती जा रही थीं। स्वयं उसका स्वास्थ्य अत्यन्त विलासी व असंयत जीवन के कारण बहुत गिर रहा था। उधर यह खबर ज़ोरों से फैल रही थी कि नूरजहाँ सम्राट के सबसे छोटे बेटे शहरयार को गद्दी पर बिठाना चाहती है क्योंकि शहरयार उसका दामाद था। उसे नूरजहाँ की बेटी, जो शेर अफ़गन के संयोग से पैदा हुई थी, ब्याही गई थी।

नूरजहाँ और शाहजहाँ का वैमनस्य : शाहजहाँ को अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हटाने की चिन्ता बढ़ती जा रही थी, जैसा कि हम उपर्युक्त घटनाओं से देख चुके

हैं। इन्हीं दिनों फ़ारस के शाह अब्बास ने जहाँगीर को बड़े मित्र-भाव के पत्र-व्यवहार से बेखबर करके कन्धार पर अधिकार कर लिया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को आज्ञा दी कि वह कंधार पर चढ़ाई करके उसे वापस ले। किन्तु शाहजहाँ को अपनी स्थिति परिपक्व करने की पड़ी हुई थी। वह बुरहानपुर से माँडू तक पहुंच गया और बरसात के दिनों में वहीं ठहरने का इरादा किया। कंधार की चढ़ाई पर जाने से पहले उसने यह शर्त रखी कि उसके परिवार के रहने के लिए रणथम्भौर का दुर्ग पूरी तरह से उसके अधिकार में कर दिया जाएगा और साथ ही उसको पंजाब की सूबेदारी हो जाएगी। कंधार की चढ़ाई को रोका नहीं जा सकता था, परन्तु शाहजहाँ आनाकानी करता रहा और नूरजहाँ और उसमें परस्पर-विरोध तथा एक दूसरे के प्रति आशंका बढ़ती गई। अतएव जहाँगीर ने कंधार की चढ़ाई का नेतृत्व शहरयार के सुपुर्द किया और शाहजहाँ को आज्ञा दी कि वह समस्त आम-कोटि के सैनिकों को भेज दे। पंजाब में जो शाहजहाँ की जागीरें थीं वे शहरयार को दे दी गईं। अब शाहजहाँ ने खुले तौर पर विद्रोह की पताका खड़ी कर दी और बूढ़ा अब्दुर्रहीम खानखाना उससे मिल गया। अब शाहजहाँ ने आगे बढ़कर आगरा के खजाने पर छापा मारने का विचार किया। इसकी सूचना पाते ही महावतखाँ और राजकुमार परवेज को उसके विरूद्ध भेजा गया। दोनों सेनाओं में बिल्लोचपुर के निकट १६२३ में युद्ध हुआ और शाहजहाँ हारकर वापस भागा। खानखाना ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे क्षमा कर दिया गया। शाहजहाँ का महावतखाँ ने पीछा किया और उसे दक्षिण तक खदेड़ दिया। वहाँ से शाहजहाँ तिलंगाना होता हुआ बंगाल पहुँचा, परन्तु महावतखाँ ने फिर उसको दक्षिण की ओर मार भगाया। इस प्रकार जान बचाकर भागते रहने के बाद उसने हताश होकर बादशाह से १६२५ में सुलह की बातचीत की। उसने रोहतासगढ़ और असीरगढ़ के किलों को भी वापिस कर दिया और अपने दो बेटों द्वारा शिकोह तथा औरंगजेब को बन्धक के तौर पर बादशाह के पास भेज दिया। अपने-आप वह उदयपुर के राणा की शरण में जा रहा। इन झगड़ों के कारण कंधार को वापस लेने से लिए कोई कार्यवाही न की जा सकी।

महाबतखाँ का विद्रोह : महाबतखाँ अपने समय का अद्वितीय वीर तथा योद्धा था। जैसा हम कह आये हैं, दक्षिण-विजय के बाद दरबार की राजनीति में कुछ ऐसे कारण उत्पन्न हो गए जिनसे बड़ी शक्तिशाली दलबन्दियाँ आरम्भ हो गईं। नूरजहाँ और उसका भाई आसफ़खाँ महाबतखाँ की सैनिक शक्ति व प्रभाव को दबाना चाहते थे। दूसरी ओर महावतखाँ यह देख रहा था कि जहाँगीर के स्वास्थ्य-पतन के कारण नूरजहाँ का आतंक और प्रभाव बहुत बढ़ता जा रहा है। आसफ़खाँ से भी महाबतखाँ की पुरानी शत्रुता थी। इन्हीं कारणों से आसफ़खाँ और नूरजहाँ ने महावतखाँ का दमन करने का विचार किया। उन्होंने उस पर यह आक्षेप लगाया कि शाहजहाँ को बंगाल और बिहार से पीछे हटने के समय जो हाथी और

रुपया-पैसा महाबतखाँ को मिला था वह उसने स्वयं रख लिया था। इस कारण उन्होंने बादशाह की तरफ से उसको बुलवा भेजा। इस समय जहाँगीर अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए काश्मीर की ओर यात्रा कर रहा था और जेहलम नदी के तट पर ठहरा था। महाबतखाँ शाही बुलावा पाकर बेधड़क होकर अपनी सेना के साथ जेहलम तक पहुँच गया और बादशाह को अपनी सुरक्षा में एक प्रकार से बन्दी बनाकर नदी के इस पार ले आया। इस पर नूरजहाँ ने बड़ी युक्ति से बादशाह के पास पहुँचकर उसको महावतखाँ के पंजे से छुड़ाया और बादशाह की सवारी आगे बढ़ी। जब महावतखाँ ने देखा कि नूरजहाँ ने काफी सेना एकत्रित कर ली है तो वह सुलह करने पर तैयार हो गया और उसने आसफखाँ को भी, जिसे उसने कैद कर लिया था, छोड़ दिया। जब शाहजहाँ ने महाबतखाँ के विद्रोह का समाचार सुना तो उसने तुरन्त इस परिस्थिति से लाभ उठाने का विचार किया। फारस के शाह अब्बास से शाहजहाँ पत्रव्यवहार करता रहता था। उसकी सहायता से उसने पहले सिंध पर अधिकार करने का निश्चय किया, किन्तु उसकी यह योजना सफल न हुई और शाह अब्बास ने भी उसको अपने पिता के प्रति मित्रता और सचाई का बर्ताव करने का परामर्श दिया। जहाँगीर ने महाबतखाँ को शाहजहाँ के विरुद्ध सिंध में भेजा, परन्तु उससे युद्ध करने के स्थान पर वह शाहजहाँ से जा मिला। इसी समय परवेज की भी मृत्यु हो गई। अब शाहजहाँ का मार्ग और भी साफ़ हो गया। **थोड़े ही दिन बाद भीमवर के निकट १६२७ में जहाँगीर भी परलोक सिधार गया।**

नूरजहाँ का चरित्र : संसार भर की रानियों में और स्त्री-मात्र में भी नूरजहाँ का एक अद्भुत व्यक्तित्व था। उसमें शारीरिक, मानसिक तथा कलात्मक बुद्धि आदि के सभी श्रेष्ठ गुण विद्यमान थे। **वह अपने समय की अद्वितीय सुन्दरी मानी जाती थी।** उसकी मुखाकृति अत्यन्त आभापूर्ण तथा कान्तिमय थी। उसका शरीर अत्यन्त कोमल, भाल बड़ा विशाल, बड़ी-बड़ी कमल सदृश आँखें, सभी गुणों ने उसको एक अनुपम लावण्य प्रदान किया था। इतना कोमल और कान्तिमय शरीर रखते हुए भी वह बहुत स्वस्थ्य रहती थी। साथ ही उसमें अद्वितीय साहस और वीर सैनिक के गुण भी पूरी मात्रा में थे। वह रणक्षेत्र में अधीर अथवा भयभीत न होती थी और न ही घोरतम संकट में भी उसका मन अस्थिर होता था। एक विद्वान शासक, राजनीतिज्ञ और नीतिनिपुण व्यवस्थापक के गुण भी नूरजहाँ में एक समान थे। सम्राट जहाँगीर के हृदय पर उसने बहुत ही जल्दी न केवल अपने रूप लावण्य से किन्तु अपने अनेक गुणों से भी पूरी विजय प्राप्त कर ली थी। साम्राज्य-सम्बन्धी अनेक पेचीदा समस्याओं को सुलझाने में उसे देर न लगती थी। साथ ही वह उच्चाकाँक्षी भी थी। वह एक महान् नृपति के समान समस्त साम्राज्य पर अपना नियन्त्रण तथा अनुशासन रखना चाहती थी और साम्राज्य के सभी आवश्यक कामों को केन्द्रित रखना चाहती थी। इस आकाँक्षा की पूर्त्ति में उसको पूरी सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि जहाँगीर को विश्वास था कि वह राज्य का कार-बार उसको बिना किसी आशंका के सुपुर्द करके

अपना जीवन भोग-विलास तथा आनन्द-पूर्वक व्यतीत कर सकता था । ऐसी उच्च आकाँक्षा तथा राज्योचित प्रवृत्ति को प्राप्त नूरजहाँ बड़ी दानशील तथा दयावान भी थी। उसने राज्य की ओर से अनाथ लड़कियों का विवाह आदि का व्यय करने का प्रबन्ध किया था । हर प्रकार से दरिद्रों और पीड़ितों की वह सहायता करती थी ।

साहित्य और कला के क्षेत्र में भी नूरजहाँ की प्रतिभा उतनी ही उत्कृष्ट थी जितनी राजनीतिक क्षेत्र में । उसने राजदरबार तथा राजमहल के खाने-पीने तथा वस्त्रों व भूषणों आदि में बड़े परिवर्तन किये थे। नये-नये प्रकार के वस्त्रों तथा भोजनों का आविष्कार किया । उसी ने गुलाब से इत्र निकालने का भी नये ढंग का आविष्कार किया । वह उच्चकोटि की विद्वान तथा कवि भी थी ।

भारत में योरुपीय व्यापारी

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों ने अपनी बस्तियाँ बना ली थीं । पूर्व के अराकान के तट पर कुछ स्वतन्त्र पुर्तगालवासी बस गए और वहीं के निवासियों में मिल-जुल गये । ये वर्णसंकर लोग समुद्री डाकू बन गए और अपने शिकार किए हुए लोगों के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार करने लगे और उनको दासों की भाँति बेचने लगे । उन्होंने राज्य के पूर्वी प्रदेशों में बड़ा भयानक काण्ड मचा रखा था जो जहाँगीर तथा शाहजहाँ के राज्य में बराबर चलता रहा ।

डच : किन्तु सोलहवीं शताब्दी में **स्पेन व पुर्तगाल वालों** की शक्ति को डच व अंग्रेजों ने योरुप में नष्ट कर दिया । भारत में भी वे कट्टरपन तथा असहिष्णुता से अप्रिय बन गये थे । सन् १५१० में पुर्तगाली गवर्नर अल्बुकर्क ने गोआ पर अधिकार कर लिया था । सन् १६१३ में पुर्तगाल वालों ने अरब जाते हुए कुछ शाही जहाजों पर आक्रमण करके उनको लूट लिया । अतएव सम्राट् ने अपने राज्य से पुर्तगाल वालों को निकाल दिया । उसी समय डच तथा अंग्रेजों ने भी हिन्द महासागर में प्रवेश किया ।

अंग्रेजी व्यापारी : सन् १६०० में लन्दन के व्यापारियों की एक कम्पनी ने रानी एलिजाबेथ से आज्ञापत्र प्राप्त कर लिया, जिसके अनुसार उनको पूर्वी द्वीप-समूहों के साथ व्यापार करने का एकाधिकार मिल गया । पहले-पहल उसका व्यापार केवल गरम मसाले वाले द्वीपों से ही होता था । किन्तु १६०६-१६०७ में कम्पनी ने विलियम हाकिन्स को अदन तथा सूरत में भी व्यापार खोलने के लिए भेजा । उसको बादशाह जेम्स ने सम्राट् अकबर के नाम एक पत्र दिया था । किन्तु जिस समय तक वह पहुँचा जहाँगीर गद्दी पर बैठ चुका था । १६०८ में अंग्रेजों ने सूरत में एक कारखाना खोल लिया था और हाकिन्स सम्राट् के दरबार में पहुँचा । जहाँगीर ने उसका बहुत स्वागत किया और वह तीन वर्ष तक शराब की दावतों में उसका साथी बना रहा (१६०८-१६११), किन्तु वह बिना विशिष्ट अधिकार प्राप्त किए ही लौट गया । उसके बाद **सर टामस रो** आया, जिसका सम्राट् ने १६१५ में अजमेर

में स्वागत किया। उसको जहाँगीर से अपने देशवासियों के लिए व्यापार की आज्ञा और विशिष्ट अधिकार मिल गए। अंग्रेजों ने पहले ही पूर्वी समुद्रतट पर मसूलीपट्टम में कारखाना स्थापित कर लिया था जो गोलकुण्डा रियासत का मुख्य बन्दरगाह था। १६१२ में उन्होंने पुर्तगाल वालों के एक बड़े जहाजी बेड़े को नष्ट करके उनको पराजित कर दिया और उनको १६१३ में सूरत में स्थायी कारखाना बनाने के लिए शाही फरमान मिल गया। सर टामस रो जहाँगीर के दरबार में चार वर्ष ठहरा और इस बीच अंग्रेजों ने अपने कारखाने भड़ौच, आगरा व अहमदाबाद में बना लिए। सब फैक्ट्रियों पर सूरत की कोठी का नियन्त्रण था जो अब सबकी प्रधान हो गई थी। पूर्वी तट पर पुर्तगालियों की शक्ति को अंग्रेजों व डचों ने सदा के लिए नष्ट कर दिया, किन्तु अंग्रेजों और डचों की मित्रता अधिक काल तक न निभी। इसी बीच फ्रांसीसियों ने पूर्वी व्यापार के लिए संघर्ष किया। उनका विवरण आगे दिया जायेगा।

राजगद्दी के लिए संघर्ष और शाहजहाँ की सफलता : जहाँगीर की अचानक मृत्यु के समय शाहजहाँ दूर दक्षिण में था। नूरजहाँ ने अपने दामाद शहरयार को सम्राट् घोषित कर दिया। किन्तु उसके भाई आसफखाँ ने शाहजहाँ के पास तुरन्त सन्देशा भेजकर उसे बुलवा लिया, और इसी बीच उसने शहरयार को परास्त करके उसे अंधा कर दिया तथा बन्दी बना लिया। आगरा पहुँचने पर शाहजहाँ ने अपने समस्त प्रतिद्वन्द्वियों को मार डाला और फरवरी १६२८ में राजसिंहासन पर बैठ गया। शाहजहाँ की नसों में तुर्की रक्त की अपेक्षा हिन्दू रक्त अधिक था। उसका पिता जहाँगीर बिहारीमल की कन्या से उत्पन्न हुआ था और उसकी मां जोधपुर की एक राजकुमारी थी। उसके वंश को देखते हुए यह बात बहुत ध्यान देने योग्य है कि उसने अकबर की नीति के बहुत कुछ विरुद्ध कार्य किए। **हिन्दुओं व मूर्तियों से उसकी घृणा बहुत स्पष्ट थी। १६३२ में उसने आदेश दिया कि बनारस तथा उसके राज्य में जहाँ कहीं हिन्दुओं के नये मन्दिर बने हों उन सबको गिरा दिया जाय। केवल बनारस में ही ७६ मन्दिर ढाए गए।**

राज्य का विस्तार और उसको ठोस बनाना : अपने शासन-काल के आरम्भ में शाहजहाँ को **जुझारसिंह बुन्देला** के विद्रोहियों से सामना करना पड़ा। जुझारसिंह के पिता वीरसिंह ने जहाँगीर के सिखाने से अबुलफजल का वध किया था एवं उसके राज्य तथा शक्ति को काफी बढ़ाया था। लगभग ३५,००० सिपाहियों की एक बड़ी सेना महावतखाँ की कमान में उसको नष्ट करने के लिए भेजी गई। जब ओरछा का दुर्ग जीत लिया गया तो जुझारसिंह ने हार मान ली। किन्तु पाँच वर्ष के बाद उसने गोंडवाना के शासक से चौरागढ़ का दुर्ग छीन लिया और अपनी शक्ति को विस्तृत किया। सम्राट् शाहजहाँ ने उसे आज्ञा दी कि चौरागढ़ तथा उसकी भूमि उसके शासक को वापस कर दे। इस पर उसने पुनः विद्रोह कर दिया। राजकुमार औरंगजेब और आसफखाँ सेना लेकर बुन्देलखण्ड पहुँचे और ओरछा जीत लिया। जुझारसिंह

व उसके सहायक तितर-वितर हो गए तथा नष्ट कर दिए गए और रियासत उसके भतीजे देवसिंह को दे दी गई। परन्तु चम्पतसिंह नामक एक अन्य बुन्देले राजा ने युद्ध आरम्भ कर दिया। यह महोबा का शासक था। किन्तु थोड़ी-सी लड़ाई के बाद चम्पतसिंह ने मुगलों का आधिपत्य मान लिया। उसी समय एक अफ़गान अमीर **खानजहाँ लोदी का विद्रोह** दमन किया गया (१६२६)। हुगली और चटगाँव के पुर्तगाली, जिनको जहाँगीर दण्ड दे चुका था, पुनः तंग करने लगे थे तथा उनके दुष्ट समुद्री डाके और दासों का व्यापार राज्य के लिए खतरा बन गए थे। जब उन्होंने मुमताजमहल की दो दासियों को रोक लिया तो सम्राट् को उन्हें ठीक करना पड़ा। कासिमखाँ को उन्हें नष्ट करने के लिए भेजा गया। १६३२ में हुगली पर अधिकार कर लिया गया और उसको बुरी तरह नष्ट कर दिया गया। सिक्खों ने अपने गुरु हरगोविन्द की अधीनता में सम्राट् से शत्रुता बनाए रखी, अतएव अन्त में गुरु को कीरतपुर की पहाड़ियों में शरण लेने के लिए भागना पड़ा। मथुरा में जाटों ने भी विद्रोह किया परन्तु उनको आसानी से दबा दिया गया।

दक्षिणी नीति : गद्दी पर बैठते ही शाहजहाँ ने अहमदनगर पर चढ़ाई की। मलिक अम्बर १६२६ में मर चुका था। उसके नालायक बेटे फ़तहखाँ ने मुगलों से घूस ले ली और निज़ामशाह को बन्दी करके उसे मार डाला और दौलताबाद मुगलों को दे दिया। किन्तु शिवाजी के पिता शाहजी ने जो निज़ामशाही का एक सरदार था, राजकीय घराने के एक लड़के को गद्दी पर बिठाया और स्वतन्त्रता के लिए युद्ध जारी रखा। अब शाहजहाँ ने बीजापुर और गोलकुण्डा को लिखित आज्ञा भेजी कि वे उसका प्रभुत्व स्वीकार करें, वार्षिक भेंट दें तथा शाहजी की सहायता न करें। गोलकुण्डा का कुतुबशाही शासक घबरा गया और उसने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। किन्तु बीजापुर के आदिलशाह ने आज्ञा सुनी अनसुनी कर दी और प्रतीक्षा करने लगा। अतएव सम्राट् ने उसके राज्य पर आक्रमण करने का आदेश दिया। सेना ने अंधाधुन्ध उसके गाँव और नगरों को जलाना तथा लूट-मार करना शुरू किया, जिससे आदिलशाह ने हार मान ली। **१६३६ में सन्धि हुई, जिसमें ये शर्तें थीं**—(१) 'वह राजाज्ञा का अक्षरशः पालन करेगा', (२) युद्ध के हर्जाने के रूप में २० लाख हुन (एक मुद्रा) देगा, (३) शाहजी की सहायता न करेगा और न उसे कोई पद देगा, और (४) गोलकुण्डा की सीमाओं की रक्षा करेगा। कोई वार्षिक भेंट उससे न माँगी गई थी। यह समझौता २० वर्ष तक चला।

अब शाहजहाँ ने दक्षिण में एक नया सूबा बनाया, जिसमें अहमदनगर और दौलताबाद के प्रदेश शामिल थे और औरंगजेब को उसका शासक नियुक्त किया। यह प्रान्त बहुत बड़ा था, अतएव इसके चार छोटे प्रान्त बना दिए गए जिससे शासन में सुविधा हो। ये थे—खानदेश, जिसकी राजधानी बुरहानपुर थी और असीरगढ़ का किला था; बरार, खानदेश के दक्षिण-पूर्व में, जिसकी राजधानी ऐलिचपुर और गाविलगढ़ का किला था; तेलंगाना, बरार और गोलकुण्डा के बीच में, जिसकी राजधानी नाँदेर और किला कन्दहार था; दौलताबाद, जिसकी राजधानी औरंगाबाद (खिड़की) थी।

इस प्रान्त में ६४ दुर्ग थे जिनमें से कुछ पर उस समय भी शाहजी का कब्जा था। उसकी आय पाँच करोड़ रुपये थी।

औरंगजेब आठ वर्ष तक वायसराय रहा। प्रथम उसने शाहजी का दमन किया और नासिक के समीप बागलान का प्रदेश अपने प्रान्त में मिला लिया। यहीं उसको १६३७ में दिलरसबानू बेगम से प्रेम हो गया और उसने उससे शादी कर ली। परन्तु उसको शासन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध के कारण देश वीरान हो चुका था। खेती-बाड़ी होती नहीं थी और जो कर वसूल किया जाता था वह शासन के व्यय के लिए भी पर्याप्त नहीं होता था। इसके अतिरिक्त उसका बड़ा भाई दारा तथा स्वयं सम्राट् शाहजहाँ उसकी नीति से असन्तुष्ट थे और उसकी योजनाओं में बाधा डालते रहते थे। १६४४ में जब औरंगजेब अपनी बीमार बहन को, जो बुरी तरह जल गई थी, देखने के लिए आगरा गया तो उसको पद से हटा दिया गया और वह आठ मास तक बेकार रहा। १६४५ में उसको गुजरात का गवर्नर बना दिया गया।

उत्तर-पश्चिमी नीति : भारत से परे अपने पूर्वजों के देशों को जीत लेने की शाहजहाँ की बड़ी भारी उत्कट इच्छा थी। औक्सस और कंधार के बीच के प्रदेश पर अधिकार राजनीतिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उसने १६३८ में में कंधार के गवर्नर अली मरदान खाँ को घूस देकर वह प्रान्त ले लिया था। १६४५ राजकुमार मुराद और अली मरदानखाँ ने हिन्दुकुश तथा औक्सस के बीच के प्रदेश बलख तथा उसके पूर्व में बदख्शाँ पर भी अधिकार कर लिया। जब मुराद लौट आया तो औरंगजेब को उस प्रान्त का गवर्नर बना दिया गया। किन्तु १६४७ में शाही फौजों को बड़ी हानि उठाकर पीछे हटना पड़ा तथा १६४९ में फारस के शाह ने कंधार भी पुनः ले लिया। शाहजहाँ ने तीन बार कंधार को जीतने के लिए आक्रमण किया, जिसमें काफी धन-जन की हानि हुई परन्तु उसको सफलता नहीं मिली। १६५३ में औरंगजेब को पुनः दक्षिण प्रान्त का वायसराय बनाकर भेजा गया। इस बार उसके अधीन उस प्रदेश ने अपार उन्नति की। अपने योग्य और मेहनती वजीर मुर्शिदकुलीखाँ की सहायता से उसने दक्षिण में खेतों को नापने और भूमि-कर निर्णय करने के लिए टोडरमल की प्रणाली का प्रयोग किया। उसने देश में खेती-बाड़ी की उन्नति करने और उसको सम्पन्न करने के लिए अपने पास से भी धन व्यय किया। इसके परिणाम-स्वरूप दक्षिण की बहुत उन्नति हुई।

गोलकुण्डा और बीजापुर : उसी समय औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा की स्वतन्त्रता नष्ट करने के लिए आक्रमणकारी नीति का अवलम्बन किया। इसके लिए उसे बहाना मिल गया। औरंगजेब को अपने इरादों में मीरजुमला नामक फारस के एक साहसी व्यक्ति की सहायता मिली जिसे धर्माधर्म का कोई विचार नहीं था। परन्तु वैसे था वह योग्य और गोलकुण्डा का प्रधान मन्त्री तथा सर्वेसर्वा भी था। पूर्वी तट पर उसकी बहुत बड़ी जागीर थी और उसकी अतुल सम्पत्ति तथा शक्ति को देखकर गोलकुण्डा के शासक कुतुबशाह को स्वाभाविक ही उस पर सन्देह हो गया

था। अतएव वह कुतुबशाह को त्याग कर औरंगजेब के षड्यंत्र में शामिल हो गया। औरंगजेब के लड़के मुहम्मद ने गोलकुण्डा पर आक्रमण किया तथा लूटमार की। तब १६५६ में औरंगजेब ने उस पर घेरा डाल दिया। जब उसका पतन निकट था तो सम्राट् ने औरंगजेब को आज्ञा दी कि घेरा उठा लिया जाय। कुतुबशाह ने बादशाह की कड़ी शर्तें मानकर अपनी जान बचाई। उसे अपने राज्य के दो जिले मुगल बादशाह को देने पड़े और बहुत-सा धन भी। साथ ही उसकी लड़की का विवाह औरंगजेब के लड़के मुहम्मद के साथ हुआ और गुप्त रूप से यह भी तय हुआ कि उसके मरने के बाद शाहजादा मुहम्मद गोलकुण्डा की गद्दी पर आसीन होगा। मीरजुमला मुगल दरबार में पहुँचा और शाहजहाँ ने वजीर सादुल्लाखां के मरने पर उसे अपना वजीर नियुक्त किया।

सन् १६३६ में बीजापुर ने भी मुगल सम्राट् को अपना अधिकारी मान लिया था और राज्य-कर इत्यादि देना स्वीकार कर लिया था। तब से २० वर्ष तक उस राज्य में शान्ति बनी रही और उसके योग्य राजा यूसुफ आदिलशाह ने देश को हर प्रकार से समुन्नत तथा धनधान्य से परिपूरित किया। बीजापुर में शान्ति तथा सुरक्षा बनी हुई थी जिसका लाभ उठा कर उसने अपने प्रदेश को भी बढ़ा लिया तथा अपने आय के साधन दृढ़ कर लिए। सन् १६५६ में यूसुफ आदिलशाह की मृत्यु हो गई और उसके १७ वर्ष के युवा बेटे पर शासन का भार आ पड़ा। इस अवस्था का लाभ उठाकर औरंगजेब ने सम्राट से बीजापुर पर आक्रमण करने के लिए आज्ञा चाही, जिसमें मीरजुमला ने उसको सहायता दी। बीजापुर को बहुत बुरी तरह नष्ट किया गया। परन्तु इस बार भी जब बीजापुर औरंगजेब के अधिकार में आने को था, शाहजहाँ ने आदिलशाह से संधि कर ली, जिसके अनुसार उसने बहुत बड़ी रकम देना स्वीकार किया और कुछ दुर्ग भी दिये। फलस्वरूप औरंगजेब को बीजापुर से घेरा हटाकर लौटना पड़ा।

सिंहासन के लिए युद्ध (१६५७-१६५८) : शाहजहाँ के चार पुत्र थे—दारा, शुजा, औरंगजेब और मुराद। उनको सेना व शासन-सम्बन्धी काफी अनुभव प्राप्त था। सबसे बड़ा लड़का दारा सम्राट् को अधिक प्रिय था और उसी को शाहजहाँ ने युवराज नियुक्त अथवा मनोनीत किया था। वह सदा दरबार में अपने पिता के निकट ही रहता था और शाहजहाँ के शासन के अंतिम दिनों में उसको बहुत से राजकीय विशेषाधिकार प्राप्त थे। किन्तु उसको सूफीमत और हिन्दुओं के दर्शनशास्त्रों से अधिक प्रेम था। उपनिषदों का उसके ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव था, जिनमें से ४० का उसने फारसी में अनुवाद भी किया था। अतएव वह धर्म के विषय में बहुत उदार था और सूफियों तथा हिन्दू पण्डितों की संगति में बहुत रहता था। उसका विश्वास था कि उपनिषद कुरान से पहले ईश्वरीय ग्रन्थ थे। उसकी इस विचारधारा के कारण कट्टरपंथी मुसलमान और विशेषकर औरंगजेब उसको काफिर तथा घृणा का पात्र समझते थे। इसके विपरीत औरंगजेब सुन्नी सम्प्रदाय का कट्टर मुसलमान था और बहुत

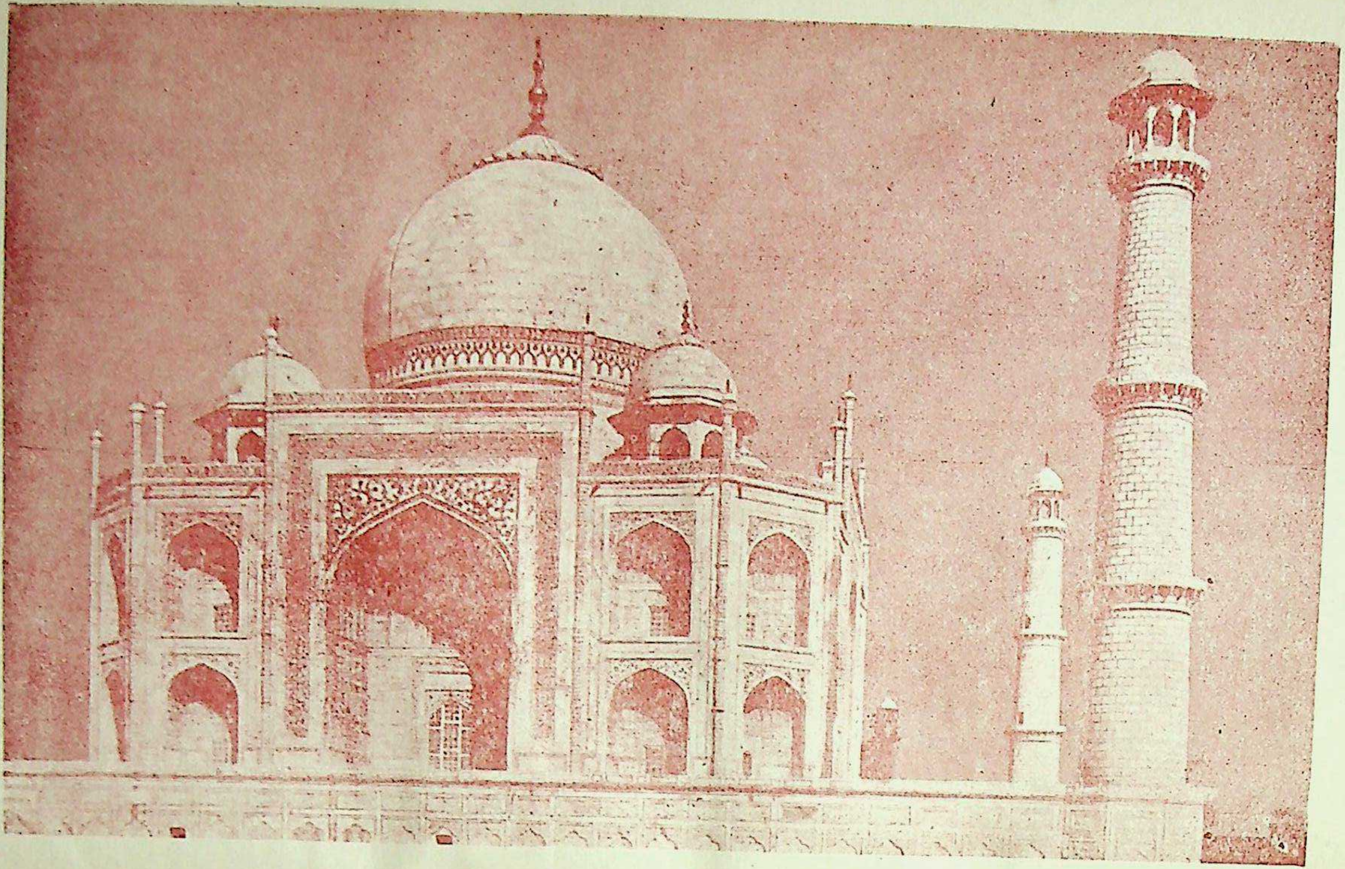

ताजमहल

अनुदार था, किन्तु वह कुशल षडयंत्रकारी था और वैसा करने में धर्माधर्म का विचार नहीं करता था। वह बड़े ठण्डे स्वभाव का राजनीतिज्ञ था। वह दारा से घृणा करता था और अपने आपको ऐसा दर्शाता था मानो इस्लाम का पक्का हामी हो। शुजा और मुराद सिया मत को मानते थे। शुजा एक वीर सैनिक था परन्तु उसकी बुद्धि निर्णयात्मक न थी और वह आराम पसन्द था। मुराद उस समय का सबसे वीर योद्धा था, परन्तु वह बहुत सीधा था और हरेक का विश्वास कर लेता था। वह भोग-विलास में मस्त रहता था। परन्तु चारों भाई अपने पिता के बाद राजगद्दी पाने के इच्छुक थे।

सन् १६५८ के आरम्भ में ही शाहजहाँ सख्त बीमार हो गया और यह समाचार उसके राज्य में दूर-दूर तक फैल गया। यह सुनकर कि सम्राट् का अन्तकाल समीप है बंगाल में शुजा और गुजरात में मुराद स्वतन्त्र राजा बन बैठे। औरंगजेग बहुत सावधानी से आगे बढ़ा और अप्रैल के आरम्भ में उसने नर्बदा पार कर ली। दारा ने राजा जसवन्तसिंह व कासिमखाँ को उसके विरुद्ध भेजा, जिन्होंने उज्जैन के समीप धर्मत में उसका सामना किया। शाही सेना पराजित हुई और तितर-बितर हो गई तथा औरंगजेब आगरा की ओर बढ़ा। इससे पहले ही पत्रों द्वारा उसने मुराद से सन्धि कर ली थी और दोनों की सेनाओं ने मिलकर दारा की सेना को सामूगढ़ (वर्तमान फतहाबाद, आगरा से ८ मील दूर पूर्व में) के युद्ध में शिकस्त दी। दारा जान-बचाकर भाग गया और औरंगजेब ने आगरा पर अधिकार कर लिया। उसने शाही खजाने पर अधिकार करके शाहजहाँ को बन्दी बना लिया। औरंगजेब ने तब छल करके मुराद को मथुरा के समीप जाल में फँसा लिया और हत्या का अपराध लगा कर उसका सिर कटवा डाला। दारा के सबसे बड़े पुत्र सुलेमान शिकोह से हारकर शुजा अराकान भाग गया। इसी बीच औरंगजेब आगरा पर अधिकार कर चुका था। शुजा को खदेड़ कर जब सुलेमान लौट रहा था तो उसने प्रयत्न किया कि वह किसी प्रकार औरंगजेब के हाथों न पड़े, किन्तु वह अन्त में धोखे से उसके द्वारा पकड़ा गया तथा बन्दी बनाया गया। दारा का मुल्तान तथा सिन्ध तक पीछा किया गया और अन्त में वह भी विजेता के हाथों में आ गया। तब दारा और उसका पुत्र सुलेमान दोनों ग्वालियर के दुर्ग में बन्दी कर दिये गये। थोड़े ही दिनों बाद औरंगजेब की आज्ञा से पिता-पुत्र दोनों की हत्या बड़ी निर्दयता से की गई।

१६५९ में औरंगजेब दिल्ली पहुँचा और सिंहासन पर बैठने का उत्सव मनाया तथा आलमगीर की उपाधि धारण की।

शाहजहाँ का चरित्र और उसके कार्य : शाहजहाँ का राज्य १६५८ में समाप्त हो गया। इसके बाद वह आगरा के किले में कड़ी निगरानी के अन्दर कैद रहा। अन्त में १६६६ में उसकी बन्दीगृह में ही मृत्यु हुई। शाहजहाँ के दरबार के धन-दौलत, शानशौकत व ऐश्वर्य को देखकर इतिहासकारों ने भ्रम से शाहजहाँ के शासन-काल को मुगलों के शासन-काल का स्वर्ण युग माना है। यह सच है कि प्रारम्भ में

शाहजहाँ ने बड़ी योग्यता और तत्परता से राज्य किया, किन्तु उसने प्रजा को सुखी व सम्पन्न बनाने के हेतु कोई भी कार्य नहीं किया। उसके ढीले शासन के कारण किसानों तथा व्यापारियों की दशा भारी करों और स्थानीय अधिकारियों के अत्याचारों के कारण अत्यन्त शोचनीय हो गई। दूरस्थ प्रदेश जैसे बंगाल आदि यूरोपीय समुद्री डाकुओं द्वारा नष्ट हो चुके थे। किन्तु उनको रोकने के लिए उस समय तक कोई कदम नहीं उठाया गया, जब तक कि इन डाकुओं ने स्वयं महारानी मुमताजमहल की बाँदियों को बन्दी न बना लिया। बादशाह को अपनी प्रजा की रक्षा करने की चिन्ता न हुई। उसकी आँख तभी खुली जब अपने ऊपर चोट पड़ी। परन्तु इस प्रकार की घटनाओं से यह भी न समझ लेना चाहिए कि शासन की मशीन बिल्कुल शिथिल हो चुकी थी। उदाहरणार्थ शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के कुछ ही समय बाद गुजरात में बड़ा भारी अकाल पड़ा था। इसके विषय में कुछ पाश्चात्य लेखकों का मत है कि सम्राट द्वारा उसके निवारण के लिए कोई उपाय नहीं किया गया था। परन्तु उनका यह आक्षेप अनुचित है। अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में वह अशक्त और आराम तलब हो गया था। फलस्वरूप उसका शासन-प्रबन्ध भी ढीला हो गया था। उसके राज्य की आय का एक बड़ा भाग मध्य एशिया और कंधार के संग्रामों में बर्बाद हो गया। हम पहले ही देख चुके हैं कि शाहजहाँ ने गद्दी पर बैठते ही हिन्दुओं के मन्दिरों को तुड़वाना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार की नीति से लोगों के हृदयों में वह श्रद्धा और सम्मान नहीं रह सकता था जिसको अकबर ने जीवन भर प्रयत्न करके पैदा किया था।

किन्तु शाहजहाँ के पास जो भी धन और समय शेष बचा उसको उसने अपने कला-प्रेम में व्यय किया, विशेषकर वास्तुकला में, और उसकी शानदार इमारतों के कारण ही उसका राज्य अब तक स्मरण किया जाता है। अकबर की सुदृढ़ व ठोस इमारतों के स्थान पर अब लाल पत्थर की जगह प्रायः संगमरमर (सफेद पत्थर) की इमारतें बनने लगीं। अकबर के भवनों में तेज, शौर्य तथा दृढ़ता स्पष्ट दीख पड़ती है। इसके प्रतिकूल जहाँगीर और शाहजहाँ के भवनों में हम कोमलता, साज-बाज का आधिक्य तथा लचीलेपन के गुण देखते हैं। वास्तु के अलंकरण (सजावट) में कीमती पत्थरों, हीरे-जवाहरात, आदि की पच्चीकारी का प्रयोग पहले-पहल नूरजहाँ के आदेशानुसार उसके पिता ग़यासबेग (एतमादुद्दौला) के मकबरे में हुआ। यह श्रेय नूरजहाँ को ही है कि उस समय से इमारतों में अत्यन्त रोचक पच्चीकारी का काम होने लगा और लाल पत्थर की जगह संगमरमर का प्रयोग होने लगा। शाहजहाँ ने इस नवीन परिपाटी को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया और कुछ ऐसी इमारतें बनवाई जो बाह्य आकार, सजावट के सौन्दर्य तथा वैभव में अद्वितीय हैं। इनमें से कुछ हैं आगरा व दिल्ली के किलों में बने हुए महल और मस्जिदें। दिल्ली का किला भी शाहजहाँ का बनवाया हुआ है, किन्तु शाहजहाँ की सबसे सुन्दर इमारत ताजमहल है जो उसकी प्रिय पत्नी मुमताजमहल का मकबरा है। यह आगरा में जमुना के किनारे पर स्थित है।

विदेशी यात्री : पीटर मण्डी (P. Mundy) एक अंग्रेज यात्री, टेवरनीयर (Tavernier) एक फ्रांसीसी, हीरे का व्यापारी, मनूची (Manucci) एक इटालियन और बर्नीयर (Bernier) एक फ्रांसीसी शाहजहाँ के शासन-काल में भारत आए और उस समय जो देश की अवस्था थी उसका अमूल्य वृत्तान्त छोड़ गए।

औरंगजेब का शासन-काल : औरंगजेब ने अपने राज्य के आरंभ से अकबर की उदार दूरदर्शी नीति को सर्वथा उलटकर बड़ी कट्टर तथा संकीर्ण नीति का संचालन किया। वैसे तो अकबर के मरते ही उसके कार्यों की प्रतिक्रिया आरंभ हो गई थी, जैसा कि हम जहाँगीर और शाहजहाँ की अधकचरी नीति तथा कामों में देख चुके हैं। औरंगजेब का पहला कार्य था इलाही संवत के नाम को बदलकर मुसलमानों का हिजरी संवत् पुनः चालू करना। [अकबर ने इलाही संवत् से हिजरी सं० के स्थान पर (जो चन्द्र वर्ष के अनुसार चलता था) सौर वर्ष को केवल इस उद्देश्य से चालू किया था कि चन्द्र वर्ष केवल ३५४ दिन का होने से जो कठिनाइयाँ पड़ती थीं वे दूर हो जायँ। इसमें धर्म की न कोई हानि थी, न उसका विरोध। परंतु धर्मान्ध औरंगजेब इस लाभकारी सुधार को उलटने में भी इस्लाम धर्म की सेवा एवं रक्षा समझता था।]

औरंगजेब के ५० वर्ष के लम्बे शासन-काल को हम दो सम भागों में विभक्त कर सकते हैं—पहले काल (१६५८-१६८१) में वह शिवाजी के अभ्युदय और दक्षिणी रियासतों की शत्रुता के बावजूद भी उत्तर में ही रहा। किन्तु दूसरे काल (१६८१-१७०७) में उसने ठीक इसका उलटा किया। मराठों के खतरे को दूर करने और बीजापुर, गोलकुण्डा जीतने के लिए सम्राट् स्वयं दक्षिण गया और मरते दम तक वहीं रहा।

प्रारम्भिक घटनाएँ : राज्य के लिए संघर्ष व उसके फलस्वरूप शासन की शिथिलता तथा अराजकता के कारण उत्तर भारत का अधिकाँश भाग प्रायः नष्ट हो गया था और देश में अकाल पड़ रहे थे। बेचारे गरीब लोगों से भारी-भारी कर वसूल किये जाते थे। औरंगजेब ने अपने राज्य से समस्त पीड़क करों को बन्द कर दिया और जागीरदारों व जमींदारों से भी ऐसा ही करने की प्रार्थना की।

मीरजुमला को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसको आसाम और कूच बिहार पर आक्रमण करने का सामान्य बहाना मिल गया। आरम्भ में तो उसे पहाड़ियों में प्रवेश करने में सफलता मिली, किंतु वर्षा आरम्भ होते ही उसकी सेना को तोप, खाद्य-सामग्री की कमी व शत्रुओं के आक्रमण से इतनी हानि उठानी पड़ी कि उसे विवश होकर पीछे लौटना पड़ा और कुछ समय पश्चात् वह मर गया। उसके बाद सम्राट् का मामा शायस्ताखाँ बंगाल का गवर्नर बना और ३० वर्ष तक इस पद पर रहा। नए गवर्नर ने बंगाल को अराकानियों और पुर्तगाली जल-डाकुओं से बचाने के लिए ठोस कदम उठाया। उसने अराकान के शासक को परास्त किया और उससे

चटगाँव ले लिया। लगभग १६८८ में उसने अंग्रेजों को बंगाल से भगा दिया और हुगली पर बनी हुई उनकी कोठियाँ नष्ट कर दीं। शायस्ताखाँ के योग्य शासन में बंगाल में सुख और शान्ति बनी रही।

उत्तर-पश्चिम की समस्या : शाहजहाँ की उत्तर-पश्चिम की नीति पूर्णरूपेण असफल रही थी। बलख तथा कंधार दोनों ही उसके हाथ से निकल गए थे। औरंगजेब के शासन के आरम्भ में ही (१६६७) **स्वात और बाजौर** की घाटी में बसने वाली अफ़गानों की एक वीर जाति उसको परेशान करने लगी। बड़ी कठिनाई से उसका दमन किया गया, परन्तु १६७२ में अफ़रीदियों ने अपने वीर नेता अकमालखाँ के अधीन विद्रोह कर दिया। स्थिति इतनी बिगड़ गई कि सम्राट को विवश होकर अपनी सबसे अच्छी सेना लेकर सीमान्त प्रदेश पर स्वयं जाना पड़ा। किन्तु फिर भी अफ़रीदियों को दबाने में उसे छः वर्ष लग गए। इतना संघर्ष करने पर भी इस विकट समस्या का पूरी तरह समाधान न हो सका। सरहदी जातियाँ बराबर साम्राज्य की सरहदी बस्तियों को सताती रहीं। वे पूरी तरह कभी भी काबू में न आईं। १२,००० अश्वारोहियों ने आक्रमण कर दिया तथा राजकुमार अकबर ने भी विद्रोह कर दिया जिससे उत्तर-पश्चिम की समस्या और भी जटिल हो गई।

औरंगजेब की धार्मिक नीति : यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि औरंगजेब के राज्य में अकबर की नीति की पूरी प्रतिक्रिया हुई। उसका विश्वास था कि उन लोगों के प्रति जो मुसलमान नहीं हैं अथवा जो मूर्तिपूजक हैं इस्लाम में निर्देश हैं उनका बड़ी कठोरता से पालन करना चाहिए। इस्लामी कानून के अनुसार किसी अन्य मतावलम्बी को मुसलमानी राज्य में रहने का अधिकार केवल इस शर्त पर दिया जा सकता था कि वह इस अधिकार को प्राप्त करने की कीमत अदा करे। यह कीमत प्रायः रुपये-पैसे के रूप में ली जाती थी, अर्थात् मुस्लिम राज्य में रहने वाले प्रत्येक अमुस्लिम को एक वैयक्तिक टैक्स देना पड़ता था; इसी का नाम जजिया था।

औरंगजेब ने अपने व्यक्तिगत जीवन में भी सुन्नी मत के नियमों को पालन करने का पूरा प्रयत्न किया। कट्टर मुसलमान होने के नाते उसने सिंहासन पर बैठने के ग्यारहवें वर्ष में दरबार में गाना-बजाना भी बन्द करवा दिया। चित्रकारी आदि कलाओं का तो कोई स्वप्न भी न देख सकता था क्योंकि वे इस्लाम धर्म के सर्वथा विरुद्ध थीं। अतएव राज्य का संरक्षण न पाने के कारण कला का ह्रास होने लगा। इस्लाम के विरुद्ध जितने रीति-रिवाज थे, जैसे नशीली वस्तुओं का प्रयोग, सम्राट् के तुलादान का उत्सव, भेंट लेते समय राजाओं के माथे पर टीका करना इत्यादि, बन्द कर दिये गए और इस्लामी रीति-रिवाजों का प्रयोग चालू किया गया।

हिन्दुओं को आमतौर से नीचा देखना पड़ता था। औरंगजेब गद्दी पर बैठने से पूर्व ही धर्मान्ध था। १६४४ में जब वह गुजरात का गवर्नर था उसने चिन्तामणि के प्रसिद्ध मन्दिर में गाय कटवाकर उसको भ्रष्ट किया था और फिर उसकी मस्जिद बनवा दी थी। इसके अतिरिक्त उसने अनेक मन्दिरों को नष्ट किया था। गद्दी पर

बैठने के प्रथम वर्ष में ही उसने आदेश दिया कि हिन्दू लोग कोई नये मन्दिर न बनाएँ। इसके पश्चात् राजकीय आदेश निकला कि १२ वर्ष पूर्व तक के बने हुए मन्दिर सब तुड़वा दिए जाएँ और पुराने मन्दिरों की मरम्मत न की जाय। १६६९ में सोमनाथ का मन्दिर, बनारस में विश्वनाथ का मन्दिर तथा मथुरा में केशवराय का मन्दिर तोड़ डाले गये और उनकी जगह मस्जिदें बनवा दी गईं। १६८० में उज्जैन के मन्दिरों की भी यही दशा हुई और राजभवन रियासत अम्बर (आमेर) का मन्दिर भी नहीं बचा। राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् १६७९ में हिन्दुओं पर फिर जजिया लगाया गया। जब इस योजना का विरोध करने के लिए अनेक हिन्दू किले में इकट्ठे हुए तो इन्हें हाथियों से कुचल डालने की आज्ञा दी गई। बेचारे अनेक हिन्दुओं की इस प्रकार निरपराध हत्या हुई। इन अत्याचारों के अतिरिक्त हिन्दुओं पर और भी कई प्रकार से अन्याय किये गए। हिन्दू व्यापारियों पर मुसलमान व्यापारियों की अपेक्षा दुगनी चुंगी लगाई गई। बाद में मुसलमानों पर से चुंगी बिल्कुल हटा ली गई परन्तु हिन्दुओं पर उतनी ही बनी रही। मुसलमानों को बड़े-बड़े सार्वजनिक पद और सम्मिलित उपाधियाँ तथा अतिरिक्त वेतन दिए गए। उन को बन्दीगृह में नहीं रखा जा सकता था। इन सब बातों से लोगों को लालच दिया गया कि वे इस्लाम मत में प्रवेश करें। यह कहावत आम प्रचलित हो गई थी कि औरंगजेब के राज्य में मुसलमान बनते ही कानूनगो का पद मिल जाता है। पंजाब के अनेक कुलों में वे आज्ञा-पत्र सुरक्षित हैं जिसमें यह लज्जाजनक शर्त लिखी हुई है। १६७१ में प्रान्तों के शासकों और ताल्लुकेदारों को आज्ञा दी गई कि वे हिन्दू पेशकार और मुनीमों को हटाकर उनके स्थान पर मुसलमानों को रखें। किन्तु जब ज्ञात हुआ कि बिना हिन्दुओं के हिसाब-किताब का काम नहीं चल सकता तो आधे पद हिन्दुओं को दिए गए। मार्च १६९५ में राजपूतों को छोड़कर अन्य सब हिन्दुओं के लिए पालकी, घोड़े व हाथी की सवारी बन्द कर दी गईं। वे न हथियार रख सकते थे और न बढ़िया वस्त्र पहन सकते थे। इससे पूर्व १६६८ में कुछ प्रान्तों में हिन्दुओं के मेले बन्द कर दिए गए थे और शहरों के अन्दर होली और दीवाली के त्यौहार भी बन्द कर दिए गए थे।

औरंगजेब की नीति के परिणाम : मन्दिरों को तोड़ने व मथुरा के हिन्दुओं के ऊपर अत्याचार की नीति के कारण जाटों ने १६६९ में विद्रोह कर दिया। उन्होंने मथुरा के अत्याचारी गवर्नर अब्दुल नबी का वध कर डाला। एक वर्ष के कड़े युद्ध के पश्चात् उनका दमन किया गया। जाटों के उपद्रव बार-बार हुए (१६८१, ८८ और ९१)। उन्होंने अकबर की समाधि को उखेड़ डाला और उसकी हड्डियों को निकालकर बाहर फेंक दिया। १६७२ में सतनामियों ने भी वैसा ही विद्रोह किया। ये लोग 'सत्यनाम' अर्थात् एक ईश्वर के पुजारी थे। इसी से 'सतनामी' कहलाते थे। इनमें अधिकांश प्रायः खेती का पेशा करते थे। ये मेवात के निवासी थे। इनका मुख्य स्थान नारनौल था। ये लोग भी बादशाह की संकीर्ण नीति से पीड़ित थे। अन्य हिन्दुओं की भाँति इन लोगों में भी बड़ा असंतोष था। यह दया

हुआ असंतोष एक छोटी-सी घटना के कारण भड़क उठा। एक दिन राज्य के सैनिक और एक सतनामी के बीच झगड़ा हो गया। अपने साथी पर अत्याचार होते देखकर अन्य सतनामियों ने उस सिपाही को मार डाला। फिर तो राज्य की ओर से सेनाएँ इन लोगों का दमन करने के लिए भेजी गईं, पर सतनामियों में परस्पर इतना एका था कि वे बादशाही सेना से बराबर लोहा लेते रहे। बादशाह के बहुत से सैनिक मारे गये और अन्त में बड़ी कठिनाई के बाद इन लोगों को सरकारी सेना परास्त तथा नष्ट कर पाई। इस विद्रोह का ऊपरी कारण तो जैसा हम कह आये हैं, बड़ा तुच्छ-सा था। परन्तु वास्तविक कारण तो वही था जिससे समस्त साम्राज्य में विद्रोह की आग भड़क उठी थी। औरंगजेब की अन्यायपूर्ण नीति और बढ़ते हुए अत्याचार इस विद्रोह को भड़काने में सहायक हुए। एक साधारण-सी घटना ने इतना भंयकर रूप धारण कर लिया कि सम्राट् को उसे दबाने के लिए अपनी सबसे उत्तम सेना भेजनी पड़ी, परन्तु विद्रोही बड़े भयानक संघर्ष के बाद काबू में आए।

सिक्ख : १५३९ में गुरुनानक की मृत्यु से लेकर १५७४ तक पंजाब में उनके अनुयायिओं की एक शान्तिपूर्ण धार्मिक संस्था थी। इसके अनन्तर इस वर्ग के प्रधान का पद पैतृक हो गया तथा गुरुओं की गद्दी स्थापित हुई। १५७७ में सिक्खों के चौथे गुरु रामदास को अकबर ने वह स्थान प्रदान कर दिया था, जहाँ अमृतसर में स्वर्ण-मन्दिर बना हुआ है। पाँचवें गुरु अर्जुनदेव के अधीन सिक्खों के मन्दिर ने एक विशेष रूप धारण किया। उसने आदि ग्रंथ का संकलन किया, अमृतसर को अपना निवास-स्थान बनाया और मन्दिर के व्यय के लिये सिक्खों पर उनकी आय का दसवां हिस्सा कर लगा दिया। अर्जुनदेव का जब निर्दयतापूर्वक वध किया गया तो हरगोबिन्द के अधीन सिक्ख एक सैनिक जाति में परिवर्तित होने लगे। तब से गुरु सम्राट् से सदा शत्रुता रखते थे। नवें गुरु तेगबहादुर से कुछ काल के लिए सन्धि हो गई थी, परन्तु जब उन्होंने औरंगजेब के धार्मिक अत्याचार का विरोध किया तो उनको बन्दी बना लिया गया तथा फांसी दे दी गई (१६७६)। उनके पुत्र गुरु गोबिन्दसिंह (१६७६-१७०८) सिक्खों की सैनिक शक्ति के वास्तविक प्रवर्तक थे। उन्होंने जाति-पांति के भेद को हटा कर सिक्खों को तैयार किया और उनके लिए कठोर नियमों की व्यवस्था की, जैसे नशों से दूर रहना, लम्बे केश रखना तथा कड़ा, कच्छा, कंघा और कृपाण का सदा प्रयोग करना। इस प्रकार सिक्खों को भाई बनाया गया, और उनका संगठन 'खालसा' कहलाया।

गुरु तेगबहादुर की हत्या से खालसा व मुगलों में खुले-आम शत्रुता होने लगी। गुरु गोबिन्दसिंह ने सिक्खों को मुगल राज्य और इस्लाम मत का कट्टर शत्रु बना दिया। गुरु गोबिन्द विद्वान और किसी हद तक कवि भी थे और उनके अनुयायी उनके व्यक्तित्व से बड़े उत्साहित हुए थे। उन्होंने पंजाब में आनन्दपुर में रह कर शाही सेना का सामना करने की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। एक युद्ध में उन्होंने

शाही सेना का बड़ा कड़ा मुकाबला किया किन्तु शत्रु की संख्या कई गुनी होने के कारण उसको हार हुई और दूर-दूर तक उनका पीछा किया गया। उन्होंने चमकोर में केवल ४० सिक्खों के साथ मोर्चा लिया, जिसमें उनके दो पुत्र तो मारे गये और शेष दो को सरहिन्द के सूबेदार ने बन्दी बना लिया तथा फांसी दे दी। गोविन्दसिंह के साथ अनेक दुर्घटनाएँ हुईं। औरंगजेब के बाद गोविन्दसिंह ने बहादुरशाह को गद्दी पाने में सहायता दी। तब वह दक्षिण चले गए और नाँदेर में एक अफ़गान ने उसको छुरे से मार दिया (१७०८)।

राजपूतों से युद्ध : अरावली पर्वत-श्रेणी के पश्चिम में मारवाड़ का प्रदेश बहुत शुष्क और रेतीला व पथरीला है। आबादी बहुत दूर-दूर पर है और आर्थिक स्रोत अल्प और हीन हैं। इसकी वार्षिक वर्षा केवल पाँच इंच है। दक्षिण तथा पूर्वी राजपूताना की सिंचाई लूनी नदी से होती है जिसमें वर्ष के केवल दो मास जल रहता है, किन्तु फिर भी वह नदी वर्षा-काल में उस शुष्क प्रदेश के लिए वरदान-स्वरूप है। इसकी मुख्य उपज बाजरा है और वही वहाँ के लोगों का मुख्य भोजन है। कुछ हरे-भरे स्थानों में, जहाँ जल की विशेष सुविधा है, अन्य वस्तुएँ भी उत्पन्न होती हैं, जैसे गेहूँ, चना और पोस्त। इस देश में नमक की कई झीलें व कुण्ड हैं। तो भी यह गरीब मरुस्थल मुगलों के लिए विशेष महत्व रखता था, क्योंकि उत्तरी भारत से गुजरात जाने के लिये इसमें होकर सबसे छोटा मार्ग था। अतएव मुगल बादशाह इस प्रदेश को आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों उद्देश्यों से जीतना चाहते थे, जिससे उनके दक्षिण जाने वाले व्यापारियों व सैनिकों का मार्ग निष्कण्टक हो जाय। इसके अतिरिक्त जोधपुर की सबसे सम्पन्न हिन्दू रियासत औरंगजेब की आँखों में कांटे की भांति खटकती थी।

१६६७ में अम्बर-नरेश राजा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् राजपूताना में जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह का पद और प्रतिष्ठा सर्वश्रेष्ठ हो गये। औरंगजेब की यह हार्दिक इच्छा थी कि जोधपुर के सिंहासन पर राजा जसवन्तसिंह के पश्चात कोई उत्तराधिकारी न हो और इस प्रकार हिन्दुओं की शक्ति के फिर से उभरने का कोई उपाय बाकी न रह जाय। अतएव जब जमरूद के स्थान पर १६७८ में राजा की मृत्यु हुई तो औरंगजेब ने अपने उत्तराधिकारियों को उस राज्य पर अधिकार करने के लिए भेज दिया। वहां के राजकोष पर अधिकार कर लिया गया और प्रजा पर जजिया लगा दिया गया। उसने आज्ञा दी कि राजा की मृत्यु के पश्चात पैदा हुए उसके पुत्र अजीतसिंह का पालन शाही हरम में हो। अजीतसिंह का जन्म लाहौर में उस समय हुआ था जब राजा की विधवा रानियाँ जमरूद से लौट रही थीं। औरंगजेब ने राठौर सरदारों की इस विनती को ठुकरा दिया कि अजीतसिंह को मारवाड़ का उत्तराधिकारी घोषित किया जाय। ये सन्देह करने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अजीतसिंह को जोधपुर पाने के लिये यह शर्त रखी गई थी कि वह इस्लाम मत स्वीकार कर ले। दुर्गादास के नेतृत्व में वीर राठौर ने प्रतिज्ञा की कि स्वर्गीय राजा के पुत्र और हिंदू धर्म की प्रतिष्ठा की रक्षा वे उस समय तक करेंगे जब तक उनमें से एक भी व्यक्ति जीवित

है। दुर्गादास ने अजीतसिंह को सही-सलामत मारवाड़ पहुँचा दिया। सहस्रों राजपूतों ने बादशाह की उस सेना से लड़ते हुए अपने प्राण न्योछावर कर दिये जिसे औरंगजेब ने अजीतसिंह का पीछा करने के लिए भेजा था। अजीतसिंह को आबू पर्वत पर छिपा कर रखा गया। किन्तु औरंगजेब ने एक अन्य बालक का पालन किया जिसे उसने असली अजीतसिंह बतलाया और वास्तविक राजकुमार को झूठा ठहराया। मारवाड़ के विरुद्ध उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और उसकी सेना ने वहाँ अपरम्पार लूट-मार और हत्याकांड मचा दिए। दूसरे युद्ध में पुष्कर के स्थान पर भयंकर युद्ध के पश्चात् राठौरों की फिर पराजय हुई। उसके बाद औरंगजेब ने खुलेआम वहां पर मुगलोंका शासन स्थापित कर दिया। और अपने अधिकारी वर्ग हरेक जिलेमें शासन करने के लिए भेज दिये। इसके पश्चात् लोगों को धार्मिक कष्ट दिए जाने लगे। मंदिरों को गिरा कर उनकी जगह मस्जिदें बनाई गईं। तब जसवन्तसिंह की विधवाओं ने मेवाड़ के राणा राजसिंह से रक्षा की याचना की। राणा स्वयं औरंगजेब के अत्याचारों से चिढ़ा हुआ था, अतएव वह तुरन्त ही इस अन्यायी बादशाह से लड़ने के लिए राठौरों से मिल गया। यह समस्त राजस्थान को संकेत था कि वह बादशाह के अत्याचारों के विरुद्ध हथियार उठाए। यद्यपि बादशाह की अपार शक्ति और सेना के सम्मुख राजपूतों को परास्त होना पड़ा, परन्तु फिर भी राजपूतों ने निश्चय कर लिया था कि वे आखिरी दम तक युद्ध करते रहेंगे। १६८१ में औरंगजेब का बेटा शाहजादा अकबर बादशाह का साथ छोड़कर राजपूतों से मिल गया और उसने अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। उसने अपने पिता को बन्दी बनाने की योजना बनाई थी परन्तु वह बाल-बाल रह गई। दुर्गादास उसको अपनी सुरक्षा में दक्षिण में ले गया जहाँ उसने मरहठों की शरण ली। शाहजादा अकबर की दीर्घसूत्रता तथा चित्त की अस्थिरता के कारण औरंगजेब बड़े भारी खतरे से बच गया। अब उसने मेवाड़ से सन्धि कर ली और जजिया हटा लिया जिसके बदले राणा ने उसको कतिपय परगने दे दिये। किन्तु मारवाड़ की लड़ाई १७०६ तक चलती रही। दुर्गादास ने छापा मार लड़ाइयों से बादशाह को परेशान करके थका डाला। फलस्वरूप मारवाड़ के गरीब लोग नष्ट हो गए। परन्तु इस लम्बे युद्ध में बादशाह की शक्ति की भी अपार हानि हुई। उसकी इस संकुचित नीति से किसी को भी लाभ न हुआ। समस्त देश में, विशेषकर राजपूताना की प्रजा में, बादशाह के प्रति गहरा असन्तोष तथा घृणा उत्पन्न हो गई। उसको युद्ध में कोई सफलता प्राप्त न हुई। राज्य के मुख्य आधार राजपूत उससे विमुख हो चुके थे और उत्तर-पश्चिम में अफगानों के दंगे समाप्त नहीं हुए। किन्तु सबसे बड़ी समस्या दक्षिण की थी जिस ओर बादशाह ने अपना ध्यान विशेष तौर से दिया।

मरहठों का अभ्युदय—शिवाजी : अब हम देखेंगे कि किस प्रकार शिवाजी व मरहठों की शक्ति बढ़ी। किन परिस्थितियों में शिवाजी की उन्नति हुई, यह समझने के लिए आवश्यक है कि शिवाजी के जन्म के समय दक्षिण में जो राजनीतिक उलझनें

फैली हुई थीं उनका सिंहावलोकन कर लिया जाय। हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिणी राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और मुगल समस्त दक्षिण को विजय करना चाहते थे। स्वाभाविक ही था कि मुगलों का विरोध करने के लिए हिन्दू व मुसलमान दोनों आपस में मिलकर दक्षिण की रक्षा का प्रयत्न करते। यह सच है कि शिवाजी के आगमन से पूर्व मरहठे मंत्री व सेनापति दक्षिण के मुस्लिम शासकों के मुख्य सलाहकार और रक्षक थे। मुगलों का खतरा बढ़ता जा रहा था। उधर दक्षिणी राज्य कुछ तो आपसी फूट के कारण और कुछ शासकों की अयोग्यता के कारण असक्त हो रहे थे। इसलिए यदि उत्तर के सम्राट् से दक्षिण की रक्षा करनी थी तो एक नई ठोस शक्ति की आवश्यकता थी जो मुगलों का सामना कर सके और दक्षिण की स्वतन्त्रता कायम रख सके।

शिवाजी के सम्मुख समस्या का रूप : शिवाजी इसी समय रंगमंच पर प्रकट हुए जबकि दक्षिण को मुगलों के आक्रमण से बचाने की समस्या बहुत जटिल हो चुकी थी और जब मरहठे खतरे से भली-भाँति आगाह हो गए थे। मरहठों में जागृति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप हुई थी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दुओं की दलित व अत्याचार-पीड़ित जातियों का उद्धार करने के आन्दोलन तेरहवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गए थे। उसके बाद अनेक संत-सुधारकों ने जन्म लिया। उन लोगों पर उच्चवर्ण वालों के सामाजिक अत्याचारों के साथ-साथ अकबर के समय से ही मुगलों के राजनीतिक हमले भी होते रहे थे। उत्तर के इस सार्वजनिक खतरे से बचने के लिए ऊंच-नीच, छोटे-बड़े तथा हिन्दू-मुसलमान सब एक हो गए। किन्तु अकबर के पश्चात् उसकी नीति की जो प्रतिक्रिया हुई उसके फलस्वरूप दक्षिण में भी मुगलों की नीति में परिवर्तन हुआ। औरंगजेब खुले आम इस्लाम धर्म का पोषक व प्रचारक बना हुआ था जिससे दक्षिण के पूर्व शासकों का विचार था कि यदि वह सम्राट बना तो वह अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ अवश्य ही अत्याचार करेगा। इस प्रकार शिवाजी के सम्मुख बड़ी जटिल समस्या थी। मुगलों के आक्रमण को रोकने के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी शक्ति को बढ़ाए, क्योंकि दक्षिण के मुर्दा राज्यों में जान डालना असम्भव था। सरकार महोदय के शब्दों में, "(१६५६) में शक्तिशाली आदिलशाह सुल्तान की मृत्यु के उपरान्त दक्षिण की शेष मुस्लिम रियासतों का छिन्न-भिन्न होकर मुगल राज्य में मिल जाना अवश्यंभावी था, यदि दक्षिण की राजनीति में सहसा महान् परिवर्तन न हुआ होता।" अपनी रक्षा करने के लिए दक्षिणी रियासतें बार-बार सन्धि करती थीं, कभी शिवाजी से व कभी आपस में। उधर शिवाजी जिस स्थान से लाभ उठा सकते थे वह केवल बीजापुर का ही राज्य था। उनके पास इसके अतिरिक्त कोई साधन नहीं था कि बीजापुर के दुर्गों, कोषों व भूमि आदि पर कब्जा करके अपने को दृढ़ बनाएँ। फलस्वरूप उसको उस समय बीजापुर से संघर्ष में आना पड़ा जब औरंगजेब दक्षिण में वायसराय था। यदि शिवाजी का काम चल जाता तो वह बीजापुर के प्रदेश पर कभी हाथ न डालता। जब १६६२ में बीजापुर के मन्त्रियों से शिवाजी का समझौता हो गया तो उसने

बीजापुर की सीमा के प्रदेश से कोई छेड़-छाड़ नहीं की, यद्यपि उसको बीजापुर के उन अमीरों व सरदारों से संघर्ष करना पड़ता था जिनकी जागीरें उसके राज्य की सीमा थीं अथवा उसके राज्य-विस्तार के मार्ग में पड़ती थीं। साथ-ही-साथ शिवाजी मुगलों के भी दक्षिणी प्रदेशों में लूट-मार करता रहता था। अफजलखाँ व शायस्ताखां के साथ जो घटनाएँ हुईं वे इसी परिस्थिति के फलस्वरूप थीं, न कि साम्प्रदायिकता के कारण। औरंगजेब की कट्टर-पंथी नीति ही के कारण शिवाजी को अत्याचार-पीड़ित हिन्दुओं का रक्षक बनना पड़ा और उन्होंने अपने राष्ट्र के निर्माण के लिए उसे साम्प्रदायिकता का रंग दिया। मरहठों का यह आन्दोलन, जैसा कि मरहठों के बाद के इतिहास से विदित होगा, अधिक दिनों तक नहीं ठहर सका।

मुगल-शिवाजी संघर्ष के अन्तर्गत घटनाओं का अब हम संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं। मरहठों का देश दक्षिण-पश्चिम में व उत्तर-पश्चिम में और पश्चिम में हिन्द महासागर से घिरा हुआ है। इसके तीन स्पष्ट प्राकृतिक विभाग हैं। पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच का लम्बा पर पतला कोंकरण प्रदेश, जिसमें घनी वर्षा होती है, चावल जिसकी मुख्य उपज है तथा आम, केले और नारियल बहुतायत से होते हैं। कोंकरण के पूर्व में घाटों का ऊंचा सिरा है जो चावलों की भूमि कहलाता है, जिसके पूर्व में घाट ढालू हो जाते हैं और नदी की घाटियाँ अधिक चौड़ी हो जाती हैं। यह भाग देश कहलाता है। इसके बहुत से दुर्ग पहाड़ियों की चोटी पर हैं। महाराष्ट्र के लोगों की उत्पत्ति मिली-जुली है। कोंकण के चितपावन ब्राह्मण अपनी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा तथा हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति की रक्षा की थी। मरहठों का जीवन सादा और कठोर होता है। महाराष्ट्र ही ऐसा देश था जहाँ ब्राह्मणों के हिन्दू धर्म का सबसे अधिक प्रचार हुआ और वहाँ पर ब्राह्मणों के विरुद्ध सबसे प्रथम आन्दोलन उठा और जोर पकड़ गया। और इसी आन्दोलन ने लोगों में वह जागृति पैदा कर दी थी जो शिवाजी के नेतृत्व में एक शक्तिशाली राष्ट्र में ढल गई।

शिवाजी का जन्म : पूना के समीप शिवनेर नामक दुर्ग में १६३० में हुआ उनके पिता शाहजी भोंसले अहमदनगर राज्य के प्रधान कर्मचारी थे और बाद में बीजापुर के। जब शाहजी की बदली १६३६ में तुंगभद्रा जिले में हो गई, शिवाजी अपनी माता जीजाबाई के पास रह गए। जीजाबाई एक आदर्श माता तथा साध्वी स्त्री थी। उसके संरक्षक दादाजी कौंडदेव थे। जीजाबाई ने कहानियां सुना-सुनाकर बालक शिवाजी में हिन्दू (आर्य) धर्म तथा प्राचीन धर्म-ग्रंथों का ज्ञान कूट-कूट कर भर दिया था। दादाजी से उन्होंने निशाना लगाना और घोड़े की सवारी आदि सैनिक शिक्षा पाई। शिवाजी के अन्दर एक नेता के गुण जन्म से ही विद्यमान थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा से उनका व्यावहारिक ज्ञान ही नहीं बढ़ा वरन् उनके हृदय में उच्चाभिलाषा और उच्चादर्शों का प्रादुर्भाव भी हुआ।

अपनी बढ़ती हुई इच्छा को पूरा करने का एक मौका जल्दी ही उनके हाथ लगा। १६४६ में बीजापुर का आदिलशाह सख्त बीमार पड़ा। शिवाजी ने वीर और

दृढ़ मवालियों का एक गिरोह बनाया और तोरण तथा कौण्डाना के दुर्ग ले लिए। उन्होंने फिर कोंकण पर आक्रमण किया और कल्याण के प्रसिद्ध नगर पर अधिकार कर लिया। इस पर बीजापुर के शासक ने शाहजी (शिवाजी के पिता) को बन्दी बनाकर बदला लिया। शिवाजी ने कौण्डाना तथा अन्य दुर्ग वापस देकर अपने पिता को मुक्त कराया। कुछ वर्षों तक शिवाजी शांत रहे और अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। १६५५ में उन्होंने फिर बीजापुर से शत्रुता कर ली और १६५७ तक समस्त कोंकण प्रदेश जीत लिया। इसके बाद उन्होंने सतारा जिले में जावली की सम्पन्न रियासत पूर्णरूप से जीत ली और रायगढ़ पर अधिकार कर लिया। तब उन्होंने जावली के समीप प्रतापगढ़ नामक दुर्ग बनाया। इसी बीच शाहजहाँ के पुत्रों में गद्दी के लिए युद्ध छिड़ गया और औरंगजेब उत्तर की ओर चला गया।

शिवाजी और अफजलखां : शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति से आशंकित होकर बीजापुर-नरेश ने अफजलखाँ को एक बड़ी सेना देकर शिवाजी को जीवित अथवा मृत पकड़ने के लिए भेजा (१६५९)। कुछ भाग को जीतकर अफजलखाँ ने अपने दूत कृष्णजी भास्कर नामी एक ब्राह्मण को शिवाजी के पास इसलिए भेजा कि वह किसी प्रकार शिवाजी से उसकी भेंट करा दे। अफजलखाँ का इरादा यह था कि भेंट के बीच में वह छल से शिवाजी को मार डाले। शिवाजी ने कृष्णजी से प्रार्थना की कि वह सच-सच खान का इरादा बतला दे जो कृष्णजी ने साफ-साफ बता दिया। अतएव ऐसा प्रबन्ध हुआ कि दोनों की भेंट प्रतापगढ़ के दुर्ग के समीप एक पहाड़ी पर हो। शिवाजी ने सब तैयार कर ली और अपने आदमियों को सावधान कर दिया कि संकेत पाते ही उसी क्षण उसकी सहायता को दौड़ आएँ। भेंट करते समय अफजलखाँ ने, जो शिवाजी से बहुत लम्बा था, शिवाजी के गले में अपनी बाँहें डाल दीं और गला घोटना चाहा। उसी समय शिवाजी ने अपना बाघनख उसके पेट में घुसेड़ दिया और उसकी आंतें निकाल लीं। सहसा मरहठे सैनिक अफजलखाँ की भयभीत सेना पर टूट पड़े और उसको नष्ट कर दिया। शिवाजी को घोड़े, गाड़ियाँ, तम्बू आदि अनेक सामग्रियाँ लूट में हाथ लगीं। जब शिवाजी बीजापुर के काबू में न आए तो औरंगजेब ने दक्षिण के वायसराय शायस्ताखाँ को आज्ञा दी कि वह शिवाजी का दमन करे। किन्तु मरहठे छापामार सैनिकों ने उसके डेरे को लूट लिया और उसको खूब परेशान किया। अन्त में जब शिवाजी ने अचानक उस पर आक्रमण कर दिया और निकट था कि उसको मार दिया जाता तो वह इतना भयभीत हुआ कि उसने बादशाह से याचना की कि उसको बदल कर किसी और प्रान्त में भेज दिया जाय। अतएव उसे बंगाल भेज दिया गया। शाहजादा मुअज्जम को भी, जो उसके बाद वायसराय हुआ, कुछ सफलता न मिली। शिवाजी ने उसे घूस देकर शान्त कर दिया। औरंगजेब २५ वर्ष तक उत्तर में व्यस्त रहा, जिससे शिवाजी को दक्षिण में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए खुला मैदान मिल गया।

शिवाजी का आगरा आना : १६६४ में शिवाजी ने सूरत के धनी प्रदेश पर बड़ा साहसिक आक्रमण करके उसको लूट लिया। जब औरंगजेब ने उसको दबाने के

लिए अपने सबसे योग्य सेनापति राजा जयसिंह और दिलेरखाँ को भेजा। शिवाजी ने जयसिंह से पत्र-व्यवहार किया और उससे मित्रता कर ली। इसके बाद, राजा जयसिंह ने शिवाजी को सम्राट का प्रभुत्व स्वीकार करने के लिये तैयार कर लिया और १६६५ ई० में पुरन्धर में एक संधिपत्र पर दोनों ने हस्ताक्षर किए। तब राजा जयसिंह ने शिवाजी को सम्राट् के दरबार में चलने के लिए राजी कर लिया। जब शिवाजी दरबार में पहुँचे तो उनका राजाओं जैसा सम्मान नहीं किया गया। इस पर उन्होंने भरे दरबार में अपना क्रोध प्रकट किया। औरंगजेब ने उन्हें बन्दी बना लिया। थोड़े दिन में शिवाजी किसी चाल से बन्दीगृह से निकल भागे और बहुत-सी घटनाओं का सामना करते हुए अन्त में दिसम्बर १६६६ में अपने देश में सही-सलामत पहुँच गए। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा जयसिंह से औरंगजेब अप्रसन्न हो गया और उसे दक्षिण के वायसराय के पद से हटा दिया। आलसी मुअज्जम तथा राजा जसवंतसिंह में, जो दक्षिण में रह गये थे, इतना साहस न रह गया था कि शिवाजी से युद्ध करते। इधर शिवाजी भी शान्ति चाहते थे जिससे वह शासन में सुधार कर सकें। अतएव शिवाजी ने मुअज्जम और राजा जयसिंह से प्रार्थना की कि वे मध्यस्थ बनें। इस प्रस्ताव का समाट् ने स्वागत किया। पुरन्धर में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए जिसमें सम्राट् ने शिवाजी की राजा की उपाधि स्वीकार की (१६६८), परन्तु उसके दुर्ग उसको नहीं लौटाए। यह सन्धि दो वर्ष तक रही। सन् १६७० में शिवाजी ने पुनः आक्रमण आरम्भ कर दिए, क्योंकि औरंगजेब छिपे-छिपे शिवाजी को दुबारा फँसाने का षड्यंत्र रच रहा था। उस साल शिवाजी पुनः सूरत पहुँचे और खानदेश के कोष से चौथ वसूल की। इस समय तक शिवाजी ने समस्त बीजापुर राज्य को हस्तगत कर लिया और १६७४ में राज्याभिषेक का उत्सव धूमधाम से मनाया और वे महाराष्ट्र के राजा कहलाए। इस घटना की स्मृति में उन्होंने एक नवीन सम्वत् चलाया। मुगलों ने फिर शिवाजी के राज्य में हमले करने शुरू कर दिये। अब उसने शाही सीमा में भड़ौच तक प्रवेश करके बदला लिया, तथा १६७५ में नर्बदा नदी पार कर ली। १६७६ से १६८० तक शिवाजी अपने पिता की जागीरों को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहे, तथा नए प्रदेश भी जीतते रहे। कई बार सफल आक्रमणों द्वारा उन्होंने बलारी, बेलोर- जिंजी तथा कई अन्य बन्दरगाहों पर, जो प्राचीन विजयनगर राज्य के अन्तर्गत थे, अधिकार कर लिया। इसी प्रकार विजय प्राप्त करते हुए तथा गौरव के शिखर पर पहुँचकर यह महान् नेता १६८० में संसार से कूच कर गया।

शिवाजी का शासन : शिवाजी में महान् विजेता एवं एक योग्य शासक तथा राजनीतिज्ञ के सभी गुण बिपुल मात्रा में विद्यमान थे। अपने राज्य के शासन के लिए उन्होंने आठ सदस्यों का एक मन्त्रिमण्डल बनाया, जो राजकाज में उनकी सहायता करता था। जान पड़ता है कि उन्होंने मंत्रिमंडल का यह रूप शुक्रनीति से लिया हो। इस मन्त्रिमंडिल का नाम अष्ट-प्रधान रखा गया। इनमें मुख्य प्रधान (पेशवा),

अमात्य अथवा अर्थ मंत्री अथवा राजा का सेक्रेटरी, सचिव अथवा पत्र-व्यवहार का प्रधानाध्यक्ष, सुमन्त अर्थात् विदेश-मंत्री और समाचार-विभाग का प्रधान, सेनापति, पंडित राव, जिसके अधीन धार्मिक मामले और दान-संस्थाएँ होती थीं, और न्यायाधीश, ये आठ सदस्य थे। सेनापति को छोड़कर अन्य सब मंत्री ब्राह्मण होते थे। राज्य के पत्र-व्यवहार के लिए कायस्थ रखे जाते थे। आठ व्यक्तियों का मण्डल केवल मंत्रणा देने वाली संस्था थी जो राजा की आज्ञानुसार कार्य करती थी। राजा के अधिकार सर्वोपरि तथा अबाध्य थे। मंत्रियों का कार्य केवल राजा की आज्ञा-पालन करना तथा अपने विभाग के मामलों की देखभाल करना था। आवश्यक प्रश्नों पर मन्त्री राजा को परामर्श भी देते थे।

राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था और प्रांत के गवर्नरों को इनके कार्यों में केन्द्रीय शासन की भाँति आठ मुख्य अफसर सहायता देते थे। ये गवर्नर राजा की आज्ञानुसार कार्य करते थे किन्तु कर्नाटक के गवर्नर को विशेष अधिकार मिले हुए थे।

राज्य की आय : आय के लिए प्रान्तों को परगनों और तरफों में बाँटा गया था जिनमें ग्राम सबसे छोटी इकाई होता था। भूमि की माप बड़ी सावधानी से की जाती थी और जितनी उपज का अनुमान किया जाता था उसका ४० प्रतिशत राज्य का भाग होता था। किसान को यह स्वतन्त्रता होती थी कि कर नकद चुकाए अथवा अन्न के रूप में चुकाए। माप में गलती न हो, अतएव एक ही माप का यंत्र प्रयुक्त होता था। आय विभाग के अफसरों को जागीर न देकर कोष से वेतन दिया जाता था। शिवाजी को अनेक युद्ध करने पड़ते थे और उनके व्यय को पूरा करने लिए वह पड़ौसी राज्यों से चौथ लिया करते थे, अर्थात् सरकारी आय का चौथाई भाग। इसके अतिरिक्त सर-देशमुखी भी ली जाती थी जो दस प्रतिशत अतिरिक्त कर होता था। चौथ लेने की विधि कदाचित् उसने रामनगर के राजा से सीखी थी जो वह अपने राज्य में रहने वाले पुर्तगाल वालों से लिया करता था। सरदेशमुखी वसूल करने का यह कारण बताया जाता था कि शिवाजी मरहठों के प्रदेश के मुखियों के भी मुखिया थे।

जल व स्थल-सेना : शिवाजी में जन्मजात सैनिक प्रतिभा थी। उन्होंने गरीब पहाड़ी मवालियों की एक दृढ़ और योग्य सेना तैयार की थी जिनमें पहाड़ी दुर्गों पर चढ़ने और उनको जीतने की अद्भुत क्षमता थी। प्रथम उनकी सेना में केवल पदाति होते थे। जब उनकी शक्ति बढ़ गई तो उन्होंने अश्वारोही सेना भी तैयार की जिनके अस्त्र-शस्त्र बहुत हल्के होते थे। इस सेना से छापामार सेना का काम लिया जाता था, जिसका आतंक शत्रुओं के हृदय पर छा गया था। अश्वारोही सेना में घुड़सवार दो प्रकार के होते थे : (१) बारगीर, (२) सिलहदार। बारगीरों को राज्य से वेतन दिया जाता था और सिलहदार भाड़े के सैनिक होते थे। वे लोग घोड़े व अस्त्र-शस्त्रादि सब अपने ही रखते थे। उनको जो रकम तय हो जाती थी वही दी जाती थी। किन्तु सिलहदारों की संख्या आवश्यकतानुसार कम-से-कम रखी जाती थी।

शिवाजी ने पैदल व घुड़सवार सेना में काफी सुधार किए तथा अपने दुर्गों का शासन भी उत्तम बनाया। सेना के अफसरों की वाकायदा श्रेणी होती थी। वे अफसर दस पदाति व २५ अश्वारोही से लेकर ७००० पदाति व ५००० घुड़सवार तक के नायक होते थे, जिन सबके ऊपर सेनासति (सरे-लश्कर) होता था। उनकी सैनिक प्रतिभा अत्यन्त प्रशंसनीय थी कि उसने जंगली व पहाड़ी मवालियों को नियंत्रित व शिक्षित सैनिक बना दिया। शिवाजी का नियंत्रण बड़ा कठोर था। कोई भी सैनिक लश्कर में स्त्री नहीं रख सकता था। सैनिकों को लूट का पूरा हिसाब देना पड़ता था। वे स्त्रियों व बच्चों को बन्दी नहीं बना सकते थे और न ब्राह्मणों को सता सकते थे। सब अफसरों व सैनिकों को नकद वेतन मिलता था।

शिवाजी ने एक जहाजी बेड़ा भी तैयार किया था जो बाद में आँग्रे सरदारों के संचालन में बड़ा शक्तिशाली हो गया था और जंजीरा के सीदियों व योरोपीयन शक्तियों को रोके हुए थे।

शिवाजी का इतिहास में स्थान : शिवाजी के चरित्र व उनकी सफलताओं के विषय में काफी कहा जा चुका है। उनका जन्म उस समय हुआ जब महाराष्ट्र के लोग सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलन के लिए तैयार बैठे थे। उनको आवश्यकता थी केवल एक ऐसे व्यक्ति की जो उनका संगठन करके उनका नेतृत्व करता हुआ उनको स्वतंत्रता व उन्नति की ओर ले जाय। शिवाजी के अन्दर अनेक गुणों का समावेश था। वह महान् योद्धा, दूरदर्शी, नीतिज्ञ और प्रवीण शासन-सुधारक थे। उनके अन्दर एक स्वाभाविक नेता का-सा विचित्र आकर्षण था और वे उन सब लोगों पर, जो उनके संपर्क में आते थे, जादू-सा डालकर देश के समस्त योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर खींच लेते थे। इसके अतिरिक्त वे अपना कार्य बड़ी तत्परता से करते थे और अवसर आने पर कभी नहीं चूकते थे। किन्तु उनके समस्त कार्य उच्च आदर्श को लिए होते थे, स्वार्थ के लिए नहीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उनको अपना काय अनेक कठिनाइयों के साथ करना पड़ता था। उन्होंने अपनी अनुपम योग्यता से बिना किसी पूर्व आधार के एक बड़े सुसंगठित राज्य की स्थापना कर डाली जिसने भारत के भावी इतिहास पर भारी प्रभाव डाला। जिस समय विभिन्न वर्गों में राजनीतिक व धार्मिक संघर्षों के कारण परिस्थिति बहुत बिगड़ जाती उस समय शिवाजी अपनी अद्भुत कूटनीति से समस्या को हल कर देते। वे एक राष्ट्र-निर्माता थे। मृत्यु के समय उन्होंने समस्त राष्ट्र को अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने के लिए शस्त्रों से सुसज्जित और तत्पर छोडा। महाराष्ट्र की शक्ति शिवाजी के कार्य को पूरा करने के लिए इतनी चमत्कृत हो गई थी कि उत्तर के साम्राज्यवादियों ने अनुभव किया कि मृत शिवाजी जीवित शिवाजी से कहीं अधिक शक्तिशाली है। शिवाजी की एक अद्वितीय विशेषता यह थी कि वे संकुचित साम्प्रदायिकता से बहुत दूर थे, और यदि वह अन्य परिस्थितियों में पैदा हुए होते तो राष्ट्र के महान् और वीर नेता कहलाते, न कि साम्प्रदायिक नेता, जैसा

कि बहुत से लोग उनको समझते हैं। परन्तु उनके जीवन के समस्त कार्य इस बात का प्रमाण हैं कि उनको साम्प्रदायिक नेता समझना बड़ी भ्रांति है। यद्यपि वह कट्टर हिन्दू थे, हिन्दू मत में उनकी अपार श्रद्धा थी और वे हिन्दू-धर्म के नियमों का अक्षरशः पालन करते थे, परन्तु उनकी यह कट्टरता उनके उदार दृष्टिकोण को धूमिल नहीं बनाती थी। उनके यहाँ अनेक मुसलमानों को ऊँचे-ऊँचे पद मिले हुए थे। मुन्शी हैदर (जो औरंगजेब के यहाँ नौकरी करने पर मुगल राज्य का प्रधान न्यायाधीश हो गया था), सीदी सम्बल, सीदी मिश्री, दौलतखाँ (समुद्री सेनानायक) एवं इनके अतिरिक्त सेनानायक सीदी हलाल व नूरखाँ शिवाजी के राज्य में पदाधिकारी थे। उन्होंने मुसलमान काज़ियों को अपने राज्य में पूरा स्थान दिया था।

किन्तु शिवाजी एक व्यक्ति की हैसियत से सर्वश्रेष्ठ थे। उनके व्यक्तिगत गुणों से मोहित होकर उनके कट्टर शत्रु भी उनकी प्रशंसा व आदर किये बिना नहीं रह सकते थे। खफीखाँ ने, जो शिवाजी को वैसे नारकीय कुत्ता कहता था, मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि शिवाजी ने जीवन-भर सभी लोगों की मान-प्रतिष्ठा रखने का प्रयत्न किया जो उसके सम्पर्क में आये, विशेषकर वे मुसलमान स्त्री व बच्चे जो उनके हाथ में पड़ जाते थे। वह दूसरे मतों का आदर करते थे और मुसलमान फकीरों का हृदय से सम्मान करते थे। इसके अतिरिक्त वह मुसलमानों के पूजागृहों व मस्जिदों में दिये जलाने के लिए भूमि दान करते थे। वह प्रतिहिंसा अथवा प्रतिशोध की भावना से बिल्कुल मुक्त थे। उन्होंने मस्जिदों को तोड़कर या मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों को अपवित्र करके अपने को कभी कलंकित नहीं किया। उन्होंने अपने आदमियों को सख्त ताकीद की थी कि वे मुसलमान स्त्रियों अथवा उनके मस्जिद आदि पवित्र स्थानों तथा धर्म-ग्रन्थों का किसी प्रकार निरादर न करें। विजित शत्रुओं की स्त्रियों के साथ उनका व्यवहार इतना उत्तम तथा पवित्र होता था कि उनके शत्रु भी इन बातों को देखकर प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते थे। इस प्रकार शिवाजी के जीवन में हिन्दुओं के सर्वोच्च आदर्श विद्यमान थे। समाज के एक ऐसे वर्ग में, जो बादशाह और मुसलमानों द्वारा विषैला व संकुचित विचारों का बना दिया गया था, जबकि शिवाजी के सहधर्मियों के ऊपर उनके शत्रु हर प्रकार के धार्मिक अत्याचार कर रहे थे. ऐसे समय में जबकि मुसलमान न तो हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथों का आदर करते थे और न उनके पूजा-स्थानों का, यहाँ तक कि वे स्त्रियों व बच्चों को भी नहीं छोड़ते थे और इसी कारण इस अत्याचार के विरुद्ध शिवाजी ने हथियार उठाये थे, किन्तु फिर भी शिवाजी ने इतने दृढ़ तथा उच्च चरित्रका परिचय दिया, और अपने कट्टर-से-कट्टर शत्रु के साथ भी इतनी सज्जनता प्रदर्शित करते रहे कि इन बातों पर कठिनता से विश्वास होता है। इस प्रकार शिवाजी लोगों के नेता, राष्ट्र के निर्माता और इन सबसे बढ़कर चरित्रवान पुरुष थे। इतिहास में उनका स्थान सबसे ऊँचे आदर्श पुरुषों में है।

औरंगजेब और दक्खन : अकबर के समय में ही मुगलों का राज्य विन्ध्याचल के पार तक फैल गया था। औरंगजेब, जो दक्खन का वायसराय था, समस्त दक्षिण

प्रदेश को जीतने का इच्छुक था। उसके बेटे अकबर का उससे पृथक् होकर मरहठों की शरण में चला जाना (१६८१) औरंगजेब के लिए चिन्ता और भय का कारण बन गया था। विवश होकर उसको अपना पूरा ध्यान दक्षिण के मामलों में लगाना पड़ा। उसका सन्देह करना ठीक ही था कि कहीं दक्षिण में उसका बेटा बादशाह बन बैठे और उसका प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो। अतएव उसने शीघ्र ही मेवाड़ से सन्धि कर ली और जोधपुर पर आक्रमण करने के लिये थोड़ी-सी सेना छोड़कर वह अपनी समस्त सेना को समेटकर दक्षिण की ओर बढ़ा और बुरहानपुर में डेरा डाला। अब उसको एक साथ दो शत्रुओं का सामना करना था। उसने शाहजादे आजम व मुअज्जम को विशाल सेना देकर शम्भूजी के विरुद्ध कोंकण भेजा, किन्तु दोनों की सेनाओं का

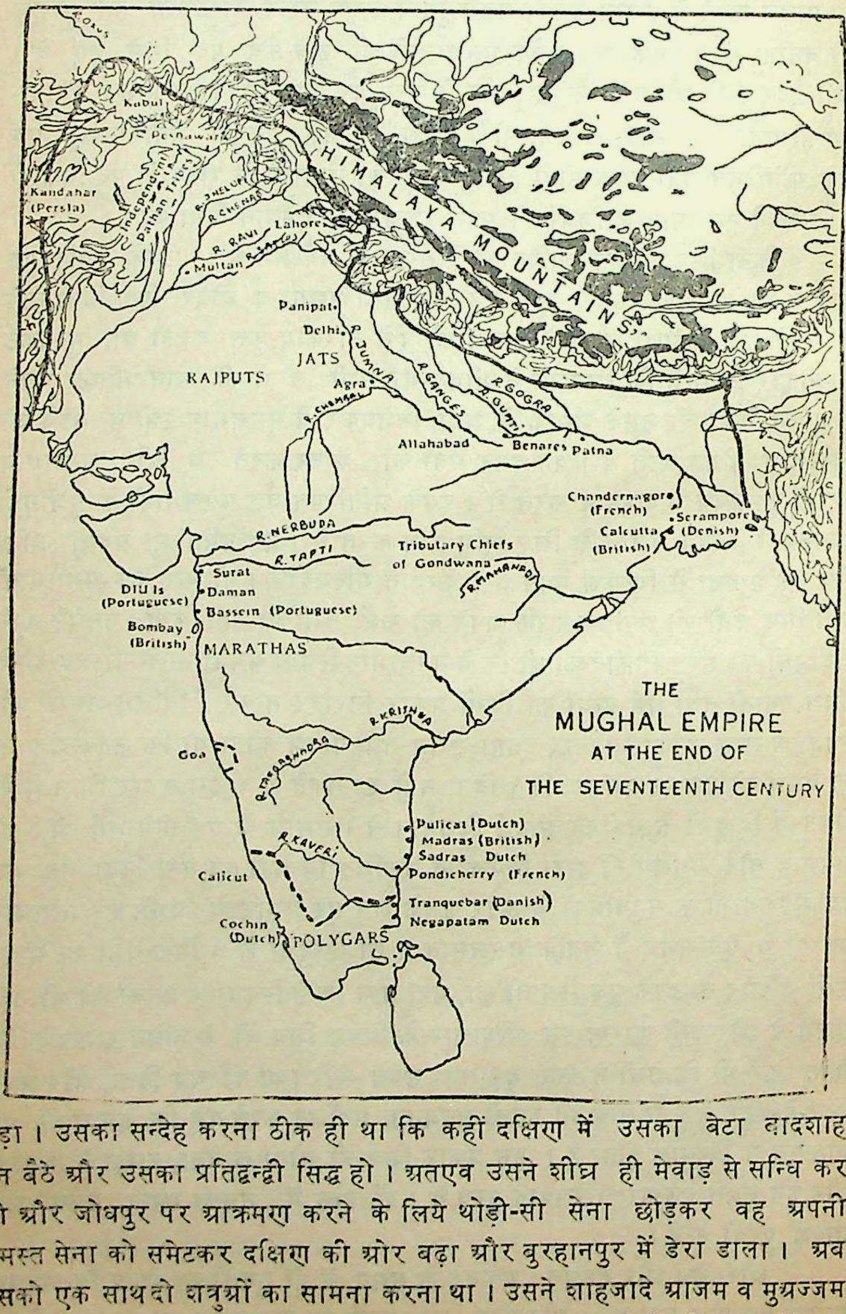

THE
MUGHAL EMPIRE
AT THE END OF
THE SEVENTEENTH CENTURY

R. Oxus
Kabul
Peshawar
Independent Pathan Tribes
Kandahar (Persia)
R. Jhelum
R. Chenab
R. Ravi
Lahore
Multan
R. Sutlej
HIMALAYA MOUNTAINS
Panipat
Delhi
R. Jumna
JATS
RAJPUTS
Agra
R. Chambal
R. Ganges
R. Gogra
R. Gumti
Allahabad
Benares
Patna
Chandernagore (French)
Serampore (Denish)
Calcutta (British)
R. Nerbuda
R. Tapti
Tributary Chiefs of Gondwana
R. Mahanadi
Surat
Daman
DIU Is (Portuguese)
Bassein (Portuguese)
Bombay (British)
MARATHAS
R. Krishna
Goa
R. Tungabhadra
R. Kaveri
Pulicat (Dutch)
Madras (British)
Sadras Dutch
Pondicherry (French)
Calicut
Tranquebar (Danish)
Negapatam Dutch
Cochin (Dutch)
POLYGARS

विनाश हो गया। तब सम्राट् १६८२ में अहमदनगर की ओर बढ़ा। आजम ने पुनः बीजापुर लेने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहा और मारा जाने से बाल-बाल बचा। मुगलों की पराजय से लाभ उठाकर शम्भूजी ने मुगलों के उस प्रदेश पर आक्रमण कर दिया जो कोंकण से उत्तर में भड़ौच तक फैला हुआ था।

गोलकुण्डा ने शम्भूजी से मित्रता कर ली जिससे बादशाह को उस पर एकदम हमला करने का बहाना मिल गया। कुतुबशाह व्यसनी था परन्तु राज्य की रक्षा दो मरहठे ब्राह्मणों ने की जो भाई-भाई थे तथा जिनका नाम मदन और अक्कन था। वे गोलकुण्डा के सबसे योग्य मंत्री थे। मुस्लिम अमीरों के विद्वेष के कारण मदन और अक्कन युद्ध करते हुए मारे गये और गोलकुण्डा नरेश ने अपार धन लेकर सन्धि कर ली।

तब समस्त सेना बीजापुर की ओर मुड़ी जिसको उसने सरलता से जीत लिया (१६८६)। अल्पायु शासक बन्दी किया गया और तीन वर्ष पश्चात् मर गया। तब कपटतापूर्वक गोलकुण्डा से सन्धि तोड़ दी गई। गोलकुण्डा की सेना को घूस देकर तोड़ लिया गया और नगर पर घेरा डाल दिया गया। कुतुबशाह अब्दुलहसन ने अब भोग-विलास त्याग दिये और सात महीने तक बड़ी वीरता से लड़ता रहा। इसके बाद छल-कपट से शहर को बादशाही सेना ने अपने अधीन कर लिया। ग़ाजीउद्दीन को गोलकुण्डा का गवर्नर बनाया गया।

गोलकुण्डा और बीजापुर के पतन का परिणाम बहुत बुरा हुआ। समस्त दक्षिण में निराशाजनक गड़बड़ी फैल गई। दोनों राज्यों की सेना जो तितर-बितर हो गई थी उसमें से कुछ तो मरहठों की सेना में भर्ती हो गये, और शेष ने लूट-मार करना आरम्भ कर दिया। मैसूर तक का प्रदेश मुगलों द्वारा जीत लिया गया और सम्राट् ने मरहठे देशमुखों को जागीरें दे दीं जिससे वे कर वसूल करके केन्द्र को भेजते रहे।

औरंगजेब और मराठे : औरंगजेब अब मरहठों की ओर मुड़ा। शिवाजी का पुत्र शम्भूजी यद्यपि बहादुर था परन्तु दुश्चरित्र, निर्दयी और शक्की मिजाज का था। एक बार एक ब्राह्मणी स्त्री से बलात्कार करने के अपराध में शिवाजी ने उसको बन्दीगृह में रखा था। उसको दुराचार की ओर ले जाने वाला कवि कुलेश एक उत्तरी ब्राह्मण था जिसको शम्भूजी ने सर्वाधिकार दे रखे थे और जिसने शिवाजी के मन्त्रियों के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार किया था। गोलकुण्डा और बीजापुर का पतन होने तक शम्भूजी इतना दुराचारी बन गया था कि अकबर ने घृणा के कारण उसका दरबार त्याग दिया और वह फारस चला गया जहाँ १७०६ में उसकी मृत्यु हो गई। एक मुगल अफसर ने सहसा आक्रमण करके शम्भूजी को बन्दी कर लिया और बड़ी निर्दयता से उसका वध किया। उसका सात-वर्षीय पुत्र शिवाजी द्वितीय मुगलों की कैद में रहा। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त उसे मुक्त कर दिया गया। १६९० में मुगलों की शक्ति चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। त्रिचनापल्ली और तंजौर तक के प्रदेश को भी मुगल सम्राट को भेंट देनी पड़ती थी। किन्तु औरंगजेब का राज-विस्तार की चरम सीमा पर पहुँचकर गिरना आरम्भ हो गया और उसका

भाग्य एकदम नीचे की ओर बड़े वेग से जाने लगा। उत्तर में अराजकता फैली हुई थी, शासन शिथिल हो गया था और राजपूत, सिक्ख व जाट खुलेआम विद्रोह कर रहे थे। दक्खन के युद्धों से शाही कोष रिक्तप्राय हो चुका था और मरहठे सरदार शाही डेरों में तबाही मचा रहे थे। शाही सेना को तीन वर्ष से भी अधिक का वेतन नहीं मिला था, अतएव वह असंतुष्ट थी। मुगल अमीर इतने विलासी हो गए थे कि वे बिना अपने कुटुम्ब तथा वेश्याओं व गुलामों के कहीं नहीं जा सकते थे। विशाल शाही डेरे एक दिन में कठिनता से एक मील ले जाये जाते थे। वे द्रुतगामी मरहठे अश्वारोहियों का सामना करने के लिए नितान्त अयोग्य थे।

औरंगजेब के जीवन के शेष १६ वर्ष मरहठों की शक्ति को दबाने के विफल प्रयास में व्यतीत हुए। परिणाम यह हुआ कि उसकी सम्पत्ति और सेना का काफी ह्रास हुआ। शम्भूजी के बाद उसका भाई राजाराम वचकर जिंजी भाग गया और १६९८ तक मुगलों से लड़ता रहा और तब सतारा लौट आया। इसी बीच सन्ताजी घोरपाड़े, धन्नाजी जादव व अन्य मरहठे सरदार छापामार हमलों के द्वारा शाही डेरों में आतंक फैलाते रहे। राजाराम के पश्चात् उसकी विधवा रानी ताराबाई बड़ी वीरता से लड़ती रही और शाही डेरों को आपत्ति में डाल दिया। इन्हीं पराजयों के बीच औरंगजेब १७०५ में बीमार पड़ गया। १७०६ में वह अहमदनगर चला गया जहां हर्ष मनाते हुए मरहठे सैनिकों ने उसका पीछा किया। फरवरी १७०७ में उसकी मृत्यु हो गई।

औरंगजेब का चरित्र : औरंगजेब में एक महान् शासक के गुण विद्यमान थे। वह अपने भाइयों में सबसे योग्य और चतुर था और भारत के सर्वश्रेष्ठ मुस्लिम शासकों में से एक था। वह कट्टर मुसलमान था और उसने भरसक प्रयत्न किया कि मुसलमान लोग अपने धर्म के बताए हुए नियमों पर चलें। उसने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि अपार धन व ऐश्वर्य के कारण ही मुसलमानों का पतन हुआ है, अतएव उसने अपनी नीति तथा शासन-कार्य को इस्लाम मत तथा मुस्लिम समाज की उन्नति करने के उपायों पर आधारित कर दिया। किन्तु जो मार्ग इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने पकड़ा, वह वास्तविक परिस्थिति तथा दूरदर्शी राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था। उसने मुसलमानों को पतन से रोकना चाहा। किन्तु यह कहना कोरी बकवास है (जैसा कि आजकल बहुत से विद्वान् कहते हैं) कि औरंगजेब ने केवल हिन्दुओं के राजनीतिक षड्यन्त्रों के कारण ही उनके मन्दिरों को तोड़कर व अपवित्र करके और इसी प्रकार के अन्य कार्यों से हिन्दुओं को पीड़ा पहँचाई, और यह कि वह धर्मान्धता अर्थात् कट्टरपन से रहित था। यदि उसकी योजनाएँ कुछ लोगों के भड़काने व कहने के फलस्वरूप थीं तो वे लोग बहुत अदूरदर्शी थे व राजनीति से अनभिज्ञ थे।

औरंगजेब में काम करने की अद्भुत शक्ति थी। वह लगातार परिश्रम करता रहता था। यदि उसके संकुचित दृष्टिकोण ने उसकी दृष्टि को मलिन न किया होता

तो वह केवल अधिक सफल नहीं होता वरन् वह अपनी प्रजा को सुखी और अपने राज्य को दृढ़ और स्थायी बना गया होता।

Questions

1. Describe the extent of Shivaji's possessions and his civil and military administration.

   शिवाजी के राज्य की सीमाएँ बताओ तथा उसकी सैनिक व असैनिक शासन-व्यवस्था के विषय में तुम जो कुछ जानते हो, बताओ।

2. Describe the career and achievements of Shivaji upto the time of his coronation.

   शिवाजी के राज्याभिषेक तक उसके चरित्र व सफलताओं का वर्णन करो।

3. Trace the development of the relations between the Mughal Empire and the Deccan between 1600 and 1700 A. D.

   सन् १६०० व १७०० के बीच मुगल-शासन व दक्खन के सम्बन्धों का क्रमागत विकास बतलाओ।

4. Compare the attitude of Akbar and Aurangzeb towards the Rajputs.

   राजपूतों के प्रति अकबर तथा औरंगजेब के व्यवहारों की तुलना करो।

5. Describe the religious policy of Aurangzeb and its results.

   औरंगजेब की धार्मिक नीति का वर्णन करो और बताओ की उस नीति का क्या परिणाम हुआ ?

6. Describe Aurangzeb's activities in the Deccan during the last twenty.five years of his age.

   औरंगजेब ने अपने जीवन के अन्तिम २५ वर्ष दक्षिण में किन कार्यों को पूरा करने में व्यतीत किए ?

अध्याय २६

मुग़लकालीन संस्थाएँ, समाज व संस्कृति

(१)

मुग़ल शासन-व्यवस्था

मुग़ल राज-सत्ता का आंतरिक रूप की विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता यहाँ नहीं है। **इस्लाम मत के सिद्धान्तों के अनुसार बादशाह ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है।** उसकी कोई स्वतन्त्र हस्ती नहीं है। मुस्लिम जनता पर इस्लाम मत के अनुसार शासन करना और इस्लाम की रक्षा तथा उसका हर प्रकार से प्रचार करना उसका कर्त्तव्य है। **अमुस्लिम जनता की इस्लामी राजसत्ता के अंतर्गत कोई स्थिति नहीं है।** इसलिए जब अरब के खलीफाओं ने, जो हज़रत मुहम्मद के राजनीतिक व धार्मिक कार्यक्षेत्र के उत्तराधिकारी माने जाते थे, ऐसे देशों को जीता जिनमें बहुत-सी बस्ती उन लोगों की थी जिनको किसी प्रकार से मुसलमान नहीं बनाया जा सकता था, तो उनके सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि इन लोगों को किस प्रकार इस्लामी राज्य के अंतर्गत रखा जाए, क्योंकि उन्हें वैधानिक रूप से मुस्लिम राजसत्ता के नागरिक होने का अधिकार न दिया जा सकता था। उनके लिए केवल दो ही मार्ग थे—या तो वे इस्लाम मत स्वीकार कर लें अन्यथा कत्ल कर दिए जाएँ। इस विकट समस्या पर **मुस्लिम धर्म-विशारदों ने विचार करके व्यवस्था दी कि अमुस्लिम लोग मुस्लिम राजसत्ता की छत्रछाया में इस शर्त पर रह सकते हैं कि वे इस उपकार के बदले में एक कर, जिसका नाम जज़िया रखा गया, राज्य को दें।** जज़िया की दर प्रत्येक मनुष्य की आर्थिक स्थिति के अनुसार निश्चित की गई। जज़िया देने वाला **जिम्मी** कहलाया। जज़िया लगाने का एक उद्देश्य यह भी था कि जिम्मी को अपनी तिरस्कृत स्थिति का निरन्तर अनुभव होता रहे और वह मुसलमान बन जाने पर मजबूर हो।

मुस्लिम बादशाह अथवा सुल्तान, जो अरबी ख़लीफ़ाओं के स्थानापन्न माने जाते थे, उनका मुख्य कर्त्तव्य इन्हीं नियमों का पालन कराना था। उनका यह भी कर्त्तव्य था कि मुसलमान जनता का निरन्तर निरीक्षण कराते रहें और उनको नमाज़ आदि इस्लामी कर्त्तव्य के पालन कराने पर मजबूर करें। अपने इन कर्त्तव्यों को पालन कराने के लिए उन्हें जज़िया के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के करों के वसूल करने का अधिकार था। कालान्तर में मुस्लिम बादशाहों ने अपनी-अपनी

आवश्यकतानुसार तुर्की अथवा फारसी सेनाओं के अनुरूप अपनी सेनाएँ बनाईं और इसी प्रकार विभिन्न देशों की स्थानीय राजनीतिक संस्थाओं तथा कार्य-पद्धतियों को स्वीकार करके इन संस्थाओं का निर्माण किया। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि कतिपय मौलिक सिद्धान्तों व उद्देश्यों को छोड़कर विभिन्न देशों की इस्लामी राज्य-व्यवस्थाएँ स्थानीय संस्थाओं के अनुरूप थीं। भारतवर्ष में भी इसी नियम के अनुसार मुस्लिम राज्य-पद्धति का धीरे-धीरे निर्माण होता गया। दिल्ली के तुर्क अफ़गान मुसलमानों ने अपनी राजसत्ता के मौलिक सिद्धान्तों को उन्नतिशील रूप देने का प्रयास नहीं किया।

शेरशाह का राजनीतिक आदर्श : पहले पहल अफ़गान बादशाह शेरशाह ने क्रियात्मक रूप से इस सिद्धान्त का पालन किया कि एक मिश्रित प्रजा पर राज्य करने के लिए इस्लाम मत के संकीर्ण सिद्धान्तों को अन्य लोगों के ऊपर बलात् ठोकना राज्य के लिए अहितकर होगा। अतएव यद्यपि वह निजी जीवन में दृढ़ मुसलमान था और पराजित शत्रुओं के साथ घोर अत्याचार एवं अमानुषिक व्यवहार करना भी इस्लाम मत के विरुद्ध नहीं समझता था, तथापि अपने राज्य के अन्तर्गत वह मुस्लिम-अमुस्लिम जनता में विशेष भेदभाव करना नहीं चाहता था। तो भी यह न भूल जाना चाहिए कि वैधानिक रूप से जज़िया आदि कर, जो केवल हिन्दुओं पर लागू किये जाते थे, उनको वह न हटा सकता था। शेरशाह के संरक्षण में इस्लामी राजसत्ता में दो और उल्लेखनीय संशोधन हुए। शेरशाह और उसके बेटे इस्लामशाह ने अपने बल, चातुर्य तथा राजनीतिक योग्यता से अफ़गान राजसत्ता की निर्बलता को दूर करके उसे एक ऐसी अजेय दृढ़ता प्रदान की जिसके आधार पर भविष्य में मुगल सत्ता निर्विवाद सिद्धान्त की आधारशिला पर अपना घर खड़ा कर सके। दूसरे, शेरशाह ने राज्य की शासन-पद्धति को नये सिरे से सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित किया। उसके इस शासन-संगठन से भविष्य में अकबर को अपने शासन का निर्माण करने में बहुत सहायता मिली।

मुग़ल राजसत्ता : बाबर और हुमायूँ ने विधानतः अथवा किसी विशेष विचार के आधार पर मुग़ल सत्ता के रूप में कोई परिवर्तन नहीं किया। किन्तु तुर्की व फ़ारस के राजसत्ताओं की परम्परा के अनुयायी होने के कारण उन्होंने अपने राज्य-संगठन में इस्लामी सिद्धान्तों को विशेष महत्व नहीं दिया। किसी-किसी अवसर पर उनको यह याद आ जाती थी कि वे मुसलमान हैं और इस आधार पर वे अपने अमुस्लिम शत्रुओं से संकीर्णता का व्यवहार करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। तथापि विधानतः मुस्लिम सत्ता अकबर महान् के आगमन के समय तक एक साम्प्रदायिक ईश-सत्तात्मक सत्ता थी। **अकबर महान्** की अभूतपूर्व एवं अद्वितीय प्रतिभा को ही **यह श्रेय है कि उसने इस साम्प्रदायिक सत्ता को एक मानवीय सत्ता का रूप प्रदान किया और वह भी इतनी चतुराई से कि इस प्रयास में उसे इस्लाम मत का बहिष्कार करना न पड़ा,** क्योंकि उसने उसी मत के सिद्धान्तों को एक उत्कृष्ट एवं उदार अर्थों में समझा और अपने नये भाष्य के अनुसार राज्य की नीति का

निर्माण किया। अकबर का विश्वास था कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसका कर्त्तव्य है कि अपनी समस्त प्रजा का (केवल मुसलमानों का ही नहीं) समान भाव तथा समान दृष्टि से इस प्रकार पालन-पोषण करे जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान का करते हैं, और अपनी समस्त शक्ति तथा समय प्रजा के हित-चिन्तन व उन्नति में व्यतीत करे। अकबर द्वारा संस्थापित मुग़ल सत्ता का यह रूप इतनी गहरी दृढ़ आधार शिला पर आधारित कर दिया गया था कि उसको निरर्थक कर देना आसान न था। उसके वंशज इसी उदार व सुसंस्कृत वातावरण में पोषित हुए थे, यद्यपि उनके राजनीतिक विश्वास तथा सिद्धान्त इस्लाम के संकुचित अर्थों के ही अनुकूल थे। अतएव विधानतः वे अकबर के राज्य-सिद्धान्तों को न मानते थे। इसके प्रमाण हमें जहाँगीर के समय से ही उनके वचनों एवं कार्यों से मिलते हैं। उनकी इस नीति का भी अन्तिम भीषण रूप हमको औरंगजेब की नीति में मिलता है। यथापि यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वास्तविक शासन-कार्य में किसी भी मुगल सम्राट् के लिए यह सम्भव न था कि अकबर के स्थापित किए हुए उदार व परस्पर सहनशीलता एवं सहृदयतापूर्ण वायुमण्डल को नष्ट कर सके। अतएव मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिन तक उसका वैधानिक रूप चाहे जो कुछ हो वास्तविक कार्य-संचालन प्रायः इसी उदार नीति के अनुसार होता रहा। मुगल शासन उदार स्वेच्छाचारी एकसत्तात्मक राज्य था, न कि सैनिक स्वेच्छाचारी राज्य (military despotism), जैसे कि कई आधुनिक लेखकों ने मत प्रकट किया है।

शासन-संगठन : मुग़ल राज्य-व्यवस्था का जो निर्माण अकबर ने किया था वही अन्त तक प्रचलित रहा। सामान्य बातों में छोटे-मोटे परिवर्तन उसके वशजों ने किए। अतएव अकबर के शासन-संगठन की रूपरेखा का विवरण ही मुग़ल शासन की रूपरेखा जानने के लिए पर्याप्त होगा।

मुग़ल नरेश : मुग़ल राज्य का सर्वोपरि अधिकारी बादशाह होता था। उसी के अन्दर राज्य की समस्त शक्ति केन्द्रित थी। परन्तु उसकी शक्ति तथा अधिकार इस्लामी विधान से परिमित समझे जाते थे, यद्यपि वास्तविक कार्य-संचालन में वे अक्सर इस्लामी नियमों का उल्लंघन करते थे। प्रजा के पास कोई वैधानिक उपाय ऐसा नहीं था जिससे वह बादशाह के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा सके। तथापि यह न मान लेना चाहिए कि बादशाह विलकुल अपनी मनमानी कर सकता था। उसे अपने बड़े-बड़े अमीरों तथा सेवकों के सहयोग एवं परामर्श पर निर्भर रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त मुसलमानों के धार्मिक नेता मुल्ला, शेख आदि के विचारों एवं सलाह-मशवरे का सहारा भी उसे लेना पड़ता था। यदि बादशाह कोई ऐसा कार्य करे जो उसके मत के विरुद्ध हो तो वे उसके विरोध में फतवा भी कर सकते थे। समाज के गण्य-मान्य लोगों का भी प्रभाव शासन की नीति पर पड़ता था। उपर्युक्त वर्गों के द्वारा जनता की आकांक्षाओं एवं भावनाओं का पता भी सम्राट् को चलता था। विधानतः बादशाह भी अपने सब वज़ीरों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति

करता था और वही उनको अपनी इच्छानुसार पदच्युन कर सकता था।

मंत्रिमण्डल : बादशाह के नीचे मन्त्रिमण्डल में चार सर्वोपरि मन्त्री होते थे।

१. **मुख्य मंत्री**—जो अकबर के समय में वकील कहलाता था और बाद में वज़ीर।

२. **वज़ीर**—जो पहले राजस्व विभाग का मुख्य अधिकारी होता था। पीछे से उसका नाम दीवान पड़ा।

३. **सद्र-उस्सुद्दूर**—जो धर्म तथा न्याय विभाग का मुख्य मन्त्री होता था। मुख्य काजी का पद भी प्रायः मुख्य सदर के साथ ही संयोजित रहता था।

४. **मीरबख्शी**—बख्शी सेना-मन्त्रालय के विभिन्न विभागों का मुख्य अधिकारी था।

इन विभागों के अतिरिक्त और भी कई उल्लेखनीय विभाग केन्द्रिय सरकार में रहते थे, अर्थात् **खानसामा का विभाग** जिसमें शाही घराने का समस्त प्रबन्ध और देख-रेख सम्मिलित थे, मुहतसिब जनता के आचार-विचारों पर नियन्त्रण रखने और उनको धार्मिक नियमों का पालन कराने का अधिकारी था।

तोपखाना : सेना की अन्य शाखाओं में एक तोपखाने की शाखा होती थी जिसका अधिकारी मीरेआतिश कहलाता था। शाही चिट्ठी-पत्री आदि का विभाग दबीर के सुपुर्द होता था। सिक्के बनाने के लिए शाही टकसाल विभाग भी होता था, जिसका अधिकारी टकसाल का दरोगा होता था। गुप्तचर विभाग का अधिकारी वाकयानवीस कहलाता था, जिसके द्वारा साम्राज्य के विभिन्न देशों से समस्त घटनाओं की सूचनाएँ बादशाह के पास पहुँचती थीं।

वकील (वज़ीर) : वकील वा वज़ीर राज्य का मुख्य मन्त्री होता था। वह अन्य सब मन्त्रालयों के कार्य का निरीक्षण करता था। उसी के द्वारा सब विभागों के मामले बादशाह तक पहुँचते और बादशाह की आज्ञाएँ अन्य मन्त्रियों व अधिकारियों तक पहुँचती थीं। हरएक आवश्यक समस्या पर मुख्य मन्त्री तथा अन्य मन्त्रिमण्डल से बादशाह परामर्श करता था।

वज़ीर (दीवान) : यह राजकीय आय-व्यय का प्रबन्ध करता था। राजकीय आय की व्यवस्था करना, भूमि तथा अन्य करों का निश्चय करना भी उसके कर्त्तव्यों में सम्मिलित थे। दीवान को भूमि-सम्बन्धी झगड़ों के फैसले करने का भी अधिकार होता था।

सद्र-उस्सुदूर : मुख्य काजी के दोनों पद प्रायः एक ही अधिकारी के सुपुर्द होते थे। सद्र का कर्त्तव्य था समस्त धार्मिक मामलात की देख-रेख तथा व्यवस्था करना। औलियों, विद्यार्थियों तथा मस्जिदों आदि को धन की सहायता देना। दरिद्रों, बेवाओं तथा अनाथों की सहायता करना, धार्मिक नियमों का पालन करना आदि कर्त्तव्य सद्र के थे। काजी मुख्यतः राज्य का न्यायाधीश होता था, किन्तु जन्म, विवाह, तलाक आदि अवसरों पर आवश्यक संस्कार करना भी काजी का कर्त्तव्य था।

मीर बख्शी : मीर बख्शी सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सेना-विभाग के सभी उपविभागों की देख-रेख, उनका नियन्त्रण, सैनिकों को भर्ती करने, उनके वेतन दिलवाने, सेना की प्रशिक्षा तथा निरीक्षण, युद्ध के समय सेना-संचालन की व्यवस्था, न्याय आदि सभी कार्य बख्शी के अधिकार में होते थे।

प्रान्तीय शासन : साम्राज्य शासन की सुविधा के लिये कई प्रान्तों में बाँटा हुआ था। प्रान्तों को सरकारों में बाँटा जाता था और सरकारों को परगनों में। अकबर के समय के अन्तिम दिनों में प्रान्तों की संख्या १५ हो गई थी। उसके बाद औरंगजेब के समय में कई प्रान्त और जोड़े गये।

प्रान्त का शासक नाज़िम या सूबेदार कहलाता था जो एक प्रकार से प्रान्त में बादशाह का प्रतिनिधि था। प्रान्त का समस्त शासन-संचालन उसके अधिकार में होता था। नाजिम के ऊपर पूरा नियंत्रण रखने के अभिप्राय से मुगल बादशाह उसकी अक्सर बदली करते रहते थे, क्योंकि विद्रोही-प्रवृतियों को रोकने के लिए अन्य कई प्रकार के उपाय किये गए थे जिनमें गुप्तचर विभाग मुख्य था। नाजिम की सभी कार्रवाइयों की सूचना गुप्त रीति से बादशाह के पास पहुँचती रहती थीं। नाज़िम एक सैनिक होता था और अपने मनसब के अनुसार उसे सेना रखनी पड़ती थी।

दीवान-ए-सूबक : सूबे के दीवान की नियुक्ति भी सम्राट् ही करता था। इसलिए उसकी राजकीय स्थिति नाज़िम के समान ही होती थी और ये दोनों अधिकारी एक-दूसरे के ऊपर निरीक्षक का कार्य करते थे। दीवान सूबे की आय-व्यय का प्रबन्ध करता था और तत्सम्बन्धी झगड़ों का फैसला करना भी उसके अधिकार में था। दीवान भी मनसबदार होता था और अपने मनसब के अनुसार ही उसे सेना रखनी पड़ती थी। दीवान को भी जल्दी-जल्दी बदली किया जाता था।

काजी व सद्र : सूबे के न्याय व धार्मिक कामों का प्रबन्ध सद्र और काज़ी के अधिकार में था। आवश्यकतानुसार सूबे में काज़ी और सद्र दोनों पद एक ही अधिकारी को अथवा अलग-अलग दो अधिकारियों को दिये जाते थे। न्याय-विभाग की सहायता के लिए मुफ्ती होते थे, जिनका पद राजकीय न होकर निजी योग्यता के अधार पर एक वैधानिक व्यवस्था देने वाले का होता था। जब कभी किसी धार्मिक नियम का अर्थ संदिग्ध होता था तब मुफ्ती से उसका अर्थ पूछा जाता था। सूबे में कहीं-कहीं मीर अदल भी होते थे जो प्रायः वही कार्य करते थे जो काजी के थे, किन्तु काज़ी के धर्म-सम्बन्धी कामों से उसका संबध नहीं था।

कोतवाल : एक कोतवाल भी सूबे की पुलिस तथा दण्डविधान का प्रमुख अधिकारी होता था। इन सब मुख्य कर्मचारियों के अतिरिक्त सूबे में गुप्तचर व सूचना विभाग आदि के कर्मचारी होते थे।

सरकार : हर सूबे में कई सरकारें होती थीं। सरकार का शासक फौज़दार होता था। किन्तु उसके अधिकार सरकार की रक्षा तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्य

पदाधिकारियों की सहायता करने तक परिमित थे। फौज़दार के पास आवश्यकतानुसार ५० से ५०० तक सैनिक रहते थे। सरकार का दूसरा बड़ा अधिकारी शिकदारानेशिकार कहलाता था। उसका कर्त्तव्य सरकार का दैनिक शासन संचालन करना था। वह अन्य कर्मचारियों के काम का निरीक्षण कर सकता था। सरकार का कोष फ़ोतदार और शिक़नदार के सुपुर्द होता था। उस पर इन दोनों अधिकारियों की जिम्मेदारी होती थी। आलिम या अमलगुजार जिसे उस समय शायद मुन्सिफ भी कहते थे, मुख्यतया भूमि-कर की व्यवस्था, नाप-तौल, उपज का निरीक्षण तथा निर्णय आदि, उसके कर्त्तव्य थे। भूमि-कर देने से आनाकानी करने वाले किसानों को वह दण्ड भी दे सकता था और आवश्यकता पड़ने पर फौजदार से सैनिक सहायता माँग सकता था। सरकार में कोतवाल भी होता था। उसके अधिकार केवल पुलिस तक परिमित नहीं थे। सरकार के नगरों का पुलिस-प्रबन्ध करने के अतिरिक्त उसे गाँवों का दण्ड-विधान-सम्बन्धी न्याय कार्य भी करना पड़ता था। परगने के दण्ड-विधान के मुकदमे कोतवाल के पास भेजे जाते थे।

काज़ी : हर सरकार में एक या अधिक काज़ी उसके धर्म-सम्बन्धी तथा न्याय का कार्य करते थे।

परगना : परगना तत्कालीन शासन की सबसे छोटी इकाई थी। इसकी तुलना आजकल के जिले से की जाती है। परगने का प्रमुख शिकदार होता था जिसको अपने क्षेत्र में हर प्रकार के अधिकार थे। परगने के सभी विभागों का संचालन व निरीक्षण करना, कोष में धन जमा करना व उसे सुरक्षित रखना, आमिल तथा पुलिस-अफसरों के काम में सहायता देना, चोर-डाकुओं आदि का दमन करना, न्याय करना, आदि सभी कर्त्तव्य शिकदार के थे। सरकारी खजाने का अफसर फोतदार होता था, परन्तु वह शिकदार के अधीन कार्य करता था और खजाने की जिम्मेदारी दोनों की संयुक्त होती थी। शिकदार परगने के सामान्य शासन तथा कर-विभाग का संक्षेप सरकार में भेजता था और सरकार से उसका संक्षिप्त विवरण सूबे को और फिर केन्द्रीय सरकार को भेजा जाता था। परगने में भूमिकर की व्यवस्था आमिल अमलगुजार करता था। वह यथासम्भव भूमि को नाप कर, अथवा कनकूत की विधि से, राज्य-कर की मात्रा निर्णय करके किसान से अहदनामा लिखवाता था और फिर उसके अनुसार फसल कटने पर मालगुजारी वसूल करता था। एक तरीका मालगुजारी (भूमि-कर) वसूल करने का यह भी था कि जब फसल कटकर खलिहान में आ जाय तो उसका $\frac{१}{३}$ भाग नाप-तौलकर सरकार ले लेती थी और $\frac{२}{३}$ किसान को छोड़ दिया जाता था।

आमिल के अधीन अन्य कई कर्मचारी, हिन्दी फारसी के लेखक, कारकुन इत्यादि उसकी सहायता के लिए होते थे।

करोड़ी : एक बार अकबर ने भूमि-कर वसूल करने के लिए एक नए प्रकार का प्रयोग किया था। उसने समूचे राज्य को इतने बड़े विभागों में बाटा जिनमें से हर

एक का कर १ करोड़ दरम होता था। इन भूभागों के अधिकारी करोड़ी कहलाए। किन्तु यह प्रयोग सफल न हुआ। करोड़ी लोग अधिकतर इतने बेईमान और अन्यायी पाये गए कि उनसे प्रजा भी तंग आ गई और राज्य-कर भी ठीक वसूल न हो सका। अतएव इस संस्था को बन्द कर दिया गया, किन्तु बहुत स्थानों पर कर वसूल करने वाले कर्मचारियों का नाम करोड़ी चलता रहा।

पुलिस व न्याय तथा ग्राम-शासन :

न्याय व पुलिस का शासन केन्द्रीय सरकार से परगने तक किस प्रकार होता था यह हम बता चुके हैं। किन्तु इन विभागों की वास्तविक आधारशिला ग्राम-संस्थाएँ थीं। मुसलमान नरेशों ने इन संस्थाओं को बदस्तूर बना रहने दिया और उनकी सहायता से शासन संचालन की अनेक जटिल समस्याओं को हल कर लिया। पूर्व-मध्य-काल से ही स्थानीय शासन के बहुत से कर्त्तव्य ग्राम-संस्थाओं के कन्धों पर आ पड़े थे। गाँवों के हर प्रकार के कलह व झगड़ों का न्याय व निबटारा ग्राम-पंचायत करती थीं और उनके फैसले सबको मानने पड़ते थे। अतएव बहुत ही कम मुकदमे और झगड़े ऐसे होते थे जिन्हें ऊपर के सरकारी न्यायालयों में ले जाना पड़े। **धर्म-सम्बन्धी अथवा हिन्दू-मुस्लिमों के मुकद्दमों का न्याय करने के लिए हर गाँव में एक-दो काजी होते थे।** इनके फैसलों की अपील उच्च न्यायालयों में हो सकती थी।

पुलिस का काम भी ग्राम के **मुकद्दम और चौधरी** करते थे। शेरशाह ने इस जिम्मेवारी को वैधानिक रूप देकर और भी सुव्यवस्थित तथा दृढ़ कर दिया था। चोरी, डकैती कत्ल तथा अन्य प्रकार के अपराधों का पता लगाना और अभियुक्त को दण्ड देना, एवं चुराये हुए माल को वापस लेकर उसके स्वामी को लौटाना, ये सब कर्त्तव्य ग्राम के चौधरी व मुकद्दमों के थे। **ग्राम-पंचायतें गांव के तालाबों, कुओं, पाठशालाओं, चौपालों, मन्दिरों, सार्वजनिक, वाटिकाओं आदि का भी प्रबन्ध व देख-रेख करती थीं।**

सार्वजनिक हित के कार्य : केन्द्रीय सरकार बड़ी-बड़ी सड़कें बनवाती और उनकी मरम्मत कराती, बाग लगवाती, सड़कों के किनारे पर फलदार वृक्ष लगवाती, थोड़ी-थोड़ी दूर पर सराएँ बनवाती और उनमें यात्रियों के आराम के लिए, खाने-पीने तथा ठहरने की व्यवस्था करती थी।

(२)

सामाजिक व धार्मिक अवस्था

जिस प्रकार मुगल सत्ता के विषय में सैनिक सत्ता होने का भ्रान्त मत आधुनिक लेखकों ने फैलाया है, उसी प्रकार सर्वथा निराधार मत यह भी है कि मध्यकालीन समाज एक सामन्त प्रथात्मक समाज था। मुगल जागीर-प्रथा की किसी अंश में भी यूरोपीय सामन्त प्रथा से तुलना नहीं की जा सकती। राजपूत राजनीतिक संगठन में कुछ चिह्न ऐसे थे जो पाश्चात्य सामन्त-प्रथा के सदृश थे, किन्तु वह समानता अनावश्यक अंगों में पाई जाती थी, मौलिक बातों में नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सामाजिक अवस्था का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पर जनता कितने वर्गों में विभाजित थी, प्रत्येक वर्ग का जीवन कैसा था, क्या उनके पेशे थे और उनके परस्पर सम्बन्ध कैसे थे। दूसरे, धार्मिक जीवन तथा विश्वासों की दृष्टि से भारतीय समाज की कैसी दशा थी, अर्थात् उन्नतिशील या अवनतिशील।

समाज के चार वर्ग :

आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से देखने पर हमें विदित होगा कि कम-से-कम चार स्पष्ट वर्ग उस समय विद्यमान थे। सबसे ऊँचा, धनवान तथा ऐश्वर्यवान वर्ग था उच्च सरकारी पदाधिकारियों का, जिनके शिखर पर बादशाह और उसका परिवार विराजमान थे। साम्राज्य की श्री, सम्पत्ति, धन-धान्य, समस्त सांसारिक सामग्री की सर्वोत्तम वस्तुओं के उपभोग करने का सर्वोपरि अधिकार बादशाह का था। राजकीय आय में से कितना भाग बादशाह अपने लिए अथवा अपने व्यसनों पर व्यय करते थे, इसका न कोई नियम था, न ही इस पर कोई प्रतिबन्ध। जैसा हम कह आये हैं, शाहजहाँ ने राजकीय आय का एक बहुत बड़ा भाग अपने भवनों तथा अन्य विलास की सामग्री पर व्यय कर दिया था। बादशाहों के रनिवास (हरम) और महलों की आबादी कई-कई सौ होती थी। उनके प्रबन्ध के लिए एक विभाग ही अलग होता था। इस मद का व्यय भी राजकीय कोष पर बड़ा भारी बोझ रहता था। सामाजिक स्तर तो बादशाहों का सर्वोच्च समझा ही जाता था। इसी कारण मुगल-परिवार की प्रायः लड़कियों को कुमारी जीवन ही व्यतीत करना पड़ता था, क्योंकि उनके समान सामाजिक स्थिति वाला देश में कोई न मिलता था। परन्तु सामाजिक स्थिति का विषय एक प्रकार से बड़ा जटिल है। हिन्दू क्षत्रिय (राजपूत), जिनसे मुगलों का गहरा सम्पर्क था, मुगलों को बादशाह होने के नाते अपने से बड़ा अवश्य मानते थे, किन्तु अपने हिन्दू विश्वासों की दृष्टि से वे उनको अछूत और म्लेच्छ ही समझते थे। इसी कारण राजपूत लोग अपनी बेटियों का मुगलों से संबन्ध करके उन्हें सदैव के लिए अपने से दूर कर देते थे, पर वे मुगलों की बेटियों से विवाह करने को कभी तैयार न होते थे क्योंकि एक यवन स्त्री को घर में लाकर वे धर्म व जाति से च्युत हो जाते।

राज्यमन्त्री तथा अन्य बड़े-बड़े मनसबदार राजदरबार और राजमहलों की नकल करते थे। अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार वे महल के नौकर-चाकर, बाँदियाँ, विलास की अन्य सामग्री रखते और भोग में निमग्न रहते थे। इन दोनों वर्गों का जीवन बाबर से अकबर-काल तक तो बहुत हद तक काफी संयमी और किन्हीं-किन्हीं का सादा भी रहा, किन्तु जहाँगीर के समय से विलासिता बढ़नी आरम्भ हुई और शाहजहाँ के समय में इस हद तक पहुँची कि लड़ाई के मैदान में भी ये लोग नौकर-चाकरों, लौंडियों आदि का एक पूरा जमघट लेकर चलते थे। प्रत्येक राजकुमार और राज्यमन्त्री के साथ उसके चित्रकार, कवि, भाट आदि भी रहते थे।

उपर्युक्त शासक-वर्ग में राजपूत राजा, सामन्त तथा उच्च पदाधिकारी भी

शामिल थे। राजपूत राजवंशों का जीवन पहले से ही बड़ा वैभवशाली एवं विलासपूर्ण चला आया था। अब मुगल बादशाहों की नकल करके उन्होंने नये प्रकार से भोग-विसास के तरीके भी सीख लिये थे। मुगल दरबार और राज महलों की होड़ करना ये लोग बड़े गौरव का चिह्न समझते थे। राजपूतों के सामाजिक जीवन में आज तक अनेक परम्पराएँ व रीति-रिवाज मुगल दरबारों के नमूने दीख पड़ते हैं। धार्मिक जीवन को छोड़कर उनका खाना-पीना, उठना-बैठना, महफिलें आदि लगाना ये सब उन्हें मुगलों से ही विरासत में मिला है।

धनीवर्ग : राज्य के अधिकारी-वर्ग के अतिरिक्त बड़े-बड़े धनवान, ऐश्वर्यवान, व्यापारियों तथा व्यवसायियों का भी एक वर्ग बड़ा प्रभावशाली था। ये लोग प्रायः व्यापार-केन्द्रों में रहते थे। इनका व्यापार देश के विभिन्न प्रान्तों से ही नहीं किन्तु विदेशों से होता था। इनके अतिरिक्त बहुत से लोग वाणिज्य में बहुत-सा धन पैदा करते और साहूकारे का व्यवसाय करते थे। उपर्युक्त वर्गों में कोई-कोई इतने धनी होते थे कि वे राजा-महाराजाओं तक को ऋण दिया करते थे और आवश्यकता के समय धन से उनकी सहायता करते थे। इस वर्ग के लोग अक्सर मन्दिरों, धर्मशालाओं, वाटिकाओं, घाटों आदि के बनाने में अत्यन्त धन व्यय कर डालते थे। इन लोगों का जीवन सरकारी कर्मचारी-वर्ग के जीवन की तुलना में अधिक संयत व धार्मिक होता था, यद्यपि वे अपने निजी घरेलू कारजों में जी खोलकर व्यय करते थे और इन अवसरों एवं त्योहारों के अवसरों पर बड़ा आनन्द-मंगल मनाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ-कहीं कोई राज्य-कर्मचारी अन्यायी होता था उससे धनी वर्ग को बहुत कष्ट होता था। परन्तु यह कहना अत्युक्ति होगी कि इस प्रकार का अन्याय अथवा दुर्व्यवहार सामान्य रूप से होता था।

तीसरा वर्ग उन साधारण व्यापारियों तथा पेशेवरों आदि का था जिनको हम मध्य वर्ग में रख सकते हैं। इस वर्ग में छोटे-बड़े, सम्पन्न-विपन्न, सफल-असफल हर प्रकार के व्यापारी सम्मिलित थे। इनके विषय में यह कहना ठीक न होगा कि इनका जीवन अत्यन्त रूखा-सूखा तथा सादा था और इन्हें किसी प्रकार के आनन्द-मंगल व सुखकारी अवसर प्राप्त नहीं थे। निस्सन्देह तुलनात्मक दृष्टि से उपर्युक्त उच्च वर्गों के मुकाबले इस वर्ग का जीवन बहुत सादा था। व्यापार-वाणिज्य-वर्ग के अतिरिक्त एक बहुत बड़ा वर्ग कृषक जनता का था। इनमें भी छोटे-बड़े सभी प्रकार के लोग थे। गाँव के चौधरी, मुकद्दम तथा अन्य सम्मानित लोग पर्याप्त सुखमय जीवन व्यतीत करते थे, पर इन लोगों का जीवन अपने ग्रामीण फिरकों के अन्दर ही परिमित था। उनका बाहरी प्रदेशों अथवा बड़े-बड़े नगरों से बहुत कम सम्पर्क था। इस वर्ग का दैनिक जीवन भी काफी सुखमय था। किसी प्रकार की भी उनको कमी नहीं थीं, क्योंकि खाने-पीने तथा पहनने-ओढ़ने की सामग्री इतनी सस्ती थी कि ये वस्तुएँ आवश्यकतानुसार लगभग सभी को आसानी से प्राप्त हो जाती थीं।

चौथा वर्ग : सबसे निम्न वर्ग छोटे-मोटे कारीगरों और मजदूरों व सेवकों का होता था। इनकी आर्थिक स्थिति तुलनात्मक दृष्टि ले अत्यन्त निम्नकोटि की थी,

State Museum 6719

तथापि साधारण परिस्थिति में इन लोगों को भी खाने-पीने की कोई कमी न थी। कई आधुनिक लेखकों ने यह मत प्रकट किया है कि उच्च वर्ग को छोड़कर माध्यम वर्ग से निम्न वर्ग तक के लोगों के जीवन अत्यन्त रूखे तथा सादे होते थे और उनके लिए आनन्द-मंगल की सामग्री का सर्वथा अभाव था। यह मत नितान्त निराधार है। भारतीय जनता उस समय भी अनेक पैतृक जातियों में विभाजित थी। ये जातियाँ प्रायः अपने-अपने व्यवसाय के कारण बन गई थीं और उनके धार्मिक रीति-रिवाज परम्परागत इतने विकसित व व्यवस्थित हो गये थे कि उनके सब कारजों के मौकों पर छोटे-से-छोटे वर्ग के लोग अपने-अपने ढंग से आनन्द-मंगल मनाते थे।

उच्च वर्ग में मदिरापान, दुराचार तथा अन्य इसी प्रकार के दोष अक्सर पाये जाते थे, किन्तु मध्य तथा निम्न वर्ग में प्रायः इन दोषों का अभाव था। गुजरात तथा अन्य प्रदेशों के व्यापारियों की सचाई व ईमानदारी की विदेशी यात्रियों ने भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। अन्य वर्ग के लोगों में भी परस्पर सत्यता तथा सहृदयता का स्तर बहुत ऊँचा था। नौकरों व सेवकों में नमक-हलाली अर्थात् अपने स्वामी के प्रति जीवन-अर्पण करके भी सेवकाई करना एक अनिवार्य धर्म समझा जाता था। सामाजिक जीवन की इन मर्यादाओं के कारण जनता के जीवन में बड़ा आत्मिक सुख व सन्तोष पाया जाता था। खान-पान की चीजों में विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनाज, सब्जियाँ व फल-फलादि प्रचलित थे। उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों तथा राजस्थान में गेहूँ, चना, दालें आदि और ज्वार-बाजरा बहुत खाया जाता था। पूर्वी प्रान्तों में चावल का अधिक रिवाज था। वैष्णव सम्प्रदाय तथा जैनियों, वैश्यों और उच्च वर्ग के ब्राह्मणों में माँस न खाया जाता था। अन्य सब जातियों में माँस वर्जित नहीं था किन्तु ग्रामीण जनता को वस्तुतः शायद ही कभी मांस खाने को मिलता हो।

धार्मिक जीवन : धार्मिक जीवन की दृष्टि से प्रायः समस्त मध्य युग में और विशेषकर मुगल युग में हिन्दू मात्र में नवीन ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित थे। इनमें शैव तथा वैष्णव मत सबसे अधिक प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त पर्वत-खण्ड में शाक्त और तान्त्रिक मतों का भी बड़ा विस्तार था। हिन्दुओं में जैन सम्प्रदाय की संख्या भी बहुत बड़ी थी। ये लोग प्रायः व्यापारी थे और अनेक धर्म-संस्थाएँ स्थापित करने, बड़े-बड़े मठ-मन्दिरों आदि बनाने का इन लोगों को बड़ा व्यसन था। हिन्दुओं का धार्मिक जीवन देवी-देवताओं के पूजन, तीर्थ-यात्रा, अनगिनत अवसरों पर पंडा-पुजारियों को दान-दक्षिणा देना और भोजन कराना आदि में व्यतीत होता था। इस प्रकार के अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों का हिन्दू जनता में बड़ा महत्व हो गया था। खान-पान, शादी-विवाहों, पवित्र स्थानों व मन्दिरों आदि में प्रवेश करने के मामलों में हिन्दू जनता बहुत संकीर्ण हो गई थी। अछूतों तथा अन्त्यज कहलाने वाली जातियों के लोगों के प्रति उच्च जातियों का व्यवहार अच्छा न था। इस युग के सन्त-साधुओं का मुख्य उद्देश्य तथा जीवन-कार्य हिन्दू व मुस्लिम समाज की इसी प्रकार की अनेक कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों को दूर

करने में लगा। तथा हिन्दुओं में छोटी उम्र की शादियां, विधवा-विवाह का वर्जित होना तथा सती-प्रथा और राजपूतों में शिशु-हत्या तथा बहु-विवाह आदि कुरीतियाँ प्रचलित थीं। तत्कालीन सन्त-सुधारकों ने इन सब कुप्रथाओं को दूर करने का प्रयत्न किया था।

मुसलमानों का जीवन : दूसरा बड़ा वर्ग मुसलमानों का था। इनमें भी दो बड़े सम्प्रदाय अर्थात् शिया, सुन्नी एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। सुन्नी लोग शियाओं को मूर्तिपूजक तथा तिरस्कृत समझते थे। किन्तु दोनों ही हजरत मुहम्मद के अनुयायी थे। मुसलमानों में भी फारस आदि देशों के सम्पर्क से तथा हिन्दुओं के सम्पर्क से भी अनेक रूपों में पाषाण तथा जड़-पूजा बहुत प्रचलित हो गई थी। विशेषकर ये लोग शेख, औलिया, पीर, पैगम्बरों की समाधियों, कब्रों तथा इनके निकटस्थ वृक्षों तक की पूजा करने लगे थे। इन सब कुरीतियों में अनेक हिन्दू लोग भी इनके साथ मिल गए थे। इन्हीं में सुधार करने का प्रयत्न मुसलमान सूफियों ने किया था।

उपरोक्त सामाजिक चित्र से हमें इस भ्रान्ति में न पड़ जाना चाहिए कि भारतीय जनता में परस्पर जीवन में कोई सौन्दर्य न था। जनता के दैनिक सामान्य परस्पर आचार-व्यवहार में अत्यन्त सौजन्य, परस्पर विश्वास, प्रेम तथा सद्व्यवहार पाये जाते थे। ग्रामीण जनता में आजकल की भाँति इतना विश्वासघात, बेईमानी, दूसरे की वस्तुओं का अपहरण आदि दोषों का लगभग अभाव था। इसी कारण मुकद्दमेबाजी, चोरी, डकैती अथवा कत्ल बहुत कम होते थे। कुछ आधुनिक लेखकों ने यह भ्रान्ति प्रचलित की है कि भारत का किसान वर्ग मुकद्दमेबाजी में बहुत रुचि रखता था। यह मत सर्वथा निर्मूल तथा अन्यायपूर्ण है।

(३)

साहित्य और संस्कृति

साहित्य व कला संपोषक सम्राट् गण : इस युग में राजकीय प्रोत्साहन के कारण एवं काशी आदि साहित्य के केन्द्रों में प्राचीन परम्परा के फलस्वरूप भी साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई। सभी मुगल सम्राट् स्वयं बड़े विद्या-व्यवसनी तथा कला-प्रेमी और विद्वानों, कलावन्तों एवं साहित्यिकों के परिपोषक थे। उनके दरबार में सैकड़ों कवि, साहित्यिक, लेखक, इतिहासज्ञ आदि आश्रय पाते थे। क्रमानुगत इतिहास के अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ इस युग में लिखे गए जिनसे हमको तत्कालीन राजनीतिक इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में अबुलफजल के "आईने अकबरी" व 'अकबरनामा' उल्लेखनीय हैं। महान् अकबर की प्रेरणा से 'महाभारत' आदि बड़े-बड़े संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। बाबर और जहाँगीर ने स्वयं अपने संस्मरण लिखे हैं जिनकी गणना उच्च कोटि के साहित्य में की जाती है। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने बहुत से विषयों पर काव्यमय अथवा गद्यात्मक ग्रन्थ रचे थे। मुगल सम्राट् साहित्य व शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए बहुत साधन, वजीफे, पाठशालाओं व मदरसों को जागीरों के रूप

में सहायता, बड़े-बड़े विद्वानों को जीवन-वृत्ति आदि विपुल मात्रा में देते थे। इनके दरबार में बहुत से हिन्दू कवियों का भी इसी प्रकार आदर व पालन-पोषण होता था। कवि गंग अब्दुर्रहीम खानखाना का परम स्नेही तथा उपकृत था। इनके अतिरिक्त राजदरबार के वायुमण्डल से पृथक् स्वतन्त्र रूप से अनेक साधु-सन्तों तथा कवियों एवं दार्शनिकों ने अपनी अनमोल रचनाओं से हिन्दी साहित्य को बहुत समृद्ध किया। रामानन्द, वल्लभाचार्य, कबीर, नानक, गोस्वामी तुलसीदास, चैतन्य, सूरदास, मीराबाई, रैदास, मलूकदास आदि साधु-सन्तों के नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने समाज-सुधार करने के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य को अनमोल साहित्यिक सामग्री प्रदान की।

कला : ललितकलाओं की उन्नति भी मुगल-युग में विपुल मात्रा में हुई। इस क्षेत्र में स्थापत्य तथा चित्रकला की उन्नति विशेष उल्लेखनीय है। मुगल सम्राट् बड़े-बड़े भवनों, प्रासादों, किलों आदि के बनवाने में बड़ी रुचि रखते थे। साथ ही बड़े विस्तीर्ण तथा सुललित उद्यान व वाटिकाओं की स्थापना भी सभी मुगल-सम्राटों ने की थी। दिल्ली, लाहौर, आगरा व काश्मीर आदि स्थानों पर मुगलों ने बड़े विशाल और सुन्दर बाग लगवाए थे जो आज तक विद्यमान हैं और हजारों दर्शकों तथा यात्रियों को आकर्षित करते हैं। इन सम्राटों के भवनों में आगरा, इलाहाबाद, दिल्ली, लाहौर, कटक आदि स्थानों के किले और महलात बहुत प्रसिद्ध हैं और कला की दृष्टि से भी अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के हैं। किलों और महलों के अतिरिक्त मुगलों ने बहुत से बड़े-बड़े बाँध, पुल, नहरें तथा राजमार्ग व सरायें भी बनवाई थीं। मुगल भवनों की विशेषता यह थी कि उनमें प्राचीन भारतीय कला के लगभग सभी आवश्यक अंग-प्रत्यंगों तथा मौलिक प्रतीकों का समन्वय हो गया था। इस शैली का जन्मदाता अकबर महान् था जिसने अपने भवनों में न केवल हिन्दू-निर्माण-शैली तथा स्थापत्य के नियमों को ग्रहण किया, अपितु उसके आन्तरिक भावों तथा आदर्शों का भी बड़ी सफलतापूर्वक समन्वय किया। अकबर के फतहपुर-सीकरी तथा आगरा के किले के अनेक भवन तथा राज्य-प्रासाद, उसका मकबरा तथा इलाहाबाद आदि स्थानों में अन्य इमारतें उपर्युक्त कथन के उदाहरण हैं। अकबर के उत्तराधिकारियों के स्थापत्य में एक नए रूप का प्रदर्शन विशेष उल्लेखनीय है। अकबर ने अपने भवनों में सर्वथा लाल पत्थर का प्रयोग किया था। उसके वास्तु-स्मारकों में अकबर का वीरत्व, उसका आदर्शवाद, उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति, सभी प्रदर्शित हुई हैं। उसके उत्तराधिकारियों के भवनों के बनाने में प्रायः संगमरमर का प्रयोग हुआ। केवल बड़े-बड़े किलों व कहीं-कहीं मस्जिदों आदि में लाल पत्थर लगाया गया। किन्तु इनमें अकबर के भवनों की दृढ़ता तथा प्रताप के स्थान पर कोमलता व सुकुमारता की ओर विशेष झुकाव आरम्भ हो जाता है। इस प्रवृत्ति पर नूरजहाँ और उसके बाद शाहजहाँ की चित्त-वृत्ति का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। इन सम्राटों के भवन अकबर के भवनों की

तुलना में पतनोन्मुख तथा स्त्रियोचित सुकुमारता के द्योतक हैं।

शिल्प-कौशल : परन्तु शिल्प-कौशल की दृष्टि से अकबरोत्तर युग के भवनों में बहुत उन्नति हुई। वे बाह्य सौन्दर्य तथा आकर्षण के सर्वोत्कृष्ट एवं संसार-भर में अद्वितीय उदाहरण हैं। उनके गुम्बदों का बाह्य आकार तथा अलंकरण के अनेक उपकरण आदि सभी में हस्त-कौशल का इतना विलक्षण प्रयोग किया गया है कि उसकी तुलना संसार के वास्तु में शायद ही कहीं मिल सके। अकबर ने अपने भवनों को अलंकृत करने के लिए सफेद तथा अन्य रंग-बिरंगे पत्थरों की कटाई के अत्यन्त सुन्दर आकार-प्रकारों से काम किया था। किन्तु नूरजहाँ ने पहले पहल अपने पिता के मकबरे में उसको अलंकृत करने से लिए, बहुमूल्य रत्नों व पत्थरों का प्रयोग किया, जिनका प्रयोग उससे पहले केवल संगमरमर आदि छोटी-छोटी वस्तुओं में किया जाता था। एक प्रकार से जौहरियों के इस शिल्प तथा कला को इतने बड़े पैमाने पर प्रयुक्त कर देना नूरजहाँ जैसी प्रतिभाशाली स्त्री का ही काम था। उसके बाद इस अलंकरण-शैली का प्रयोग, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने पच्चीकारी (Pitradura) का नाम दिया है, शाहजहाँ ने बहुत बड़े पैमाने पर किया। मुगल बादशाहों के भवनों में निम्नलिखित यहाँ उल्लेखनीय हैं : अकबर के भवन, फतहपुर सीकरी में बुलन्द दरवाजा, जोधाबाई तथा अन्य रानियों के महल, जामा मस्जिद, आगरा का किला तथा उसके अन्दर के महलात, लाहौर व इलाहाबाद के किले और उनके महलात आदि-आदि। अकबर ने अपने मकबरे को स्वयं बनवाना शुरू किया था परन्तु उसे पूरा न कर पाया और जहाँगीर ने उसे पूरा करवाया। जहाँगीर के शासन-काल में नूरजहाँ ने अपने पिता का आगरा में और फिर जहाँगीर का लाहौर में अत्यन्त सुन्दर मकबरा बनवाया। जहाँगीर को विशेष रुचि बागों के लगवाने में थी। उसने और महारानी नूरजहाँ ने काश्मीर में निशात बाग व शालीमार बाग लगवाए जो आज तक संसार भर में प्रसिद्ध हैं। शाहजहाँ की रुचि भवनों के निर्माण में उतनी ही थी जितनी बागों के लगवाने में। उसने दिल्ली में लाल किला और उसके अन्दर बड़े-बड़े सुन्दर प्रासाद बनवाये। आगरा के किले में भी उसने बहुत से महलात बनवाये।। शाहजहाँ की सर्वोत्तम कृति ताजमहल, जो उसकी प्रिय रानी मुमताजमहल का मकबरा है, मानी जाती है। शाहजहाँ ने बड़ी विशाल मस्जिदों का भी निर्माण करवाया, जिनमें दिल्ली की जामा मस्जिद जगत्-प्रसिद्ध है, परन्तु आगरा के किले में उसकी बनवाई गई मोती मस्जिद वास्तु-कला का अतीव सुन्दर एवं सौम्य उदाहरण है। शाहजहाँ और उसकी लड़कियों ने दिल्ली और लाहौर में कई बड़े-बड़े बाग लगवाए। शाहजहाँ के बाद मुगल वास्तु-कला की बहुत तीव्र गति से अवनति होनी आरम्भ हुई। औरंगजेब की हृदयहीन तथा संकीर्ण नीति के फलस्वरूप केवल वास्तु ही नहीं किन्तु शिल्प व ललितकला के सभी अङ्गों की बहुत क्षति हुई।

ललितकला : ललितकलाओं में इस युग में चित्र-कला, संगीत तथा सुलेख-कला

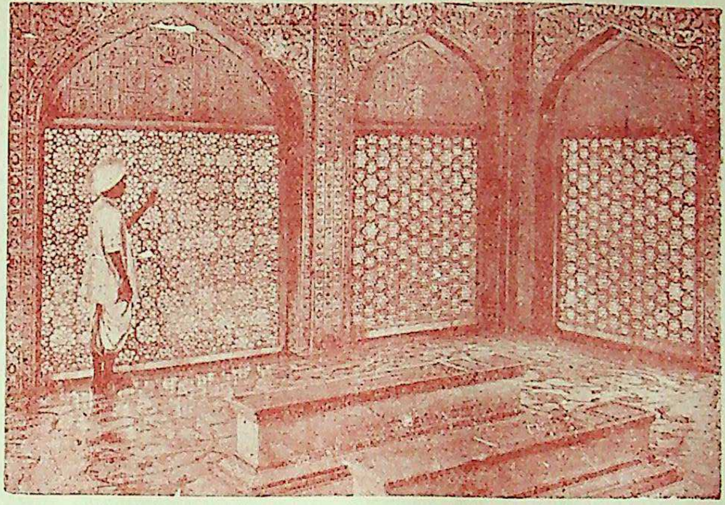

एतमातुद्दौला का मकबरा (संगमरमर पर जाली का महीन काम)
आगरा

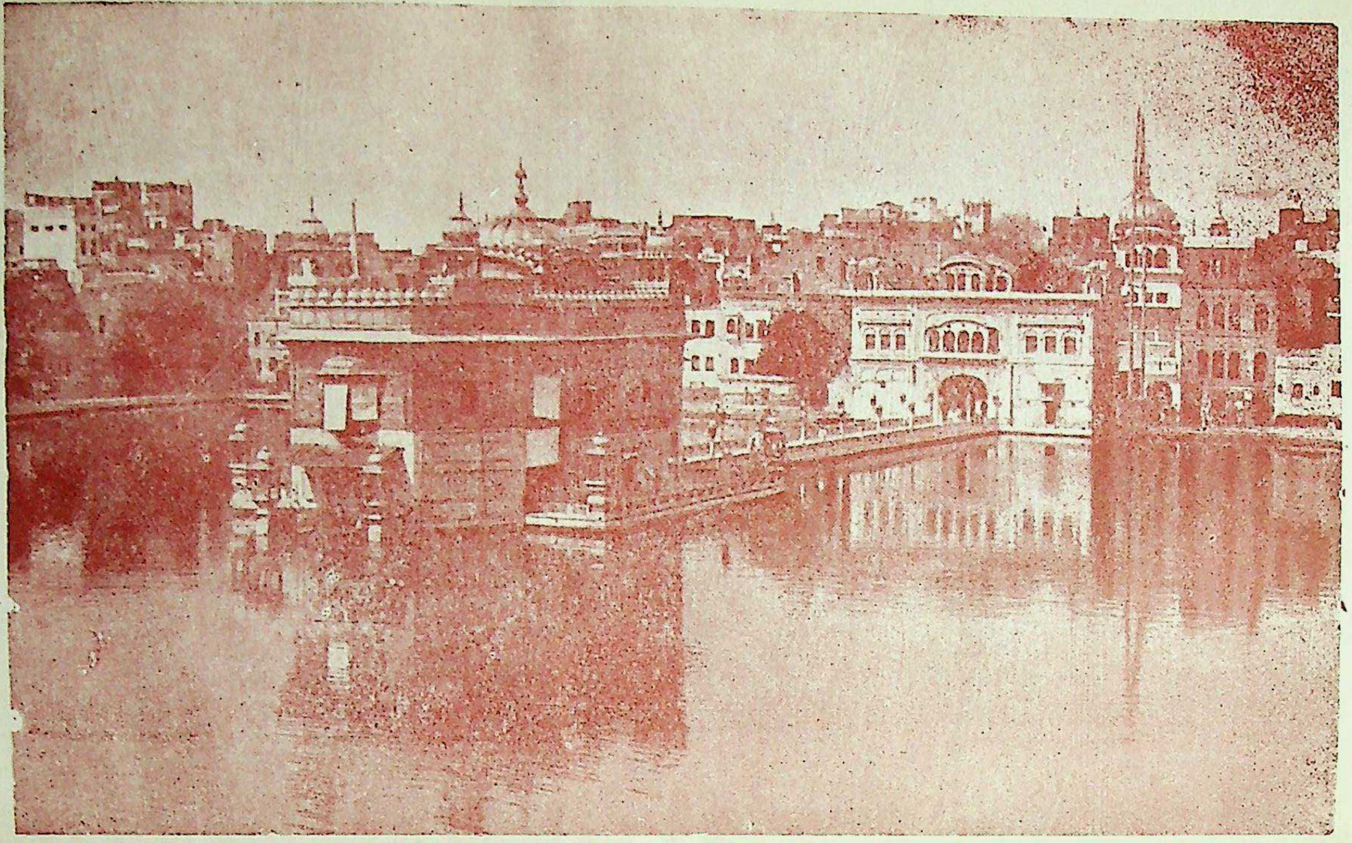

अमृतसर का स्वर्ण-मंदिर

की विशेष उन्नति हुई। चित्र-कला को बाबर के समय में ही बहुत प्रोत्साहन मिला था। मुगल चित्रकला की विशेषता सूक्ष्माकार चित्रों में है। मुगल चित्रकला का विकास फारस व राजस्थान की कलाओं के परस्पर प्रभाव व सम्मिश्रण से हुआ था। पहले-पहल बाबर के आश्रय में चित्रकारों ने फारस चित्रकला की शैली का अनुकरण किया था। इनके चित्रों के विषय, आकार-प्रकार, वस्त्राभूषण तथा पृष्ठभूमि आदि सभी ईरानी शैली के हैं। इनमें विभिन्न रंगों तथा वाह्य रेखा का भी विशेष सुन्दरता के साथ प्रयोग किया गया है। अकबर के बाद मुगल चित्रकला पर राजस्थानी कला का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके चित्रों की आकृति अथवा शबीह बिल्कुल भारतीय हो गई। इन चित्रों की एक विशेषता यह भी है कि वे एकपक्षीय होते थे, अर्थात् प्रायः उनमें मनुष्य के शरीर व चेहरे का एक तरफ का अंग ही दीख पड़ता था। किन्तु मनुष्य के सामने का प्रतिरूप चित्रित किया हुआ भी बहुत से चित्रों में मिलता है। राजस्थानी व मुगल शैली से ही पहाड़ी अथवा कांगड़ा शैली का विकास हुआ, जिसमें राग-माला, शृंगार, ऋतु और कृष्ण के विषय चित्रित किये गये हैं। मुगलों के चित्रों में प्रायः उनके वैयक्तिक चित्र हैं और इनके अतिरिक्त युद्ध-क्षेत्रों के, महलात के, सम्राटों के आखेट के तथा साधु-संतों की मण्डलियों के चित्र भी इस शैली में बहुत मिलते हैं।

संगीत-कला—में मुगलों की रुचि किसी से कम नहीं थी। इसमें अकबर के समय में बहुत भारी उन्नति हुई, विशेषकर अकबर के नवरत्नों में तानसेन का नाम जगत्विख्यात् है। तानसेन गुरु हरिदास का शिष्य था जो संगीत-कला का अद्वितीय पण्डित था। वह पन्ना के दरबार में संगीतज्ञ था। उसकी ख्याति सुनकर अकबर ने पन्ना के राजा पर दबाव डालकर उसे अपने पास बुलवा भेजा। तानसेन प्राचीन भारतीय ध्रुवपद श्रेणी का अनुयायी था। जनश्रुति है कि अकबर के दरबार में आते समय तानसेन को बड़ी चिन्ता थी कि कौन-सा राग सम्राट् के सामने सुनाया जाय जिससे सम्राट् का चित्त पूर्ण रूप से प्रसन्न हो। उसने आत्मचिन्तन से दरबारी काँगड़ा नामक एक नये राग की रचना की और पहले-पहल अकबर के दरबार में उसे सुनाया, जिसे सुनकर सम्राट् इतना प्रसन्न हुआ कि उसने तानसेन को अपने नवरत्नों में स्थान देकर समादृत किया। ध्रुवपद शैली के साथ-साथ ख्याल, ठप्पा व ठुमरी आदि शैलियों को भी प्रोत्साहन मुगलों के दरबार में अन्तिम दिनों तक होता रहा।

सुलेख-कला : की उन्नति मुसलमानों में विशेष रूप से इस कारण हुई कि अपने विषयों को अलंकृत करने तथा सुन्दर बनाने के लिए उनको किसी जानदार के चित्र बनाने का अधिकार न था। अतएव उन्होंने अरबी व फारसी लिपियों को ही इतने रूप-प्रतिरूपों में लिखना आरम्भ किया कि वे उनके भवनों तथा अन्य वस्तुओं को अलंकृत करने में उसी प्रकार प्रयुक्त किये जा सकें जिस प्रकार चित्रों से काम लिया जाता था।

Questions

1. Bring out the special features of Moghul adminitration.
   मुगल शासन-व्यवस्था की विशेषताएँ स्पष्ट रूप से बताओ।
2. How far the Indian culture was influenced by the Moghul Emperors.

   मुगल बादशाहों का भारतीय संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा था ?

अध्याय २२

राजनीतिक त्रिभुज

मरहठे, योरोपियन और मुग़ल

पिछले अध्यायों में बतलाया गया है कि पश्चिमी देशों के निवासी किस भाँति भारत में आकर बसे । औरंगजेब की मृत्यु तक का मरहठों की शक्ति का वृत्तान्त भी दिया जा चुका है । मुगलों का राज्य सारे भारत में इस भाँति फैला हुआ था जैसे कोई निर्जीव शरीर फूल गया हो और अन्दर तक इतना सड़-गल गया हो कि उसका इलाज ही असम्भव हो । एक ओर तो राज्य के दूर के भागों पर उचित शासन-प्रबन्ध न हो सकने के कारण वे राज्य से पृथक् होते जा रहे थे, दूसरी ओर मरहठे मुगलों के प्रदेश में बढ़ते चले जा रहे थे । उसी समय भौगोलिक खोजों के कारण योरुप में जो व्यापारिक आन्दोलन मचा हुआ था, उसके फलस्वरूप बहुत-सी व्यापारिक कम्पनियाँ पूर्वी समुद्रों पर अधिकार जमाने तथा पूर्वी भारत से व्यापार करने के लिए संघर्ष कर रही थीं । इन तीन महत्वपूर्ण शक्तियों के अतिरिक्त मुगल राज्य के टुकड़े—जैसे अवध के नवाब और दक्षिण के निजाम—भी कुछ काल तक संघर्ष करते रहे । औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ५० वर्ष तक इन अनेक प्रतिद्वन्द्वियों में रस्साकसी होती रही । इस काल में बड़ा भारी राजनीतिक परिवर्तन हुआ और भारत की शक्ति मुगलों के हाथों से निकलकर समुद्र पार की एक जाति के हाथों में चली गई । इस अध्याय में इस राजनीतिक परिवर्तन की कथा पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है ।

यूरोप वालों का यहाँ बसना

अंग्रेज : लन्दन के व्यापारियों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी किस प्रकार बनी और जहाँगीर के शासनकाल में इस कम्पनी ने कैसे उन्नति की, यह सब वृत्तान्त १४वें अध्याय में दिया जा चुका है । **जिस समय से टामस रो जहाँगीर के दरबार में आया अंग्रेजों की नीति मुगलों तथा अन्य भारतीय राजाओं से मित्रता बनाये रखने की रही ।** १६१६ में मसूलीपट्टम में एक कारखाना स्थापित कर लेने के बाद उन्होंने चन्द्रगिरि के राजा (विजयनगर के राजाओं का एक वंशज) से १६३९ में भूमि का एक टुकड़ा पट्टे पर लिया, जिस पर उन्होंने एक कारखाना बनाया और बाद में सैंट जार्ज नामक किला बनाया । शाहजहाँ ने १६५०-१६५१ में उन्हें हुगली तथा कासिम

बाजार में कारखाने बनाने की अनुमति दे दी और कुछ व्यापारिक विशेषाधिकार भी दिए। पश्चिमी समुद्र-तट पर चार्ल्स द्वितीय ने उनको बम्बई और सालसैट के द्वीप दे दिए जो उसे दहेज में स्पेन से मिले थे तथा जिसका वार्षिक नाममात्र का भाड़ा १० पौंड देना पड़ता था। इससे अंग्रेजों की स्थिति दृढ़ हो गई, क्योंकि उनके पास ऐसा बन्दरगाह था जहाँ न मरहठे उनको सता सकते थे और न डच।

मरहठों की लूटमार के कारण अंग्रेजों को १६८४ में अपने स्थानों की किलेबन्दी करनी पड़ी। कुछ समय पश्चात् उनको बंगाल के गवर्नर शायस्ताखाँ से युद्ध करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने अपने यातायात पर स्थानीय कर देने से इन्कार कर दिया था और यहां तक कि मांगने पर लड़ने के लिए उतारू हो गये थे। उनके व्यवहार से औरंगजेब इतना कुपित हुआ कि अंग्रेजों को सूरत, मसूलीपट्टम तथा हुगली से निकाल बाहर किया और उनके कारखानों पर अधिकार कर लिया। किन्तु **१६९० में सन्धि हो गई** तथा हुगली में अंग्रेजों का जो कारखाना था उसके मालिक **जौब कारनाक** (Job Chornoc) को वापस आने की अनुमति मिल गई। कारनाक को एक शाही फरमान मिला, जिसके अनुसार उसको हुगली से नीचे की ओर कुछ मील दूर कारखाना बना लेने का स्थान दिया गया, जिसका नाम समीप के गाँव के नाम पर कालीकाता पड़ा, जो बढ़कर वर्तमान कलकत्ता हो गया। अंग्रेजी कम्पनी को समय-समय पर अपनी सरकार से चार्टर मिलते रहते थे, जिनके आधार पर उसे आज्ञा थी कि वह किसी भी शक्ति से सन्धि अथवा युद्ध कर सकती थी। और जहाजी बेड़े के अधिकारियों को नियुक्त कर सकती थी। इसे किसी भी मूल्य के सिक्के ढालने की आज्ञा मिली हुई थी। १६९४ में हाऊस आफ कामन्स द्वारा एक प्रस्ताव पास किया गया, जिसके अनुसार इंगलैंड की सारी प्रजा को पूर्व से व्यापार करने का समान अधिकार दिया गया। १६९८ में एक नई कम्पनी का निर्माण हुआ और कुछ समय तक दोनों कम्पनियों में साँघातिक प्रतिस्पर्धा चलती रही। १७०२ में दोनों कम्पनियों में समझौता हो गया और दोनों मिलकर एक नई संयुक्त कम्पनी बनी, जिसका नाम था "दि यूनाइटेड कम्पनी आफ मर्चेन्टस आफ इंगलैंड ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इण्डीज" (पूर्वी देशों से व्यापार करने वाली इंगलैंड के व्यापारियों की संयुक्त कम्पनी)। उस समय **अंग्रेज शान्तिपूर्वक व्यापार करने लगे, परन्तु जब मुसलमानों के पतन के कारण देश में अराजकता फैल गई तथा फ्राँसीसियों की हलचलें बढ़ने लगीं तो अंग्रेजों को भी अपनी नीति बदलनी पड़ी।**

भारत में फ्राँसीसी : बहुत पूर्व काल से ही फ्राँसीसी भारत के साथ समुद्री व्यापार करने के प्रयत्न में लगे हुए थे परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली थी। १६६४ में चौदहवें बादशाह लुई ने पूर्वी द्वीप-समूहों के लिए एक कम्पनी बनाई जिससे पूर्वी द्वीप-समूहो में फ्राँसीसी समुद्री व्यापार को प्रोत्साहन मिले और आज्ञा पत्र द्वारा उसको आशा अन्तरीप से भारत तथा दक्षिणी सागरों में व्यापार करने का विशेषाधिकार ५० वर्ष के लिये दिया गया। इस फ्रैंच कम्पनी पर अभियोग लगाया गया कि वह उपनिवेश बनाने के प्रयत्न में लगी हुई थी तथा एक खतरे से पूर्ण व्यापार कर

रही थी। इसके कुछ समय पश्चात् उन्होंने अपनी फैक्ट्रियाँ सूरत (१६६६), मसूलीपट्टम (१६७१), पांडीचेरी (१६७२), जिसको किले से भी सुरक्षित बनाया गया था, और चन्द्रनगर (१६९०) में डालीं। इन फैक्ट्रियों की नींव डालने वाले फ्रेंच मार्टिन को मुगलों का पतन साफ दिखाई दे रहा था, अतएव उसने ऐसी योजना बनाई कि फ्रांसीसियों की शक्ति दृढ़ हो जिससे उनके व्यापार की निर्विघ्न उन्नति होती रहे। १७२४ में फ्रांसीसियों ने माही में एक किला बनवाया और १७३९ में कारिकल पर अधिकार कर लिया।

मुगल राज्य का पतन (१७०७-१७४८)

इस्लाम धर्म के अनुसार गद्दी के उत्तराधिकारी के लिए चुनाव किया जाय, इसको औरंगजेब जैसा कट्टर-पंथी भी सहन नहीं कर सकता था। कहा जाता है कि उसने एक वसीयत छोड़ी थी जिसमें उसने अपने राज्य को अपने बेटों में बाँट दिया था। किन्तु मुगल राज्य तलवार के जोर पर लिया जाता था और किसी कानून या नियम की परवाह नहीं की जाती थी। मृत सम्राट् के बेटों में जो गद्दी के लिए परस्पर संघर्ष हुआ उसमें शाहजादे मुअज्जम की विजय हुई और वह १७०७ में ६४ वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा।

नये सम्राट् ने आरम्भ में अच्छा शासन किया। दक्षिण के योग्य वायसराय जुल्फिकारखाँ की सलाह से उसने साहू (शिवाजी द्वितीय) को मुक्त कर दिया, जो कि १६९० से शाही डेरे में बन्दी था, जैसा कि हम पूर्व बता चुके हैं। उस समय राजाराम की विधवा स्त्री ताराबाई मरहठों के साम्राज्य पर शासन कर रही थी और यद्यपि वह योग्य थी परन्तु सब लोग उसकी आज्ञापालन नहीं करते थे। अतएव ज्योंही साहू सतारा पहुँचा उससे धन्नाजी जादव आदि बहुत से मरहठे सरदार मिल गए, जिनका विचार था कि ताराबाई की अपेक्षा साहू का राज्य पर अधिक हक है। अतएव बहादुरशाह मरहठों में फूट डालने में सफल हो गया जिससे वे फिर मुगल प्रदेश पर अधिकार न कर सकें।

अब वह उत्तरी भारत की समस्या को हल करने के लिये स्वतन्त्र हो गया। उसने जजिया उठा लिया और राजपूतों की मुख्य रियासतों—मेवाड़ और मारवाड़ को स्वतन्त्र कर दिया। इस प्रकार उसने राज्य के उस भाग में शान्ति स्थापित कर दी। सम्राट् को विवश होकर राजपूतों से समझौता करना पड़ा था, क्योंकि बन्दा बहादुर के नेतृत्व में सिक्खों ने सरहिंद पर अधिकार कर लिया था और बड़ा आतंक फैला रखा था। बन्दा जिसका नाम लक्ष्मणदेव था, डोगरा राजपूत था तथा पुँछ में राजौरी का रहने वाला था। उसको सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने अपने कार्य की पूर्ति के लिए सिक्खों का सामयिक नेता चुना था। सम्राट् दक्षिण व राजपूताना में व्यस्त था। इसका लाभ उठाकर बन्दा ने करनाल, पानीपत और सहारनपुर तक के प्रदेश पर अधिकार जमा लिया। क्रुद्ध सिक्खों ने अन्धाधुन्ध मुसलमानों का वध किया, किन्तु बहादुरशाह ने उनको पराजित करके सरमूर की

पहाड़ियों में धकेल दिया जहाँ से वे मुगलों के प्रदेश में लूटमार करते रहते थे। १७१२ में बूढ़ा बादशाह कुछ ही दिन बीमार रहकर लाहौर में मर गया। **इसके बाद जो महत्वपूर्ण बादशाह गद्दी पर बैठा वह बहादुरशाह का पोता फरुखसियर था** (१७१३—१७१८), जो बहुत ही असभ्य, निर्लज्ज और दुराचारी था। फरुखसियर के शासन-काल में राज्य की तमाम शक्ति अब्दुल्ला और हुसैन नामक दो भाइयों के हाथों में चली गई जो जानसट के सैयद बौहरे थे। उनके काल में दो मुख्य घटनाएँ हुई : प्रथम बन्दा को कैदी बनाकर बड़ी निर्दयता से उसका वध तथा उसके लगभग एक सहस्र अनुयायियों का वध। दूसरी घटना, जिसका परिणाम अधिक दुरूह था, विलियम हैमिल्टन द्वारा बंगाल में अंग्रेजों की कम्पनी के लिये विशेष व्यापारिक अधिकार प्राप्त करना तथा उसको अनेक करों से छूट मिल जाना था। हैमिल्टन एक डाक्टर था जिसने बादशाह को एक बहुत बुरी बीमारी से अच्छा करके प्रसन्न कर दिया था। फरुखसियर ने पुनः जजिया लगाने का वृथा प्रयास किया। सैयद भाइयों ने १७१९ में फरुखसियर को गद्दी से उतार दिया और तब कई नाम-मात्र के बादशाहों को तख्त पर बिठाया जो शीघ्र ही अदृश्य हो गये। तब उन्होंने महल के एक और निकम्मे व्यक्ति मुहम्मदशाह को गद्दी पर बिठाया। मुहम्मदशाह ने किसी प्रकार हुसैनअली को मरवा डाला और अब्दुल्ला को बन्दी बना लिया और अन्त तक बादशाह बना रहा जब तक कि उसकी मृत्यु न हो गई (१७४८)।

साम्राज्य के टुकड़े : केन्द्र का नियन्त्रण इतना शिथिल हो गया कि जो शक्तिशाली अमीर प्रान्तों के गवर्नर नियुक्त किए थे बिल्कुल स्वतन्त्र बन बैठे। निजामुल्मुल्क दक्षिण में स्वतन्त्र हो गया और अपने वंश के राज्य की नींव १७२३ में डाली। उसी वर्ष अवध में सादतअली स्वतन्त्र हो गया। बंगाल वहीं के स्थानीय अफसर अलीवर्दीखां के अधीन स्वतन्त्र हो गया, जिसने १७४०-१७५६ तक शासन किया, जिसके बाद उसका पोता सिराजुद्दौला गद्दी पर बैठा। लगभग उसी समय गंगा के पूर्व के जिलों को, जो उत्तर-पश्चिम में थे, रुहेलों ने ले लिया, जिनके नाम पर वह प्रदेश रुहेलखण्ड कहलाया। मरहठों के फैलने का वृत्तान्त शीघ्र बतलाया जायगा जबकि मुगल साम्राज्य के टुकड़े हो रहे थे, दिल्ली पर नादिरशाह के आक्रमण ने उसे जड़ से हिला दिया (१७३९)। वह फारस का एक वीर सैनिक था और मामूली स्तर से बढ़कर तथा सफावी शासक को भगाकर समस्त फारस का शासक बन बैठा था। दुर्बल और मूर्ख मुहम्मदशाह ने अपने-आपको आक्रान्ता की दया पर छोड़ दिया। नादिरशाह लगभग दो महीने दिल्ली में ठहरा। इस बीच में उसके आदमियों ने दिल्ली की अरक्षित प्रजा को बुरी तरह लूटा और सताया। एक दिन कुछ अत्याचार पीड़ितों ने क्रोध में आकर नादिरशाह के कुछ सैनिकों का वध कर डाला, जिस पर कुपित होकर नादिरशाह ने कत्लेआम की आज्ञा दी। कहा जाता है कि यह हत्याकाण्ड सारे दिन चलता रहा और बड़ी कठिनता से मोहम्मद की प्रार्थना पर बन्द हुआ। इस दुर्घटना से मुगल राज्य की रही-सही प्रतिष्ठा भी जाती रही और नादिरशाह ने मुगल साम्राज्य को सिसकती हुई लाश के सदृश छोड़ा।

इस प्रकार औरंगजेब के अधीन जो मुगल साम्राज्य दूर-दूर तक फैला, जिसको ठोस बनाने अथवा जिसके एकीकरण के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया, औरंगजेब की मृत्यु के बाद शीघ्र ही टुकड़े-टुकड़े होकर अशक्त हो गया, जिसका कारण था औरंगजेब की अदूरदर्शी संकुचित धार्मिक नीति, जिसके फलस्वरूप जगह-जगह लोगों में जागृति हुई और मरहठों व सिक्खों का उत्थान हुआ। इसके अतिरिक्त मुगल-साम्राज्य के विनाश में स्वार्थी मुसलमान अमीरों का भी हाथ रहा, जिन्होंने औरंगजेब के मरते ही राज्य के टुकड़े करने आरम्भ कर दिए थे। केन्द्रीय शासन के दुर्बल होते ही स्वार्थी तथा महत्वाकाँक्षी अफसर स्वतन्त्र शासक बन बैठे और सम्राट् षड्यन्त्रकारी दरबारियों के हाथ के खिलौने बन गये। **औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में कोई भी इतना योग्य नहीं हुआ जो इस पतन को रोक सकता।** अठारहवीं शताब्दी के दूसरे व तीसरे चतुर्थांश में मुगल बादशाह कभी मराठों व कभी किसी और ताकत की शरण लेते रहे और स्वयं निकम्मे बने रहे। मुगल राज्य की सेना भी बहुत ही निकम्मी हो गई थी और मुगलों के भारी तथा धीरे-धीरे प्रस्थान करने वाले डेरे हल्के फुल्के द्रुतगामी मरहठे अश्वारोहियों व उन्हीं के समान सादे व उत्साहित सिक्खों का सामना करने में असमर्थ थे। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि मुगलों ने समुद्री ताकत बढ़ाने में बड़ी उदासीनता दिखाई थी, जिसके फलस्वरूप उनको अति सामान्य पश्चिमी जातियों से भी मुँह की खानी पड़ी थी जो भारत के समुद्र-तट पर बसी हुई थीं। मुगलों का केवल पतन ही नहीं हो रहा था वरन् उनमें ऐसा कोई तत्व शेष नहीं रहा था जिससे उनकी उन्नति सम्भव हो सकती। फलस्वरूप जब अन्य जातियाँ उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही थीं, वह जीवित न रह सकी।

मरहठे (१७१३-१७४८) : मुहम्मद ने नाम-मात्र के लिए ३० वर्ष तक भारत का शासन किया। उसके उत्तराधिकारी अहमदशाह और आलमगीर द्वितीय भी लगभग ५० वर्ष तक नाम-मात्र के लिए भारत के सम्राट् बने रहे। अतएव भारतीय इतिहास में केवल यह बताना ही महत्वपूर्ण रह जाता है कि मरहठों और सिक्खों का उत्थान कैसे हुआ। यह पहले ही बताया जा चुका है कि किस प्रकार बहादुरशाह ने १७१३ में शाहू को कैद से मुक्त करके मरहठों में फूट डलवा दी थी। साहू मरहठों का नेता बनने के लिए बिल्कुल अयोग्य था और केवल इतने से ही संतुष्ट था कि उसको राजा बनने का गौरव प्राप्त था और राजमहल के आमोद-प्रमोद में भाग लेता था। अतएव उसने राज्य-कार्य का भार पेशवा बालाजी विश्वनाथ के हाथों में छोड़ दिया था जो बहुत बुद्धिमान और कूटनीतिज्ञ था। उसने अपने आपको राज्य में सर्वशक्तिमान बना दिया था और अपने पद को सदा के लिए अपने वंशजों के लिए सुरक्षित कर लिया था। इसके अनन्तर शिवाजी के उत्तराधिकारी अपना गौरव बिल्कुल खो बैठे और इस प्रकार भुला दिए गए कि अठारहवीं शताब्दी में मरहठों के उत्थान का इतिहास पेशवाओं के उत्थान का इतिहास रह गया।

पेशवाओं ने वास्तव में शिवाजी की प्रणाली को बनाये रखा। वे अष्टप्रधानों

की सम्मत्ति से कार्य करते थे। किन्तु सबसे प्रथम पेशवा ने शासन में सुधार किया जो काफी बिगड़ चुका था। चतुर **बालाजी विश्वनाथ** ने दिल्ली के दरबार में जो षड्यन्त्र चल रहा था व फूट पड़ रही थी, उस अवसर से लाभ उठाया और अपनी शक्ति और राज्य को बढ़ाया। १७१९ में बालाजी विश्वनाथ को सैयद भाइयों ने बुलवाया कि वह प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध उनकी सहायता करे। फरुखसियर का वध हो चुका था और पेशवा ने मुहम्मदशाह से तीन बातों की मंजूरी ले ली जो भविष्य में भारत में मरहठा राज्य की नींव बनी। इसके द्वारा उसको दक्खन, कर्नाटक और मैसूर चौथे व सरदेशमुखी का अधिकार मिल गया। इस अधिकार के द्वारा मरहठों और निजामुलमुल्क के बीच संघर्ष का बीज बोया गया। तीसरा अधिकार और भी महत्वपूर्ण था, वह था स्वराज्य अर्थात अपने देश में मरहठों का स्वतन्त्र शासन। इस प्रकार प्रथम पेशवा ने औरंगजेब की मृत्यु के दस वर्ष पश्चात ही उसके उत्तराधिकारी से अपने देश पर राज्य करने और नर्वदा के दक्षिण के समस्त देश से कर लेने का अधिकार बलपूर्वक ले लिया।

दिल्ली से लौटते ही १७२० में **बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गई और उसका लड़का बाजीराव पेशवा बना**। बाजीराव ने अपने पिता से विशिष्ट राजनीति की शिक्षा पाई थी और वह अपने पिता से भी अधिक महत्वाकाँक्षी था। उसको पेशवाओं में सबसे योग्य माना गया है। अवश्य ही वह उन सब से वीर सैनिक था। बाजीराव ने अपनी सेना में सुधार किया और नर्वदा के उत्तर के प्रदेशों को जीतने के लिए चढ़ाई करदी। १७३७ तक बाजीराव ने गुजरात से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करनी आरम्भ कर दी, मालवा और बुन्देलखन्ड को जीत लिया और तब विशाल सेना के साथ दिल्ली की प्राचीरों को घेर लिया। दक्षिण से निजामुलमुल्क पेशवा को रोकने के लिए बढ़ा परन्तु भोपाल के समीप बुरी तरह पराजित हुआ और सिरोज के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े, जिसके अनुसार उसको मालवा तथा गुजरात छोड़ने पड़े और युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिए बाजीराव को ५० लाख मुद्राएँ देनी पड़ीं। बाजीराव ने पुर्तगीजों से भी १७३९ में बसीन का द्वीप ले लिया। जब १७४० में उसकी मृत्यु हुई, उस समय मरहठा राज्य की स्थिति पूर्ण सुरक्षित हो चुकी थी। बाजीराव के पुत्र बालाजी बाजीराव में जो अपने पिता के बाद पेशवा हुआ, अपने पिता जैसा चातुर्य और राजनीतिक बुद्धि नहीं थी। किन्तु उसको समस्त राजकीय कार्यों में अपने प्रभावशाली चचेरे भाई सदाशिवराव से सलाह मिलती रहती थी। सदाशिव की देख-भाल में बाला जी के काल में मराठों की शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इस काल में मरहठों ने मध्य भारत पर अधिकार कर लिया था और बंगाल पर कई बार आक्रमण करके अलीवर्दीखाँ को विवश होकर १७५१ में उड़ीसा उनको देना पड़ा और बंगाल तथा बिहार की आय में से चौथ देनी पड़ी। मराठों की शक्ति की उस समय पराकाष्ठा हो चुकी थी जब १७५२ और १७५६ के बीच उन्होंने उत्तर के बादशाह से भी चौथ वसूल करनी आरम्भ कर दी और अन्त में १७५८ में मरहठों की सेना ने पंजाब पर अधिकार कर लिया और

अटक के दुर्ग पर अपना झंडा गाड़ दिया। अब मरहठों का दबदबा सारे भारत में फैला हुआ था और पास के समस्त प्रदेश उसको भेंट देते थे।

पानीपत की तीसरी लड़ाई (१७६१)

किन्तु पंजाब पर अधिकार करने के कारण मराठों को अहमदशाह अब्दाली से युद्ध करना पड़ा जो नादिरशाह के मरने के बाद अफगानिस्तान का स्वतन्त्र शासक बन गया था। नादिरशाह की भाँति अब्दाली ने भी भारत पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये थे और १७५६ तक पंजाब पर अधिकार कर लिया था। १७५६ के बाद से अब्दाली प्रायः भारत पर आक्रमण करता और भूखे अफगानों के झुण्ड-के झुण्ड गरीब नगर निवासियों से उनकी रक्षा के बहाने उनसे खूब धन वसूल करते थे और देश को पहले से भी अधिक वीरान बना दिया था। जब मराठों ने १७५८ में पंजाब पर विजय प्राप्त कर ली तो अब्दाली ने उनको भगाने के लिए अफगानिस्तान से कूच कर दिया। मराठे भी अफगानों से युद्ध करने के लिए तैयार बैठे थे और उन दोनों के बीच १७६१ में उसी भाग्य निर्णायक पानीपत के मैदान में घोर युद्ध हुआ जिसने

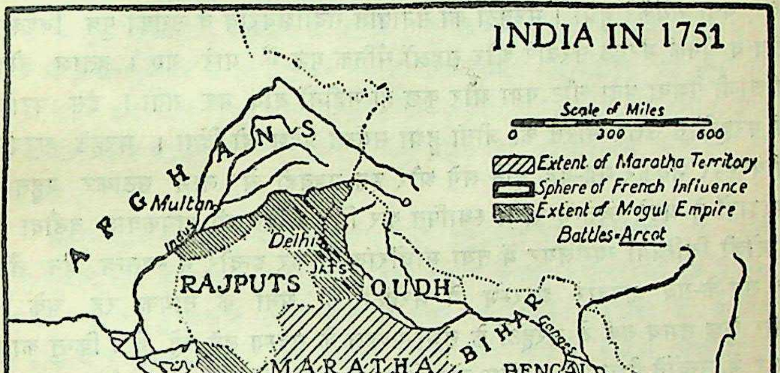
INDIA IN 1751
Scale of Miles
0 300 600
▨ Extent of Maratha Territory
Sphere of French Influence
▨ Extent of Mogul Empire
Battles-Arcot
AFGHANS
Multan
Indus
Delhi
Jats
RAJPUTS
OUDH
BIHAR
Ganges
BENGAL
Calcutta
ORISSA
MARATHA CONFEDERACY
Bombay
NIZAM'S DOMINIONS
CIRCARS
ARABIAN SEA
BAY OF BENGAL
Madras
Ambur
Arcot
Wandewash
Ft. St. David
Trichinopoly
MYSORE
POLYCARS
CARNATIC
Lacadive Is
Andaman Is

कई बार भारत के भाग्य का निर्णय किया था। किन्तु यह युद्ध सोलहवीं शताब्दी के दोनों युद्धों से कहीं अधिक भयंकर था। दोनों ओर की सेना की संख्या अपार थी। अब्दाली के अधीन ४०,००० अश्वारोही और ३५,००० पदाति थे तथा मरहठों के अधीन ५,५०,००० अश्वारोही, १५,००० पदाति और १५,००० पिंडारी थे। इसके अतिरिक्त तोपखाना और सहायक सेना थी। कई युद्धों में विजय पाने के कारण मरहठे फूल गये थे और प्राचीन छापामार युद्ध की प्रणाली को छोड़कर सम्मुख डटकर युद्ध करने के लिए तत्पर हो गए। इसका परिणाम उसके लिए बड़ा भयंकर हुआ। मरहठों का सेनापति सदाशिवराव व उसका पुत्र विश्वासराव व अनेक मरहठे सरदार और सहस्रों सैनिक युद्ध में मारे गए। हताश होकर बालाजी पेशवा पूना लौट गया और कुछ ही महीनों बाद मर गया। इस पराजय से मरहठों ने उत्तर भारत का जीता हुआ समस्त प्रदेश खो दिया। मरहठे सरदारों में परस्पर भयंकर गृह-युद्ध होने लगे और इस गड़बड़ी से लाभ उठाकर बहुत से सरदारों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। पिलाजी गायकवाड़ बड़ौदा में, रानोजी सिन्धिया ग्वालियर में तथा माधोराव होल्कर इन्दौर में स्वतन्त्र बन बैठे। ये सब-के-सब सरदार आरम्भ में मरहठों की सेना के नायक रह चुके थे, और कुछ समय तक वे मरहठों के सभा-मण्डल के सदस्य बने रहे थे। किन्तु कालान्तर में उन्होंने पेशवा से सम्बन्ध तोड़ लिए और बाद में जब पेशवाई समाप्त हो गई, सिन्धिया और होल्कर ने अंग्रेजों के साथ कुछ संघर्ष करने के पश्चात् सन्धि कर ली और वे ब्रिटेन के आश्रित राजा बने।

सिक्खों का संगठन : उसी समय अठारहवीं शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश में पंजाब के सिक्खों ने भी अपना साम्प्रदायिक संगठन बनाया। उनके नेताओं ने अपना अलग संगठन बनाया जो मिसल कहलाता था और वे सब खालसा से अनुराग रखते थे। धीरे-धीरे समस्त मध्य पंजाब में उनकी शक्ति बढ़ गई और उन्होंने छोटी-छोटी रियासतें बना लीं। किन्तु उनकी एकता कुछ ही समय तक बनी रही। परन्तु जब इनका का कोई बाहरी शत्रु नहीं रहा तो उनमें परस्पर विद्वेष बढ़ गया और फूट पड़ गई। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पंजाब में सिक्खों की बड़ी जबरदस्त रियासत बनाई गई और सब छोटे-छोटे सिक्ख राजा एक झंडे के नीचे इकट्ठे हो गए। विभिन्न मरहठे राजे और ठिकानेदार भी इसी भाँति किसी चतुर राजनीतिज्ञ द्वारा संगठित हो सकते थे, यदि उनको आरम्भ में ही अंग्रेजों के साथ घोर युद्ध नहीं करने पड़ते। चूँकि सिक्ख बहुत दूर पंजाब में थे अतएव इससे पूर्व कि अंग्रेज बढ़ते हुए यहाँ तक पहुँचें, उनको अपने राज्य को दृढ़ बनाने का अवसर मिल गया।

अंग्रेज और फ्रांसीसी : राजपूतों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और वे भी मुग़लों की भाँति अशक्त हो गए थे। हैदराबाद और अवध को मुस्लिम रियासतें तथा अन्य छोटी-छोटी रियासतें, जिनकी स्थापना मुग़ल गवर्नरों व सेना नायकों ने की थी, बिल्कुल कमजोर थीं, अतएव मरहठे व अंग्रेज दो विरोधी शक्तियों के हाथों

का खिलौना बने हुए थे । वास्तव में केवल दो बड़ी शक्तियाँ ही भारत में अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न कर रही थीं । प्रथम तो मरहठे और बाद में सिक्ख । किन्तु अंग्रेजों ने इन दोनों के हाथों से देश को छीन लिया । मरहठों को पूर्ण रूप से जीतने से पूर्व अंग्रेजों को फ्राँसीसियों से संघर्ष करना पड़ा । सबसे प्रथम अंग्रेज और फ्रांसीसियों में युद्ध का वर्णन किया जायगा ।

दक्षिण अंग्रेजों और फ्राँसीसियों के युद्ध की भूमि बना । औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब देश में गड़बड़ी फैली हुई थी और साम्राज्य के टुकड़े हो रहे थे, निजामुल्मुल्क के एक मुसलमान अफ़सर के अधीन कर्नाटक एक स्वतंत्र रियासत बन गई । १७४४ में निजामुल्मुल्क ने अनवरुद्दीन को जो श्रीकाकुलम का गवर्नर रह चुका था, कर्नाटक का नवाब बना दिया और अरकाट को उसकी राजधानी बनाया । जिस समय अंग्रेजी और फ्राँसीसियों में युद्ध हुआ उस समय यही अनवरुद्दीन कर्नाटक का शासक था ।

बहुत समय पहले ही फ्रांसीसियों ने पूर्वी समुद्र-तट पर पांडीचेरी के किसी गाँव के समीप एक कारखाना बना लिया था । यद्यपि उनको कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था परन्तु उन्होंने उसको सुरक्षित रखा । अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही पांडीचेरी योग्य गवर्नरों, जैसे मार्टिन, ड्यूमा और डूप्ले के अधीन वैभवशाली और महत्वपूर्ण होता जा रहा था । कलकत्ता के उत्तर में चन्द्रनगर को भी डूप्ले ने ही बसाया था, जो १७४२ में पांडीचेरी बदली होने से पूर्व वहां का गवर्नर था । यह नगर भी फ्रांसीसियों की महत्वपूर्ण बस्ती थी ।

पहला अंग्रेज-फ्राँसीसी युद्ध : फ्रांसीसियों व अंग्रेजों में जो प्रथम युद्ध हुआ था वह उस युद्ध के फलस्वरूप था जो आस्ट्रिया की गद्दी के लिए इंगलैण्ड और फ्राँस के बीच योरोप में हुआ था । फ्रांसीसी एडमिरल बोर्डोनीज ने पांडीचेरी के गवर्नर व काउन्सिल की अनुमति और सहायता से सितम्बर १७४६ में मद्रास पर आक्रमण करके उसको छीन लिया, जिसको बचाने के लिए अंग्रेजों ने सामान्य विरोध किया था । १७४८ में एक अंग्रेज समुद्री कप्तान बोस्कावेन ने बड़ा भारी समुद्री बेड़ा लेकर पांडीचेरी पर आक्रमण किया । किन्तु फ्रांसीसियों ने बड़ी वीरता से उसका सामना किया और अंग्रेजों को विवश होकर घेरा उठाना पड़ा । डूप्ले की यह महान सफलता थी, और अंग्रेजों की बड़ी पराजय । किन्तु जब योरुप में दोनों देशों के बीच १७४८ में ऐक्स-ला-शापैल (Aix-La-Chapelle) की सन्धि हो गई, जिसके अनुसार दोनों देशों ने युद्ध के बन्दियों व जीते हुए प्रदेशों की अदला-बदली कर ली, तो मद्रास अंग्रेजों को वापस दे दिया गया ।

नवाब अनवरुद्दीन और फ्रांसीसी : अरकाट का नवाब अनवरुद्दीन इस बात से बहुत अप्रसन्न था कि फ्रांस वाले बिना उससे आज्ञा माँगे हुए मद्रास को अपनी ही मिल्कियत समझकर अंग्रेजों को लौटा दें । उसने फ्रांसीसियों पर हमला कर दिया, किन्तु मैलापुर के स्थान पर उसकी सेना को बुरी तरह परास्त होना पड़ा । इस युद्ध

से भी यह परिणाम सब लेखकों ने निकाला है कि पुराने ढंग से युद्ध करने वाली सेना नवीन युद्ध-कला-शिक्षित पाश्चात्य सेना के सामने कोई हस्ती न रखती थी।

अंग्रेज व फ्रांसीसियों के बीच जो आरम्भिक युद्ध हुआ उसके बड़े महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इस युद्ध के कारण कई ऐसी बातें पैदा हो गई थीं जिनके कारण इन दोनों कम्पनियों में अधिक काल तक सुलह न रह सकी। इस युद्ध के फलस्वरूप दोनों कम्पनियों का व्यापार बहुत-कुछ नष्ट हो गया था और दोनों ने जो विशाल सेनाएँ रखी हुई थीं वे उस वक्त तक उन पर भार-स्वरूप थीं जब तक कि उनके द्वारा कोई लाभ न उठाया जाय। इसके अतिरिक्त भारत के शासकों ने सुरक्षित व नियन्त्रित योरोपियन सेना का युद्ध में अपूर्व कौशल देखा जिससे आकर्षित होकर वे अपने आपसी लड़ाई-झगड़ों में विदेशियों से सहायता लेने क कामना करने लगे। इस युद्ध से समुद्री शक्ति की भी उपयोगिता लोगों को ज्ञात होने लगी थी।

अपरंच अंग्रेज फ्रांसीसी दोनों ही इस बात से अवगत होने लगे थे कि उनकी सैनिक शक्ति भारतीयों की सैनिक शक्ति से श्रेष्ठ थी। मद्रास को विजय करने, पांडीचेरी की सफलतापूर्वक रक्षा करने और नवाब की अरकाट की सेना को परास्त करने के कारण फ्रांसीसियों की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी और उनकी सेना की प्रशंसा सर्वत्र होने लगी थी। इन परिस्थितियों के कारण डूप्ले के मन में फ्रांसीसी राज्य स्थापित करने की लालसा बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप उसको शान्तिपूर्वक व्यापार करने की पूर्व नीति त्यागनी पड़ी। अंग्रेजों व फ्रांसीसियों में परस्पर संघर्ष प्रारम्भ होने की यह दूसरी अवस्था थी।

हैदराबाद और अरकाट में उत्तराधिकार के झगड़े : डूप्ले अब फ्रांसीसी राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहा था और उसको पूरा करने के लिए योजनाएँ बना रहा था। उसने भारतीय सैनिकों को यूरोपियन ढंग की युद्ध शिक्षा देनी आरम्भ कर दी, जिससे उनकी सहायता से वह भारतीय नरेशों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप कर सके। उसी समय उसको उपयुक्त अवसर भी मिल गया जिससे वह अपनी नीति को कार्यान्वित कर सके। आसफ़जाह (निजामुलमुल्क) की मृत्यु १७४८ में हो गई जो दक्खन का वृद्ध सूबेदार था। उसके बाद नासिरजंग उत्तराधिकारी बना, किन्तु उसको शीघ्र ही अपने भतीजे मुजफ्फरजंग से युद्ध करना पड़ा। लगभग उसी समय पहले नवाब के दामाद चन्दा साहब ने अनवरुद्दीन के विरुद्ध अरकाट की गद्दी के लिए झगड़ा किया। दोनों दावेदारों को डूप्ले की मित्रता व सहायता मिल गई। इस प्रकार शक्तिशाली बनकर उन्होंने अनवरुद्दीन को परास्त कर दिया और मार डाला (१७४९)। उसका बेटा मुहम्मदअली त्रिचनापल्ली भाग गया। तब विजेताओं ने नासिरजंग पर आक्रमण किया और उसको मार डाला। अंग्रेजों ने यह सोचकर कि फ्रासीसियों की शक्ति बढ़ जाने से उनके व्यापार को भय बना रहेगा, उन्होंने मुहम्मदअली और नासिरजंग दोनों को सहायता भेजी किन्तु यह कारगर न हुई। फ्रेंच जनरल बुसी ने जिजी का दुर्ग ले लिया। मुजफ्फरजंग

दक्खन का सूबेदार घोषित किया गया। उसने डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण से कन्या कुमारी तक के प्रदेशों का गवर्नर स्वीकार किया और फ्रांसीसियों को मसूलीपट्टम के अतिरिक्त, जिसे चन्दा साहब पहले ही दे चुका था, निज़ामपट्टम (वर्तमान गंटूर जिला) का प्रान्त दिया।

इस प्रकार १७५१ तक फ्रांसीसियों की शक्ति और उनका ऐश्वर्य चरम सीमा पर पहुँच गया। जब मुजफ्फरजंग बुसी की रक्षा में अपनी दक्षिण की राजधानी को जा रहा था तो किसी अफ़गान ने, जो उससे जला हुआ था, उसको मार्ग में मार डाला। फ्रांसीसियों ने आसफ़जाह के तीसरे बेटे सलावतजंग को गद्दी पर बिठा दिया। सलावत ने तुरन्त ही फ्रांसीसियों के विशेषधिकारों को स्वीकार कर लिया और बुसी को मुगल-दरबार का सदस्य बना लिया। बुसी उस समय से लगातार १७५८ तक अर्थात ७ वर्ष तक निजाम के दरबार में रहा।

द्वितीय ऐंग्लो-फ्रेंच युद्ध—अरकाट का घेरा (१७५१) : दक्षिण कर्नाटक में डूप्ले की विजयों से अंग्रेज बहुत चौकन्ने होगए और उन्होंने फ्रेंच तथा उसके मित्रों की समस्त योजनाओं को विफल करने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा दी। उन्होंने दृढ़ता से अपने मित्र मुहम्मदअली का साथ दिया एवं उसको सहायक सेना भेजी। फ्रेंच और ब्रिटिश सेनाएँ, जो त्रिचनापल्ली का घेरा डाले हुए थीं, दुर्बल और अनियंत्रित थीं तथा व्यर्थ ही परस्पर पत्र-व्यवहार में अपना समय नष्ट कर रही थीं। इसी बीच मुहम्मदअली को अपने पड़ोसी राज्य मैसूर और तंजौर की भी सहायता मिल गयी। किन्तु उसको इस कार्य में अन्तिम सफलता अरकाट को १७५१ में जीत लेने पर मिली, जिसको जीतने की योजना और विजय का श्रेय एक साहसी नवयुवक को था जो अंग्रेजों की कम्पनी में एक क्लर्क नियुक्त था परन्तु बाद में सैनिक बन गया था। इसका नाम था राबर्ट क्लाइव। क्लाइव ने योजना बनाई कि अरकाट पर सहसा आक्रमण करके चंदा साहब को त्रिचनापल्ली छोड़ने के लिए विवश किया जाय। उसको इसके लिए अनुमति मिल गई। यद्यपि उसके अधीन कठिनता से २०० अंग्रेज और ३०० भारतीय सैनिक थे, परन्तु क्लाइव ने ज़ोरदार हमला करके अरकाट पर कब्जा कर लिया। दुर्ग के बाहर की सेना ने जो आक्रमण किया उसको पीछे हटा दिया और तब बड़े साहस से चन्दा साहब के समस्त प्रयत्नों को विफल कर दिया जो उसने क्लाइव को दुर्ग से भगाने के लिए किए थे। त्रिचनापल्ली के मोर्चे पर अंग्रेजों का पल्ला भारी हो गया। मेजर लारैन्स इंगलैण्ड से लौट आया था और क्लाइव के साथ त्रिचनापल्ली का अधिकार अपने हाथों में ले लिया था। उन्होंने चन्दा साहब को कई छुटपुट लड़ाइयों में पराजित कर दिया और अन्त में फ्रेंच कमाण्डर ला और चन्दा साहब दोनों ने हार मान ली (जून १७५२) तथा चन्दा साहब का सिर अंग्रेजों के मित्रराष्ट्र तंजौर वालों ने काट डाला।

डूप्ले ने तब भी परिस्थिति को सँभालने का प्रयास किया। त्रिचनापल्ली

का घेरा जारी रहा, किन्तु १७५४ तक कोई अन्तिम परिणाम नहीं निकला और उसी वर्ष फ्रेंच सरकार ने डूप्ले को वापस देश बुला लिया। अरकाट तथा अन्य युद्धों में क्लाइव की गौरवपूर्ण विजय और डूप्ले की पराजय ने भारत में अंग्रेजों की कार्य धारा बदल दी।

फ्रेंच सरकार ने अतिरिक्त सेना देकर गादेहो (Godeheu) को भारत भेजा, पर साथ ही उसको यह हिदायत कर दी कि वह अंग्रेजों से सन्धि कर ले। अतएव उसने अंग्रेजों से पत्र-व्यवहार किया और अक्तूबर सन् १७५४ में तीन माह के लिए त्रिचनापल्ली में एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गए और उसके बाद जनवरी १७५५ में पाँडीचेरी की सन्धि हुई, जिसके अनुसार अंग्रेज व फ्रांसीसी दोनों को भारतीय उपाधियाँ त्याग देनी पड़ीं और उनको प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। मद्रास, सेंट डेविड तथा देवीकोटा अंग्रेजों के पास रहेंगे और फ्रांसीसियों के पास पांडीचेरी तथा मछलीपट्टम जबकि कृष्णा नदी के उत्तर में दोनों देशों की फैक्टरियाँ बराबर रहेंगी। किन्तु फ्रांसीसियों के पास तब भी उत्तरी सरकारें बनी रहीं, और बुसी जैसा हम कह चुके हैं, निजाम के दरबार में बना रहा।

डूप्ले का मूल्यांकन : बहुत से अंग्रेज लेखकों, जैसे वी० ए० स्मिथ आदि, ने डूप्ले को आर्थिक मामलों में दोषी ठहराकर उसके महान् चरित्र को छोटा दर्शाने का प्रयत्न किया है। स्मिथ ने यहाँ तक कह डाला है कि उसमें सैनिक योग्यता और साहस की कमी थी। तब भी इतना तो बिल्कुल स्पष्ट है कि यह डूप्ले की ही अद्‌भुत सूझ थी कि भारतीय सैनिकों को योरोपियन ढंग की शिक्षा दी जाय तथा भारतीय राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप करके राजनीतिक लाभ उठाया जाय। उसने ही अंग्रेजों को अराजकता के समय लाभ उठाने का मार्ग दिखाया। (डूप्ले पहला व्यक्ति था जो बन्दरगाहों की शरण छोड़कर भारत के भीतरी प्रदेशों में पहले-पहल अपनी सेनाएँ ले गये। पूर्व में उसके देश का गौरव उसी के प्रयत्नों द्वारा ऊँचा उठा। उसके समकालीन अंग्रेज उससे भय खाते थे। भारत के देशी राजाओं तथा नेताओं में भी उसकी ख्याति फैली हुई थी।) इसमें संदेह नहीं कि उसकी योजनाएँ बड़ी साहसिक और नीतिपूर्ण होती थीं और वह कुशल राजनीतिज्ञ था, परन्तु उसमें धैर्य तथा विचार पूरा करने की क्षमता न थी। डूप्ले तथा क्लाइव दोनों ही चतुर कूटनीतिज्ञ थे किन्तु डूप्ले क्लाइव की बराबरी न कर सका। डूप्ले की योजनाओं की असफलता का कारण आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। उसका व्यापार नष्ट हो रहा था और उसको देश की सरकार ने कोई सहायता न दी। फ्रांसीसी सरकार अर्थ-लाभ की ओर विशेष ध्यान देती थी और इस बात की ओर उसका विशेष ध्यान न था कि भारत में फ्रांसीसी राज्य की स्थापना हो। इतना ही नहीं, ब्रिटेन की धमकी और दबाव के कारण फ्रेंच सरकार ने डूप्ले की योजनाओं को

कार्यान्वित नहीं होने दिया और उसने फ्रेंच कम्पनी को अंग्रेजों से संधि कर लेने पर विवश किया।

डूप्ले इस बात का दोषी ठहराया जा सकता है कि वह अपनी योजनाओं तथा उसकी सम्भावनाओं को अपनी सरकार से छिपाता था। किन्तु जब कभी अपनी सरकार पर विश्वास करके उसने उस पर अपनी योजनाएँ प्रकट कीं, वह उन पर कोई उत्साह न दिखाती थी। उसकी योजनाओं का कोई मूल्य न समझा गया, और उसे वापस बुलाया गया।

एलफिन्स्टन (Elphinstone), मैलेसन (Malleson) और राबर्ट्स (Roberts) ने उसकी सैन्य समस्याओं की सूझ, प्रशंसनीय संगठन-क्षमता एवं प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इन्हीं गुणों में उसकी महानता थी। इसमें सन्देह नहीं कि उसने अपनी जवानी, अपनी धन-दौलत और जीवन देश पर न्यौछावर कर दिया। युद्धों को चलाने के लिए उसे अपना निजी रुपया व्यय करना पड़ा। पर उसके देशवासियों ने उसका साथ न दिया और उसे नीचे गिराया। उसके देश ने उसके साथ बुरा बर्ताव किया। १७६४ में वह बहुत दुखी और निराश होकर मरा।

फ्रांसीसी शक्ति का भारत से लोप

पाँडीचेरी की सन्धि होते ही अंग्रेज व फ्रांसीसियों के बीच का संघर्ष प्रायः समाप्त हो गया। यह तो शुरू से ही जान पड़ता था कि अपने-अपने देशों की सरकारों के दबाव से जो सन्धि हुई थी वह स्थायी नहीं हो सकती थी तथा दोनों कम्पनियाँ अपनी-अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के प्रयत्नों में व्यस्त थीं। अतएव कर्नाटक में दोनों जातियों में शत्रुता बनी रही क्योंकि बुसी हैदराबाद में अपने पद पर आसीन था। यहाँ पर उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा क्योंकि मराठों व निज़ाम दोनों की महत्वाकांक्षाओं के कारण दक्षिण में बड़ी गड़बड़ फैली थी। १७५६ में सलावतजंग ने अपने मंत्री शाहनवाजखाँ के कहने से बुसी पर धोखादेही का अपराध लगाकर उसको पदच्युत कर दिया। किन्तु उसने तुरन्त ही मसूलीपट्टम की सहायता लेकर अपने पद और गौरव की रक्षा कर ली। निजाम ने अंग्रेजों से सहायता मांगी परन्तु उसी समय कलकत्ता के छिन जाने के कारण उन्होंने सहायता देने से इन्कार कर दिया। उनको कर्नाटक की ओर से अपना ध्यान हटाकर अपनी समस्त चित्त-वृत्तियों व समस्त साधनों को बंगाल में केन्द्रित करना पड़ा।

सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६-६३) : १७५६ के अन्त में 'सप्तवर्षीय' युद्ध आरम्भ हो जाने का समाचार पाकर बुसी कर्नाटक में फ्रांसीसियों के प्रदेश को बढ़ाने और उसको दृढ़ करने के प्रयत्न में निर्विघ्न लग गया। उसने विजगापट्टम पर, जहाँ अंग्रेजों की फैक्ट्री थी, अधिकार कर लिया और बोविली के राजा तथा अन्य जमींदारों को भेंट देने के लिए विवश किया। किन्तु उड़ीसा पर अधिकार करने के उसने प्रयत्न और चन्द्रनगर को सहायता भेजने के प्रयत्न, जिसको क्लाइव ने छीन लिया था अंग्रेजों

द्वारा विफल कर दिए। जब बुसी हैदराबाद लौटा तो उसने शाहनवाजखाँ द्वारा किये गए अपने तथा सलावतजंग के विरुद्ध षड्यन्त्र को मिट्टी में मिला दिया (१७५८)। वह हैदराबाद में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न कर ही रहा था कि काउन्ट लैली ने उसको आज्ञा दी कि वह तुरन्त सेना लेकर पांडिचेरी पहुँचे और केवल उतनी ही सेना छोड़ जाय जितनी कि मसूलीपट्टम की रक्षा के लिए आवश्यक थी।

लाली का ह्रास : क्लाइव उस समय तक बंगाल में पूर्ण विजय प्राप्त कर चुका था। उसने फोर्ड के अधीन एक सेना भेजी जिसने ९ दिसम्बर १७५८ में चन्दूर्ति के युद्ध में अनुभवहीन फ्रेंच जनरल कोनफ्लां (Conflans) को परास्त किया। चन्दूर्ति प्राचीन नगर पीठपुरम् के ३ मील उत्तर में एक गाँव है। इस विजय के पश्चात् फोर्ड ने १७५८-५९ में मसूलीपट्टम को विजय कर लिया और १७६० में कर्नल कूट ने वाण्डिवास में लाली को पूर्णतः पराजित कर दिया। पांडिचेरी ने १७६१ में आत्मसमर्पण कर दिया और तब भारत में फ्रांसीसियों के पास इंच-भर भी भूमि नहीं रही। १७६३ में जो पेरिस में सन्धि हुई उसमें **पांडिचेरी फ्रांसीसियों को लौटा दिया गया,** परन्तु भारत से उनकी शक्ति लुप्त हो गई। सलावतजंग ने अंग्रेजों से एक संधि कर ली, जिसके अनुसार अंग्रेजों से बदले में कुछ मांगे बिना उसने वे सब स्थान अंग्रेजो को दे दिये जो बुसी के अधीन थे। इस प्रकार पूर्वी तट का वह सब प्रदेश, जिसे अंग्रेजी उत्तरी सरकार कहते थे, उनके अधिकार में आ गया।

फ्रांसीसियों के मुकाबले में अंग्रेजों की सफलता के कारण

अंग्रेजों की कम्पनी गैर-सरकारी कम्पनी थी और उसके लोगों को कम्पनी के संगठन के लिए अपने ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता था। कम्पनी के असफल होने पर उनका नाश अवश्यंभावी था। उन्होंने कठिन परिश्रम किया और उसे समृद्ध बनाने में सफल हुए। वह सरकार को भी ऋण देने योग्य बन गई थी। इसके विपरीत फ्रांसीसी कम्पनी सरकारी थी और उसे सब बातों के लिए उसी सरकार पर निर्भर रहना पड़ता था जिसकी बागडोर अठारहवीं शताब्दी में अयोग्य और भ्रष्ट लोगों के हाथ में थी। अपने देश में सरकार के परिवर्तन का फ्रांसीसी कम्पनी पर असर पड़ता था, किन्तु उसकी स्पर्धा अंग्रेज कम्पनी पर कोई नहीं।

अंग्रेजों की जल-शक्ति सर्वोपरि थी और वे जब भी चाहते भारत में जन, गोला-बारूद तथा अन्य सामग्री सरलतापूर्वक भेज सकते थे। उनके मार्ग में कोई बाधा न थी। जब कभी फ्रांसीसी आवश्यकीय सैन्य-सामग्री भारत भेजना चाहते तब उन्हें रास्ते में अंग्रेजों का सामना करना पड़ता था। फ्रांसीसी सैनिक अफसर काउन्ट लैली अंग्रेजों की जल-शक्ति के कारण ही भारत नहीं पहुँच सका था।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में सम्पत्ति के स्रोत बहुत कम हैं और फ्रांसीसियों ने भारत में केवल इसी भाग से प्रवेश किया। इसलिए जब उन्होंने युद्धों पर व्यय किया और उन्हें लाभ कुछ हुआ नहीं तो उनका उद्यम विफल गया। अंग्रेजों ने बुद्धिमानी की कि उन्होंने बंगाल से आरम्भ किया। इसकी भूमि उपजाऊ थी और

जनता समृद्ध थी। अंग्रेजों ने इसे विजय किया तो इस समृद्धि का एक अंश उन्हें भी मिला। गंगा के रास्ते उनके जहाज देश के भीतरी भागों में पहुँच सकते थे। नदियाँ संचार और परिवहन का सुलभ साधन सिद्ध हुईं।

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास समुद्री तट के तीन महत्वपूर्ण नगर थे। यदि उनमें से दो-एक उनके हाथ से निकल भी जाते तो भी अपने बचाव के लिए एक-दो उनके हाथ में रह जाते। ये तीनों नगर भी एक-दूसरे से काफी दूर पर थे और एक ही समय में शत्रुओं द्वारा जीते नहीं जा सकते थे। दुर्भाग्य से फ्रांसीसियों के पास एक ही महत्वपूर्ण केन्द्र पांडिचेरी था। माही और चन्द्रनगर थोड़े ही प्रयत्न से अंग्रेजों द्वारा जीते जा सकते थे। जब पांडिचेरी फ्रांसीसियों के हाथ से निकल गया, तभी भारत में फ्रांसीसी राज्य का अन्त हो गया।

फ्रांसीसियों ने व्यापार की अपेक्षा विजय को अधिक महत्व दिया। व्यापार की उपेक्षा ने उन्हें निर्धन बना दिया। उन्होंने अपना समस्त धन युद्धों में व्यय कर दिया था। डूप्ले की महत्वाकांक्षी योजनाओं को फ्रांसीसी सरकार आर्थिक तथा सैनिक सहायता न दे सकी, क्योंकि वह योरुपीय तथा अमरीकी युद्धों में बुरी तरह फँसी हुई थी। **अंग्रेज कम्पनी** यह बात कभी न भूली कि वह एक व्यापारिक संस्था है और वह **युद्धों की अपेक्षा व्यापार को अपना अधिक समय देती थी।** विस्तृत व्यापार ने उन्हें सम्पन्न तथा शक्तिशाली बना दिया।

अंग्रेज अपने जहाज बम्बई में ठहरा सकते थे, और आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही उन्हें काम में ला सकते थे। फ्रांसीसी नाविक अड्डा भारत से काफी दूरी पर आइल आफ फ्रांस (Isle of France) में था और उनके जहाज युद्ध में शीघ्रता से नहीं भेजे जा सकते थे।

अंग्रेजी सैनिक तथा असैनिक अफसर तत्कालीन फ्रांसीसी अफसरों की अपेक्षा अधिक योग्य, प्रतिभाशाली तथा चालाक थे। क्लाइव डूप्ले से अधिक चतुर था। सर आयरकूट और लारेंस, काउन्ट लैली और बुसी की अपेक्षा अधिक योग्य थे। फ्रांसीसी अफसर पारस्परिक सहयोग से कार्य नहीं कर सकते थे और यही उनकी असफलता का कारण हुआ। मद्रास लौटाने के प्रश्न पर, डूप्ले और लाबोर्डनेज़ में मतभेद था। अंग्रेजों की सफलता का रहस्य उनके अफसरों का सहयोग और एक-दूसरे को सहायता पहुँचाना था।

फ्रांसीसी उच्चाधिकारियों द्वारा भारत में की गई सेवाओं की उनकी सरकार ने सराहना नहीं की। उन्हें अधिक कार्य करने का प्रोत्साहन नहीं मिला। डूप्ले पर न्यायालय में अभियोग चलाया गया और वह कंगाली की अवस्था में मरा। लैली को फाँसी दी गई। अंग्रेज सरकार ने अपने कर्मचारियों के कृत्यों की सहायता की। लार्ड क्लाइव की आलोचना हुई, किन्तु फिर भी एक प्रस्ताव द्वारा वह भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव डालने वाला कहा गया। वारेन हेस्टिंग्ज पर भी अभियोग चला, किन्तु कार्यवाही के अन्त में उसकी भी सराहना की गई। उसके साथियों ने उसे आदर की दृष्टि से देखा।

बंगाल में अंग्रेजों की प्रगति

अब हम बंगाल की ओर मुड़ते हैं। बंगाल में अलीवर्दीखाँ के शासन के विषय में पहले वर्णन हो चुका है। उसने मरहठों को उड़ीसा का प्रान्त देकर तथा चौथ के रूप में १२ लाख वार्षिक मुद्रा देकर मरहठों के आक्रमणों से पीछा छुड़ाया (१७५१)। उसकी मृत्यु १७५६ में हो गई और उसके बाद उसका पोता सिराजुद्दौला नवाब बना। पीछे के किसी अध्याय में वर्णन किया जा चुका है कि किस प्रकार कलकत्ता की नींव पड़ी और उसी समय में अग्रेजों ने बंगाल में किस प्रकार उन्नति की। अलीवर्दीखां योग्य और वीर था। उसने अंग्रेजों को उनकी बस्तियों की किलेबन्दी नहीं करने दी थी, केवल उतनी छोड़कर जितनी मरहठों के आक्रमण से सुरक्षा के लिए आवश्यक थी। किन्तु जब नवयुवक और अनुभवहीन सिराजुद्दौला गद्दी पर बैठा तो अंग्रेजों ने अपने वचनों को तोड़कर नए-नए किले बनाने आरम्भ कर दिये। जब सिराजुद्दौला ने उनको ऐसा करने से रोका तो उन्होंने कुछ बहाने बताए जिन पर उसको विश्वास न हुआ। उन्होंने नवाब को एक भगोड़े को देने से इंकार करके भी अप्रसन्न कर दिया, जिसने भागकर कलकत्ता में शरण ली थी। इसके अतिरिक्त फरुखसियर ने अंग्रेजों को जो व्यापारिक विशेषाधिकार दिए थे उनसे वे अनुचित लाभ उठाने लगे। सिराजुद्दौला की यह आशंका ठीक ही थी कि यदि अंग्रेजों को दृढ़ बनने से न रोका गया तो वे बंगाल का तख्ता भी उसी भाँति उलटकर रख देंगे जैसा उन्होंने कर्नाटक और दक्षिण में किया था। ऐसा विचार करके उसने १७५६ में कासिमबाजार की फैक्ट्री पर अधिकार कर लिया और कलकत्ता पर घेरा डाल दिया। अंग्रेजों का मुकाबला बहुत कमजोर था। गवर्नर और कमाण्डर ने बड़ी निर्लज्जतापूर्वक किले से सेना को छोड़ दिया और स्वयं बहुत सी औरतों व बच्चों को लेकर हुगली में जहाजों पर चला गया। किले में जो शेष बचे थे उनमें से एक व्यक्ति हालवेल नामक भी था जिसने मामूली-सा मुकाबला करके आत्म-समर्पण कर दिया। थोड़े-से बचे हुए अंग्रेज पुरुष और स्त्रियाँ बन्दी करके सैनिक कारागार में रखे गये, जिसको हालवेल ने ब्लैक होल (Black Hole) कहकर उसका वर्णन किया। ग्रीष्म ऋतु की रात थी, अतः बहुत से बन्दी दम घुटकर मर गए। किन्तु नवाब इस दुर्घटना के लिए उत्तरदायी न था।

कलकत्ता पर अंग्रेजों का पुनः अधिकार : जिस समय कलकत्ता निकल जाने का समाचार मद्रास के गवर्नर के पास पहुँचा उस समय वह फ्रांसीसियों की शक्ति को नष्ट करने हेतु निज़ाम पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजने वाला था। अब उसने यह बुद्धिमानी की कि इस नेता को बंगाल की ओर भेज दिया और एडमिरल वाटसन के अधीन एक जहाजी बेड़ा भेज कर बंगाल में अपनी शक्ति को और भी दृढ़ किया। क्लाइब को कमाण्डर चुना गया। हुगली के उद्गम तक पहुँचने में एक सेना को कई महीने लग गए, किन्तु नवाब की सेना को तुरन्त पीछे हटाकर १७५७ में कल पकत्त रा पुनः अधिकार कर लिया। नवाब को विवश होकर सन्धि-पत्र पर हस्ता-

क्षर करने पड़े, जिनके अनुसार उसको अंग्रेजों के व्यापारिक विशेषाधिकारों को मानना पड़ा। किन्तु सप्त वर्षीय युद्ध छिड़ जाने पर अंग्रेजों ने नवाब के मना करने पर भी चन्द्रनगर पर अधिकार कर लिया। सिराजुद्दौला स्वभावतः ही अंग्रेजों से घृणा करता था, क्योंकि अलवर्दीखाँ ने उनको उनके इरादों से सावधान कर दिया था और उसने स्वयं अपनी आँखों से देख लिया था कि वे कितने धोखेबाज थे और उसकी मर्जी के विरुद्ध कार्य करते रहते थे। इसके अतिरिक्त वह अपनी पराजय के कारण और भी जल-भुन रहा था। उधर क्लाइव की स्थिति बड़ी जटिल हो रही थी। और उसके लिए यह आवश्यक था कि वह फ्रेंचों के अधिकृत स्थानों को जीतकर अपनी शक्ति को दृढ़ बना ले, जिससे वे जाकर नवाब से न मिल सकें। इसी समय भाग्य ने उसका साथ दिया।

जाली सन्धि-पत्र : मुर्शिदाबाद के मुख्य अमीर और बंगाल का महान् हिन्दू साहूकार जगतसेठ, जिसने अलीवर्दीखां को अपनी शक्ति दृढ़ करने में सहायता दी थी, सिराजुद्दौला के व्यवहार से कुपित हो गए। फलस्वरूप उन्होंने कलकत्ता में अंग्रेजों से मिलकर षड्यंत्र रचा कि नवाब को गद्दी से उतारकर उसके बख्शी मीर जफरअली को गद्दी पर बिठा दिया जाय। षड्यंत्रकारियों का मध्यस्थ एक धनी अग्रवाल साहूकार अमीचन्द था, जिसने इस षड्यन्त्र को गुप्त रखने के लिए एक बड़ी रकम माँगी। यदि नवाब को षड्यन्त्र का पता चल जाता तो षड्यन्त्रकारियों के हक में इसका परिणाम बुरा होता। अंग्रेज काउंसिल ने इसलिए उसको रकम देने का झूठा वायदा किया और दो संधि-पत्र लिखे गए, जिनमें से एक सच्चा था और दूसरा जाली। इस मामले में क्लाइव मुख्य पात्र था और कहा जाता है कि वाटसन के इन्कार करने पर उसने स्वयं ही संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। मीरजाफर और अंग्रेजों में जो गुप्त संधि हुई उसकी शर्तें थीं—समस्त फ्राँसीसी भगोड़े व फैक्ट्रियाँ अंग्रेजों को सौंप दी जायँ, अंग्रेजों की समस्त हानियों का हर्जाना दिया जाय, उनको ढाका व कासिम बाजार में अपनी फैक्ट्रियों में किलेबन्दी की अनुमति दी जाय और कलकत्ता पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार किया जाय।

प्लासी का युद्ध (जून १७५७) : मीरजाफ़र से सन्धि-पत्र पाते ही क्लाइव ने कलकत्ता से प्रस्थान कर दिया। सिराजुद्दौला को यद्यपि मीरजाफ़र के बुरे इरादों का समाचार मिल चुका था, परन्तु वह आने वाली भावी विपत्ति से बचने का कोई उपाय नहीं कर सका। जब क्लाइव नवाब की राजधानी मुर्शिदाबाद की ओर बढ़ा तो वह विश्वासघाती अलग रहा। नवाब की सेना ने प्लासी के मैदान में अंग्रेजों का सामना किया। क्लाइव ने वेग से आक्रमण किया, जिसमें नवाब की हार हुई और बन्दी बना लिया गया तथा मीरजाफ़र के पुत्र मीरन द्वारा मारा गया।

क्लाइव ने तुरन्त ही मीरजाफ़र को मसनद पर बिठा दिया। नये नवाब ने अंग्रेजों को कलकत्ता की जमींदारी सौंप दी जो बाद में 'चौबीस परगने' कहलाई। उसने यह शर्त भी मान ली कि वह हुगली के नगर से नीचे नदी के तट पर कोई दुर्ग

नहीं बनाएगा। मीरजाफ़र को दूसरे सन्धि-पत्र के लिए भी विवश किया गया, जिसके अनुसार उसको क्लाइव तथा उसके साथियों को बड़ी-बड़ी भेंट देनी पड़ी, यहां तक कि सरकारी खज़ाने में उसकी मांगों को पूरा करने के लिए भी धन शेष नहीं रहा। मीरजाफ़र को अपने जवाहरात बेचने पड़े, परन्तु फिर भी ऋण शेष रहा जिसको वह वह भविष्य में थोड़ा-थोड़ा करके राज्य की वार्षिक आय से चुकाए।

प्लासी का युद्ध जीत लेने पर बंगाल में अंग्रेजों की शक्ति सर्वोपरि हो गई थी। नया नवाब डरपोक तथा बुद्धू था और वास्तविक शक्ति क्लाइव के हाथों में पहुँच गई थी जो १७५८ में कलकत्ता का गवर्नर बना दिया गया था। अब बंगाल में उसकी वही स्थिति थी जो हैदराबाद में बुसी की थी (१७५१-१७५८)। उसने मीरजाफ़र को खिलौना बनाया हुआ था और सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में ले ली थी। उसका इस क़दर हस्तक्षेप मीरजाफ़र को भी असह्य हो गया था। उसने चिन्सुरा के डचों से सहायता लेनी चाही, किन्तु क्लाइव उससे अधिक चालाक था। डचों ने हुगली में अंग्रेजों पर आक्रमण कर दिया, किन्तु क्लाइव की तत्परता के कारण उन को विवश होकर सन्धि करनी पड़ी (१७६०)। इसके बाद क्लाइव इंगलैंड चला गया और बंगाल में अंग्रेजों की शक्ति को सर्वोपरि छोड़ गया।

बंगाल में कुप्रबन्ध (१७६०-६५): इन घटनाओं के कारण नवाब की स्थिति बड़ी जटिल हो गई। नाम के लिए तो वह अशक्त मुग़ल सम्राट् शाहआलम द्वितीय का प्रतिनिधि शासक था, परन्तु वास्तव में वह अंग्रेजी कम्पनी के हाथों का यन्त्र था। तब तक भी अंग्रेजों ने बंगाल पर केवल अपने भुजबल के द्वारा ही अधिकार जमा रखा था। उनका यह अधिकार न तो नैतिक दृष्टि से ही उपयुक्त था और न क़ानूनन उनको यह मिला हुआ था। इस प्रकार के द्वैध शासन से प्रजा की तबाही हो रही थी कि उसका नाम के लिए तो शासक कोई अन्य था परन्तु वास्तविक शासन कोई दूसरा ही करता था। क्लाइव ने स्वयं अपार धन भेंट में लेकर दूसरों के लिए बहुत बुरा उदाहरण छोड़ दिया था। अंग्रेजों की काउन्सिल का बंगाल के प्रान्त पर पूरा अधिकार था, परन्तु उसके ऊपर शासन व प्रजा की रक्षा की जिम्मेदारियाँ तनिक भी न थीं। व्यापारियों व सौदागरों के हाथ में इस प्रकार की शक्ति, जिस पर कोई अंकुश न था, विशेष तौर से दुर्भाग्यपूर्ण थी। यह स्वाभाविक ही था कि क्लाइव की भाँति अपार धन संचय करने की उसकी भूख भी बहुत बढ़ गई थी। कलकत्ता में अंग्रेजों की काउन्सिल के कुछ सदस्यों ने मीरजाफ़र के दामाद से मिल कर षड्यन्त्र किया कि यदि वह उन्हें बहुत-सा धन दे तो वे मीरजाफ़र को गद्दी से उतारकर उसको गद्दी पर बिठा देंगे। इसके लिए उनको सरलता से बहाना मिल गया क्योंकि मीरजाफ़र ने डचों व शाहआलम से मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र किया था तथा कम्पनी की आर्थिक माँगों को पूरा नहीं किया था। मीरजाफ़र को हटाकर मीरकासिम को राजसिंहासन पर बिठा दिया गया (१७६०)। नये नवाब

ने कम्पनी को उसकी सेनाओं के व्यय के लिये तीन जिले—बर्दमान, मिदनापुर और चिटगाँव—देकर यह गद्दी पाई थी।

मीरकासिम : मीरजाफर के अशक्त राज्य में अंग्रेज लोग काबू से बाहर हो गए थे। केवल काउन्सिल के सदस्य ही नहीं वरन् कम्पनी के समस्त कर्मचारी अपने-अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए हर प्रकार की सुविधाएँ बलपूर्वक लेने लगे तथा भारतीय व्यापारियों के साथ अन्याय करने लगे और इस भांति शासन में बड़ी भारी गड़बड़ी फैलाने लगे। वे धनी भारतवासियों से बलपूर्वक भेंट भी लेते थे। लालची अधिकारियों के द्वारा नवाब दिवालिया हो गया था और प्रजा को अवर्णनीय अत्याचार और मुसीबतें सहनी पड़ रही थीं। मीरकासिम मीरज़ाफर के सदृश दुर्बल न था, वरन् वह राजनीति में पूर्ण दक्ष था और कुशल शासक था। उसको अंग्रेजों की सत्ता असह्य थी और उसने अपने अधिकारों का प्रयोग किया। वह शासन में सुधार भी करना चाहता था तथा भारत के व्यापारियों को अंग्रेजों के अत्याचारों से बचाना चाहता था। हम पहले ही कह चुके हैं कि अंग्रेजों ने किस प्रकार १७१७ में फ़रुखसियर से बिना कर दिए निर्यात-व्यापार का अधिकार ले रखा था जिसका लाभ वह उस समय से ही बराबर उठाते रहे थे। १७५६ के बाद कम्पनी के कर्मचारी अपने व्यक्तिगत व्यापार में भी निर्यात-कर न देने की अनुचित माँग करने लगे। इस भाँति जिन भारतीय व्यापारियों को यह कर देना पड़ता था उनकी स्थिति अंग्रेजों की अपेक्षा खराब थी। इस प्रकार एक ओर तो कम्पनी अपनी सेना के व्यय के लिए नवाब से एक बहुत बड़ी रकम वसूल कर रही थी दूसरी ओर उनके कर्मचारी अनुचित सुविधाएँ बलपूर्वक लेकर राज्य की आय कम कर रहे थे तथा उसकी प्रजा को दरिद्र बना रहे थे, यहाँ तक कि मीरजाफ़र ने भी अंग्रेजों के इस अत्याचार का विरोध किया था, जिसके फलस्वरूप स्थानीय व्यापार पर अंग्रेजों व उनके गुमाश्तों का पूर्ण अधिकार हो गया था। अंग्रेजों के जो भारतीय गुमाश्ते थे वे प्रायः हर जगह लोगों व व्यापारियों को बुरी तरह सताते थे व नवाब की आज्ञाओं की अवहेलना करते थे। मीरकासिम ने कलकत्ता काउन्सिल से प्रार्थना की कि यह भ्रष्टाचार रोका जाय और शक्ति का अनुचित प्रयोग न किया जाय। किन्तु काउन्सिल के सदस्य लालची थे उनको भारत के व्यापार में व्यक्तिगत दिलचस्पी थी। अतएव उन्होंने मीरकासिम की शिकायतों को ठुकरा दिया और निश्चय किया कि भविष्य में अपने नमक पर २½ प्रतिशत कर के अतिरिक्त अंग्रेज बिना कोई कर दिए ही व्यापार करेंगे तथा अंग्रेज व्यापारियों पर केवल अंग्रेजों का ही शासन रहेगा। मीरकासिम को अब अंग्रेजों से न्याय की कोई आशा न रही। अतएव उसने व्यापार पर से समस्त कर उठा लिए और अंग्रेजों को विशेष अधिकार देना अस्वीकार कर दिया। इस भांति अंग्रेज व भारतीय व्यापारी एक ही धरातल पर खड़े हो गए। नवाब ने पहले ही सोच लिया था कि अंग्रेजों से संघर्ष अवश्य करना पड़ेगा। अतएव वह अपनी गद्दी मुंघेर में ले गया, सामग्री इकट्ठी की तथा सेना को अंग्रेजी ढंग पर

युद्ध की शिक्षा दी। काउन्सिल एक दम क्रुद्ध हो गई और कहने लगी कि करों को बिलकुल बन्द करके नवाब ने संधि की शर्तों को तोड़ दिया है और इस बात पर जोर देने लगे कि अंग्रेजों को व्यापार में अवश्य ही विशेषाधिकार और विशेष सुविधाएँ मिलनी चाहिए। परन्तु पटना में अंग्रेजों की जो फैक्ट्री थी उसके मुख्य अधिकारी ऐलिस की जल्दबाज़ी ने मामला गड़बड़ कर दिया। उसने उस नगर पर आक्रमण करके उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसी दिन नवाब की सेना ने उसे वापस ले लिया और वहाँ जितने अंग्रेज थे, सबको बन्दी बना लिया। काउन्सिल ने इस कार्य को युद्ध का निमन्त्रण समझा तथा नवाब के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके मीरजाफर को पुनः नवाब घोषित कर दिया। कटवा और झरिया के स्थानों में अंग्रेजों ने मीरकासिम को परास्त किया, जहाँ से भागकर वह पटना पहुँचा और एक जर्मन द्वारा, जिसका नाम वाल्टर (Walter Reinhart alias Sombre or Samru) था, समस्त अंग्रेज बन्दियों का वध करवा डाला। अंग्रेजों ने पटना में उसका पीछा किया परन्तु मीरकासिम पहले ही नवाब-वज़ीर शुजाउदौला की शरण में अवध भाग गया। यहीं पर नवाब-वजीर, मीरकासिम व शाहआलम के बीच सन्धि-पत्र लिखा गया और तीनों की सेना ने मिलकर बिहार में प्रवेश किया।

बक्सर का भाग्य-निर्णायक युद्ध : जर्मन सैनिक वाल्टर रन्हार्ट उर्फ समरू द्वारा जब अंग्रेज बन्दियों की हत्या की गई तो स्पष्ट हो गया कि मीरकासिम तथा अंग्रेजों के बीच कोई समझौता सम्भव न था। ऊपर कहा जा चुका है कि जब अंग्रेजी सेना ने नवाब का पीछा किया तो वह भागकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला की शरण में चला गया था जहाँ निर्बल मुगल-सम्राट् शाहआलम पहले से ही ठहरा हुआ था। अंग्रेजी सेना कर्मनासा नदी के तट पर पहुँच गई जहाँ बिहार तथा राज्य की सीमाएँ मिलती थीं और उस सेना का कमाण्डर कलकत्ता से आदेश की प्रतीक्षा करने लगा। मीरकासिम युद्ध की तैयारी करने लगा। यद्यपि उसने नवाब शुजाउद्दौला तथा शाहआलम से संधि कर ली थी किन्तु वास्तव में नवाब तथा मुग़ल सम्राट दोनों की ही सेनाएँ मीरकासिम का साथ देने लिए इच्छुक न थीं। अंग्रेजी सेना का कमाण्डर मुनरो बड़ा योग्य सेनापति था। अंग्रेज लेखकों के अनुसार यद्यपि उसकी सेना में लगभग ७,००० सिपाही और २० तोपें ही थीं, जबकि मीरकासिम की सेना में ४०,००० से भी अधिक सैनिक थे। किन्तु यह संदिग्ध जान पड़ता है। २३ अक्तूबर १७६४ ई० के प्रात काल से दी दोनों ओर की सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। कई घंटे तक तो नवाब की सेना बड़ी वीरता से लड़ती रही और अंग्रेजी सेना के अनेक सैनिक हताहत हुए, किन्तु अन्त में अंग्रेजों के एक जोरदार हमले से उसके पैर उखड़ गए और उसमें भगदड़ मच गई। शुजाउद्दौला भागकर रुहेलखण्ड चला गया। शाहआलम ने अंग्रेजों के आगे आत्म-समर्पण कर दिया और मीरकासिम का कुछ पता न चला। अगले वर्ष ही अंग्रेजों ने चुनार तथा इलाहाबाद के दुर्गों पर भी अधिकार कर लिया जिससे शुजाउद्दौला की शक्ति सदा के लिए कम

हो गई । बक्सर के भाग्य-निर्णायक युद्ध ने प्लासी के युद्ध के पश्चात् रहे-सहे काम को पूरा कर दिया । कुछ लेखकों के अनुसार भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव बक्सर के युद्ध के बाद ही पड़ी, न कि प्लासी के युद्ध के पश्चात् ।

बंगाल में अंग्रेजों ने मीरजाफ़र को एक सन्धि के लिए विवश किया (जो जुलाई, १७६३ में लिखी गई थी), जिसके अनुसार वह अपनी सेना नहीं बढ़ा सकता था, उसके दरबार में अंग्रेजों का एक प्रतिनिधि स्थायी रूप से रहेगा तथा अंग्रेजों के व्यापार पर २½ प्रतिशत नमक-कर के अतिरिक्त कोई अन्य कर नहीं लगाया जायगा । १७६५ में मीरजाफ़र मर गया तो अंग्रेजों को उसके बेटे नज्मुद्दौला से बहुत बड़ी भेंट लेने का अवसर मिल गया, जिसको कम्पनी ने इस शर्त पर नवाब बनाया कि वह नाम-मात्र के लिए नवाब रहेगा, परन्तु शासन का अधिकार काउन्सिल के नामज़द सदस्य के हाथ में रहेगा । नन्दकुमार को नवाब का भक्त होने के कारण दरबार से अलग कर दिया गया । नवाब रज़ाखां को नायब अर्थात् डिप्टी सूबेदार बनाया गया ।

क्लाइव, जो लार्ड बन चुका था, फिर लौटकर भारत आया । उसको अनेक अधिकार देकर बंगाल का गवर्नर बनाया गया था । काउन्सिल के जिन चार सदस्यों को वह चुने उनकी एक कमेटी उसकी सहायता के लिए नियुक्त की गई ।

नवाब-वजीर व सम्राट् के साथ क्लाइव का समझौता : बक्सर के युद्ध की विजय ने अंग्रेज़ों को बंगाल व बिहार में सर्वशक्तिमान बना दिया था और क्लाइव ने इस अवसर से तुरन्त लाभ उठाना चाहा । वह नवाब-वजीर व सम्राट् से स्थायी समझौता करने के लिए इलाहाबाद गया (अगस्त १७६५) । उसकी अनुपस्थिति में गवर्नर वेंसीटार्ट (Vansittart) ने शाहआलम को अवध देने का वचन दे दिया था । इलाहाबाद की सन्धि के अनुसार शुजाउद्दौला को उसका सब प्रदेश लौटा दिया गया. केवल इलाहाबाद और कड़ा के प्रदेश सम्राट् को दिए गए । नवाब वजीर को ५० लाख रुपये अंग्रेज को देने पड़े तथा सुरक्षा के लिए युद्ध के समय अंग्रेजों का साथ देने का वचन देना पड़ा । कृतज्ञ शाहआलम ने अंग्रेजों को बंगाल व बिहार की दीवानी दे दी अर्थात् उन प्रांतों से कर वसूल करने का अधिकार दे दिया तथा उत्तरी सरकारें उनको दे दीं । इसके बदले में सम्राट् को इलाहाबाद और कड़ा के प्रदेश दिये गए तथा बंगाल की आय में से २६ लाख रुपये वार्षिक देने मंजूर किए ।

Questions

1. Discuss the causes of the downfall of the Mughal Empire.
   मुगल साम्राज्य के पतन के कारण बताओ ।
2. Trace and account for the rise of Marhattas during the eighteenth century.
   १८वीं शती में मराठों का जो उत्कर्ष हुआ उसका हाल लिखो तथा यह भी बताओ कि उनका उत्कर्ष किन कारणों से हुआ ।

3. Describe the importance of three battles of Panipat in the History of India.

बताओ कि भारतवर्ष के इतिहास में पानीपत की तीनों लड़ाइयों का क्या महत्व है ।

4. Briefly trace the course of the Anglo-French rivalry in India between 1707 and 1763.

सन् १७०७ व १७६३ के बीच अंग्रेज-फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्विता का क्रमागत वृत्तान्त बताओ ।

5. Give a brief account of the struggle between the English and the French for the mastery of India.

भारत पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए अंग्रेज व फ्रांसीसियों में जो सघर्ष हुआ उसका संक्षिप्त हाल लिखो ।

6. Account for the failure of the French to establish their empire in India.

किन कारणों से फ्रांसीसी भारतवर्ष पर अपना साम्राज्य स्थापित करने में असफल रहे ?

7. Examine the extent of British and French influence in 1750 and explain the reasons for the success of the British against the French.

सन् १७५० में अंग्रेजों व फ्रान्सीसियों का भारत पर कितना प्रभाव था और फ्रान्सीसियों के विरुद्ध अंग्रेज की सफलता के क्या कारण थे ?

अध्याय २३

परिवर्तन युग

मुग़ल साम्राज्य का अन्त व अंग्रेजी राज्य की स्थापना

बंगाल व बिहार में दीवानी अधिकार मिल जाने से इन प्रान्तों का शासन नवाब से हटकर कम्पनी के हाथों में आ गया। क्लाइब ने इलाहाबाद में जो समझौता किया था उसके द्वारा उत्तरी भारत की अराजकता से बंगाल की रक्षा के लिए अवध को आड़ बनाया। सम्राट् उनका मित्र वन गया था यद्यपि वह निरा अशक्त था परन्तु देश का स्वामी कहलाता था और सबसे बढ़कर यह वात हुई कि बंगाल की अपरिमित आय से कम्पनी के साधन और शक्ति बढ़ गये। दक्षिण व उत्तर में जो घटनाएँ हो रही थीं, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा, सब-की-सब अंग्रेजों के अनुकूल होती जा रही थीं। परन्तु हम क्लाब व उसके उत्तराधिकारियों के अधीन कम्पनी की बंगाल में जो उन्नति हुई प्रथम उसी का वर्णन पूर्ण रूप से करेंगे।

द्वैध शासन : अंग्रेजों के हाथ में दीवानी का पद प्राप्त हो जाने से लोगों पर जो अत्याचारपूर्ण शासन हुआ उसका उदाहरण कहीं नहीं मिल सकता। अत्याचार और प्रजा-पीड़न से देश नष्ट हो गया और भीषण अकाल पड़ने लगे, जिससे अनेक लोग मृत्यु के ग्रास बने। अंग्रेजों को बंगाल, बिहार व उड़ीसा से कर संग्रह करने व उन पर मनमाना शासन करने की जो दीवानी मिली थी उसी के फलस्वरूप शासन-प्रबन्ध इतना बिगड़ गया था। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों को निज़ामत का अधिकार भी नवाब से मिला हुआ था, अर्थात् सैनिक प्रबन्ध तथा अपराधियों के अभियोगों के निर्णय करने का अधिकार उनको मिला हुआ था, जिसके बदले में वे नवाब को ५३ लाख रुपये वार्षिक देते थे। इस भांति नवाब केवल अंग्रेजों का पैन्शन पाने वाला ही रह गया या। कम्पनी के कार्यकर्ताओं को असीम अधिकार मिले हुए थे, जिनका दुरुपयोग करके वे लोगों का धन लूटते थे। नवाब बिलकुल अशक्त था अतएव अंग्रेजों के अत्याचारों से उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं था।

क्लाइब का सुधार. कम्पनी की राजनीतिक अवस्था को ठीक करने के उपरान्त क्लाइव ने उसके शासन में सुधार किये। कलकत्ता में क्लाइव को अनुभव हुआ कि सीनियर अफसरों की संख्या अपर्याप्त थी, क्योंकि उनको बहुत कम वेतन मिलता था। कम्पनी के कर्मचारी भ्रष्टाचार को अपना रहे थे और यहाँ तक कि निम्न कर्मचारियों के ही हाथ में सारे महत्वपूर्ण पद थे—एक तीन साल पुराना मुंशी भी एक

विभाग के सचिव की हैसियत से काम कर रहा था। केवल नकल करने वाले मुंशी ही सेना को वेतन बाँटने वाले तथा मुनीम (अकाउन्टेन्ट) बने हुए थे। क्लाइव चाहता था कि व्यापार को नियमित करके कम्पनी के लाभ में वृद्धि की जाय तथा कर्मचारियों का वेतन बढ़ाया जाय जिससे योग्यता तथा ईमानदार व्यक्ति मिलने लगें। डायरेक्टर्स उसके इस प्रस्ताव से सहमत न हुए, इसलिए उसे अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए दूसरी विधि अपनानी पड़ी। कम्पनी को नमक के व्यापार से जो लाभ होता था उसमें से वह असैनिक तथा सैनिक कर्मचारियों को अतिरिक्त भत्ता देने लगा। दो वर्ष बाद कम्पनी ने इसे बन्द कर दिया और उनको केवल राज्य की आय पर कमीशन दिया जाने लगा। इस प्रकार गवर्नर को १७,५०० पौण्ड वार्षिक तथा सेना के कर्नल या काउन्सिल को ७,००० पौंड वार्षिक वेतन मिलने लगा। उसने कम्पनी के कर्मचारियों के वे सब अधिकार छीन लिये जिनके द्वारा वे बिना कर दिये ही देश के अन्दर अपना निजी व्यापार कर सकते थे। उसने उनको इस बात के लिए भी विवश किया कि ये किसी प्रकार की भेंट स्वीकार न करें। सेना में उसने सैनिकों का भत्ता बन्द कर दिया जो बंगाल के अफसरों को किले में रहने के कारण वेतन के अतिरिक्त दिया जाता था, परन्तु जिसको मीरज़ाफर शान्ति-काल में भी प्लासी के युद्ध के पश्चात् से बराबर देता रहा था। सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार के अफसरों ने क्लाइव का विरोध किया। सिविलियनों ने एक संगठन बनाकर क्लाइव द्वारा बुलाई गई आमोद-प्रमोद की गोष्ठियों का बहिष्कार करना शुरू किया और स्मृति-पत्र तैयार किए। किन्तु जब उन्हें पता चला कि क्लाइव अपने इरादों में दृढ़ है तो वे सब मान गये। उधर सैनिक अफ़सरों ने क्लाइव के विरुद्ध सगठन किया। क्लाइव ने दृढ़ता से उनका विरोध दबा दिया और तुरन्त उनके त्यागपत्रों को स्वीकार कर लिया। उनके स्थान पर मद्रास के अफ़सर लगाये गये। इस प्रकार क्लाइव ने कम्पनी में जो दोष बहुत काल से चले आते थे उन्हें दूर करके उसे सुदृढ़ बनाया।

१७६७ में क्लाइव भारत से लौट गया। वास्तव में उसी ने भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव डाली। उसमें एक जन्म-जात नेता के गुण थे और वह एक योग्य शासक तथा दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ भी था। उसने सम्राट् से जो दीवानी का अधिकार प्राप्त किया तथा राजनीतिक संधियाँ कीं उससे उसकी राजनीतिज्ञता तथा दूरदर्शिता साफ़ ज़ाहिर है। उन अनुकूल परिस्थितियों से लाभ उठाने की उसमें अद्भुत क्षमता थी जिनको साधारण मनुष्य अनदेखी कर देता है। वह भाग्य का ऐसा बली था कि घटनाओं ने सदा उसका साथ दिया। उसको आयरिश लार्ड की पदवी देकर उसकी सेवाओं की क़दर की गई। कुछ भी हो, क्लाइव पक्का स्वार्थी था। उद्देश्य-सिद्धि के लिये कैसे भी साधनों का प्रयोग करने में उसे हिचकिचाहट न थी। अपना मतलब सिद्ध करने में वह धर्माधर्म का विचार नहीं करता था। घूस के तौर पर, जिसे वह भेंट कहता था, उसने अपार सम्पत्ति इकट्ठी की थी। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने अपने देश की अनन्त सेवाएँ कीं, परन्तु बंगाल और बिहार के लिये उन सेवाओं

का परिणाम विनाशकारी हुआ। अपने देशवासियों द्वारा अपने कार्यों की अत्यन्त निन्दा सुनकर उसने १७७४ में आत्म-हत्या कर डाली।

बंगाल और बिहार का कुशासन (१७६७–१७७२)

क्लाइव के चले जाने और वारेन हैस्टिंग्स के आने में जो पांच वर्ष का अन्तर था उस काल में बंगाल और बिहार पर कम्पनी का शासन जितना बुरा था उतना कभी नहीं हुआ। क्लाइव के बाद वेर्ल्स्ट (Verlst) तथा कार्टीयर (Carteer) नामक दो गवर्नर हुए वे केवल नाममात्र के ही गवर्नर थे। कम्पनी के जिन भ्रष्टाचारों को क्लाइव ने रोक दिया था, उनको रोकने में वे दोनों गवर्नर इतने ही अशक्त सिद्ध हुए जितना कि नवाब था। दीवानी अर्थात् कर वसूल करना कम्पनी के हाथों में था, परन्तु निज़ामत अर्थात् वास्तविक शासन दो भारतीय अफसरों के हाथ में था जिनमें से एक मुहम्मद रजाखाँ बंगाल में था तथा दूसरा राजा शिताबराय बिहार में था। वे दोनों नायब दीवान कहलाते थे। उनके शासन में लोगों ने अपार कष्ट उठाये। अधिकारियों की लूट-खसोट से तंग आकर किसानों ने अपना शान्त पेशा छोड़कर गुण्डागीरी व डकैती आरम्भ कर दी थी। अंग्रेज कर्मचारी अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहे थे जबकि नमक, सुपारी तथा कई अन्य पदार्थों के व्यापार पर उनका एकाधिकार था और उसके गुमाश्ते लोगों को उसी भांति सताने लगे जैसा कि मीरकासिम के समय में सताते थे। इसके अतिरिक्त बंगाल से प्रतिवर्ष बहुत-सा धन और सोना खिंचा चला जा रहा था। पाँच वर्ष में लगभग ५० लाख पौण्ड का सोना-चाँदी विलायत पहुँच गया था। जिस समय बंगाल का धन विलायत को खिंचा चला जा रहा था तथा लोग कुशासन की चक्की में पिसे जा रहे थे, उसी समय वहाँ बड़ा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण उसकी एक-तिहाई जनसंख्या नष्ट हो गई (१७७०)। दुर्भिक्ष की भीषणता बिहार में अत्यन्त प्रचण्ड थी और राजा शिताबराय ने सूचना भेजी थी कि पटना के बाजारों में नित्य ५० व्यक्तियों से अधिक गरीब मरते थे। तीव्रकाल में मरने वालों की संख्या इससे भी तिगुनी हो जाती थी। हंटर (Sir W. W. Hunter) ने इस दुर्भिक्ष के विषय में लिखा है, "किसानों ने अपने ढोर बेच दिये, अपने हल आदि भी बेच दिये, बीज का अन्न भी खा गये, तब उन्होंने अपने लड़के लड़कियों को बेचना आरम्भ कर दिया, यहाँ तक कि कोई बच्चों का खरीदार भी न रहा।" उन्होंने वृक्षों की पत्तियाँ खा डालीं। मैदानों की घास भी खा ली और जून १७७० में मुर्शिदाबाद के निवासियों ने सूचना भेजी थी कि जीवित व्यक्ति मुर्दों को खा रहे थे। १७७० में दुर्भिक्ष समाप्त हुआ। दूसरे वर्ष फसल अच्छी हुई परन्तु दुर्भिक्ष ने देश को ऐसा उजाड़ दिया था कि केवल आधे खेत जोते-बोए गए क्योंकि आधे किसान मर चुके थे।

किन्तु इस आपत्तिकाल में भी अधिकारीगण किसानों व जमींदारों को अपने अत्याचारों की चक्की में बुरी तरह पीस रहे थे। जिस रेशम के व्यापार के लिए बंगाल इतना प्रसिद्ध था, वह अंग्रेजों के कारण नष्ट हो गया। इन दुर्घटनाओं ने

अन्त में कम्पनी के डायरेक्टरों की आँखें खोल दीं और उनको अपने कर्त्तव्य का ध्यान आया और उन्होंने वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया जो कम्पनी का पुराना कर्मचारी था और तब मद्रास काउन्सिल में दूसरे पद पर था। उसने १७७२ से बंगाल की गवर्नरी का पद ग्रहण किया।

उत्तर व दक्षिण भारत की घटनाएँ : १७६१ के अन्तर्गत भारत के इतिहास में महान् परिवर्तन हुआ। उसी वर्ष पानीपत के मैदान में मरहठों की शक्ति का ह्रास हुआ और दक्षिण से फ्रान्सीसियों को, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, निकाल दिया गया। उस समय अंग्रेजों की शक्ति केवल कर्नाटक में ही सर्वोपरि नहीं हो गई थी वरन् उससे भी अधिक शक्ति उनकी बंगाल व बिहार में थी। सम्राट् महान् मुगलों की छायामात्र रह गया था तथा कम्पनी का पेंशन-यफ्ता था। जबकि देश में राजनीतिक परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहे थे उसी समय कई व्यक्ति नष्ट राज्यों के अवशेषों पर शक्तिशाली बन रहे थे। पानीपत के युद्ध में मरहठों का विनाश हो चुका था परन्तु अब धीरे-धीरे वे अपनी शक्ति संचय कर रहे थे। कई मराठे राजाओं ने अपना एक संघ बना लिया था जो नाममात्र के लिये पेशवा को अपना प्रभु मानते थे। परन्तु पेशवा का कोई अधिकार उनके ऊपर न था। ये सब राजा अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने में प्रयत्नशील थे। निजाम का राज्य भी बहुत फैला हुआ था और उसके साधन भी प्रचुर थे, अतएव वह भी शक्ति बढ़ाने का इच्छुक था। कर्नाटक से द्वैध शासन होने से वहाँ का शासन-प्रबन्ध बंगाल के शासन से भी भ्रष्ट तथा अनिश्चित था व उसमें सुधार की शीघ्र आवश्यकता थी। मैसूर के दक्षिण-पश्चिम में और पूर्वी प्रदेश के पश्चिम में, जिसका नाम अंग्रेजों ने भूल से कर्नाटक रखा हुआ था, वास्तविक कर्नाटक में अर्थात् मैसूर में एक शक्ति का अभ्युदय हो रहा था जो सर्वशक्तिमान बनने के लिए निजाम व मरहठों के साथ मिल गई थी। यह हैदरअली था।

हैदरअली का अभ्युदय : मैसूर उन राज्यों में से एक था जो विजयनगर राज्य के नष्ट हो जाने पर उसके ध्वंसावशेषों पर बने थे। उसकी नींव राजा उदेयर (१५७८-१६१७) ने डाली थी जो स्वयं को यादवों का वंशज बतलाता था। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में उदेयरों का भी पतन होने लगा। हैदरअली (जन्म १७२२) यद्यपि अनपढ़ था परन्तु अपनी योग्यता से मैसूर की सेना का प्रधान सेनापति बन गया था। १७६६ में वह इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने राजा को उसी महल में बन्दी बना लिया, और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। फिर शीघ्र ही उसने मालाबार तट जीत लिया, किन्तु उत्तर में उसका मार्ग मरहठों तथा निजाम ने रोक दिया। हैदरअली को बढ़ता हुआ देखकर अंग्रेज तथा निजाम दोनों चौकन्ने हो गये। अतएव नए निजाम निजामअली ने १७६६ में मरहठों से सन्धि करली। अंग्रेज भी निजाम के साथ मित्रता करके अपनी स्थिति सुरक्षित करना चाहते थे। हैदरअली अकेला रह गया। निजाम अंग्रेजों से असन्तुष्ट था, जिसका कारण इलाहाबाद की वह सन्धि (१७६२) थी जो क्लाइव और सम्राट् के बीच हुई थी और जिसमें अंग्रेजों

को उन उत्तरी सरकारों का नैतिक अधिकार मिल गया था जिसको फोर्ड ने फ्रांसीसियों से (१७५८-५९) छीन लिया था। इन सरकारों को निजाम ने १७५९ में अंग्रेजों को अनियमित रूप से दे दिया था। अतएव वह सम्राट् के हस्तक्षेप से कुपित हुआ क्योंकि वह उन पर अपना अधिकार समझता था। अंग्रेज उस समय निजाम से शत्रुता मोल नहीं लेना चाहते थे, अतएव उन्होंने उनके साथ पृथक सन्धि करली जिसके अनुसार अंग्रेज निजाम को वार्षिक भेंट देकर सरकारें अपने पास रख सकते थे। किन्तु उनका सबसे महत्वपूर्ण समझौता यह हुआ कि आवश्यकता पड़ने पर वे परस्पर सहायता करेंगे। यह समझौता हैदरअली के विरोध में किया गया था।

हैदरअली का सामना अंग्रेज नहीं कर सकते थे। वह केवल वीर योद्धा ही नहीं था वरन् कूटनीतिज्ञ भी था। बड़ी चतुरता से उसने मरहठों को अपनी ओर तोड़ लिया और उधर निजाम को भी फुसला लिया कि अंग्रेजों का साथ छोड़ दे।

मैसूर की पहली लड़ाई : अंग्रेजों ने हैदरअली के विरुद्ध फोर्ड के अधीन एक सेना भेजी। उनको यह देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि निजाम की सेना खुलेआम हैदरअली की सेना से मिल रही थी। निजाम अशक्त और अविश्वसनीय था। अतएव अंग्रेज व हैदरअली दोनों में से कोई उसकी परवाह नहीं करता था। हैदरअली ने ट्रावनकोर तक समस्त दक्षिण पर चढ़ाई करके व कर्नाटक प्रदेश पर लगातार आक्रमण करके अंग्रेजों की शक्ति को क्षीण कर दिया। अन्त में हैदरअली १७६९ में एक बहुत बड़ी सेना लेकर तंजौर के ऊपर टूट पड़ा और वहाँ के राजा को एक एक बहुत बड़ी रकम देने पर विवश किया। तब वह उत्तर की ओर मुड़ा और मद्रास में प्रवेश कर गया और अंग्रेजों को बड़ी अपमानजनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया। इस सन्धि के अनुसार दोनों ने परस्पर जीते हुए प्रदेश लौटा दिए और अंग्रेजों ने वचन दिया कि यदि हैदरअली पर कोई आक्रमण करेगा तो वे उसकी सहायता करेंगे। किन्तु जब १७७१ में मरहठों ने मैसूर पर आक्रमण किया तो मद्रास काउन्सिल ने हैदरअली की सहायता की प्रार्थना को अनसुनी कर दिया। वे निजाम से कम विश्वासघातक न थे। अंग्रेजों के इस विश्वासघात के कारण हैदरअली जीवन-भर उनसे घृणा करता रहा। वह इस विश्वासघात को कभी नहीं भूल सकता था।

Questions

1. Give a sketch of the life of Haider Ali and describe his attitude towards the English.
   हैदरअली का जीवन-चरित्र संक्षेप में लिखो तथा बतलाओ कि अंग्रेजों के प्रति उसकी धारणा कैसी थी ?
2. Describe the causes and events of the first Mysore War.
   मैसूर की पहली लड़ाई के कारण तथा घटनाओं का वर्णन करो।

अध्याय २४

अंग्रेजी राज्य का एकीकरण व उसमें सुधार

वारन हेस्टिंग्स (१७७२-८५)

हम बता चुके हैं कि वारन हेस्टिंग्स किन परिस्थितियों में १७७२ में बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ। उसकी नियुक्ति के पूर्व कुशासन का समस्त काल वारन हेस्टिंग्स के शासन की भूमिका था। उस अराजकता के कारण हैस्टिंग्स को अपनी पूर्ण योग्यता और कूटनीतिज्ञता दिखलाने का अवसर मिल गया। वारन हेस्टिंग्स का शासनकाल भारत में ब्रिटिश राज्य के निर्माण का युग था। वारन हेस्टिंग्स अठारह वर्ष की आयु में १७५० में पहले-पहल कलकत्ता में एक लेखक के पद पर कम्पनी में आया था। यह पद कम्पनी की नौकरियों में सबसे बुरा समझा जाता था। उसने बंगाल में कई फैक्टरियों में काम किया और कम्पनी के शासन के भ्रष्टाचार-काल में बड़ी चतुरता तथा धैर्य से काम लिया और अपेक्षाकृत एक सज्जन की भाँति काम करता रहा। वह १७६४ में इंगलैण्ड लौट गया परन्तु १७६९ में मद्रास काउन्सिल में उपाध्यक्ष बनकर पुन: भारत लौट आया। उस पद से उन्नति करके वह बंगाल का गवर्नर बना।

हेस्टिंग्स ने अपने पद पर आरूढ़ होते ही शासन में सुधार करने आरम्भ कर दिए। क्लाइव के बनाये हुए शासन में बिल्कुल उलट-फेर कर दिया गया। हेस्टिंग्स ने बंगाल तथा बिहार के दोनों नायब सूबेदारों, मुहम्मदरज़ा और राजा शिताबराय को हटाकर इस पद को तोड़ दिया। खजाना मुर्शिदावाद से हटाकर कलकत्ता में लाया गया। इसके बाद उसने नवाब का भत्ता ३२ लाख रुपये से घटाकर १६ लाख रुपये कर दिया। राज्य के आय-विभाग को सुचारु तथा दृढ़ बनाने के लिए उसने उसमें अनेक सुधार किये। आय विभाग का एक बोर्ड बनाया गया और भूमि-कर में पंचवर्षीय योजना लागू की गई। किन्तु पांच वर्ष बाद जब १७७७ में यह प्रयोग सफल न हुआ तो वार्षिक कर लगाया गया। उससे पूर्व भारतीय कलक्टर कर वसूल करते थे परन्तु हेस्टिंग्स ने उनके स्थान पर अंग्रेज कलक्टर रखे। कुछ समय पश्चात् उसने कई जिलों का एक समूह बनाया जिसको एक कमिश्नर के अधीन रखा गया। उसने फौजदारों व जमींदारों से न्यायाधीश के अधिकार छीन लिए और प्रत्येक जिले में एक दीवानी व एक फौजदारी न्यायालय स्थापित किया जिनमें से प्रथम का प्रधान कलक्टर व दूसरे का भारतीय

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जज होता था। हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता में दो और न्यायालय स्थापित किए जो अपील की सुनवाई करते थे। उनमें एक का नाम सदर दीवानी अदालत था जिसका प्रधान गवर्नर-जनरल होता था व उसमें दो सदस्य काउन्सिल के होते थे. तथा दूसरे का नाम सदर निजामत अदालत था जिसका प्रधान भारतीय जज होता था। दोनों न्यायालयों में जजों की सहायता के लिए ब्राह्मण अथवा मुस्लिम असेसर रखे जाते थे जो अपने-अपने निजी धर्मों के नियमों की व्याख्या करते थे। ये सब सुधार हेस्टिंग्ज ने अपने शासन के प्रथम वर्ष ही में कर डाले थे।

अन्य सुधार : उसी समय हेस्टिंग्ज ने अन्य विभागों में भी सुधार किए। उसने कम्पनी के व्यापार में उन्नति की तथा अंग्रेज अफसरों के भ्रष्टाचार को दबाया। कम्पनी के कर्मचारी जाली पास बनाकर अपने माल को महसूल देने से बचाकर कम्पनी को धोखा दिया करते थे। हेस्टिंग्स ने इसको तुरन्त रोक दिया। अन्त में उसने एकाधिकार के पदार्थों को छोड़कर अन्य सब पदार्थों पर २½ प्रतिशत महसूल लगा दिया जो भारतीय व अंग्रेज दोनों व्यापारियों से लिया जाता था। देश में जो लूट-मार और डकैती जोर से फैली हुई थी, उसको रोकने का भी उसने प्रयत्न किया। साथ-ही-साथ उसने जो अड़ियल किसानों व जमींदारों को कोड़े लगाये जाते थे, उस प्रथा को बन्द कर दिया। हेस्टिंग्स को शीघ्र ही ज्ञान हो गया कि जिन कलक्टरों को उसने नियुक्त किया था वे अपने आर्थिक कर्तव्यों का उचित पालन नहीं कर सकते थे, अतएव उसने यह कर्तव्य भारतीय आमिलों के अधीन कर दिया जिन पर कलकत्ता के रेवेन्यू बोर्ड का नियंत्रण होता था और जो किसानों की शिकायतों को सुनते थे।

हिन्दू-धर्म का विधान : नये न्यायालयों के पथ-प्रदर्शन के लिए हेस्टिंग्स ने हिन्दू-धर्म व मुस्लिम धर्म का विधान भी तैयार करवाना चाहा। औरंगजेब ने जो पुस्तक 'फतवा ए आलमगीरी' तैयार की थी वह मुस्लिम-धर्म की एक श्रेष्ठ संहिता थी और उसी का प्रयोग किया गया। हिन्दू-पण्डितों को कलकत्ता बुलाया गया और हिन्दू-धर्म की एक प्रामाणिक संहिता तैयार करवाई गई। इसका संस्कृत से फ़ारसी में तथा फ़ारसी से अंग्रेजी में अनुवाद किया गया। यह संहिता १७७५ में बनी।

अफ़ीम और नमक व्यापार पर नियन्त्रण : व्यापार को उन्नत बनाने के लिए हेस्टिंग्स ने अनेक उत्पीड़क करों को बन्द कर दिया जो देशी व्यापार में अड़चन डालते थे और सब पदार्थों पर समान महसूल लगाया। उसने नमक और अफीम के व्यापार पर जो कम्पनी के कर्मचारियों का एकाधिकार था उसे समाप्त कर दिया और उस व्यापार को सरकारी नियन्त्रण में रखा तथा कलकत्ता में एक बैंक खोला। कम्पनी का कोई कर्मचारी सरकारी व्यापार में भाग नहीं ले सकता था।

विदेश-नीति : हेस्टिंग्स ने इसके पश्चात् विदेशी मामलों पर ध्यान दिया। कूच विहार की प्रार्थना पर उसको भूटान वालों के आक्रमण से बचाने के लिए एक अंग्रेजी सेना भेजी और इसके बाद तिब्बत में एक व्यापारिक मिशन भेजा। जिस

समय भारतीय राजाओं से सम्बन्ध स्थापित किए गए थे तब की और अब की परिस्थिति में महान् अन्तर पड़ गया था, अतएव उनको दुहराने की आवश्यकता थी। जिस समय मरहठे पानीपत की लड़ाई के बाद पुनः पनपे तो वे दिल्ली की ओर बढ़े, इलाहाबाद से साम्राट् शाहआलम को बुलवाया और उसको दुबारा दिल्ली के तख़्त पर बिठाया। इस प्रकार मरहठे अंग्रेजी प्रदेशों के लिए बड़े खतरनाक हो गए। अंग्रेजों ने सम्राट् की २४ लाख की वृत्ति (पेन्शन) बन्द कर दी और कह दिया कि वह उनके शत्रुओं की शरण में क्यों चला गया तथा कड़ा और इलाहाबाद ५० लाख रुपये लेकर पुनः अवध के नवाब को दे दिए (१७७१)।

रुहेलों का युद्ध : १७७४ में अंग्रेजों ने अवध के नवाब से चालीस लाख रुपये लेकर उसकी सहायता के लिए एक अंग्रेजी सेना भेजी कि वह रुहेलों पर आक्रमण करके उनकी शक्ति को नष्ट करदे। जब १७३९ में नादिरशाह के आक्रमण से देश में गड़बड़ी फैल गई थी उसके कुछ समय पश्चात् ही १७४३ में गंगा नदी के पश्चिमी जिलों में अफगानों ने अपना अधिकार जमा लिया था। उनका नेता हाफिज़ रहमतखाँ एक लोकप्रिय शासक था और उसने अपने राज्य में अमन-चैन रखा। उसका अंग्रेजों से कोई झगड़ा नहीं था। किन्तु अवध का नवाब उसका प्रदेश हड़पना चाहता था और हेस्टिंग्स को धन की आवश्यकता थी। मरहठों से धमकाये जाने पर हाफिज़ रहमत ने नवाब से सहायता की प्रार्थना की, जिससे उसको अवसर मिल गया कि वह रुहेलों पर आक्रमण कर दे। रुहेलों की मीरनपुर कटरा में पराजय हुई और उनका प्रदेश अवध में मिला लिया गया। उनका नेता वीरता से युद्ध करता हुआ मारा गया और रुहेलों को खूब लूटा गया तथा उन पर क्रूरतापूर्वक अत्याचार किए गए। कम्पनी को लूट में से १५ लाख रुपये हाथ आये। केवल एक रुहेला सरदार ने इस युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की थी और उसके वंशज कुछ दिनों पूर्व तक रुहेलखण्ड में रामपुर पर राज्य करते रहे।

रैग्युलेटिंग ऐक्ट : जब कम्पनी के हाथ में बहुत से प्रदेश आ गए और उसका राजनीतिक महत्त्व बढ़ गया तो इंगलैंड के निवासियों के मन में यह भावना उठी की कम्पनी के बजाय इंगलैंड की पार्लियामेंट ही क्यों न उन प्रदेशों पर शासन करे। तब उन्होंने देखा, जब कि कम्पनी के कर्मचारी अत्यन्त धनी होते जा रहे थे, कम्पनी की दशा दिनों-दिन बिगड़ती जा रही थी और १७७२ में वह इतनी दिवालिया हो चुकी थी कि उसके संचालकों ने कम्पनी को चालू रखने के लिए ब्रिटिश सरकार से दो बार प्रार्थना की थी कि वह कम्पनी को दस लाख पौण्ड ऋण दे। इंगलैंड में जो लार्ड नार्थ (Lord North) की सरकार थी उसको अच्छा अवसर मिल गया कि कम्पनी को सरकार के नियन्त्रण में ले लिया जाय। अतएव १७७३ में दो ऐक्ट पास हुए जिनमें से एक कम्पनी की आर्थिक सहायता के लिए था और दूसरा (रैग्युलेटिंग ऐक्ट) कम्पनी की राजनीतिक दशा सुधारने व उसके लिए विधान तैयार करने के लिए था।

इंगलैंड में कम्पनी के डायरेक्टरों का समय एक साल से बढ़ाकर चार साल कर दिया गया, किन्तु उनके चुनाव पर कुछ ऐसी पाबन्दियाँ लगा दीं जिससे कि वह कैबिनेट (Cabinet) के नियंत्रण के अन्दर आ जायें। किन्तु कम्पनी के व्यापार में एकाधिकार बना रहा।

भारत में इस ऐक्ट के द्वारा कुछ सिद्धान्त पक्के हो गये, जिनका निर्णय इस ऐक्ट से पूर्व ही हो चुका था। उदाहरण के लिए कम्पनी के कर्मचारियों के द्वारा निजी व्यापार तथा डालियाँ इत्यादि लेना बन्द करना। इस ऐक्ट का सबसे बड़ा महत्व यह है कि इसके पास होते ही शासन तथा न्याय करने वाली सरकार का एक ढांचा तैयार हो गया जिस पर भावी सरकार बनी। इसके अनुसार बंगाल में गवर्नर-जनरल की नियुक्ति की गई, जिसकी सहायता करने व जिस पर नियन्त्रण रखने के लिए काउन्सिल के चार सदस्यों की एक कमेटी रखी गई। गवर्नर-जनरल और उस की काउन्सिल को यह अधिकार दिया गया कि अधीन प्रान्तों और भारतीय राजाओं पर परस्पर सम्बन्धों का एक सीमित दायरे के अन्दर निरीक्षण तथा नियन्त्रण कर सकें। एक प्रकार से अंग्रेजों के समस्त प्रान्त गवर्नर-जनरल के अधीन थे। परन्तु बहुत-सी बातों में प्रान्तीय गवर्नर को हरेक मामले की सूचना गवर्नर-जनरल और काउन्सिल के पास भेजनी पड़ती थी और गवर्नर-जनरल को उन सूचनाओं को 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' के पास भेजना पड़ता था। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को उनकी सूचना मन्त्रिमण्डल (Ministry) को देनी पड़ती थी। इस भाँति अप्रत्यक्ष रूप से कैबिनेट का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया, यद्यपि वह तब भी कोई निर्देश भारत सरकार के पास सीधा नहीं भेज सकती थी। ऐक्ट में प्रथम गवर्नर-जनरल व काउन्सिल के सदस्यों के नाम क्रमशः वारन हेस्टिंग्स, क्लैवरिंग, मानसन, बारवैल और फिलिप फ्रांसिस दिये गये थे।

एक सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court) भी बनाया गया जिसको दीवानी फौजदारी, समुद्री सेना-सम्बन्धी और धर्म-सम्बन्धी न्याय के अधिकार थे। इसमें एक प्रधान जज और चार छोटे जज होते थे, जिनको इंगलैंड का बादशाह नियुक्त करता था। सर एलीजाह इम्पी (Sir Elijah Impey) प्रथम प्रधान जज था। एक प्रकार की शासन-सरकार भी बनाई गई। गवर्नर-जनरल और काउन्सिल को अधिकार दिया गया कि वे ऐसे नियम, व्यवस्थाएँ व आज्ञाएँ जारी कर सकते थे जो उचित व न्यायपूर्ण हों, जिससे देश में शान्ति रहे और शासन की व्यवस्था बनी रहे। किन्तु ऐसे नियमों व आज्ञाओं को प्रथम सुप्रीम कोर्ट की अनुमति लेना परमावश्यक था।

रैग्युलेटिंग ऐक्ट की अच्छाइयाँ व बुराइयाँ

रैग्युलेटिंग ऐक्ट उन मनुष्यों के द्वारा, जिनको भारत का कुछ भी ज्ञान नहीं था तथा जो कम्पनियों के प्रतिनिधित्व के प्रति अविश्वास रखते थे, भारत के शासन-विधान बनाने का प्रथम प्रयास था। अनेक कमियों के रहते हुए भी प्रयास प्रशंसनीय

था। भारत में जो जगह-जगह अंग्रेजों के अधिकृत प्रदेश थे वे सब एक सूत्र में बँध गए और उन सबका शासन एक केन्द्र से होने लगा, जिससे बम्बई और मद्रास जैसे शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वियों का वैमनस्य मिट गया। इससे एक ओर तो कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का सम्बन्ध पार्लियामेंट से कायम हो गया, दूसरी ओर उनके भारतीय अफसरों व पार्लियामेंट का सम्बन्ध जुड़ गया। किन्तु यह योजना अधूरी थी और ऐक्ट की धाराएँ अस्पष्ट थीं। गवर्नर-जनरल काउन्सिल के बहुमत से बाध्य था, अतएव उनमें परस्पर संघर्ष होता रहता था। बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों के कर्त्तव्य व अधिकार स्पष्ट नहीं बतलाये गये। इसके अरिक्ति इस ऐक्ट में यह भी स्पष्ट नहीं किया गया था कि गवर्नर-जनरल और सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश के परस्पर अधिकार किस प्रकार के थे।

अनेक कमियों के कारण जिस समय से यह ऐक्ट लागू हुआ उसी समय से संघर्ष होने लगे। काउन्सिल के चार सदस्यों में से तीन हेस्टिंग्स के कार्यों को सदा अत्याचारपूर्ण और भ्रष्ट समझकरं उसका विरोध करते रहे। १७७६ तक यह संघर्ष बराबर चलता रहा। उस समय मानसन की मृत्यु हो जाने से हेस्टिंग्स का बहुमत बढ़ गया।

अवध और बनारस (चेतसिंह) : काउन्सिल के नये सदस्यों ने रुहेला युद्ध की निन्दा की, परन्तु नवाब पर दबाव डाला कि उसने जो चालीस लाख रुपये देने का वचन दिया था उसको पूरा करे। जब शुजाउद्दौला १७७५ में मर गया तो उसका लड़का आसफ़उद्दौला गद्दी पर बैठा जो बड़ा दानी था। परन्तु राजनीतिक मामलों में दक्ष न था। उसने अपनी राजधानी फैजाबाद से हटाकर लखनऊ में बनाई। हेस्टिंग्स के मना करने पर भी काउन्सिल ने नवाब को ब्रिटिश सेना रखने व व्यय के लिए पर्याप्त धन देने के लिए विवश किया तथा साथ-ही-साथ बनारस जिला उससे ले लिया जिसकी वार्षिक आय २२,१०,००० रुपये थी। नवाब का कोष खाली हो गया, जिसके कारण उसने विवश होकर अपने परिवार व आश्रितों का खर्चा घटा दिया। सन् १७८१ में हेस्टिंग्स को धन की आवश्यकता हुई तो उसने नवाब को विवश किया कि वह अपनी विधवा माँ व दादी से उनकी निजी सम्पत्ति व जागीरों से बलपूर्वक धन लेकर कम्पनी को दे। बेगमों के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार किया गया। अंग्रेजों ने बेगमों से धन निकलवाने में सहायता करने के लिए कुछ सैनिक भी भेज दिए, जिन्होंने बेगमों के प्रबन्धकों को जेल, बेड़ी, भूखों मारने व कोड़े लगाने की धमकी देकर उनको संचित धन देने के लिए बाध्य किया। बनारस के राजा चेतसिंह के साथ भी उनका व्यवहार बड़ा क्रूर और अन्यायपूर्ण था। १७७५ में जो सन्धि हुई थी उसके अनुसार सुप्रीम गवर्नमेंट ने राजा चेतसिंह को पक्का वचन दिया था कि उसको कम्पनी से जो जायदाद मिली थी उसको २२ लाख रुपये वार्षिक से अधिक कभी नहीं देना पड़ेगा। किन्तु १७७८ में उससे ५ लाख रुपये और ऐंठ लिए गए। राजा ने इस अतिरिक्त धन से बचने के लिए १७८० में हेस्टिंग्स को २ लाख रुपये की भेंट दी जिनको हेस्टिंग्स चुपचाप डकार गया और राजा को

फिर भी ५ लाख अतिरिक्त धन देने के लिए विवश किया। इसके अलावा राजा से १००० अश्वारोही सेना देने के लिए कहा गया। जब राजा कम्पनी की इस माँग को ठीक तौर से पूरा न करा सका तो उस पर ५० लाख रुपया जुर्माना किया गया और हेस्टिंग्स अपनी इस अनुचित और जंगली मांग को बलपूर्वक वसूल करने के लिए बनारस की ओर बढ़ा। राजा की प्रार्थना को ठुकरा दिया गया तथा उसको बन्दी बना लिया गया। अब राजा की सेना अधिक सहन न कर सकी। उसने हेस्टिंग्स के अंगरक्षकों को काट गिराया। हेस्टिंग्स अपने प्राण बचाने के लिए चुनार भाग गया। किन्तु यह विद्रोह दबा दिया गया। चेतसिंह ग्वालियर भाग गया, और उसके बेटे को गद्दी पर बिठाया गया।

शासन की कठिनाइयाँ और नन्दकुमार को फाँसी : हम बता चुके हैं कि काउन्सिल के कुछ सदस्य हेस्टिंग्स से शत्रुता रखते थे। इससे उसके विरोधियों को उस पर अभियोग चलाने का साहस हो गया। १७७५ से नन्दकुमार नामक एक धनी-मानी ब्राह्मण ने काउन्सिल में हेस्टिंग्स के विरुद्ध घूसखोरी का अभियोग लगाया। हेस्टिंग्स ने काउन्सिल के सम्मुख उपस्थित होने से इन्कार कर दिया। मामला अभी अनिश्चितावस्था में ही था कि नन्दकुमार को जालसाजी के अपराध में बन्दी बना लिया गया। नाममात्र के लिए उस पर अभियोग चला और उसको फाँसी दे दी गई। चाहे नन्दकुमार पर जालसाजी का अभियोग सच था या झूठ, परन्तु उसको फाँसी देना सर्वथा अनुचित था, क्योंकि जिस अंग्रेजी कानून के अनुसार उस पर अभियोग चलाया गया वह उसके विषय में लागू नहीं होता था। यह भी स्पष्ट नहीं था कि सुप्रीम कोर्ट को भारतीयों का न्याय करने का अधिकार था या नहीं। किन्तु नन्दकुमार को फाँसी तथा मानसन की मृत्यु ने हेस्टिंग्स का मार्ग साफ कर दिया।

काउन्सिल तथा सुप्रीम कोर्ट में परस्पर झगड़ा होने के कारण एक और कठिनाई सामने आई। काउन्सिल ने घोषणा कर दी कि जमींदार लोग जजों का निर्णय न मानें और उधर कोर्ट ने काउन्सिल पर अपने अपमान करने का अभियोग लगाया। १७८० में दोनों में परस्पर समझौता हो गया जब कि हेस्टिंग्स ने इम्पी को सदर दीवानी अदालत का प्रधान बना दिया और उसका मासिक वेतन ६,५०० पौंड कर दिया, जिसे इम्पी ने स्वीकार कर लिया। इससे इंगलैंड में बड़ा विरोध उठ खड़ा हुआ और १७८१ के ऐक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल के ऊपर से सुप्रीम कोर्ट का अनुशासन समाप्त हो गया। एक वर्ष बाद इम्पी को वापस बुला लिया गया।

बम्बई प्रदेश और मरहठे : पेशवा बालाजी राव का पुत्र माधवराव जब उत्तराधिकारी हुआ तब वह केवल १६ वर्ष का नवयुवक था, परन्तु वह अलौकिक प्रतिभा वाला, साहसी तथा उसका चरित्र असाधारण तौर से उत्तम था। बालक होने के कारण उसका चाचा रघुनाथराव, जो राघोवा के नाम से प्रसिद्ध है उसकी सहायता करता था। माधवराव ने मरहठों की खोई हुई शक्ति और प्रतिष्ठा हैदरअली को दो बार हराकर पुनः प्राप्त की और अपने अड़ियल चाचा जनकोजी भौंसले को रोके

रखा। उत्तरी भारत में उसने अपना अधिकार व प्रभाव हिन्दुस्तान पर जमा लिया। हम पहले बता चुके हैं कि १७७१ में शाहआलम ने मरहठों की शरण ली और उसको महादाजी सिन्धिया के संरक्षण में दिल्ली पहुँचा दिया गया था। दुर्भाग्य से माधवराव की मृत्यु १७७२ में क्षय रोग से हो गई और उसके साथ-साथ ही मरहठा राज्य पुनः स्थापित करने की आशा भी समाप्त हो गई। अल्पवयस्क पेशवा स्वार्थी मरहठा सरदारों व नेताओं को रोके हुए था। उसकी मृत्यु से वह दीवार टूट गई जो राजनीतिक षड्यन्त्रों को रोके हुए थी और अब मरहठे अपनी महानता को भूलकर, जिसकी नींव शिवाजी ने डाली थी, मरहठा शक्ति को छिन्न-भिन्न करने में व्यस्त हो गये।

सूरत और पुरन्धर की संधियाँ : माधवराव के छोटे भाई को पेशवा बनाया गया, परन्तु शीघ्र ही १७७३ में उसका बड़ी निर्दयता से वध हो गया। यह षड्यन्त्र राघोबा का रचा हुआ था जो अब पेशवा बन गया था। शीघ्र ही स्वर्गीय नारायणराव की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र का जन्म हुआ जिनको पेशवा के स्थान पर कार्य करने वाली काउन्सिल ने तुरन्त पेशवा घोषित कर दिया। इस काउन्सिल का मुख्य सदस्य बालाजी जनार्दन था जो नाना फड़नवीस के नाम से प्रसिद्ध था। राघोबा ने अब अपनी राज्य की भूख मिटाने के लिए राष्ट्र के हितों को ताक़ पर रख दिया और कभी मरहठा सरदारों व कभी अंग्रेजों से मिलकर नवीन पेशवा के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। किन्तु बम्बई के राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी गड़बड़ी मची हुई थी, जिसका कारण बम्बई की सरकार व कलकत्ता की सरकार का परस्पर मतभेद था। सिन्धिया व होल्कर राघोबा की ओर हो गये थे। राघोबा ने पूना की काउन्सिल के विरुद्ध बम्बई सरकार से सहायता माँगी। बम्बई सरकार ने इस सहायता के बदले में सालसेट व बसीन के टापू उससे माँगे। पहले-पहल राघोबा ने उनकी इस माँग को ठुकरा दिया, किन्तु बम्बई कान्सिल ने १७७४ में बसीन पर अधिकार कर लिया। इसी बीच पूना काउन्सिल ने सिन्धिया व होल्कर को अपनी ओर फोड़ लिया, जिससे विवश होकर राघोबा ने १७७५ में सूरत में अंग्रेजों से संधि कर ली और उनकी माँगों को स्वीकार कर लिया। बम्बई सरकार का यह कार्य रैग्युलेटिंग ऐक्ट के विरुद्ध हुआ, क्योंकि उसने बिना गवर्नर व उसकी काउन्सिल की अनुमति से ही एक से सन्धि कर ली व दूसरे से शत्रुता मोल ली। अतएव काउन्सिल ने सूरत की सन्धि को रद्द कर दिया और हेस्टिंग्स की व्यक्तिगत राय थी कि जब युद्ध आरम्भ हो गया था तो उसे चलने दिया जाय। परन्तु काउन्सिल ने कर्नल उपटन (Colonel Upton) को कलकत्ता से पूना भेजा जो बम्बई काउन्सिल के निर्णय को रद्द करके पुरन्धर में दूसरी सन्धि (१७७६) करे, जिसके अनुसार राघोबा के दावे को अस्वीकार किया जाए। किन्तु हेस्टिंग्स ने बोर्ड आफ डायरेक्टर्स की अनुमति से राघोबा से सम्बन्ध बनाये रखे और पुरन्धर की सन्धि को स्वीकार कर लिया। आगे आने वाली घटनाओं से सिद्ध होगा कि हेस्टिंग्स ने ऐसा निर्णय करके कैसी बड़ी भूल की थी।

राघोबा का साथ देने के कारण हेस्टिंग्स को मरहठों से बड़ी लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी, जिसमें अंग्रेजों की अपार सम्पत्ति व्यय हो गई व दक्षिण के समस्त शक्तिशाली राज्यों ने मरहठों का साथ दिया। इस निर्णय से हेस्टिंग्स को बहुत बुरे परिणाम भुगतने पड़े। इस युद्ध के कारण तथा मद्रास सरकार की मूर्खता और हैदरअली से युद्ध के कारण अंग्रेजों का कोष रिक्त हो गया और धन इकट्ठा करने के लिए हेस्टिंग्स को उन घृणित उपायों को काम में लेना पड़ा, जिसके कारण उस पर अभियोग चला और उसकी सब प्रतिष्ठा धूल में मिल गई तथा करे-धरे पर पानी फिर गया।

प्रथम अंग्रेज मरहठा युद्ध : इन सन्धिओं और मित्रताओं के फलस्वरूप जो युद्ध हुए उनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। बम्बई काउन्सिल ने राघोबा को पेशवा की गद्दी पर पुनः बिठाने के लिए जो सेना भेजी थी उसको पराजित होना पड़ा और बडगाँव में अंग्रेजों को एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े कि जितना प्रदेश उन्होंने १७७३ से लेकर उस समय तक जीता था वह सब वापस कर देंगे। किन्तु हेस्टिंग्ज ने इस अपमानजनक समझौते को मानने से इन्कार कर दिया और युद्ध जारी रखा। गौडर्ड (Goddard) जमुना से रवाना हुआ और १७८० में अहमदाबाद और बसीन पर अधिकार कर लिया। इसी बीच मरहठों ने निज़ाम और हैदरअली से मित्रता कर ली। गौडर्ड पूना की ओर बढ़ा परन्तु बड़ी भारी हानि उठाकर उसको लौटना पड़ा (१७८१)। किन्तु पोप्हम (Popham) ने १७८० में ग्वालियर की ऊँची प्राचीरों पर चढ़कर भारत में सनसनी फैला दी। उसने सिपरी के समीप सिंधिया को भी हरा दिया और उसको अँग्रेजों से मेल करना पड़ा और उससे प्रतिज्ञा कराई गई कि पूना और कलकत्ता के मामले में से मध्यस्थ बनकर उसमें परस्पर समझौता करा देगा। हेस्टिंग्स ने मरहठों के संघ में से बरार के शासन को भी तोड़ लिया। अन्त में १७८२ में सलबई की संधि हुई, जिसके अनुसार अंग्रेजों ने सालसट को छोड़कर पुरन्धर की संधि के बाद जितने भी प्रदेश जीते थे, लौटा दिये। राघोबा को पेशवा बनने का विचार त्यागना पड़ा और उसको २५,००० रुपये महीने पेन्शन बाँध दी गई। इस प्रकार मरहठों की पहली लड़ाई समाप्त हुई, जिसमें न केवल कम्पनी का दिवाला ही निकल गया वरन् अंग्रेजों की प्रतिष्ठा कम हो गई और वे युद्ध-नीति में लोगों की निगाहों में गिर गए।

द्वितीय मैसूर युद्ध : १७७१ और १७८० के बीच मद्रास काउन्सिल इतनी पतित हो चुकी थी कि इतिहासकार थोर्नटन (Thornton) ने उस काल में मद्रास के वातावरण को महामारी से युक्त कहा है। उसने तंजौर के निर्दोष राजा को हराकर केवल अरकाट के निकम्मे नवाब मुहम्मदअली को प्रसन्न करने के लिए गद्दी से उतार दिया था। मुहम्मदअली ने कम्पनी के छोटे-मोटे पदाधिकारियों को घूस देकर मद्रास के शासन को महाभ्रष्ट और पतित बना दिया था। जल्दी-जल्दी वहाँ के गवर्नर बदले जाते थे। इन शीघ्र खुपरिवर्तनों व लेआम गुंडागर्दी के कारण

सरकार की नीति विप्लवकारी और विवेकहीन बन गई थी। मद्रास सरकार ने अपनी मूर्खता से निज़ाम को उस समय अप्रसन्न कर दिया जब वह अंग्रेजों व राघोबा की साँठ-गाँठ (१७७८) को बड़ी संशयात्मक दृष्टि से देख रहा था। हैदरअली अँग्रेजों की धोखेबाजी भूला न था, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। फलस्वरूप निज़ाम, मरहठे व हैदरअली में पक्की मित्रता हो गई। हैदरअली ने अब अंग्रेजों से भरपूर बदला लिया। उसने कर्नाटक की सीमाओं तक उनके प्रदेशों पर आक्रमण किया। हैदरअली की सेना उस समय खूब सुशिक्षित थी और समस्त दक्षिण में उसका बोलबाला था। अँग्रेजों ने फ्रांसीसियों से माही का प्रदेश जीत लिया जो हैदर के राज्य में था। इससे उसे अंग्रेजों से युद्ध करने का बहाना मिल गया। वह भली-भाँति जानता था कि अंग्रेज हर जगह हार रहे हैं, अतएव उसने उन पर आक्रमण करने का यह सबसे सुन्दर अवसर समझा था। बेली (Baille) के अधीन उसके विरुद्ध जो सेना भेजी गई उसको उसने काट डाला और बक्सर की लड़ाई जीतने वाला मुनरो इतना भयभीत हुआ कि अपनी घुड़सवार सेना को कांजीवरम् में छोड़कर मद्रास भाग गया। तब हैदरअली ने कर्नाटक की राजधानी अरकाट पर अधिकार कर लिया। (१७८०)। परिस्थिति बड़ी खतरनाक थी किन्तु हेस्टिंग्स ने बड़ी शान्ति और धैर्य से उसका सामना किया।

सलबई की सन्धि (१७८२) : हेस्टिंग्स ने हैदरअली के प्रयत्नों को विफल बनाने के लिए युद्ध व कूटनीति दोनों से काम लिया। उसने मद्रास की दुर्बल और मूर्ख सरकार को मनमानी करने से रोक दिया, गवर्नर को मुअत्तिल कर दिया और काफी सेना व सामग्री देकर साहसी योद्धा आयरकूट को भेजा और दूसरी सेना पीयर्स के अधीन भेजी। उसने अपने कप्तानों की चतुर कूटनीति से सहायता की। उसने प्रथम हैदरअली के दो शक्तिशाली मित्रों को उससे अलग कर दिया। १७८१ में बरार का राजा पूर्णरूप से जीत लिया गया जो कुछ समय पूर्व बंगाल पर आक्रमण करने की धमकी दे रहा था। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, सिंधिया को जमुना के पश्चिम का जीता हुआ सारा प्रदेश लौटा दिया जिसके बदले में उसने मरहठों से संधि करा देने का वचन दिया। उसी के फलस्वरूप १७८२ में सलबई की संधि लिखी गई। निज़ाम को गंटूर का प्रदेश देकर चुप करा दिया गया। सलबई की संधि से हैदरअली मरहठों से बिल्कुल अलग पड़ गया, क्योंकि उन्होंने सहायता देना बिल्कुल बन्द कर दिया।

युद्ध के मैदान में हैदरअली ने अंग्रेजों का कड़ा सामना किया, किन्तु युद्ध का निर्णय होने से पूर्व १७८२ में हैदरअली मर गया। कूट ने जुलाई १७८१ में पोर्टोनोवो के मैदान में हैदरअली को हरा दिया जिसमें हैदरअली को बहुत हानि उठानी पड़ी। किन्तु कूट और पीयर्स की सम्मिलत सेना ने पोलीलोर में जो युद्ध हैदर के बेटे टीपू से लड़ा उसमें किसी की हार-जीत का निर्णय नहीं हुआ; किन्तु उसके कुछ समय पश्चात् कूट ने पुनः हैदरअली को सोलिंगर में हराया किन्तु अब

भाग्य ने पलटा खाया । टीपू ने ब्रेथवेट (Braithwaite) की सेना को तंजौर में मुख्य सेना से पृथक् कर दिया । इसी बीच हैदरअली की सहायता के लिए फ्रांस से २००० सैनिक पहुँच गए, जिसने अब कडुलोर को अंग्रेजों से छीन लिया था । अंग्रेजों का सौभाग्य था कि फ्रेंच गवर्नमेंट की आज्ञा से फ्रांसीसी सेना ने सहायता देने में विलम्ब किया और १७८३ में बुसी के भारत पहुँचने से पूर्व ही हैदरअली मर चुका था और टीपू मालाबार लौट गया था । कुछ ही महीनों बाद इङ्गलैंड और फ्रांस में संधि हो गई और टीपू अब अंग्रेजों का वार संभालने के लिए अकेला रह गया, किन्तु युद्ध बराबर १७८४ तक चलता रहा जिसमें हार-जीत का कुछ भी निर्णय न हो सका । अन्त में लम्बे युद्ध से तंग आकर मद्रास सरकार ने टीपू के साथ बड़ी अपमान-जनक संधि मंगलौर में की । जिसमें दोनों ने परस्पर जीते हुए प्रदेशों को लौटाने का वचन दिया । टीपू ने अंग्रेज दूतों का तनिक भी सम्मान नहीं किया और उन पर यह प्रकट किया कि उन्होंने सुलह के लिए भीख माँगी थी जिसको दया करके उसने उन्हें दिया है जबकि वह युद्ध में विजयी होने वाला ही था । इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि टीपू युद्ध के लिए अड़ जाता और भारतीय राजा उसकी सहायता करते तो अंग्रेजों की परिस्थिति उस समय ऐसी बिगड़ी हुई थी कि उनके भारत से पैर उखड़ जाते, क्योंकि योरुप तथा भारत दोनों ही जगह उन्हें बुरी तरह हारना पड़ रहा था । परिस्थिति को तो सँभाल लिया गया और भारत में अंग्रेजों को भागना नहीं पड़ा इसके मुख्य कारण दो हैं : एक कारण तो यह था कि हेस्टिंग्स शान्तिपूर्वक साधन जुटाता रहा और बड़ी कूटनीति से काम लेता रहा और दूसरा कारण यह था कि भारतीय राजाओं में राष्ट्रीयता की भावना न थी वरन् सब अलग-अलग अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हुए थे । यह उच्च देशभक्ति की संकुचित व्यक्तियों पर विजय थी । यह विजय ऐसी भयावह परिस्थिति में हुई कि वारेन हेस्टिंग्स को, जैसे कि हम ऊपर कह चुके हैं, अवध व बनारस के शासकों के साथ ऐसे क्रूर और जाली साधनों का प्रयोग करना पड़ा जिनके कारण उसके नाम पर सदा के लिए कलंक का टीका लग गया ।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट : ऊपर जो वृत्तान्त दिये गए हैं उनसे स्पष्ट हो गया होगा कि रैग्युलेटिंग ऐक्ट में बहुत-सी बुराइयाँ थीं जिनमें सुधार की शीघ्र ही आवश्यकता थी । इसके अतिरिक्त हेस्टिंग्स के शासन की बड़ी आलोचना हुई । १७८२ में बंगाल के न्याय-शासन की जो जाँच हुई और जिन कारणों से कर्नाटक का युद्ध हुआ, उन सबको दृष्टि में रखते हुए पार्लियामेंट में हेस्टिंग्स को वापस बुलाने का प्रस्ताव रखा गया । इसी बीच राकिंघम की मिनिस्ट्री समाप्त हो गई और फाक्स तथा नार्थ की मिली-जुली सरकार बन गई (१७८३) जिसने गवर्नर-जनरल को बचा लिया । उसी वर्ष फाक्स ने इण्डिया बिल पेश किया जिसका आशय गवर्नमेंट के नियन्त्रण को कड़ा करना था । पिट ने इस अवसर से लाभ उठाया, क्योंकि लोगों को मिनिस्ट्री नियन्त्रण से व इसके दुष्परिणामों से भय हो गया था और इसी बिल पर मिनिस्ट्री टूट गई । उधर मिनिस्ट्री नष्ट हो गई और अनुदार दल शक्तिशाली बन गया तथा छोटा पिट प्रधान मंत्री बन गया । १७८४ में पिट ने अपना इण्डिया

ऐक्ट पास करा लिया जिसके अनुसार छः सदस्यों का एक कन्ट्रोल-बोर्ड बना जिसका प्रधान मिनिस्ट्री का एक सदस्य होता था। भारत का शासन-सूत्र अब कन्ट्रोल बोर्ड के प्रधान के हाथों में चला गया जिसको भारत के समस्त मामलों की देखभाल के अधिकार दिए गए थे। जो आज्ञाएँ भारत भेजी जाती थीं उनमें डायरेक्टरों को बोर्ड का परामर्श अवश्य लेना पड़ता था। आवश्यक और गुप्त मामलों में बोर्ड बिना डायरेक्टरों को सूचना दिए ही सीधी आज्ञाएँ भारत भेज सकता था। गवर्नर-जनरल, काउन्सिल के सदस्यों व उसके प्रधान की नियुक्ति बिना बादशाह की अनुमति के नहीं हो सकती थी। भारत का शासन गवर्नर-जनरल व तीन व्यक्तियों की काउन्सिल के अधीन किया गया था। तीनों प्रेसीडेन्सियों (प्रान्तों) को युद्ध, आय व कूटनीतिक विषयों में स्पष्ट रूप से बंगाल की सरकार के अधीन रखा गया। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह काउन्सिल के निर्णय को अस्वीकृत कर दे। इस प्रकार इस ऐक्ट से भारत की सरकार पर पार्लियामेंट का पूरा नियन्त्रण हो गया।

वारेन हेस्टिंग्स पर दोषारोपण तथा उसका त्यागपत्र

हेस्टिंग्स १७८५ के आरम्भ में ही त्याग-पत्र दे चुका था परन्तु ज्योंही उसके पास पिट्स इंडिया ऐक्ट के समाचार पहुंचे वह तुरन्त अपने पद को छोड़कर इंगलैंड के लिए चल पड़ा। हेस्टिंग्स के चरित्र के विषय में ब्रिटिश व भारतीय विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। और बहुत हद तक यह दोनों देशों के विद्वानों के वाद-विवाद का विषय बना रहा है। प्रायः समस्त अंग्रेज लेखकों ने रुहेलों, अवध की बेगमों व राजा चेतसिंह के साथ हेस्टिंग्स के अन्यायपूर्ण, क्रूर और मनमाने व्यवहार को छिपाने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह सच होते हुए भी जिन परिस्थितियों का वर्णन किया गया है उनमें कोई भी मनुष्य हताश हो सकता है, फिर भी गवर्नर-जनरल के उन कार्यों का समाधान नहीं हो सकता, जिनके द्वारा उसने मनमाने तौर से बेचारे असहाय लोगों को बुरी तरह लूटा। उसकी सफाई में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कदाचित् कभी भी किसी गवर्नर-जनरल की स्थिति इतनी जटिल नहीं बनी थी कि वह उसको 'मरता क्या न करता' की अवस्था को पहुँचा दे। हेस्टिंग्स को बड़ी ही विचित्र परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था—जैसे इंगलैंड का सहायता देने से बिलकुल इन्कार कर देना, उसके कोष का रिक्त हो जाना, उस की काउन्सिल का उसके विरुद्ध होना तथा उसके कार्यों में रोड़े अटकाना और भारत की जबरदस्त शक्तियों का मिलकर उसके विरुद्ध हो जाना। साधारण मनुष्य इस जटिल समस्या को हल करने में नितान्त असफल रहता। किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, ये परिस्थितियाँ उसके दुष्कार्यों का समाधान नहीं कर सकतीं। इधर यह कहना भी उचित होगा कि भारत में अंग्रेजी राज्य की विकट खतरे से रक्षा उसी की अलौकिक योग्यता, परम कूटनीतिज्ञता और साहस ने की, यद्यपि ऐसा करने में उन उपायों से काम लेना पड़ा जो अधार्मिक, लज्जाजनक व नीति-विरुद्ध थे। यह चित्र का दूसरा पहलू है कि हेस्टिंग्स ने जो कुछ किया, अपने देश और जाति के हित

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के लिए किया, जबकि उसके समकालीन भारतीय अपने-अपने नीच स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही संघर्ष कर रहे थे। उस समय भी, जबकि भारत में समस्त अंग्रेज-समाज पतित और भ्रष्ट हो रहा था, हेस्टिंग्स ने व्यक्तिगत लालच में पड़कर व स्वार्थ के लिए कोई भी कार्य नहीं किया।

किन्तु हमें युद्ध और कूटनीति की धुँधली कालिमा में हेस्टिंग्स की महान् रचनात्मक वृद्धि को नहीं ढक देना चाहिए। अनेक कठिनाइयों और जटिलताओं के होते हुए भी रचनात्मक कार्य में पूरे उत्साह से लगा रहा। यदि क्लाइव को भारत में ब्रिटिश राज्य की नींव डालने वाला कहा जाता है तो वारेन हेस्टिंग्स अवश्य ही शासन में सुधार करने वाला तथा वर्तमान साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं की नींव डालने वाला था। उसने हिन्दू व मुस्लिम कानूनों का संक्षिप्त संग्रह तैयार कराया तथा भारत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद करवाया। वह स्वयं पूर्वी भाषाओं के पढ़ने का शौकीन था तथा उसी का संरक्षण पाकर सर विलियम जोन्स प्रथम अंग्रेज विद्वान था, जिसने संस्कृत पढ़ी तथा १७७४ में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (Asiatic Society of Bengal) की नींव डाली। किसी आधुनिक विद्वान् ने हेस्टिंग्स के विषय में लिखा है, "अपने कार्य में सदा तत्पर रहता था, कम्पनी का पूर्ण भक्त था, भारतीय विचारों से परिचित था, अपने कार्य में योग्य और दक्ष था तथा कम्पनी के अन्य कर्मचारियों में मत बटोरने के लिए जो होड़-सी लगी हुई थी, दोष से वंचित था।"

लार्ड कार्नवालिस : १७८६ में कार्नवालिस के आने तक काउन्सिल के एक उच्च सदस्य ने अस्थायी रूप से गवर्नर-जनरल के पद पर कार्य किया। उसका नाम सर जॉन मैक्फर्सन (Sir John Macpherson) थीं। कार्नवालिस पर अंग्रेजों को पूर्ण भरोसा था, अतएव पार्लियामेंट के एक ऐक्ट के अनुसार यह भारत का गवर्नर-जनरल व कमान्डर-इन-चीफ बनाकर भेजा गया। आवश्यकता के समय वह काउन्सिल की सत्ता की अवहेलना कर सकता था।

कार्नवालिस के सुधार : हेस्टिंग्स के अधीन शासन-प्रणाली बहुत भ्रष्ट हो चुकी थी और उसमें अनेक बुराइयां भरी पड़ी थी। कार्नवालिस ने उनको दूर करने के लिए तुरन्त ही सुधार किए। कम्पनी के कर्मचारियों को तीन प्रकार से धन का लाभ होता था। उनको (१) नियत वेतन मिलता था, (२) बंगाल की आय पर कमीशन मिलता था तथा (३) अपने निजी व्यापार का मुनाफा मिलता था जिसको करने की उनको छूट मिली हुई थी। उनको सब मिलाकर कितना धन प्राप्त होता था, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि बनारस के एक राज्याधिकारी को १००० रुपये मासिक वेतन मिलता था किन्तु उसे अप्रत्यक्ष रूप से ४० हजार पौंड और प्राप्त होते थे। नौकरी से अवकाश पाने पर कम्पनी के कर्मचारियों को कोई पेन्शन नहीं दी जाती थी। कार्नवालिस ने कमीशन की कुप्रथा बन्द कर दी किन्तु उनका वेतन काफी बढ़ा दिया। उसने कलक्टरों के शासन व न्याय के अधिकारों को पृथक-पृथक

कर दिया और उनके कर्तव्य तथा पद लगभग उसी तरह के हो गए जैसे कि ब्रिटिश शासन में बाद में बने। कम्पनी के कर्मचारियों के पदों में क्रमशः सुधार होकर उन्होंने इंडियन सिविल सर्विस (Indian Civil Service) का रूप ले लिया।

न्यायालयों के सुधार में वारेन हेस्टिंग्स ने जिस कार्य को आरम्भ किया था उसको कार्नवालिस ने पूरा किया। कर वसूल करने और न्याय का कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सौंपा गया। अनेक स्थानीय व प्रान्तीय न्यायालय खोले गये, जिनमें (१) छोटे न्यायालय साधारण ऋण की वसूली के लिए थे जिनका प्रधान देशी कमिश्नर होता था, (२) जिले अथवा नगर का न्यायालय होता था जिसमें अंग्रेज जज तथा भारतीय असेसर होते थे, (३) चार प्रान्तीय न्यायालय थे जिनमें से प्रत्येक में तीन यूरोपियन जज व भारतीय असेसर होते थे तथा (४) अपील करने का न्यायालय अथवा सदर दीवानी अदालत थी जिसमें गवर्नर-जनरल व कलकत्ता काउन्सिल के सदस्य होते थे। इसी प्रकार फौजदारी अदालतें थीं जिन सबके ऊपर सदर निजामत अदालत थी जो अपील सुनती थी। इस प्रकार नायब नाजिम का न्याय का अधिकार समाप्त हो गया। जजों के पथ-प्रदर्शन के लिए नियमों का एक वृहद संग्रह तैयार किया गया।

स्थायी बन्दोबस्त

किन्तु कार्नवालिस का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था राज्य की आय-पद्धति में सुधार। हम कह चुके हैं कि हेस्टिंग्स ने अन्त में ऐसी प्रणाली बनाई जिसके अनुसार किसानों की भूमि हर साल कर देने वाले ठेकेदारों को बेच दी जाती थी। भूमि जोतने वाले किसानों में यह सन्देह बना रहता कि अगले वर्ष उनको भूमि मिलेगी अथवा नहीं, अतएव वे अपनी पूंजी इस कार्य में नहीं लगाते थे और राज्य की आय घट गई थी। कार्नवालिस ने अनुभव किया कि खेती व व्यापार दोनों का ह्रास हो रहा है। जमींदार व रैयत दोनों ही निर्धन होते जा रहे थे जबकि सूबेदार खूब उन्नति कर रहे थे। कार्नवालिस ने बंगाल-निवासी जॉन शोर (John Shore) की सहायता से भूमि-कर के प्रश्न का तीन वर्ष तक खूब अध्ययन किया और १७८९ में दस वर्षीय बन्दोबस्त बनाया गया और वही प्रणाली १७९३ में स्थायी बना दी गई। स्थायी बन्दोबस्त से यह तात्पर्य था कि नियत वार्षिक रकम जमींदारों से वसूल की जाय तथा उस रकम को कभी भी बढ़ाया न जाय।

लार्ड कार्नवालिस ने यह स्थायी बन्दोबस्त बहुत सोच विचार और धैर्य से बनाया था। इसमें उसे बहुत से स्थायी अफसरों का समर्थन प्राप्त हुआ। यह बन्दोबस्त बहुत वर्षों की जाँच-पड़ताल के बाद तैयार हुआ और इसमें कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स, प्रधान मन्त्री पिट और बोर्ड आफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष (प्रेसीडेन्ट) डुन्डाज ने भी इसे पूर्ण समर्थन और सहयोग दिया।

जमींदार अपने अधिकार की भूमि पर एक निश्चित वार्षिक लगान देने लगे जिसमें कोई वृद्धि नहीं हो सकती थी। उन्हें अपनी भूमि पर परिमित मालिकाना

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अधिकार मिले। उनके हाथ से न्याय-सम्बन्धी अधिकार (मजिस्ट्रेट के अधिकार) छीन लिये गये। जब तक वे लगान देते रहते तब तक सरकार अपने आसामियों के साथ उनके पारस्परिक सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करती थी। किन्तु मालगुज़ारी वसूल करने के लिए उनकी भूमि का कोई भाग बेचा जा सकता था। स्थायी बन्दोबस्त के गुण-दोषों के विषय में इतिहासकारों में काफी मतभेद है। आर० सी० दत्त का कहना है कि भारत में अंग्रेजों के तमाम कार्यों में से स्थायी बन्दोबस्त सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण तथा सफल कार्य था। इससे जनता के आर्थिक कल्याण की भी रक्षा हो गई। मार्शमेन के अनुसार यह बड़ा साहसिक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण उपाय था। इसका परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या में वृद्धि हुई, कृषि अधिक फैली और लोगों की आदतों और आराम में सुधार हुआ। कुछ इतिहासकारों ने इसकी निन्दा करते हुए इसे दुखद भूल कहा है। जमींदार नियत समय पर मालगुजारी नहीं चुका पाते थे, और किसानों को इससे कोई लाभ नहीं पहुंचा जिससे निस्सन्देह ही इसमें दोष और गुण दोनों ही थे।

गुण

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के योग्यतम पदाधिकारी न्याय-सम्बन्धी कार्य करने के लिए स्वतन्त्र कर दिये गए। अब उन्हें मालगुजारी से सम्बन्धित कार्यों में समय व्यतीत नहीं करना पड़ता था।

बन्दोबस्त के राजनीतिक लाभों ने उसकी आर्थिक हानियों की पूर्ति कर दी। जमींदार जो भूमि के स्वामी बन गए, विद्रोह के समय में अंग्रेज सरकार के भक्त बने रहे। उनकी एक श्रेणी बन गई जो बिना परिश्रम के प्रचुर धन कमाने लगे।

समय बीतने पर ये जमींदार अमीर हो गए। उन्होंने उद्योग और व्यापार में पैसा लगाना शुरू किया, जिससे यद्यपि सरकार भविष्य में मालगुजारी नहीं बढ़ा सकी किन्तु उसने अन्य टैक्स लगाकर इन लोगों से काफी पैसा वसूल किया। साथ-ही-साथ यह बन्दोबस्त परोक्ष रूप में भारत की अर्थ-व्यवस्था को आधुनिक बनाने में सहायक सिद्ध हुआ।

राज्य को अब वार्षिक नीलामियों के परिणामों की चिन्ता करने की आवश्यकता न रही। सरकार की आय निश्चित हो गई। यदि जमींदार समय पर लगान अदा न कर पाते तो उनकी भूमि का कुछ भाग बेचकर रुपया वसूल कर ही लिया जाता था। ज़मींदारों को पता ही होता था कि उनको सरकार को कितना रुपया देना है। यदि वे अपनी भूमि में अधिक परिश्रम करते और आधुनिक पूंजी लगाते तो उनको अधिक लाभ होता था।

अवगुण

कार्नवालिस बंगाल में अंग्रेज जमींदारों की एक श्रेणी बनाना चाहता था, किन्तु वास्तव में उसने आयरलैंड-निवासियों के जमींदारों की एक श्रेणी पैदा कर

दी। वे अनुपस्थित जमींदार (Absent Landlords) थे जो अपनी भूमि से दूर कलकत्ता अथवा अन्य नगरों में रहते थे।

सरकार ने उस समय अनुमान लगाया कि भूमिकर में उसे ४½ करोड़ रुपये की कमी हुई है और भूमि का मूल्य बढ़ाने से सरकार की आय में भी जो वृद्धि होती वह भी सदा के लिए जाती रही।

स्थायी बन्दोबस्त का तात्कालिक परिणाम जमींदारों के लिए बहुत बुरा हुआ, क्योंकि जो जमींदार किसानों से लगान वसूल करके सरकार को समय पर भूमिकर न दे सके उनकी भूमि बेच दी गई। किन्तु जो जमींदार बच गए उन्हें सरकार या किसान दोनों की अपेक्षा अधिक लाभ हुआ। जो ऐक्ट द्वारा केवल कर उगाहने के लिए ठेकेदार थे वे ही जमीन के मालिक बन बैठे।

स्थायी बन्दोबस्त में किसानों के अधिकारों की ओर कोई ध्यान न दिया गया। वे जमींदारों के पंजे में फँस गए। जमींदार जब चाहते, अपने आसामियों को निकाल सकते थे। वे उनसे मनमाना लगान भी वसूल करते। जमींदार सरकार के आदेशों की अवज्ञा करते थे। वे रजिस्टर नहीं रखते थे और बहुत कम अवसरों पर पट्टा देते थे। कुछ समय बाद जमींदारी कानूनों (Tenancy Acts) के पास होने पर कृषकों की दशा कुछ सुधरी।

जमींदार और किसानों के बीच मुकदमेबाजी में बहुत कुछ धन व्यय होता था, क्योंकि सन् १८९३ तक बंगाल में भूमि की पैमाइश-सम्बन्धी कोई रिकार्ड नहीं रखे जाते थे।

कार्नवालिस की योजना का सबसे बड़ा अवगुण यह था कि उसने भारतीयों को समस्त जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया था। भारतवासियों का वेतन बहुत कम रखा गया। यह अन्तर, जो आरम्भ में भारतीयों व अंग्रेजों के वेतन में रखा गया, ब्रिटिश राज्य के अन्त तक चलता रहा, जिसका बुरा प्रभाव बहुत कुछ अंशों में समस्त शासन-प्रणाली पर पड़ा। जिस शासन का ढांचा हेस्टिंग्स ने बनाकर खड़ा किया था उसकी रूपरेखा को कार्नवालिस ने सर्वथा बदल दिया।

विदेश-नीति—मैसूर की तीसरी लड़ाई : कार्नवालिस जिस समय इंगलैंड से चला था तो निर्णय करके आया था कि वह अपनी नीति शान्तिपूर्ण रखेगा तथा भारतीय राजाओं के मामलों में तटस्थ रहेगा। किन्तु बड़े अचम्भे की बात है कि उसने अपनी नीति सहसा त्यागकर टीपू के विरुद्ध निजाम से षड्यन्त्र किया और उससे कहा कि यदि वह मैसूर पर आक्रमण करेगा तो वह उसकी सहायता करेगा। टीपू को आत्म-रक्षा के लिए शस्त्र उठाने पड़े। उसने फ्रैंच व टर्किश राज्यों से सहायता की प्रार्थना की तथा ट्रावनकोर के राजा पर आक्रमण कर दिया जो अंग्रेजों का मित्र था। इससे अंग्रेजों को उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने का अवसर मिल गया। कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध निजाम व पेशवा से गठबन्धन कर लिया (१७९०)। पहली सेना, जो जनरल मीडोज की अध्यक्षता में भेजी गई, परास्त

हुई । अतएव कार्नवालिस ने सेना की कमान अपने हाथ में ली । टीपू युद्ध के लिए हर तरह से सुसज्जित था । कार्नवालिस ने बंगलौर पर अधिकार कर लिया किन्तु टीपू की राजधानी श्रीरंगापट्टम से उसे दुम दबाकर भागना पड़ा । तब तीसरा आक्रमण किया गया । निज़ाम, पेशवा व अंग्रेजों की सम्मिलित सेना ने श्रीरंगापट्टम को घेर लिया । टीपू को विवश होकर सुलह की प्रार्थना करनी पड़ी । फलस्वरूप श्रीरंगापट्टम की संधि १७९२ में हुई । संधि की शर्तों के अनुसार टीपू को अपने राज्य का आधा प्रदेश देना पड़ा, लगभग ३ करोड़ रुपया जुरमाना देना पड़ा तथा अपने दो लड़के अंग्रेजों के यहाँ बंधक रखने पड़े । युद्ध की लूट का माल तीनों मित्रों ने बाँट लिया । भूमि का बड़ा बड़ा भाग अंग्रेजों को मिला जिसमें मालावार, कुर्ग, डिण्डीगल और बड़ामहल सम्मिलित थे, जिससे उनके अधिकृत प्रदेश का काफी विस्तार हो गया । मरहठों को उत्तर-पश्चिम का थोड़ा-सा प्रदेश मिला और निजाम को मैसूर के उत्तर-पूर्व का प्रदेश मिला । नकद रुपया सबने बराबर बाँट लिया । किन्तु निज़ाम तथा पेशवा ने देशी राजा के विरुद्ध विदेशियों से मित्रता करके सिद्ध कर दिया कि उनमें न तो देश-प्रेम की भावना थी और न राजनीतिक दूरदर्शिता थी और इस प्रकार उन्होंने स्वयं को व देश को विदेशियों के पंजे से बचाने का अवसर खो दिया जो उनको बराबर अपने बन्धन में जकड़ता जा रहा था ।

कार्नवालिस को उसकी सेवाओं के लिए 'मारक्विस' की उपाधि दी गई । उसने १७९३ के अन्त में भारत से प्रस्थान किया और उसका स्थान सर जॉन शोर ने लिया । इसी वर्ष कम्पनी का राजपत्र (Charter) २० वर्ष के लिए बदला गया और कम्पनी का व्यापार का एकाधिकार बना रहा । केवल ३,००० टन माल ढोने का अधिकार निजी जहाज वालों को दे दिया गया ।

सर जॉन शोर (१७९३-९७) : गवर्नर-जनरल के पद पर पाँच वर्ष तक आसीन रहा । उसके समय में कोई विशेष घटना नहीं हुई । उसने शांति और तटस्थ रहने की नीति अपनाई तथा देशी राजाओं को अपने मामलों को स्वयं तय करने के लिए छोड़ दिया । किन्तु इस काल में ब्रिटिश राजनीति ने वह रूप धारण किया जिसके कारण कम्पनी का प्रभुत्व देशी राजाओं पर छा गया । केवल एक ही अवसर पर शोर को देशी राजाओं के मामले में हस्तक्षेप करना पड़ा था जब कि अहमदशाह अब्दाली के पोते जमानशाह ने अवध पर १७९६ में आक्रमण किया । जमानशाह ने लाहौर पर अधिकार कर लिया और आसफुद्दौला १७९७ में मर गया । शोर सीमांत प्रदेश की रक्षा के लिए चिंतित था । उसने आसफुद्दौला के दासी-पुत्र को गद्दी पर बिठाया । नए नवाब के साथ पुनः संधि की गई जिसके अनुसार नवाब को इलाहाबाद अंग्रेजों को देना पड़ा और अंग्रेजों ने ७६ लाख रुपये वार्षिक लेकर अवध की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया । नवाब ने वचन दिया कि वह किसी विदेशी राज्य से सम्पर्क नहीं रखेगा । इस प्रकार शान्त और तटस्थ शोर ने भी कम्पनी के कोष में अपार धन भरा । यह शोर ही था जिसने निजाम को अपने संरक्षण में लेकर

उससे वचन लिया था कि वह किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध नहीं रखेगा जिससे एक नई प्रथा चल पड़ी जो उसके बाद वेलेजली के शासन-काल में परिपक्व हो गई।

खरदा की लड़ाई : सर जॉन शोर ने मरहठों के भय तथा पार्लियामेंट के १७८४ के ऐक्ट के अनुसार देशी रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति को इस हद तक पहुँचाया कि जब अंग्रेजों के मित्र निज़ाम पर पेशवा, सिंधिया और होल्कर ने मिलकर १७९५ में हमला कर दिया तो जॉन शोर ने निज़ाम को सहायता देने से इन्कार कर दिया। अंग्रेजों ने निज़ाम से संधि करके उसको सहायता देने की शर्त स्वीकार की थी, परन्तु शोर ने उस संधि के बड़े गोल-मोल शब्दों में अर्थ निकालकर उसकी अवहेलना की। निज़ाम मराठों से खरदा के स्थान पर बुरी तरह परास्त हुआ।

Questions

1. Indicate the growth of British power in India under Warren Hastings.

   वारेन हेस्टिंग्स के अधीन ब्रिटिश शक्ति का भारत में जो अभ्युदय हुआ उसका वर्णन करो।

2. Discuss briefly the part played by Warren Hastings and the circumstances leading to the Rohilla War, Nand Kumar's execution and the treatment met out to the Begams of Oudh and Raja Chet Singh.

   रुहेला युद्ध, नन्दकुमार को फांसी और अवध की बेगमों तथा राजा चेतसिंह के साथ जो व्यवहार किया गया ये सब घटनाएँ किन परिस्थितियों के कारण हुईं तथा वारेन हेस्टिंग्स का इनमें कितना हाथ रहा ?

3. Explain why the enactment of Pitt's India Bill became necessary and describe the changes made through the Bill.

   पिट्स इण्डिया बिल के बनाने की आवश्यकता क्यों हुई और इस अधिनियम से क्या परिवर्तन हुए, बताओ।

4. What is your opinion regarding the Permanent Settlement of Bengal ?

   बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त के विषय में तुम्हारी क्या राय है ?

अध्याय २५

भारत पर अंग्रेजों के प्रभुत्व की स्थापना

मरहठे और अंग्रेज

हम देख चुके हैं कि पेशवा माधवराव की मृत्यु के पश्चात् मरहठों का संघ छिन्न-भिन्न हो गया । मरहठों की पहली लड़ाई में गायकवाड़ और सिंधिया ने अंग्रेजों के साथ अलग-अलग संधि करके स्पष्ट कर दिया था कि वे पेशवा को अपना स्वामी नहीं मानते । यद्यपि मरहठों के संघ में फूट पड़ गई थी और उनमें परस्पर संगठन नहीं रहा था, तो भी मरहठा संघ का नेतृत्व बड़े योग्य व राजनीतिज्ञ शासकों द्वारा किया जा रहा था जिनकी देख-भाल में मरहठों की शक्ति तब भी प्रचुर मात्रा में बनी हुई थी । ये शासक थे—अहिल्याबाई, जो इन्दौर की प्रसिद्ध रानी थी (१७६५-१७९५), महादाजी सिंधिया (१७६१-१७९४) और नाना फड़नवीस (१७६३-१८००) । **अहिल्याबाई** मल्हारराव होल्कर की पतोहू थी तथा अल्पायु में विधवा हो गई और शीघ्र ही जब १७६५ में मल्हारराव की मृत्यु हो गई तो होल्कर वंश की एकमात्र उत्तराधिकारिणी रह गई । उस समय से लेकर उसने ३० वर्ष तक अपने राज्य का शासन इतनी उत्तम रीति से किया कि उसकी भी प्रतिष्ठा बढ़ी तथा प्रजा भी सुखी रही । सर जॉन **मालकम** (Sir John Malcolm) ने उसके विषय में लिखा है, "अपने राज्य के आन्तरिक शासन में अहिल्याबाई को अद्भुत सफलता मिली थीं······उसका राज्य बाहरी आक्रमणों से बचा रहा । इससे अधिक प्रशंसनीय यह बात है कि उसके राज्य में पूर्ण शान्ति बनी रही ।······उसके जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य था अपने आस-पास के लोगों को समृद्ध बनाना······उसने सर्वसम्मति से मालवा में आदर्श सरकार कायम की·········उसके चरित्र को यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो वह अपने छोटे-से राज्य की सबसे पवित्र और आदर्श रानी थी ।" उसके समकालीन सभी राजा उसको समान आदर की दृष्टि से देखते थे । दक्खन का निज़ाम टीपू सुल्तान भी उसको वैसा ही आदर देते थे जैसा कि पेशवा । मुसलमान भी हिन्दुओं के साथ मिलकर उसके दीर्घ जीवन की कामना किया करते थे । छोटे-बड़े सभी राज्यों के दूत उसके दरबार में रहते थे और उसके निजी मन्त्री पूना, हैदराबाद, श्रीरंगपट्टम और अन्य सब दरबारों में रहते थे ।

दूसरा प्रसिद्ध मरहठा राजा महादाजी सिंधिया था । वह एक अत्यन्त साधारण अवस्था से ऊपर उठा था । उसने सर्वप्रथम पेशवा के जूते उठाने का कार्य

करना आरम्भ किया था, परन्तु केवल अपनी अपार योग्यता के कारण अपने समय के मरहठे सरदारों में सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली बन गया। १७८४ में सतलज से लेकर आगरा तक का हिन्दुस्तान उसके वश में था। मालवा और दक्खन में कई अमूल्य प्रदेश उसके अधीन थे और उसके पास एक उत्तम सेना थी, जिसको एक प्रवीण साहसी मनचले फ्रेंच सैनिक डिबोइन (De-Boigne) ने शिक्षा दी थी। महादाजी राजनीति में विज्ञ था और उसकी उन्नति करने की महत्वाकांक्षा कभी शांत नहीं होती थी। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १७७१ में उसने सम्राट् शाहआलम को अपनी सुरक्षा में दिल्ली पहुँचाया था और एक प्रकार से उसे अपने हाथों में बन्दी कर रखा था, किन्तु उसने अपनी कूटनीति का प्रदर्शन उस समय खूब किया जब कि उसने शाहआलम से पेशवा के लिए दिल्ली के साम्राज्य के प्रतिनिधि राजा का पद और अपने लिए उसके नायब का पद स्वीकार कर लिया। १७९२ में वे उपाधियां सदैव के लिए उनकी बपौती बन गईं। उसने यह अनुभव कर लिया था कि गत युद्ध में मरहठों ने मैसूर के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता देकर बड़ी भूल की थी और पेशवा से विनती की कि वह टीपू सुल्तान से अपने सम्बन्ध दृढ़ करे। इसके पूर्व कि उसके राजनीतिक स्वप्न सत्य हों, १७९४ में उसकी मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी दौलतराव था जो बहुत ही निकृष्ट युवक था।

एक और भी व्यक्ति पूना में निवास करता था जिसके चारों ओर मरहठों का संघ केन्द्रित था। इसका नाम नाना फड़नवीस था और शिशु माधवराव नारायण पेशवा के स्थान पर जो काउन्सिल शासन कर रही थी उसका मुखिया था। यह नाना की ही राजनीतिक बुद्धि का परिणाम था कि १७८२ में जो सलबई की सन्धि हुई थी जिसकी शर्तें मरहठों के बहुत-कुछ हित में थीं। किन्तु नाना की सारी राजनीतिक प्रवीणता अपनी पड़ोसी मुस्लिम रियासतों को नष्ट करके अपने राज्य को बढ़ाने की अभिलाषा में ही व्यय हो गई। उसने यह सबसे बड़ी राजनीतिक भूल की थी। अपनी इसी नीति के कारण उसने टीपू के विरुद्ध अंग्रेजों व निज़ाम से सांठ-गाँठ की थी। इसके पश्चात् उसने निज़ाम की रियासत को लूटने का उपाय किया। सर जॉन शोर अपनी तटस्थता की नीति पर दृढ़ था, अतएव उसने निज़ाम को सहायता देने से इन्कार कर दिया, यद्यपि निज़ाम उसका मित्र-राष्ट्र था। निज़ाम को खरदा के युद्ध में बुरी तरह पराजित होना पड़ा और उसको बड़ी अपमानजनक संधि करनी पड़ी। किन्तु आपसी फूट और झगड़ों के कारण मरहठे राजा इस अवसर से लाभ न उठा सके। बालक पेशवा ने नाना के संरक्षण से तंग आकर आत्म-हत्या कर ली। यह समाचार पाते ही सब मरहठे राजा पूना पर अधिकार करने के लिये दौड़ पड़े और वहाँ इतनी गड़बड़ी फैली कि नाना फड़नवीस भी बन्दी हो गया। १७९६ में बाजीराव द्वितीय पेशवा घोषित किया गया जो उसी कुख्यात राघोबा का पुत्र था जो पेशवा तथा नाना से शत्रुता रखता था। किन्तु मरहठों के दरबार में जो युद्ध की अग्नि भड़क उठी थी वह शान्त न हुई। १८०० में नाना की मृत्यु हो गई और उसी के साथ-साथ महाराष्ट्र की गम्भीरता और राजनीति की गरिमा भी समाप्त हो गई।

उसी समय जबकि एक-एक करके सभी विज्ञ मरहठे राजनीतिज्ञ और शासक मृत्यु के ग्रास बन रहे थे अंग्रेज कम्पनी की पतवार वेलेजली (Wellesly) के हाथों में आ गई।

लार्ड वेलेजली (१७९८-१८०५) : वेलेजली जब भारत आया तो अपेक्षाकृत जवान था। वह ग्रीक, रोमन आदि प्राचीन भाषाओं का धुरन्धर विद्वान् था और उसकी बुद्धि अत्यन्त विलक्षण थी, यद्यपि वह अपने छोटे भाई के समान जो उससे अधिक प्रसिद्ध हुआ, चरित्रवान न था। वह उस समय भारत आया जबकि शोर की तटस्थ रहने की नीति भारत में टूटने ही वाली थी। उसने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया और उद्धत नीति का अवलम्बन लिया।

इस समय तक भारत में अंग्रेजों की शक्ति यहाँ तक वढ़ी कि बड़ी-बड़ी शक्तियों के बराबर हो चुकी थी, विशेषकर मरहठों के। वेलेजली के समय से पहले कम्पनी और देशी राजाओं के जो सम्बन्ध थे अब उनमें एकदम परिवर्तन होने लगा। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अंग्रेजों को ऐसा करने का समुचित अवसर हाथ आ गया, क्योंकि देशी राजा कमजोर थे, उनका कोई योग्य नेता न था और वे सब परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। अतएव वेलेजली ने भारत में अंग्रेजों की शक्ति को सर्वोपरि बनाना चाहा और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने युद्ध करके अपने राज्य का विस्तार करने की नीति को अपनाया। अवध के साथ शोर ने जिस प्रणाली का श्रीगणेश किया था उसको पूर्णरूप दे दिया। वेलेजली ने अपनी सुप्रसिद्ध 'अधीन मित्र-राष्ट्र' प्रणाली बनाई।

अधीन मित्र राष्ट्र प्रणाली अथवा सहायक सन्धि (Subsidiary Alliance) : इसका अर्थ था कि विदेश-नीति तथा विदेशियों से सम्बन्ध स्थापित करने आदि विषयों में मित्रराष्ट्रों को ब्रिटिश सरकार के अधीन रहना पड़ेगा तथा कम्पनी की सेना उनके राज्यों में रहेगी, जिसका व्यय प्रत्येक राज्य को देना पड़ेगा और यदि उनके यहाँ कोई अन्य विदेशी अफसर हो तो उसको निकाल देना पड़ेगा। जो राज्य इस योजना अथवा प्रणाली को स्वीकार करेंगे वे किसी भी अन्य राज्य से संधि व युद्ध नहीं कर सकेंगे वरन् उनके झगड़ों में अंग्रेज मध्यस्थ बनेंगे। सेना का व्यय वह या तो भूमि देकर चुका सकते थे अथवा नकद रकम देकर।

इस योजना को स्वीकार करने वाला सर्वप्रथम महत्वपूर्ण भारतीय शासक निज़ाम था (१८००)। उसने उस सेना को भंग कर दिया जिसको उसके एक फ्रांसीसी कर्मचारी ने शिक्षा दी थी और उसने दस हजार सैनिकों की अंग्रेज सेना रखने का वादा किया जिसके व्यय के लिए उसने बरार का प्रदेश दे दिया।

सहायक सन्धि में दोष भी थे और गुण भी। इसमें सन्देह नहीं कि इससे अंग्रेजों की आय के साधन बढ़ गए थे, जिसके फलस्वरूप वे भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली हो गये थे। जिन देशी राजाओं ने सहायक संधि मान ली, उनसे प्राप्त धन अथवा प्रदेशों के द्वारा अंग्रेज कम्पनी बहुत बड़ी सेना बनाने और रखने में समर्थ हुई, जिनके द्वारा उसने न केवल अपने प्रतिद्वन्द्वियों को ही हराया वरन् भारत में

अंग्रेजी राज्य की नींव भी दृढ़ की और उसे भली-भाँति संगठित कर लिया। इस उपाय से अंग्रेज कम्पनी ने अपनी सैनिक सीमा अपनी राजनीतिक सीमा से भी आगे बढ़ा ली और यह उसे शासन दायित्व का भार लिये बिना ही हासिल हो गया। कम्पनी के अधिकृत प्रदेश युद्ध के विनाशकारी परिणामों से बच गए। फिर युद्ध प्रायः उन्हीं प्रदेशों में लड़े गये जो इस सहायक सन्धि में सम्मिलित नहीं हुए थे। इसके अतिरिक्त सहायक संधि प्रणाली से अंग्रेज कम्पनी अन्य योरोपीय राष्ट्रों की ईर्ष्या से भी कुछ बच गई क्योंकि कानून की दृष्टि से सहायक संधि में सम्मिलित होनेवाले राज्य स्वतन्त्र थे; यद्यपि वास्तव में उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता का तो अन्त हो चुका था। फिर भी अंग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी यह नहीं कह सकते थे कि उन्होंने उन राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया है। इस प्रणाली का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि देशी राजाओं के दरबार में फ्रांसीसियों का प्रभाव खत्म हो गया। बिना ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आज्ञा पाए सहायक संधि में सम्मिलित कोई भी देश अंग्रेजों के अतिरिक्त और किसी योरुप-निवासी को अपने यहाँ नौकर नहीं रख सकता था।

सहायक संधि के दोषों की चर्चा करते हुए, इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि आकस्मिक सेना (Contingent Army) के व्यय के लिए जो धन देशी राजाओं से माँगा जाता था वह उनकी आय के साधनों की दृष्टि से बहुत अधिक होता था, जिसके फलस्वरूप देशी राजाओं को अंग्रेजी सेना के व्यय की पूर्ति के लिए अनेक अनुचित साधन अपनाने पड़ते थे। आश्चर्य नहीं कि देशी राजाओं को अंग्रेजों की माँगों की जो पूर्ति करनी पड़ती थी उसके कारण राजाओं की प्रजा को बड़े कष्ट उठाने पड़ते थे। इसलिए अंग्रेजों की सुरक्षा में जो राज्य थे वे अन्दर से खोखले होते चले गये। चूँकि देशी राजाओं को सुरक्षा का आश्वासन मिल गया इसलिए वे लापरवाह, आराम-तलब और विलासी हो गये। अब न तो उनको राजमहलों में होने वाले षड्यन्त्रों का डर था और न प्रजा के विद्रोह का। देशी राज्यों में अंग्रेजी कम्पनी के विरुद्ध घृणा फैल गई। कालान्तर में सहायक संधि में भाग लेने वाले अनेक राज्य अंग्रेजी साम्राज्य में मिल लिए गये। सहायक संधि के गुण-दोषों को दृष्टिगत रखते हुए इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह प्रणाली भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को शक्तिशाली बनाने में बहुत लाभप्रद सिद्ध हुई।

टीपू सुल्तान

वेलेजली का उद्देश्य था भारत से फ्रांसीसियों का प्रभाव दूर करना और स्थल द्वारा उनके आक्रमण के खतरे को रोक देना। निज़ाम से निबटकर उसने टीपू से कहा कि वह फ्रेंच अफसरों को निकाल दे और अपने दरबार में अंग्रेजों का एक प्रतिनिधि रखे। टीपू ने इसे अस्वीकार किया जिसके फलस्वरूप मैसूर का चौथा युद्ध हुआ। अंग्रेजों की सेना ने प्रस्थान कर दिया तथा मद्रास व हैदराबाद की सेनाएँ एक साथ मैसूर पर मिल गईं। निज़ाम की सेना का नायक गवर्नर का छोटा भाई आर्थर था जो भविष्य में ड्यूक आफ वैलिंगटन बना। टीपू ने बड़ी

वीरता से अंग्रेजों का सामना किया और अपनी राजधानी की रक्षा करता हुआ युद्ध-भूमि में सदा के लिये धाराशायी हुआ। अंग्रेजों की सेना श्रीरंगपट्टम में घुस गई और उस पर अधिकार कर लिया (१७९९)। उसके राज्य का एक भाग, जिस में कनाडा और कोयम्बटूर सम्मिलित थे, अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया और शेष भाग उस देश के प्राचीन हिन्दू राजा के वंशज को दे दिया गया।

अंग्रेज इतिहासकारों ने टीपू को जंगली तथा क्रूर बताकर बड़ा अन्याय किया है और उसके अच्छे गुणों पर परदा डाल दिया है। यद्यपि उसमें अपने पिता जैसी सैनिक बुद्धि न थी परन्तु वह चतुर और वीर योद्धा था। उसने मैसूर के दूसरे युद्ध में दो बार अंग्रेजों को पराजित करके अपने युद्ध-कौशल का परिचय दिया था। किन्तु उसमें सर्वश्रेष्ठ गुण यह था कि सिन्धिया को छोड़कर केवल वही एक मात्र ऐसा व्यक्ति था जो समझता था कि वास्तविक शत्रु अंग्रेज थे, अतएव वह जीवन-भर किसी देशी राजा के विरुद्ध अंग्रेजों से नहीं मिला। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि यदि निज़ाम और मरहठों में कुछ राजनीतिक दूरदर्शिता होती तो सब मिलकर देश के शत्रु का मुकाबला करते, जिससे भारत में अंग्रेजी राज्य बहुत पीछे पड़ जाता। अंग्रेजों के प्रति अपनी इस नीति के अतिरिक्त टीपू अन्य योरोपियनों के सम्पर्क में भी रहता था। अपने पिता के समान ही, उचित भी यही था, वह जीवन-भर अंग्रेजों का कट्टर शत्रु बना रहा और वेलेजली की योजना को स्वीकार करने की अपेक्षा मौत को अच्छा समझा।

देशी राजाओं के दुर्बल होने के कारण वेलेजली का साहस इतना बढता चला गया कि वह अन्य राज्यों को भी अपनी योजना के अधीन करे। इस काम में उसने तनिक भी धैर्य, क्षमता और उदारता का प्रदर्शन नहीं किया। उदाहरण के तौर पर विना कारण ही पूर्व की समस्त सन्धियों को भुलाकर, स्वेच्छा से ही अवध के नवाब के राज्य में एक बड़ी भारी अंग्रेजी सेना रख दी, जिसके व्यय के लिए उससे उसका आधा राज्य माँगा, जिसमें रुहेलखण्ड व गंगा-यमुना के बीच के उत्तरी प्रदेश सम्मिलित थे (१८०१)। उसी समय तरह-तरह के बहाने बताकर उसने कर्नाटक, तंजौर और सूरत के राज्यों को भी ब्रिटिश राज्य में मिला लिया और उनके शासकों की पैन्शनें बाँध दीं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, मरहठों की आपसी फूट और झगड़ों के कारण वेलेजली को उनके हड़पने का बहाना मिल गया। जसवंतराय होल्कर ने जो उस समय इन्दौर की गद्दी पर था, बाजीराव द्वितीय व दौलतराव सिन्धिया दोनों को पूना के समीप १८०२ में परास्त कर दिया। पेशवा ने इस पराजय के फलस्वरूप अंग्रेजों की शरण ली और दिसम्बर १८०२ में बसीन के सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किये गए, जिसके अनुसार मरहठा संघ का नाम-मात्र का मुखिया वेलेजली का मित्रराष्ट्र वन गया। ब्रिटिश सेना की सुरक्षा में वह पूना ले जाया गया।

अंग्रेज-मराठा युद्ध : पेशवा का अंग्रेजों के अधीन हो जाना मरहठे सरदार सहन न कर सके। उनको अनुभव हुआ कि उनकी स्वाधीनता छिन गई। किन्तु

उनमें इतनी योग्यता न रही थी कि मिलकर कोई कार्यवाही करते । होल्कर बिल्कुल अलग रहने की हठ पकड़े रहा, और गायकवाड़ और भौंसला आपस में मिलकर कार्य करने को राजी नहीं हुए । उनकी आपसी फूट उनके विनाश का कारण बनी और वे बढ़ती हुई अंग्रेजी शक्ति के शिकार बन गए । सिंधिया तथा भौंसला से कहा गया कि वे बसीन की सन्धि को स्वीकार करें । उनके अस्वीकार करने पर तुरन्त उनके विरुद्ध युद्ध की घोषणा की गई । उत्तर-भारत में अंग्रेजी सेनाओं को जनरल लेक के अधीन रखा गया तथा दक्षिण में आर्थर वेलेजली के अधीन । वेलेजली ने आसाम में सिंधिया को हरा दिया तथा भौंसले को अरगाँव में (१८०३) । उत्तर में लेक की सेना ने सिंधिया को प्रथम अलीगढ़ में परास्त किया और फिर दिल्ली के समीप तथा दिल्ली पर १८०३ में अधिकार कर लिया । शाहआलम, जो अब अन्धा और दीन-हीन था, अंग्रेजों द्वारा बन्दी किया गया । लेक ने इस सफलता के पश्चात् भरतपुर के राजा से सन्धि की तथा आगरा पर अधिकार कर लिया (अक्तूबर १८०६) और नवम्बर में सिंधिया की सेना को लस्वारी (अलवर रियासत) में अन्तिम वार परास्त किया । इन पराजयों के कारण सिंधिया तथा भौंसले को अंग्रेजों की शर्तों को मानने के लिए विवश होना पड़ा । सिंधिया ने सुर्जी अर्जुनगाँव की सन्धि पर तथा भौंसले ने देवगाँव की सन्धि पर हस्ताक्षर किये । इन सन्धियों के द्वारा गंगा व यमुना का दोआब, जिसमें दिल्ली-आगरा सम्मिलित थे, उत्तर में तथा उड़ीसा पूर्व में अंग्रेजों के हाथ लगे । दोनों राजा अंग्रेजों के मित्रराष्ट्र बन गए । इस प्रकार वेलेजली की योजना पूर्णरूप से सफल हुई और भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव दृढ़ हो गई ।

वेलेजली की नीति के परिणाम : वेलेज़ली की राज्य-विस्तार की नीति पूर्णरूप से सफल हुई और उसके समस्त शासन-काल में काफी हलचलें रहीं । १८०३ तक भारत के समस्त बड़े-बड़े राज्यों ने युद्ध व परस्पर बातचीत के द्वारा वेलेजली की योजना को स्वीकार कर लिया, जिसके फलस्वरूप वे सब-के-सब अँग्रेजों के आश्रित बन गए तथा अत्यन्त दुर्बल और क्लीव हो गए । अंग्रेजों के आश्रित बनने से देशी राजाओं पर बड़ा विनाशकारी प्रभाव पड़ा । अंग्रेजों का सहारा पाकर उन्हें न अब अपने राज्य की रक्षा की चिन्ता रही और न आन्तरिक विद्रोह का डर । अतएव वे विलासी, काहिल और फिजूल-खर्च बनते गये । वेलेज़ली की इस योजना का ही परिणाम था कि देश-भर में अनेक ठगों और डाकुओं की वृद्धि होती गई । जिन्होंने आने वाली सन्तान को बुरी तरह लूटा और सताया । इस योजना के अनुसार जिन भारतीय सरदारों व राजाओं को अपनी सेना भंग करनी पड़ती थी वे सैनिक जीविका का अन्य साधन न पाने पर लूट-खसोट, डकैती व ठगी करने लगते थे । इन धूर्तों ने अपने गुट बना लिये जिन्होंने कुछ काल के लिये देश में महान् आतंक फैलाकर उसको उजाड़ दिया । तब अंग्रेजों ने इस डकैती व ठगी को बन्द करने का सुयश कमाया । रोग तो वास्तव में उनका ही फैलाया हुआ था ।

वेलेज़ली की नीति ने अधिक-से-अधिक अनिश्चित शान्ति कायम की, किन्तु भौंसले व सिंधिया से उसने सन्धि की जो बड़ी कड़ी शर्तें रखी थीं उनके कारण ये सन्धियाँ टूटने को हो रही थीं। दूसरी ओर युद्ध के व्यय के कारण कम्पनी की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। १८०४ में होल्कर के साथ पुनः युद्ध आरम्भ हो गया। दिल्ली पर होल्कर का आक्रमण विफल हुआ और वह डीग के स्थान पर हार गया। किन्तु होल्कर के मित्र भरतपुर नरेश ने अंग्रेजों के गौरव को बड़ा धक्का पहुँचाया। उसने चार बार लगातार लेक की सेना को हराकर पीछे हटा दिया जबकि लेक ने उसके दुर्ग पर आक्रमण किया था तथा उसको सन्धि के लिए विवश किया। इन दुष्परिणामों के कारण वेलेजली को वापस बुलाया गया। डायरेक्टर उसके युद्धों से कभी प्रसन्न नहीं थे जिनमें अपार धन व्यय करना पड़ता था, परन्तु अपनी विजय के घमण्ड में वह उनकी आलोचनाओं को घृणा के साथ ठुकरा देता था। अब डायरेक्टरों को मिनिस्ट्री का भी समर्थन प्राप्त हो गया। वेलेजली को वापस बुला लिया गया। कार्नवालिस को पुनः उसके स्थान पर नियुक्त किया गया।

कार्नवालिस : १८०५ के मध्य में भारत पहुँचा। यह दृढ़ निश्चय करके आया था कि युद्धों पर व्यय घटाकर कम्पनी की आर्थिक दशा को सँभालेगा। उसने सिंधिया के साथ सुलह करने व होल्कर के साथ युद्ध बन्द करने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु वह वृद्ध था और कार्य-भार से उसका स्वास्थ्य गिर गया। वह गाजीपुर में अक्तूबर १८०५ में मर गया और स्थायी समय के लिये काउन्सिल के सर्वोच्च सदस्य सर जार्ज बारलो (Sir George Barlow) ने उसका पद संभाला।

जिस सुलह की नीति को कार्नवालिस ने अपनाया था उसी पर बारलो काम करता रहा। वह बड़ा सावधान शासक था और उसका मुख्य उद्देश्य था बचत करना। उसने सिंधिया के साथ नई सन्धि की, जिसके अनुसार कम्पनी ने चम्बल के दक्षिण के सारे प्रदेश से अपना अधिकार उठा लिया। गोआड और ग्वालियर भी उसको दे दिये। इसके बाद यद्यपि लेक ने होल्कर को परास्त कर दिया परन्तु बारलो ने उसके साथ सन्धि कर ली और उसको राजपूताना का अधिकार दिया। इस प्रकार राजपूतों को, जो अंग्रेजों के मित्र थे, मरहठे लुटेरों की दया पर छोड़ दिया गया।

बारलो के शासन-काल में केवल एक महत्वपूर्ण घटना हुई और यह घटना थी वैलोर के सिपाहियों का विद्रोह, जो उनकी पोशाक में विचार-शून्य परिवर्तन के कारण उठ खड़ा हुआ था। किन्तु इसको शीघ्र ही दबा दिया गया। १८०७ में उसको वापस बुला लिया गया और लार्ड मिण्टो को गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया।

लार्ड मिण्टो

हम देख चुके हैं कि वेलेजली के शासन ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एक

बड़ी शक्ति से सर्वोच्च शक्ति में परिणत कर दिया था। मरहठे और टीपू की पराजय, अनेक राज्यों को अपना आश्रित बना लेने व अवध तथा निजाम के वर्ताव के कारण ईस्ट इन्डिया कम्पनी का राज्य और प्रभाव बहुत फैल गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही अंग्रेजों का अधिकार मद्रास, बंगाल, बिहार, उड़ीसा आगरा और बम्बई के कुछ भाग पर हो गया था। मरहठे यद्यपि बिलकुल नष्ट नहीं हुए परन्तु अशक्त अवश्य हो गए थे। मुगल-सम्राट कम्पनी का पेंशनयाफ्ता था। वास्तव में समस्त मुस्लिम शासक या तो पेंशनयाफ्ता अथवा आश्रित राजा बन गये थे। कोई बड़ा कदम उठाने से पूर्व अब अंग्रेज शान्ति स्थापित करना व अपने राज्य को दृढ़ बनाना चाहते थे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए बेलेजली के उत्तराधिकारी लार्ड कार्नवालिस तथा सर जार्ज बारलो ने यथाशक्ति तटस्थता की नीति अपनाई।

लार्ड मिण्टो बंगाल का गवर्नर-जनरल होकर १८०७ में आया। वह लंदन में बोर्ड आफ कण्ट्रोल का प्रधान रह चुका था और वेलेजली की हस्तक्षेप व राज्य विस्तार की नीति का सदा विरोध करता था। उसने तटस्थता तथा शान्तिपूर्ण शासन की नीति को अपनाया। किन्तु कुछ राष्ट्रीय तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से विवश होकर उसे कुछ सख्ती से काम लेना पड़ा। जहाँ तक हो सका वह भारतीय राजाओं से संघर्ष में लिप्त नहीं हुआ, किन्तु कुछ मामलों में उसको हस्तक्षेप करना पड़ा जिसका एक कारण तो यह था कि उससे पूर्व के गवर्नर-जनरलों की तटस्थता की नीति के कारण कुछ दरार पड़ गई थी और दूसरा कारण था फ्रांस तथा रूस की ओर से खतरा, जो नैपोलियन के चातुर्य के कारण अंग्रेजों की दृष्टि में बहुत बढ़ गया था।

मध्य भारत के हालात : जब तक कि अंग्रेज मरहठों का दमन करते रहे तब तक मरहठे राजाओं जैसे होल्कर और सिन्धिया ने, मध्यभारत और राजपूताना में नियंत्रण बनाये रखा। किन्तु अपनी पराजय तथा होल्कर की नादानी के कारण मरहठे राजाओं ने अपने राज्यों में न केवल अपने प्रदेशों की बढ़ती हुई अराजकता को रोकने में उदासीनता ही दिखाई वरन् अंग्रेजों की तटस्थता का लाभ उठाकर उल्टा उसमें योग दिया। राजपूताना में कुछ ऐसे हालात पैदा हो गये जिनमें मरहठों का लालच बढ़ गया और वे षड्यंत्र रचने लगे। कार्नवालिस ने अलवर व भरतपुर को छोड़कर सिन्धिया व होल्कर पर से अंग्रेजों का संरक्षण हटा लिया था। फलस्वरूप ये दोनों राजपूताना में फिर गड़बड़ फैलाने लगे तथा लोगों का रक्त चूसने लगे। उदयपुर की कृष्णा कुमारी को हस्तगत करने के लिए जयपुर व जोधपुर के राजाओं में संघर्ष हुआ। जोधपुर ने मराठों से सहायता माँगी और जयपुर ने ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की शरण लेनी चाही, किन्तु कम्पनी ने सहायता देना अस्वीकार किया। जब अंग्रेजों के बीच में पड़ने का भय जाता रहा तो अमीरखाँ और मरहठों ने राजपूताना को लूटना आरम्भ कर दिया। जब अंग्रेजों ने जयपुर, जोधपुर, कोटा तथा अन्य राज्यों की प्रार्थना को ठुकरा दिया तो मरहठों ने स्वतन्त्र तथा नर्वदा के बीच के प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया।

यह ठीक है कि मिन्टो ने राजपूताना के मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। परन्तु अन्य दिशाओं में उसे तटस्थता की नीति को त्यागना पड़ा। डकैत सरदारों ने बुन्देलखण्ड में अपनी हलचलों से काफी गड़बड़ी फैला दी थी, जिससे बुन्देलखण्ड से मिले हुए अंग्रेजों के प्रदेश को खतरा पैदा हो गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना गड़बड़ी वाले क्षेत्र में १८०७ से १८१२ तक लड़ती रही और अनेक डकैत सरदारों को परास्त किया तथा उनके अनेक दुर्गों को जीत लिया जिनमें अजयगढ़ और कालिंजर के दुर्ग भी शामिल थे। बुन्देलखण्ड में अमन हो गया किन्तु बरार में अशान्ति फैल गई। होल्कर के पिट्ठू अमीरखाँ ने, जो पिण्डारियों का मुखिया था, १८०९ में बरार पर आक्रमण किया। वहाँ का राजा कम्पनी का मित्र नहीं था। मिन्टो किसी भाँति इस निर्णय पर पहुँचा कि अमीरखाँ को रोक दिया जाय, अन्यथा डर था कि कहीं वह निजाम के प्रदेश को भी हानि न पहुँचाये, जो कम्पनी का मित्र-राष्ट्र था। ब्रिटिश सेना बरार पहुँच गई। होल्कर ने इस बात से इन्कार कर दिया कि अमीरखाँ उसका आदमी है, जिससे मरहठा युद्ध होते-होते बच गया। अमीरखाँ को बरार से भगा दिया गया तथा दक्षिण में शान्ति स्थापित हो गई। मिन्टो को परिस्थितियों से विवश होकर पेशवा व उसके आश्रित राजाओं के झगड़ों को भी निबटाना पड़ा।

सिक्खों के मामले में तो मिन्टो ने साफ-साफ अपनी तटस्थता की नीति को त्याग दिया था, जिसका कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखने पर सहज ही समझ में आ सकता है कि पूर्व में, और विशेषकर भारत में, फ्रांस और रूस से अंग्रेजों के हितों को खतरा पैदा हो गया था। नेपोलियन की दृष्टि भारत की ओर लगी हुई थी। नेपोलियन के इरादों को विफल बनाने के लिए १८०० में मालकोम को फारस भेजा गया और दोनों देशों में परस्पर रक्षात्मक सन्धि हो गई। १८०१ में प्रस्ताव रखा गया था कि फ्रांस तथा रूस मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध भारत पर चढ़ाई करें। पर यह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हुआ। १८०५ में फारस रूस से युद्ध कर रहा था। उसने अंग्रेजों से सहायता माँगी किन्तु अंग्रेजों ने इन्कार कर दिया। फारस ने तब रूस के विरुद्ध फ्रांस से सहायता माँगी। नेपोलियन ने जनरल जरडेन (General Gerdanne) को राजदूत बनाकर फ़ारस भेजा, जिसने फ्रांस तथा फारस के बीच सन्धि करा दी तथा रूस के विरुद्ध सहायता देने का पक्का आश्वासन दिया। इसके बाद शीघ्र ही यूरोप की स्थिति बदल गई। नेपोलियन ने रूस पर विजय प्राप्त की और रूस के जार ने १८०७ में उससे टिलसिट की सन्धि (Treaty of Tilsit) करली। 'फ्रांस तथा रूस मिलकर भारत पर आक्रमण करें' यह प्राचीन योजना पुनः बनाई गई। नेपोलियन की शक्ति उस समय चरम सीमा पर पहुंच गई थी और वह ब्रिटेन का सबसे कट्टर और सबसे शक्तिशाली शत्रु था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने खतरे को वास्तविक माना और उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा हेतु उस दिशा में जितने भी राजा थे उनसे रक्षात्मक संधि करना आवश्यक समझा। मिन्टो उत्तर-पश्चिमी खतरे से भली-भाँति अवगत था, अतएव उसने कई एक राजपूत भेजे, जैसे

सर चार्ल्स मेटकाफ को पंजाब के रणजीतसिंह के पास, ऐलफिन्स्टन को काबुल तथा मालकोम को फ़ारस भेजा।

अमृतसर की संधि (१८०९) : गुरु नानक (१३६९-१५३८) का चलाया सिक्खों का मत बहुत समय तक एक शान्तिपूर्ण मत बना रहा और बहुत से लोग सिक्ख बन गये, विशेषकर पंजाब के जाट किन्तु मुगलों के अत्याचारों के कारण इस मत के लोग एक सैनिक समाज में बदल गये। अठारहवीं शताब्दी में जब मुगल साम्राज्य के टुकडे होने लगे तथा अराजकता फैल गई, विशेष करके नादिरशाह (१७३९) और अहमदशाह अब्दाली (१७५६) के आक्रमणों के बाद सिक्खों को अवसर मिल गया और उन्होंने पंजाब के कई भागों पर अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। पंजाब जो सिक्खों का प्रदेश था, अठारहवीं शताब्दी के अन्त में १२ मिसलों में बँटा हुआ था और उनका शिथिल सा संघ बना हुआ था। रणजीतसिंह जिसका जन्म १७८० में हुआ था, १२ वर्ष की ही अल्पायु में शुकरचक्य नामक मिसल का अधिपति बन गया था। भारत के इतिहास में रणजीतसिंह एक बहुत ही विचित्र व्यक्ति है। वह अपने काल में विशेष गुणों का सम्मिश्रण था। वह भाग्यशाली योद्धा दृढ़ात्मा, स्वार्थी और वीर था, वह गम्भीर तथा दूरदर्शी था और अपनी शक्ति व कमियों को खूब समझता था। जब पंजाब के मध्य में रणजीतसिंह ने अपने राज्य को ठोस बना लिया तो सतलज के दक्षिण में सिक्खों की मिसलों को जीतने के लिए बढ़ा। उन मिसलों के राजाओं ने अंग्रेज से सहायता मांगी जिन्होंने मरहठों को भगा कर अपना राज्य यमुना और सतलज के बीच के प्रदेश में जमा लिया था। मिन्टो रणजीतसिंह को सतलज के पूर्व में बढ़ने से रोकना चाहता था, अतएव उसने मेटकाफ को रणजीतसिंह के पास भेजा। रणजीतसिंह ने प्रथम तो इस अवसर से लाभ उठाना चाहा, चूंकि अंग्रेज फ्रांस तथा रूस के आक्रमण से भयभीत थे, परन्तु अन्त में अमृतसर की सन्धि कर ली (१८०९)। रणजीतसिंह ने सतलज पार के सिक्खों पर से अपना प्रभुत्व हटा लिया। अंग्रेजों ने उसको आश्वासन दिया कि सतलज के पश्चिम में उससे छेड़-छाड़ नहीं की जायगी। तब से लेकर अंग्रेजों व रणजीतसिंह के सम्बन्ध (१८३९ में) उसकी मृत्यु-पर्यन्त अच्छे बने रहे। मिन्टो ने बड़ी चतुरता के साथ ही कम्पनी का राज्य यमुना से लेकर सतलज तक फैला दिया।

फ़ारस, काबुल और सिन्ध को राजदूत भेजना

लार्ड मिन्टो ने मालकोम को फ़ारस भेजा और ठीक उसी समय इंगलैंड से सर हार्टफोर्ट जॉन्स (Sir Hartford Jones) को भी फारस भेजा गया। फलस्वरूप दोनों राजदूतों में परस्पर झगड़ा हो गया। सर जोन्स ने फारस के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार अंग्रेज फ़ारस की रक्षा अन्य यूरोपियन शक्ति के विरुद्ध धन-जन से करेंगे और उसके बदले में शाह ने वचन दिया कि वह अपने राज्य में से होकर किसी भी यूरोपियन सेना को भारत की ओर नहीं बढ़ने देगा और फ्रांस के राजदूत को निकाल देगा। दूसरा राजदूत माउन्ट-स्टुअर्ट ऐलफिन्स्टन (Mount

Stuart Elphinstone) काबुल भेजा गया। यह अफगानिस्तान के अमीर शाहशुजा से पेशावर में मिला और उसके साथ सन्धि की, जिसके अनुसार अमीर ने वचन दिया कि वह फ़ारस तथा फ्रांस की सेनाओं को अपने राज्य में से होकर भारत जाने से रोकेगा। किन्तु यह सन्धि व्यर्थ ही रही; क्योंकि शीघ्र ही शाहशुजा गद्दी से उतार दिया गया और उसने भारत में शरण ली। एक और रक्षात्मक सन्धि ईस्ट इण्डिया कम्पनी और सिन्ध के अमीरों के बीच हुई, जिसमें अमीरों ने सिन्ध से फ्रांसीसियों को निकाल देने का वचन दिया। किन्तु फ़ारस. काबुल तथा सिन्ध की तीनों सन्धियाँ शीघ्र ही व्यर्थ हो गई, क्योंकि फ्रांस व रूस के आक्रमण का भय दूर हो गया, जिसका कारण था कि रूस व फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ गया था और नेपोलियन ने अंग्रेजों के विरुद्ध प्रायद्वीप का युद्ध छेड़ दिया था जो नेपोलियन के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ।

मौरीशस व जावा पर अधिकार : अनेक राज्यों को मित्र बनाकर जब अंग्रेजो की स्थिति भारत के उत्तर-पश्चिम में सुदृढ़ हो गई तो मिन्टो ने पूर्व में फ्रांस तथा उसके मित्रों की शक्ति को नष्ट करना चाहा। पुर्तगीजों से गोआ छीना जा चुका था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चीन में पुर्तगीज़ों से १८०९ में मकोआ भी ले लिया था। १८१० में फ्रांस से बार्बोन और मौरीशस भी ले लिए गए। डचों से अम्बोयना और गर्ममसाले का द्वीप और बाद में जावा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ले लिया। इस भाँति यूरोप में फ्रांस जितने प्रदेश जीतता गया उतने ही एशिया में हारता गया। मिन्टो को राजनीतिक सफलताओं के साथ-साथ सैनिक विजयों का भी गौरव प्राप्त हुआ, किन्तु १८१३ में उसका स्थान लार्ड हेस्टिंग्स ने ले लिया। वेलेज़ली के जाने के बाद दस वर्ष तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में कोई बड़ी लड़ाई नहीं की और अपने साधनों को जुटाया। वह पुनः आगे बढ़ने के लिए पूर्णतया तैयार थी।

मिन्टो के शासन-काल में मद्रास की सेना के अफसरों में विप्लव हुआ और ट्रावनकोर में विद्रोह हुआ (१८०८), जिसको मंत्री वेलू तम्पी ने अंग्रेज प्रतिनिधि के विरुद्ध खड़ा किया था। दोनों विद्रोह दबा दिए गए। १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञा-पत्र के बदलने का समय आ गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत के व्यापार का जो एकाधिकार मिला हुआ था वह उससे ले लिया गया, परन्तु चीन में यह अधिकार बना रहा। लायसैंस लेकर धर्म-प्रचारक भारत में प्रवेश कर सकते थे। प्रथम बार सार्वजनिक शिक्षा के लिए १ लाख रुपये की ग्रांट दी गई। बीस वर्ष के लिए कम्पनी का चार्टर बदला गया। मिन्टो के शान्तिकाल में कम्पनी की आर्थिक दशा सुधरी। मद्रास प्रान्त में रैयतवारी बन्दोबस्त लागू किया गया। लार्ड मिन्टो ने पूर्वी साहित्य को प्रोत्साहन दिया और नदिया तथा तिरहुत में संस्कृत कालेज खोलने का प्रस्ताव किया।

लार्ड हेस्टिंग्स

लार्ड मोयरा (Lord Moira), जो मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स के नाम से

प्रसिद्ध है, मिन्टो के बाद १८१३ में बंगाल का गवर्नर-जनरल बना। कार्नवालिस, बारलो तथा कुछ अंशों में मिन्टो की तटस्थता की नीति के फलस्वरूप जो सात भिन्न-भिन्न स्थानों पर झगड़े उठ खड़े हुए थे उन सबसे हेस्टिंग्स को निपटना पड़ा। इन झगड़ों के फलस्वरूप अंग्रेजों को जो युद्ध में रक्तपात करना पड़ा वह ब्रिटिश और भारत के सम्बन्ध के इतिहास में अपार था।

नैपाल की लड़ाई (१८१४-१६) : कई हिन्दू जातियों ने, जो अपने-आपको राजपूत कहते थे, चौदहवीं शताब्दी में नैपाल को जीत लिया। इनमें से गुरखा नामक एक जाति ने १७६८ तक अन्य सभी जातियों को परास्त कर दिया और अपने लिए महान् राज्य नैपाल की स्थापना की जो समस्त तराई में सतलज से भूटान तक फैला हुआ था। १८०१ में जब अवध के नवाब ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को गोरखपुर का प्रदेश दे दिया, तो गोरखे कम्पनी के सम्पर्क में आए। १८१३ में गोरखों ने एक जिले में प्रवेश किया जो अंग्रेजों की सुरक्षा में था। जब उनसे वह जिला खाली करने के लिए कहा गया तो उन्होंने बुटवाल के तीन स्थानों पर आक्रमण कर दिया। इसके फलस्वरूप नैपाल की लड़ाई आरम्भ हो गई। आरम्भ में अंग्रेजों को कई बार पराजय मिली जिसका एक कारण तो जनरलों की अयोग्यता थी और दूसरे वह देश बड़ा दुर्गम था। किन्तु जब जनरल औक्टरलूनी (General Ochterluny) काठमाण्डू तक बढ़ गया तो विवश होकर गोरखों को सिंगौली के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े। आरम्भ में काठमांडू के अधिकारियों ने इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया था, परन्तु कुछ दिन युद्ध के पश्चात् उसको स्वीकार करना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार गोरखों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी को कुमायूँ, गढ़वाल के जिले तथा तराई का बहुत-कुछ भाग देना पड़ा। कम्पनी को आधुनिक देहरादून का जिला और शिमला की पहाड़ियों का कुछ भाग मिल गया। गोरखे सिक्किम से हट गये और अंग्रेजों का प्रतिनिधि काठमाँडू में रहने लगा। इस सन्धि से नैपाल राज्य को अर्ध-स्वतन्त्रता मिल गई और गोरखों व अंग्रेजों की मित्रता स्थायी हो गई।

पिण्डारी युद्ध (१८१७) : ईस्ट इंडिया कम्पनी की तटस्थता की नीति के कारण राजपूताना तथा मध्य भारत में १८०५ से लेकर १८१५ तक अराजकता फैली रही। इस अराजकता का कारण लुटेरों के तीन अलग-अलग वर्गों की लूटमार थी जो परस्पर साँठ-गाँठ रखे हुए थे और ये थे मरहठे, पठान और पिण्डारी। मरहठे राजे, जैसे सिंधिया, होल्कर और भौंसले, राजपूताना तथा मध्य भारत पर टूट पड़े, क्योंकि उनको अंग्रेजों के हस्तक्षेप का भय नहीं रहा था। पठान स्वच्छन्द विचरते थे और उसी के साथ हो लेते थे जो उनको वेतन और लूट में से हिस्सा देना स्वीकार कर लेता था। पिण्डारी आरम्भ में मरहठों के सहायक थे और वे अनेक जातियों तथा धर्मों से आकर पिण्डारी बन गए थे। सेना से निकले हुए सैनिक लूट-मार के कार्य में निपुण होकर उन्नति करने लगे। जो लूट का माल वे ले नहीं जा सकते थे उसको नष्ट कर देते थे। चीतू वासिल, मोहम्मद और करीमखाँ जैसे नेताओं के अधीन उनका संगठन बड़ा मजबूत था तथा उनको मरहठों का संरक्षण प्राप्त था।

१८१२ में पिण्डारियों ने ब्रिटिश प्रदेश पर आक्रमण किया और मिर्ज़ापुर, बिहार को लूट लिया। १८१६ में उन्होंने उत्तरी सरकारों को लूटा व नष्ट किया। हेस्टिंग्स ने पिण्डारियों को नष्ट करने का बीड़ा उठाया। पिंडारियों व मरहठे राजाओं के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धों से हेस्टिंग्स भली-भांति परिचित था, इसलिए उसने पिंडारियों से लड़ने के लिए बड़ी सैनिक व कूटनीतिक तैयारियाँ कीं, क्योंकि वह जानता था कि उसको मरहठों से भी युद्ध करना पड़ेगा और हुआ भी ऐसा ही। उसने भौंसले, भोपाल के नवाव, पेशवा व राजपूताना की १६ रियासतों से संधि की, जिनमें जयपुर, जोधपुर, उदयपुर और बूँदी की भी रियासतें शामिल थीं। उसने सिंधिया, होल्कर तथा अमीरखाँ से भी पत्र-व्यवहार किया। उसने विशाल सेना एकत्रित की, जिसमें लगभग १,२०,००० सैनिक व ३०० वदूकें थीं जिनको उत्तरी व दक्षिण सेनाओं में बांटा गया था। जिनको दोनों ओर से मालवा को घेर लेना था, जिससे पिण्डारियों को नष्ट कर सकें व आगे बढ़कर उस सेना को रोकें जो पिण्डारियों की सहायता को आ रही है। १८१७ तक पिण्डारियों को नष्ट कर दिया गया। करीमखाँ को गणेशपुर की रियासत दे दी गई तथा अमीरखाँ को टोंक का नवाब बना दिया गया।

मरहठों की तीसरी लड़ाई : जैसी कि आशा थी, पिण्डारी युद्ध के फलस्वरूप मरहठों की तीसरी लड़ाई छिड़ गई। युद्ध के आरम्भ में सिंधिया अलग रहा और अंग्रेजों के साथ पृथक् संधि कर ली। पेशवा को पहले खिरकी तथा बाद में आष्ठी की लड़ाई में पराजय मिली। भौंसले सीताबल्दी और नागपुर की लड़ाई में हार गया और होल्कर महीदपुर में परास्त हुआ। अन्त में जब समझौता हुआ तो पेशवा को अपने प्रदेश के कुछ भाग से हाथ धोना पड़ा जो शिवाजी के वंशज सतारा के राजा को दिया गया। पेशवाई तोड़ दी गई और अन्तिम पेशवा को ८ लाख रुपये वार्षिक पेन्शन दी गई। होल्कर को लगभग आधे प्रदेश से हाथ धोना पड़ा और वह अंग्रेजों का मित्र बन गया। एक नये शासक को नागपुर की गद्दी पर बिठाया, जो अंग्रेजों के अधीन बना रहा तथा सागर और नर्वदा का प्रदेश अंग्रेजों के पास चले जाने से उसका राज्य बहुत छोटा-सा रह गया। राजपूताना के शासक, जिन पर मरहठों की सत्ता बनी हुई थी, अब अंग्रेजों के संरक्षण में आ गए। मरहठों का राज्य सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो गया। सतलज और कुमारी अन्तरीप के बीच का समस्त भारत अंग्रेजी शासन अथवा अंग्रेजी सत्ता के अधीन हो गया।

१८१८ में मरहठों का पतन होते ही भारत की राजनीतिक स्थिति बिल्कुल बदल गई। भारत के बहुत बड़े भाग में अंग्रेजों का सीधा शासन था। शेष भाग में पंजाब व सिंध को छोड़कर अंग्रेजों का नियन्त्रण काफी था। जो भी भारत के राजा ईस्ट इण्डिया के अधीन थे, उनकी विदेश-नीति पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का नियन्त्रण था। अंग्रेजों की सेनाएँ इन राज्यों की गृह-युद्ध तथा बाहरी आक्रमणों से रक्षा करती थीं। भारतीय राजाओं के झगड़ों को अंग्रेज ही निबटाते थे। उनको

ब्रिटिश प्रतिनिधि की सलाह लेनी पड़ती थी, जो उनके राज्यों में रहता था। हेस्टिंग्स ने वेलेजली का आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण कर दिया।

मरहठा साम्राज्य के पतन के कारण

१६५० से १७५० के बीच मरहठों की शक्ति का अति शीघ्र अभ्युदय हुआ था। १७६१ तक मरहठे भारत के श्रेष्ठ तथा बड़े भाग पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूप से शासन कर रहे थे। उनकी उन्नति मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर हुई। किन्तु १८१८ तक मरहठों का सम्पूर्ण राज्य नष्ट हो गया। मरहठा साम्राज्य के पतन के अनेक कारण हैं। मरहठों ने जीर्ण-शीर्ण मुगलों पर सहज ही विजय पा ली थी, परन्तु अंग्रेजों के के आगे उनकी एक न चली, क्योंकि वे श्रेष्ठ वैज्ञानिक थे तथा उनके शस्त्र भी श्रेष्ठ थे। जब मरहठों का राज्य मैदानों पर भी फैल गया तो उन्होंने युद्ध की छापामार नीति को त्याग दिया। यह नीति-परिवर्तन उनके विनाश का मुख्य कारण बना। मरहठों की दूसरी लड़ाई के बाद जो राज्य अंग्रेजों की सुरक्षा में आ गए थे, उन राज्यों से मरहठों को चौथ तथा सरदेशमुखी बन्द हो चुकी थी. अतएव उनकी आय कम हो गई थी, फलस्वरूप सैनिक साधन भी घट गए। मरहठों में एक सार्वजनिक शत्रु को हटाने के लिए संगठन न था। सिंधिया तथा होलकर सदा एक-दूसरे के शत्रु बने रहे। १७६१ में पानीपत की तीसरी लड़ाई में पराजय के बाद मरहठों में नियन्त्रण जाता रहा था और शत्रु पर संगठित वार करने का गुण भी उनमें से जाता रहा। नाना फड़नवीस की मृत्यु के पश्चात् मरहठों में कोई कूटनीतिज्ञ न रह गया था और वे अंग्रेजों की कूटनीतिज्ञता का मुकाबला नहीं कर सकते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी, जिसने अनेक राजाओं को आश्रित मित्र बना लिया था, से अंग्रेजों के साधन बढ़ते गये और मरहठों के उतने ही कम होते चले गए। दूसरे, मरहठे भी आश्रित मित्र होने के कारण अपनी सेना को सुशिक्षित करने के लिए कोई फ्रेंच या अन्य यूरोपियन अफसर नहीं रख सकते थे। मरहठों का राज्य लोक-प्रिय न हो सका था और उसको वह शक्ति प्राप्त नहीं थी जो लोकप्रिय राज्य को प्राप्त होती है। उत्तर में सिक्खों तथा दक्षिण और पूर्व में अंग्रेजों के अभ्युदय के कारण मरहठे दोनों के बीच में पिसने लगे।

मरहठे आर्थिक प्रश्न की ओर से सर्वथा लापरवाह थे, जिसके कारण उनको सदा रुपयों की आवश्यकता बनी रहती। फलस्वरूप मरहठों को जब कभी धन की आवश्यकता होती, वे देश में लूटमार आरम्भ कर देते। यह विधि उस समय तक तो लाभप्रद रही, जब तक मरहठा राज्य बहुत ही छोटा था और उसके पास के प्रदेश अन्य शासकों के अधिकार में थे। किन्तु जब मरहठा राज्य विस्तृत हो गया और जब एक बड़ा भू-भाग उनके अधिकार में आ गया, तब वे अपनी ही प्रजा में तो लूटमार नहीं कर सकते थे। धन-संग्रह के कठोर उपायों ने उन्हें अपनी प्रजा में अप्रिय बना दिया। उन्होंने अपना तोपखाना नहीं बनाया। इसके लिए उन्हें फिरंगियों पर आश्रित रहना पड़ता था। जो शक्ति अपने सैनिक साधनों में आत्म-निर्भर नहीं है, उसका विनाश

अवश्यम्भावी है। जब कभी बाहर से रसद आनी रुक जाती, तो मरहठे असहाय हो जाते। मरहठों की भौगोलिक अज्ञानता भी उनके विकास में बड़ी बाधक थी। मरहठा सैनिकों को इस कारण अपने कार्यों में सफलता नहीं मिलती थी कि सेनानायकों को उन प्रदेशों की जानकारी बिल्कुल नहीं होती थी, जिनमें होकर उन्हें गुजरना पड़ता था। अंग्रेज, जिन्हें युद्ध-कला का पूर्ण अनुभव था, भारत के भूगोल की उपेक्षा नहीं करते थे। अतः जब कभी अंग्रेजों को मरहठों का सामना करना पड़ता, अंग्रेजों के भौगोलिक ज्ञान ने उन्हें सदा सुदृढ़ स्थिति में रखा। अंग्रेज अन्य प्रकार से भी श्रेष्ठ थे। बहुत-से अंग्रेजों को मरहठी भाषा का ज्ञान था। अतः वे मरहठों के साथ सरलता से व्यवहार कर सकते थे जब कि अंग्रेजों की योजनाएँ वास्तविक आकड़ों पर निर्भर थीं,

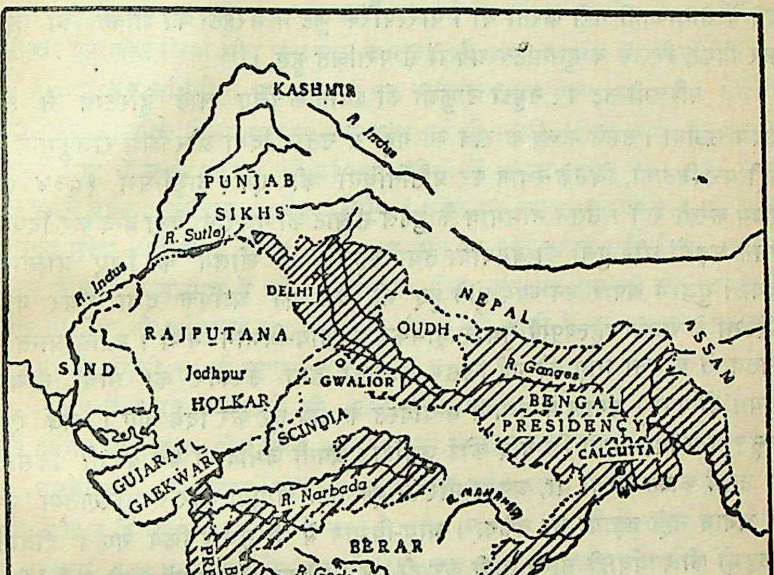
KASHMIR
R. Indus
PUNJAB
SIKHS
R. Sutlej
R. Indus
DELHI
NEPAL
OUDH
ASSAM
RAJPUTANA
SIND
Jodhpur
HOLKAR
GWALIOR
R. Ganges
BENGAL PRESIDENCY
SCINDIA
CALCUTTA
GUJARAT GAEKWAR
R. Narbada
R. Mahanadi
BERAR
BOMBAY PRESIDENCY
R. Godaveri
Bombay
NIZAM'S DOMINIONS
PRESIDENCY
BAY OF BENGAL
GOA
ARABIAN SEA
MYSORE
MADRAS
MADRAS
Andaman Is
Lacadive Is
TRAVANCORE
CEYLON
Maldive Is
INDIA IN 1823
▨ BRITISH TERRITORY

मरहठों की योजनाएँ अनुमान पर अवलम्बित थीं। मरहठे परस्पर लड़ते रहते थे, अतः कभी भी वे संगठित रूप में अंग्रेजों से युद्ध नहीं कर सकते थे। वास्तविकता तो यह थी कि एक मरहठा सरदार दूसरे मरहठा सरदार के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता देने में आनाकानी नहीं करता था। पारस्परिक फूट ने मरहठों की शक्ति का ह्रास कर दिया, जिससे वे सुसंगठित अंग्रेजों से पराजित हुए।

पश्चिमी तट पर समुद्री डाकुओं को दबाने के लिए लार्ड हेस्टिंग्स ने ठोस कदम उठाया। उसने कच्छ के राव को गद्दी से उतार दिया और शिशु राजकुमार को गद्दी पर बिठाया, जिसके स्थान पर प्रतिनिधियों की एक काउन्सिल १८३४ तक राज्य करती रही। उसने नाममात्र के मुगल-सम्राट को नजराना देना बन्द कर दिया। उसने सड़कों और पुलों को बनवाया तथा स्कूलों को खोलने के लिए प्रोत्साहन दिया। युद्ध में अपार धन व्यय होते हुए भी देश की आर्थिक दशा सुधर गई। हेस्टिंग्स के सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार भूमिकर व न्याय-विभाग में थे। मद्रास प्रान्त में रैयतवारी योजना लागू की गई जिसमें किसानों तथा सरकार का सीधा सम्बन्ध कायम हो गया। बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त के दोष दूर कर दिये गए। अब ऐसा कानून बना दिया गया कि यदि कोई जमींदार अपनी जमींदारी बेच दे तो किसान, जो उसमें क़ाश्त करता था, अपना मौरूसी हक नहीं खोएगा और साधारणतया उस पर लगान नहीं बढ़ाया जा सकेगा। न्याय-विभाग में भी सुधार किये गए। दीवानी मुक़द्दमों की कार्यवाही सीधी-सादी कर दी गई। फौजदारी मामलों में जो कार्नवालिस ने शासन तथा न्याय-सम्बन्धी अधिकार पृथक्-पृथक् कर दिए थे, उसे रद्द कर दिया गया। इन सुधारों को करने में हेस्टिंग्स को अपने निम्न अधिकारियों से सहायता मिली थी—जैसे सर टामस मुनरो, सर जान माल्कोम, सर चार्ल्स मेटकाफ और माउन्ट स्टुअर्ट ऐलफिन्स्टन। पामर एण्ड कम्पनी के किसी सदस्य ने किसी ऐसी लड़की से शादी कर ली जिसका वह संरक्षक था और जिसके कारण लोगों ने इस कार्य का विरोध किया था। इस कारण १८२१ में हेस्टिंग्स ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया किन्तु वास्तव में उसने अपना पद जनवरी १८२३ में छोड़ा।

लार्ड ऐम्हर्स्ट

हेस्टिंग्स के भारत से चले जाने के सात महीने बाद उसका उत्तराधिकारी लार्ड ऐम्हर्स्ट यहाँ आया। इन सात महीनों में बंगाल काउन्सिल के उच्च सदस्य जोन ऐडम्स ने गवर्नर-जनरल के पद पर कार्य किया। उसके शासन-काल की केवल एक ही महत्त्वपूर्ण घटना है कि उसने कलकत्तागजट के सम्पादक जे० एस० बकिंघम को देश-निकाला दे दिया क्योंकि उसने अफ़सरों व उनकी नीति की खूब खुलकर आलोचना की थी।

बर्मा की पहली लड़ाई (१८२४-१८२६) :

ऐम्हर्स्ट के शासन की सबसे प्रसिद्ध घटना बर्मा की पहली लड़ाई थी। हम बता चुके हैं कि पंजाब तथा सिंध को छोड़कर समस्त भारत अंग्रेजों के अधीन हो

चुका था। अब अंग्रेजों को अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए अन्य देशों की ओर ध्यान देना पड़ा। पूर्व में बंगाल प्रान्त व उसके पृथक् प्रदेश से बीच में कोई प्राकृतिक रुकावट न थी। अंग्रेजों का पूर्व में बढ़ने का अर्थ था बर्मियों से संघर्ष, जो पश्चिम की ओर बढ़ते चले आ रहे थे। अठारहवीं शताब्दी में बर्मियों ने पेगू व तनासेरिन के प्रान्तों को जीत लिया और अराकान के राज्य को अपने राज्य में मिला लिया था। १७९३ तक बर्मियों ने समस्त बर्मा पर अधिकार कर लिया था और अंग्रेजों की अन्तिम भारतीय सीमा चटगाँव तक पहुँच गई थी। जो लोग बर्मा से भारत भागकर आए थे उनके कारण बर्मियों तथा अंग्रेजों में झगड़ा हुआ। १८१८ में बर्मा के राजा ने ढाका, मुर्शिदाबाद और चटगाँव के प्रदेश यह कहकर अंग्रेजों से वापस माँगे कि उक्त प्रदेश बर्मा के थे, किन्तु उनकी इस माँग पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। १८२२ में बर्मा ने आसाम में प्रवेश किया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शाहपुरी नामक द्वीप पर भी अधिकार कर लिया जो बंगाल की खाड़ी में था। इसके फलस्वरूप बर्मा की पहली लड़ाई आरम्भ हुई।

अंग्रेजों ने पूर्व में जितनी भी लड़ाईयाँ लड़ी थीं उनमें बर्मा की लड़ाई में सबसे अधिक व्यय हुआ और सबसे कम सफलता मिली। यह लड़ाई दो वर्ष तक रही और इसमें अंग्रेजों के जनरलों की अयोग्यता सिद्ध हुई। अन्त में अंग्रेज आवा के समीप यन्दाबू में पहुँचे जहाँ उन्होंने वर्मा से सन्धि कर ली। बर्मा के राजा ने अंग्रेजों को अराकान तथा तनासेरिन के प्रदेश दे दिए तथा आसाम व काचर से पीछे हट गये जो अंग्रेजों की सुरक्षा में थे, मनीपुर की स्वतन्त्रता मान ली, ईस्ट इण्डिया कम्पनी से व्यापारिक सन्धि कर ली, आवा में अंग्रेजों का प्रतिनिधि रखना स्वीकार कर लिया तथा दस लाख पौंड जुर्माना देना स्वीकार किया। इस युद्ध से अंग्रेजों का राज्य पूर्व में काफी फैल गया।

कलकत्ता के समीप बारकपुर में १८२४ में सिपाहियों ने विप्लव कर दिया। इसका एक कारण तो यह था कि विप्लवकारी बर्मा-युद्ध में भाग लेने के लिए समुद्र पार नहीं जाना चाहते थे। दूसरे, उनकी शिकायतों को बहुत बार अनसुनी कर दिया गया था। विप्लव दबा दिया गया और बंगाल की ४७वीं देशी सेना भंग कर दी गई।

जाटों के राज्य भरतपुर की गद्दी पर, उसके नाबालिग राजा को हटाकर दुर्जनसाल ने अधिकार कर लिया था। वास्तविक राजा के शुभचिन्तकों ने अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की। दुर्जन अंग्रेजों से मन में शत्रुता रखता था।

आक्टरलोनी ने भरतपुर के लिए प्रस्थान किया किन्तु उसे वापस बुला लिया गया। इससे मालवा, बुन्देलखंड और मरहठों के प्रदेश में अशान्ति फैल गई। अन्त में लार्ड कोम्बरमीअर (Lord Combarmere) ने आक्रमण करके भरतपुर को जीत लिया।

लार्ड विलियम बैंटिक (१८२८–१८३५)

लार्ड विलियम केवेण्डिश बैंटिक को गवर्नर-जनरल बनने से पूर्व ही भारत का अनुभव था। वह मद्रास का गवर्नर रह चुका था तथा वैलौर का विप्लव होने पर वापस बुला लिया गया था। वह उदार था और इंगलैंड में जो मानव-हित के लिये सुधार-आन्दोलन उठा उसमें सक्रिय भाग लिया था। वह बड़ा भाग्यशाली था क्योंकि जब वह गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ तो बर्मा की लड़ाई के बाद १० वर्ष तक भारत में पूर्ण शान्ति रही थी। यदि भारत में किसी युद्ध की आशंका थी तो केवल उत्तर-पश्चिम से रूस के आक्रमण का भय था, तो अकारण ही लोगों के हृदयों में बहुत ज्यादा समा गया था। बैंटिक ने भारतीय शासकों के साथ जो व्यवहार किये वे सब इसी दृष्टिकोण को लेकर हुए।

बैंटिक तथा भारतीय राज्य : जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, बैंटिक के समय तक पंजाब तथा सिंध को छोड़कर समस्त भारत अंग्रेजों के काबू में आ गया था। इन दोनों राज्यों के विषय में लार्ड मिन्टो की नीति का उदाहरण उसके सम्मुख था और वह इसी सिद्धात पर पहुँचा था कि इन दोनों राज्यों को न तो ईस्ट इन्डिया कम्पनी के प्रदेश पर और न उनके आश्रित राज्यों के प्रदेशों की ओर बढ़ने दिया जाय, परन्तु उत्तर-पश्चिम से आक्रमण होने पर इन राज्यों को रुकावट के तौर पर छोड़ दिया जाय जिससे आक्रमण निर्विघ्न आगे न बढ़ सके। अन्य भारतीय राजाओं के साथ, जो कम्पनी के अधीन थे, बैंटिक ने तटस्थता की नीति अपनानी चाही। किन्तु समय में परिवर्तन हो जाने से तटस्थता की नीति का अर्थ ही और हो गया था। पहले तटस्थता का अर्थ था कि कम्पनी भारतीय राजाओं से किसी प्रकार भी सन्धि नहीं करती थी तथा उनकी बाहरी आक्रमणों व आन्तरिक झगड़ों से उस समय तक रक्षा नहीं करती थी जब तक कि वे कम्पनी के साथ सहायक-सन्धि नहीं कर लेते थे। किन्तु अब पंजाब और सिन्ध को छोड़कर भारत के समस्त देशी राजाओं ने कम्पनी से सहायक सन्धि कर ली थी और वे कम्पनी से आशा करते थे कि वह बाहरी आक्रमण तथा गृह-युद्ध से उनकी रक्षा करेगी। परन्तु उनके निजी मामलों में उस समय तक हस्तक्षेप नहीं करेगी जब तक कि उसकी प्रजा विद्रोह न कर दे। बैंटिक तथा औरों को भी विकट समस्या का सामना करना पड़ा। किसी राज्य में विद्रोह प्रायः कुशासन तथा अत्याचार के कारण होता है और विद्रोहियों का दमन करने का अर्थ था कुशासन को प्रोत्साहन देना। यदि कम्पनी विद्रोह को दबाने में राजा की सहायता करती थी तो उसका यह भी आवश्यक कर्त्तव्य था कि वह देखे कि राजा का बर्ताव प्रजा के साथ उचित है अथवा नहीं और उसने कोई ऐसी बात तो नहीं की है जिससे विद्रोह उठ खड़ा हो। अतएव कम्पनी को यह हक था कि यदि राजा शासन के अयोग्य हो अथवा अत्याचार करे तो उसे गद्दी से उतार दे।

बैंटिक ने भिन्न-भिन्न आश्रित राज्यों के साथ सदा एकसी नीति नहीं बरती। उसने अवध, निजाम के प्रदेशों, इन्दौर, ग्वालियर और भोपाल में हस्तक्षेप नहीं किया

तथा उन स्थानों में कुशासन तथा अराजकता की ओर से उदासीनता दिखलाई गई। गायकवाड़ खुले तौर से शत्रुता रखने लगा। राजपूताना में गृह-युद्धों को रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया गया। परन्तु कई मामलों में बैंटिक ने बड़ी तत्परता दिखलाई तथा हस्तक्षेप किया, जैसे जयपुर के वजीर को बरखास्त कर दिया, जिसने वहाँ के नाबालिग़ राजा व उसकी माँ को विष देकर मरवा डाला था। एक शिशु को गद्दी पर बिठाया गया तथा जिस समय तक राजा वयस्क न हो जाय उस समय तक राज्य का प्रबन्ध अंग्रेज प्रतिनिधि के जुम्मे छोड़ा गया। १८३१ में मैसूर के राजा के विरुद्ध विद्रोह हो गया। बैंटिक ने राजा को गद्दी से उतार दिया और राज्य को ब्रिटिश प्रबन्ध के अन्तर्गत ले लिया। यह प्रबन्ध १८८१ तक चला। तब लार्ड रिपन ने आज्ञा दी कि मैसूर का राज्य एक नए राजा को सौंप दिया जाय।

सिन्ध का अमीर और रणजीतसिंह : रूस के डर से बैंटिक ने सिन्ध के अमीर तथा पंजाब के शासक रणजीतसिंह से पक्की मित्रता जोड़नी चाही। सिन्ध में एक मिशन भेजा गया जो ऊपर से सिन्ध तथा ईस्ट इन्डिया कंपनी में परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ने का सन्देश लेकर गया था, किन्तु उसका आंतरिक उद्देश्य राजनीतिक था। सिन्ध के अमीर को व्यापारिक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य किया गया, परन्तु आश्वासन दिया गया कि दोनों परस्पर एक-दूसरे के प्रदेश को लेने की नीयत नहीं रखेंगे। उसी समय अर्थात् १८३०-३१ में लेफ्टीनैंट बर्न्स (Lieutenant Burnes) को रणजीतसिंह के पास अंग्रेजी घोड़ों का उपहार लेकर भेजा गया। बाद में बैंटिक स्वयँ रोपड़ में रणजीतसिंह से सरकारी तौर पर मिला। इसके फलस्वरूप अंग्रेजों व रणजीतसिंह में सदा के लिये मित्रता हो गई, जिसने वचन दिया कि वह सिन्ध के अमीर पर आक्रमण नहीं करेगा और अंग्रेजी व्यापार को सतलज तथा सिन्धु नदी के मुहाने तक प्रोत्साहन देगा।

स्थानीय शासन तथा सुधार : बर्मा की लड़ाई में अधिक व्यय हो जाने के कारण कम्पनी में आर्थिक सुधार व खर्च को घटाने की आवश्यकता महसूस हुई। डायरेक्टरों के जोर देने पर बैंटिक ने आज्ञा निकाली कि जो सेनाएँ कलकत्ता से ४०० मील के अन्दर-अन्दर हैं उनको आधा भत्ता दिया जायगा। सिविल अधिकारियों के भत्ते भी बन्द कर दिये गए। जो व्यक्ति कहते थे उनको मालगुजारी की छूट मिली हुई है उस छूट को बन्द करके उसने बंगाल की आय को बढ़ा दिया। उसने पोस्त की खेती की खुली छूट देकर अफीम के कर द्वारा राज्य की आय में वृद्धि कर दी। इन सुधारों के कारण बजट में जो १० लाख पौंड की कमी थी उसमें १५ लाख की बचत कर दी।

शासन-सुधार : बैंटिक ने प्रान्तीय न्यायालय, जो अपील करने के लिए बने हुए थे, तोड़ दिये और ये अधिकार जिले के न्यायालयों के जजों को दे दिये गए। कानूनी कार्यवाही फ़ारसी में न होकर स्थानीय भाषा में होने लगी। भारतीय जजों का पद, अधिकार तथा वेतन बढ़ा दिये गये। उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के लिए एक

पृथक् प्रधान कार्यालय खोला गया। न्यायालय-सम्बन्धी अनेक पद भारतीयों को दिये जाने लगे। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के भूमिकर का बन्दोबस्त रॉबर्ट बर्ड को सौंप दिया गया। यह बन्दोबस्त, जो १० वर्ष में तैयार हुआ था, ३० वर्ष के लिये था, जो या तो भूमि जोतने वाले, भूमि के स्वामी अथवा गाँव के समाज के साथ किया जाता था। बैंटिक ने कम्पनी की सेना में जो भारतीय सैनिक थे उनको कोड़ों से पीटने का दंड बन्द कर दिया।

सामाजिक सुधार : बैंटिक के शासन की विशेषता उसके सामाजिक सुधार हैं। १८२९ में उसने ब्रिटिश साम्राज्य से हिन्दुओं में सती की प्रथा को बन्द कर दिया। सती होने में जो सहायक होते थे अथवा किसी स्त्री को सती होने के लिये भड़काते थे, वे लोग अब अपराधी समझे जाने लगे। इस आज्ञा के विरुद्ध प्रिवी-काउन्सिल तक अपील की गई परन्तु वह अपील रद्द कर दी गई। हिन्दुओं का शिक्षित समाज सती-प्रथा को रोकने के मत में था जो उस समय प्रचुर मात्रा में प्रचलित थी। बैंटिक की दूसरी सफलता थी ठगी को रोकना। डकैतों और बधिकों का एक सुसंगठित वर्ग था। ठगों ने, जो अनेक जातियों व सम्प्रदायों के थे, अपनी एक पृथक जाति बना ली। डकैती इन लोगों का पेशा बन गया था जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता चला आता था। १८२९ में मेजर स्लीमैन को ठगों का दमन करने के लिये भेजा। उसने अपना कार्य बड़ी योग्यता से पूरा किया। हजारों ठग पकड़े गए और उनका गिरोह टूट गया। बहुत से ठगों को फाँसी हुई तथा बहुत से काला पानी भेजे गए।

अन्य सुधार : बैंटिक ने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, शिक्षा के लिए सन् १८१३ से ही एक लाख रुपये वार्षिक की सहायता दी जाती थी, जोकि भारतीय भाषा व साहित्य की उन्नति में व्यय की जाती थी। चूंकि काउन्सिल का लॉ मेम्बर मेकॉले था, अतएव १८३४ में निर्णय किया गया कि बजट में जो रुपया शिक्षा पर व्यय के लिए रखा गया है वह भारतीय भाषा पर व्यय न होकर भारतीयों को अंग्रेजी भाषा की शिक्षा देने व पश्चिमी विद्वानों के पढ़ाने में व्यय किया जाय। इस भाँति अंग्रेजी पढ़े हुए भारतीयों की ऐसी श्रेणी तैयार हो जायगी जो भारतीयों व अंग्रेजों के बीच दुभाषिये का कार्य कर सकेगी तथा जिसको भारत के शासन में निम्न पद दिए जा सकेंगे। सार्वजनिक कार्यों में सड़कों की मरम्मत की गई और कलकत्ता से दिल्ली तक एक सीधी सड़क बनवाई गई जिसे ग्रांड ट्रंक रोड (Grand Trunk Road) कहते हैं और जो बाद में बढ़ाकर पेशावर तक बनवा दी गई थी। आगरा से बम्बई जाने वाली एक और भी सड़क बनवानी आरम्भ कर दी गई थी। बैंटिक के समय में ही सबसे प्रथम भारत तथा इंगलैंड के बीच स्टीम बोट चलाने का प्रयत्न किया गया था।

बैंटिक तथा उसके शासन के विषय में लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कई विद्वानों ने उसके कार्यों की निन्दा की है और कइयों ने यहाँ तक प्रशंसा की है कि

उसमें केवल गुण-ही-गुण थे और अवगुण एक भी न था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय तक के समस्त गवर्नर-जनरलों में वह सबसे अधिक उदार था। वह सदा लोगों की भलाई का ध्यान रखता था। मेकॉले के अनुसार, 'उसने पूर्व के निष्ठुर हृदयों में ब्रिटेन जैसी स्वतन्त्रता की भावना पैदा कर दी थी। उसके शासन की सफलता शान्ति की स्थापना में थी, न कि युद्धों की विजय में।'

चार्टर में हेर-फेर (१८३३) : १८३३ में चार्टर पुनः २० वर्ष के लिए बदला गया। १८३३ के चार्टर के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चीनी व्यापार का एकाधिकार भी जाता रहा। अब वह व्यापारिक कम्पनी न रही और सामान्य व्यापारियों से भी प्रतियोगिता में भाग न ले सकती थी। अब वह राजनीतिक संस्था बन गई थी। चार्टर के ऐक्ट के अनुसार आगरा को भी प्रेसीडेन्सी बनाया गया तथा गवर्नर-जनरल केवल बंगाल का गवर्नर-जनरल न कहलाकर भारत का गवर्नर-जनरल कहलाने लगा। इसके अनुसार गवर्नर-जनरल की काउन्सिल में एक सदस्य और बढ़ा कर चार कर दिये गए। यह सदस्य लॉ मेम्बर कहलाता था। इस ऐक्ट ने प्रत्यक्ष रूप से मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेन्सियों को गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिया। भारत के लिए एक तथा सबके लिए एक-सा कानूनी विधान बनाने के लिए एक कमिश्नर नियुक्त किया गया। इस चार्टर में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि किसी भी भारतीय पर तथा सम्राट की प्रजा के किसी भी व्यक्ति पर किसी भी सरकारी पद व स्थान पाने पर कोई भी प्रतिबन्ध न लगाया जायेगा, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग अथवा सम्प्रदाय का हो। ब्रिटेन की प्रजा बिना लाइसेंस के ही ब्रिटेन का भारत में जहाँ-जहाँ राज्य था वहाँ स्वच्छन्दतापूर्वक भूमि मोल ले सकती थी व जायदाद रख सकती थी।

सर चार्ल्स मेटकाफ़ (१८३५-३६)

बैंटिक के भारत से चले जाने के बाद मेटकाफ़ को स्थायी रूप से भारत का गवर्नर-जनरल बनाया गया। कहा जाता है कि वह भारत के सबसे श्रेष्ठ अंग्रेज शासन-कर्ताओं में से एक था तथा डायरेक्टर उस पर पूरा भरोसा रखते थे। किन्तु ब्रिटिश कैबिनेट ने जोर दिया कि गवर्नर-जनरल के पद पर इंगलैंड से ही कोई राजनीतिज्ञ भेजा जाय। मेटकाफ़ के शासन की सबसे महत्वपूर्ण घटना उसका ऐक्ट था, जिसके अनुसार भारतीय छापेखानों पर से हर तरह के प्रतिबन्ध हटा दिये गये। उन प्रतिबन्धों का इतिहास यह है कि लार्ड वेलेजली ने १८०१ में सैनिक कारणों के समाचार-पत्रों पर यह रोक लगा दी थी कि वे बिना सरकारी अफसर की अनुमति के कोई समाचार नहीं छाप सकते थे, जिसको गवर्नमेंट इसी कार्य के लिए नियुक्त करती थी। इस आज्ञा की जो अवहेलना करता उसको देश-निकाले का दण्ड दिया जाता। लार्ड मिन्टो ने धार्मिक पुस्तकों पर भी यही प्रतिबन्ध लगा दिया था। लार्ड हेस्टिंग्स ने यह प्रतिबन्ध उठा लिया परन्तु ऐसे नियम बनाए जिनके अनुसार कोई भी व्यक्ति कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के कार्यों और नीति की आलोचना प्रकाशित नहीं कर सकता

था और न ही प्रान्तीय सरकारों की राजनीतिक योजनाओं की आलोचना छाप सकता था। काउन्सिल के सदस्यों व सुप्रीम कोर्ट के जजों के विरुद्ध यदि कोई कुछ लिखता तो वह दण्डनीय होता था, अथवा यदि कोई व्यक्ति किसी सार्वजनिक कार्य के विरुद्ध कोई साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाता तो उसे दंड दिया जाता था। मेटकाफ ने इन सभी प्रतिबन्धों को हटा लिया। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने उसकी यह योजना अस्वीकृत कर दी। इस पर मेटकाफ़ ने, जिसकी बदली मद्रास प्रेसीडेन्सी के लिए हो गई थी, अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

लार्ड आकलैंड (१८३६-४२)

इंगलैंड की उदारदलीय मैलबोर्न की मिनिस्ट्री ने लार्ड आकलैंड को भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया। उस समय के इंगलैंड के विदेश-मन्त्री पामर्सटन ने भारत के विषय में रूसी आकाँक्षाओं तथा फारस और अफगानिस्तान में जो घटनाएँ हो रही थीं, आदि बातों को बड़ा खतरनाक समझा। आकलैंड ने भारत में जो नीति अपनाई अथवा जो कार्य किए वे सब इसी खतरे की भावना को लिए हुए थे। यही कारण है कि भारत के इतिहास में उन घटनाओं को विशेष महत्व दिया गया है जो उस काल में पंजाब, सिन्ध, अफगानिस्तान तथा फारस में हो रही थीं। आकलैंड की नीति को समझने के लिए उन देशों की राजनीतिक स्थिति क्या थी, यह जानना आवश्यक है।

पंजाब और रणजीतसिंह : हम कह चुके हैं कि १८०९ में अमृतसर की संधि के अनुसार रणजीतसिंह सतलुज के पार दक्षिण में अपना राज्य नहीं बढ़ा सकता था। यह प्रदेश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में आ गया था। अंग्रेज व रणजीतसिंह दोनों ने ही इस सन्धि का अक्षरशः पालन किया, अतएव दोनों की मित्रता अन्त तक बनी रही। रणजीतसिंह सतलज के उत्तर में अपना राज्य बढ़ाने के लिए स्वतन्त्र था। उसने अपने नागरिक व सैनिक शासन में सुधार किए। उसने अव्यवस्थित खालसा सैनिकों को एक बहुत ही श्रेष्ठ पैदल सेना में परिवर्तित कर दिया, जिसकी सहायता के लिए एक अच्छा तोपखाना भी था। साहस, कूटनीति तथा चतुराई से उसने सतलज के उत्तर में समस्त पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया। उसने अटक ले लिया, १८१८ में मुल्तान पर चढ़ाई कर दी तथा १८१९ में काश्मीर में घुस गया। अगले दो वर्षों में उसने सिन्धु तथा पहाड़ियों के बीच में बसे हुए डेराजात पर भी अधिकार कर लिया। उसकी सेना ने एलर्ट, वैन्टूर, कोर्ट तथा ऐवीटवाइल जैसे अंग्रेज अफसरों से युद्ध की शिक्षा पाई थी, अतएव उसने अब अफगानों के प्रदेशों को लेने की ओर ध्यान दिया। १८२३ में उसने पेशावर के अफगान गवर्नर को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारण सिन्ध सुरक्षित था, अतएव पेशावर की ओर मुड़ा, जिसको उसने १८३४ में अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार पेशावर, लाहौर व काबुल के शासकों के बीच झगड़े की जड़ बन

गया तथा इसे लेने के लिए काबुल ने रणजीतसिंह व ईस्ट इन्डिया कम्पनी से झगड़े किए ।

असैनिक-शासन

उसकी शासन-प्रणाली मुगलों की शासन-प्रणाली से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी । उसने असैनिक (सिविल) शासन में योरोपीय बुद्धि और अनुभव का प्रयोग नहीं किया । असैनिक विभागों में बहुत कम योरोपीय कर्मचारी रखे जाते थे । सैनिक हलचलों के कारण वह १८०८ तक अपने खजाने में सुधार न कर सका । उसके वित्त-मन्त्री दीवान भवानीदास ने आर्थिक प्रबन्ध में बड़े उत्तम ढंग से सुधार किया । उसने करों का अत्यन्त व्यापक पैमाना बनाया जिसमें अड़तालीस प्रकार के भिन्न-भिन्न कर थे । विलास तथा जीवन-निर्वाह की वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं रखा गया ।

रणजीतसिंह ने अपने शासन-काल के आरम्भ में ही अपने राज्य में लगान के लिए बढ़ाई की प्रणाली, जो मुगल शासकों में प्रचलित थी, अपनाई, जो १८२३ तक लागू रही । तब इसका स्थान निर्धारण की प्रणाली ने लिया जिसे कनकूत कहते थे । साधारणतया वार्षिक उपज २/५ से २/३ भाग तक सरकार ले लेती थी । यह नियम उन जिलों पर लागू था जो पूर्णरूप से जीत लिये गए थे और जहाँ भली प्रकार से खेती होती थी । राज्य के हिस्सों की दर सदा एकसी निश्चित नहीं होती थी । राज्य बहुत-से उपकर भी लेता था जो लगान के साथ-साथ ही वसूल किये जाते थे, जो वर्ष में दो बार लिया जाता था । किसी जिले में भूमि-कर उगाहने वाला मुख्याधिकारी कारदार होता था । उसकी सहायता के लिए मुकद्दम, पटवारी और कानूनगो होते थे ।

पंजाब चार सूबों में बँटा हुआ था—लाहौर, मुल्तान, पेशावर और काश्मीर । प्रत्येक सूबा परगनों में विभक्त था और प्रत्येक परगना ताल्लुके में तथा ताल्लुके में ५० से लेकर १०० तक मौज़ा होते थे । सूबे का मुख्याधिकारी नाज़िम (Governor) होता था और ताल्लुके का कारदार । न्याय के लिए कोई लिखित कानून न था । कानून केवल परम्परागत सिद्धान्तों तथा प्रथाओं पर आधारित था । दीवानी और फौजदारी के मामलों में कोई अन्तर न किया जाता था । पंचायतें झगड़ों का फैसला करती थीं । उनके फैसलों की सुनवाई कारदार के यहाँ हो सकती थी, जिसके अधिकार में अपने ताल्लुके के लिए न्याय-सम्बन्धी शक्ति भी थी । कभी-कभी न्याय का कार्य पृथक् अधिकारियों को सौंपा जाता था । नाज़िम भी महत्वपूर्ण मामलों का निर्णय करता था । राजधानी में एक उच्च न्यायालय (अदालते आला) खोला गया था । मौत की सजा केवल शासक दे सकता था । अंग-भंग की सजा बहुत कम दशाओं में दी जाती थी । न्याय की प्रणाली लोगों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अनुकूल थी ।

इसमें सन्देह नहीं कि रणजीतसिंह का शासन स्वेच्छाचारी था । यह एक

सैनिक राजतन्त्र था जो व्यक्तिगत शासन पर निर्भर था। ग्राम्य-जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। छोटे-से-छोटे नागरिक भी ऊँचे-से-ऊँचा पद और धन पा सकता था। रणजीतसिंह ने बड़ी-बड़ी उपाधियाँ नहीं धारण कीं और न अपने को स्वर्गीय शक्ति से युक्त माना। वह खालसा की उन्नति के लिये कार्य करने में गर्व का अनुभव करता था। उसकी स्वेच्छाचारिता उदार थी। आर्थिक साधनों का उपभोग लोगों की भलाई के लिए होता था, जिससे उनके लिए शान्ति और समृद्धि का युग आ गया, जिसका उन्होंने बहुत काल से उपभोग नहीं किया था।

सेना :

खालसा सेना दो भागों में विभक्त थी—एक नियमित सेना और दूसरी अनियमित। नियमित सेना में पैदल, घुड़सवार और तोपखाना थे। १८२२ में महाराज ने अपनी सेना में फ्रांसीसी अफसर रख लिए। इन्होंने सिक्ख सेना को संगठित तथा सुशिक्षित किया। सेना की पल्टनें फ्रांसीसी पल्टन के आदर्श पर बनी थीं। वे पल्टनें फ्रांसीसी जनरल वेन्चुरा और एलर्ड के अधिकार में थीं। अनियमित घुड़सवार सेना को कवायद यूरोपीय ढंग से कराई जाती थी। घुड़सवार सेना का वेतन पैदल सेना से कहीं अधिक था। तोपखाना भी नियमित सेना के मुख्य तीन विभागों से एक था। वह कार्यक्षमता और निपुणता के उच्च स्तर पर पहुँच गया था।

अनियमित सेना में मुख्यतः घुड़सवार थे। लार्ड आकलैंड के मत से यह सेना संसार की सबसे प्रदर्शनीय सेना थी। सिक्ख स्वेच्छा से सेना में भर्ती होते थे। उनको नक़द वेतन मिलता था। वेतन मासिक निश्चित होता था किन्तु अनियमित समय पर दिया जाता था। योग्य सैनिकों को समय-समय पर जागीरें और दान दिये जाते थे।

अफ़गानिस्तान : अफ़गानिस्तान का देश लगभग एक समतल ऊँची भूमि पर स्थित है जो पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश, काश्मीर, सिंधु तथा फ़ारस के बीच में बसा हुआ है। इसके अन्दर तीन मुख्य नगर हैं, अर्थात् काबुल, कंधार और हिरात। इसमें कई एक दर्रे हैं जिनमें से खुरम और बोलन के दर्रे प्रसिद्ध हैं जो भारत को मध्य एशिया से जोड़ते हैं। यही कारण है कि अफ़गानिस्तान युद्ध तथा व्यापार दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह देश मुग़ल साम्राज्य का भाग रह चुका है। १८वीं शताब्दी में अहमदशाह अब्दाली वहाँ का शासक बन गया था। १८०९ में अब्दाली ने बादशाह शाहशुजा को वहाँ से मार भगाया, जिसने भारत में आकर रणजीतसिंह तथा ईस्ट इंडिया कंपनी की शरण ली। १८२६ में दोस्त मोहम्मद अफ़गानिस्तान का अधिपति बन गया। उसने अपने-आपको बड़ी विकट स्थिति में पाया। वह सिक्ख तथा फ़ारस के बढ़ते हुए राज्यों के बीच में था। रणजीतसिंह को पेशावर की आवश्यकता थी जिसे उसने ले लिया। फ़ारस वालों को हिरात की आवश्यकता थी और अन्त में उसने उस पर आक्रमण कर दिया। उधर शाहशुजा दोस्तमोहम्मद से अफ़गानिस्तान को पुनः ले लेने के लिए सिक्खों व अंग्रेजों की सहायता चाहता

था। इसके विपरीत दोस्तमोहम्मद ने फ़ारस के विरुद्ध, शाहशुजा तथा उनके मित्रों के विरुद्ध, और रणजीतसिंह ने पेशावर लेने के लिए ईस्ट इण्डिया कंपनी से सहायता माँगी।

फ़ारस : रूस मध्य एशिया में बढ़ रहा था जिससे फ़ारस उससे शंकित होने लगा था तथा शत्रुता रखने लगा था। १८२५ में फ़ारस तथा रूस के विरुद्ध युद्ध हुआ जिसमें फ़ारस की पराजय हुई। बाद में दोनों में सन्धि हो गई और अंग्रेजों में भय हो गया कि कहीं रूस व फ़ारस मिलकर अफ़ग़ानिस्तान पर हमला न कर दें और तब वे फिर भारत पर हमला करें। १८३४ में फ़ारस के शाह ने हिरात के अफ़ग़ान शासक से कहा कि वह फ़ारस की अधीनता स्वीकार कर ले। उसे अस्वीकार करने पर १८३७ में शाह ने रूस की स्वीकृति से हिरात पर आक्रमण कर दिया। इससे भारत तथा इंग्लैंड के अंग्रेज अधिकारियों में आतंक छा गया। यह भय इस कारण और भी बढ़ गया कि अंग्रेजों को पता था कि ब्रिटेन ने १८०९ व १८१४ में फ़ारस के साथ संधियाँ की थीं कि किसी पर किसी यूरोपियन देश के द्वारा आक्रमण होने पर वे परस्पर एक-दूसरे की धन व जन की सहायता करेंगे। अंग्रेज उन सन्धियों से मुक्त नहीं हुए थे। उस समय फ़ारस में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा कम हो गई थी।

यह स्पष्ट है कि आकलैंड भारत में उस समय आया जब कि ब्रिटिश उत्तर-पश्चिमी भारत की स्थिति जटिल बन गई थी और किसी आने वाले बड़े तूफ़ान की सूचना दे रही थी। अफ़ग़ानिस्तान के दोस्तमोहम्मद ने आकलैंड के भारत आने पर बधाई भेजी, जिससे वह आकलैंड की मित्रता पाना चाहता था कि वह फ़ारस व रणजीतसिंह के विरुद्ध उसकी सहायता करे। आकलैंड को अब निर्णय करना था कि वह रणजीतसिंह का साथ दे जो उसका पड़ौसी था तथा १८०९ से लगाकर उस समय तक अंग्रेजों का विश्वासपात्र मित्र बना हुआ था, अथवा दोस्तमोहम्मद का जिसके राज्य में अति शीघ्र परिवर्तन होते रहे थे। उसने रणजीतसिंह को चुना। जब दोस्तमोहम्मद को अंग्रेज राजदूत लैफ्टिनैन्ट बर्न्स के द्वारा समाचार मिला कि अंग्रेजों ने रणजीतसिंह के विरुद्ध सैनिक सहायता देने से इन्कार कर दिया है तो उसने रूस से पत्र-व्यवहार आरंभ कर दिया, इसलिए नहीं कि वह रूस से मित्रता करना चाहता था बल्कि इसके द्वारा वह अंग्रेजों को विवश करना चाहता था कि वे उससे मित्रता की प्रार्थना करें। इसने आकलैंड को विचलित कर दिया और उसने निश्चय कर लिया कि वह दोस्तमोहम्मद के स्थान पर शाहशुजा को अफ़ग़ानिस्तान की गद्दी पर बिठाने में रणजीतसिंह को सहायता देगा। शाहशुजा लुधियाना में रहकर अंग्रेजों से पेन्शन प्राप्त कर रहा था, अतएव उसका अफ़गानिस्तान की राजगद्दी पर बिठाना अंग्रेजों के ही हित में था। आकलैंड के इस निर्णय का विरोध उसकी काउन्सिल, कमान्डर-इन-चीफ़ तथा बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स सभी ने किया, परन्तु ब्रिटिश मिनिस्ट्री से उसको स्वीकृति मिल गई। मेकनौटन को लाहौर भेजा गया कि वह जाकर ईस्ट इण्डिया कंपनी, रणजीतसिंह व शाहशुजा के बीच एक सन्धि-पत्र तैयार

करे, जिसके अनुसार शाहशुजा अफ़ग़ानिस्तान की गद्दी पर बिठाया जाय। इस सन्धि-पत्र पर २६-६-१८३८ को हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को सिन्धु नदी पार करने की भी आवश्यकता न थी। यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि शाहशुजा तथा सिक्खों की सेना सफल नहीं हो सकती तथा बिना अंग्रेजों की सैनिक सहायता के शाहशुजा काबुल तक नहीं पहुँच सकेगा। लार्ड आकलैंड ने तब शाहशुजा के लिए अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने का निर्णय कर लिया।

अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण एक बड़ी भूल थी :

अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने का निर्णय जो आकलैंड ने किया था उसकी आलोचना अनेक बातों के आधार पर हुई है। प्रथम तो यह नैतिक सिद्धान्त के विरुद्ध था क्योंकि अफ़ग़ानिस्तान स्वतंत्र देश था और उसे अधिकार था कि वह रूस, फ़ारस व किसी भी अन्य देश से मित्रता करे। राजनीतिक दृष्टि से भी यह भूल थी क्योंकि दोस्तमोहम्मद अफ़ग़ानिस्तान का योग्य तथा लोकप्रिय शासक था तथा शाहशुजा अत्यन्त निर्बल था, जिसको अफ़ग़ानिस्तान से मार भगाया गया था। वह वहाँ लोकप्रिय न था और जो प्रयत्न उसने अफ़ग़ानिस्तान को लेने के लिए किए थे इनमें बुरी तरह विफल हुआ था। अंग्रेज व सिक्खों से ले जाए जाने पर शाहशुजा का वहाँ बिल्कुल भी स्वागत नहीं हो सकता था। दूसरे, परिस्थितियाँ अंग्रेजों के अनुकूल बनती जा रही थीं और अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। अंग्रेजों के जोर देने पर रूस ने अपना राजदूत अफ़ग़ानिस्तान से वापस बुला लिया और रूस तथा अफ़ग़ानिस्तान में जो सन्धि हुई थी वह व्यर्थ हो गई थी। फ़ारस ने भी फ़ारस की खाड़ी में अंग्रेजों की हलचलों से डरकर सितम्बर १८३८ में हिरात का घेरा उठा लिया था।

प्रथम अफ़गान युद्ध (१८३९-४१) : शाहशुजा के पुत्र के साथ एक सिक्ख सेना खैबर के दर्रे से होकर अफ़ग़ानिस्तान की ओर बढ़ी। अंग्रेजों की भारतीय सेना, जिसके साथ शाहशुजा स्वयं था, अंग्रेजों व सिन्ध की जो सन्धि थी उसको तोड़कर, सिन्ध होती हुई बोलन के दर्रे की ओर बढ़ी। कन्धार अप्रैल तथा ग़ज़नी जुलाई १८३९ में ले लिए गए। दोनों सेनाएँ काबुल में मिल गईं। दोस्तमोहम्मद ने काबुल छोड़ दिया तथा शाहशुजा को अफ़ग़ानिस्तान का अमीर बना दिया गया। यह स्पष्ट है कि शाहशुजा अफ़गानों को प्रिय नहीं था और वे जानते थे कि घृणित विदेशियों ने बलपूर्वक उसको तख्त पर बिठाया है। सर विलियम मैकनौटन को काबुल में रैजीडेंट बनाकर रखा गया तथा सर एलेग्जेंडर बर्न्स को उसका खास नायब बनाया गया। अंग्रेजों ने यह गलती की कि बालाहिसार का दुर्ग तो शाहशुजा के लिए छोड़ दिया और स्वयं खुले मैदान में छावनी डाल ली। समस्त अफ़ग़ानिस्तान जीत लिया गया। दोस्तमोहम्मद ने अंग्रेजों के सामने आत्म-समर्पण कर दिया। किन्तु अफ़ग़ान बहुत क्रुद्ध थे। उन्होंने १८४१ में दोस्तमोहम्मद के एक पुत्र अकबरखाँ के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। पहले बर्न्स का और फिर मैकनौटन

का वध कर दिया गया। कन्धार से जनरल नॉट तथा जलालाबाद से सर राबर्ट सेल काबुल की अंग्रेज सेना को मदद न पहुँचा सके। अकबरखाँ ने वचन दिया कि अंग्रेजों की सेना को भारत कुशलपूर्वक लौट जाने दिया जाएगा। उस वचन का पालन नहीं किया गया। १५,००० मर्दों, औरतों व बच्चों में से केवल एक व्यक्ति डा० ब्राइडिन जीवित बचा, जिसने जलालाबाद पहुँचकर यह हृदय-विदारक समाचार सुनाया। उस समय आकलैंड के स्थान पर लार्ड एलनबरा आ गया था।

आकलैंड का अन्तर्शासन : उदार राजनीतिक होने के कारण उसने अनेक लाभदायक सुधार किए। उसने शिक्षा की उन्नति के उपाय किये। उसने तीर्थ-यात्रियों पर से कर उठा लिया तथा मन्दिरों की जायदाद से सरकारी नियन्त्रण हटा लिया। सिंचाई के लिए प्रारम्भिक तैयारियाँ की गईं। सन् १८३७-३८ में उत्तर भारत में बड़ा भारी अकाल पड़ा जिसमें पीड़ितों को सरकार ने सहायता दी। अवध में १८३९ में जो विद्रोह उठा उसे दबा दिया गया। सतारा के राजा ने पुर्तगीज़ों के साथ कुछ षड्यन्त्र किया, जिसके फलस्वरूप उसको गद्दी से उतारकर १८३७ में उसके भाई को गद्दी पर बिठा दिया गया। मद्रास प्रेसीडेंसी में जो कुर्नूल की रियासत थी उसको ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १८४२ में अपने राज्य में मिला लिया क्योंकि उसके नवाब ने विद्रोह किया था। होल्कर को चेतावनी दी गई कि वह अपने राज्य में उचित सुधार करे, जिस पर उसने अमल किया।

लार्ड एलनबरा (१८४२-१८४४)

लार्ड एलनबरा १८४२ में भारत आया और उसने शीघ्र ही अपना ध्यान अफ़ग़ानिस्तान की विनाश की ओर लगाया। उसने निश्चय कर लिया कि अफ़ग़ानिस्तान को एक करारी चोट देकर वह अंग्रेजों की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करेगा और तब उधर से अपने हाथ खींच लेगा। अफ़ग़ानिस्तान में अंग्रेजों की स्थिति शोचनीय थी। जनरल इंग्लैंड हाकलजई में हार गया था और जनरल पामर ने गजनी को समर्पण कर दिया था। जनरल नॉट किसी भाँति कंधार की रक्षा कर रहा था तथा जनरल राबर्ट सेल जलालाबाद की। जनरल पोलक को ख़ैबर के दर्रे से होकर अफ़ग़ानिस्तान भेजा गया। उसकी तथा सेल की सेना ने मिलकर काबुल पर अधिकार कर लिया। अफ़गानों ने अंग्रेज बन्दी छोड़ दिए। अफ़गानों को सबक देने के लिए काबुल का बाजार फूंक दिया गया। अंग्रेजों की सेना अफ़ग़ानिस्तान से चली आई। दोस्तमोहम्मद को आज्ञा मिल गई कि वह जाकर अफ़गानिस्तान की गद्दी को सँभाले।

सिन्ध विजय : जब अंग्रेजों ने शेष भारत पर अपना राज्य दृढ़ बना लिया तो उनकी लोलुप दृष्टि सिन्ध तथा पंजाब पर पड़े बिना नहीं रह सकी। अफगानों की पहली लड़ाई जीतते ही अंग्रेजों ने सिन्ध पर भी विजय पा ली। अफगानिस्तान की भाँति सिन्ध पर आक्रमण करने का कोई उत्तर अंग्रेजों के पास नहीं है। सिन्ध के अमीरों व अंग्रेजों के बीच १८०९ में एक सन्धि हुई थी तथा १८२० में इस सन्धि को पुनः

दुहराया गया था, जिनके अनुसार दोनों पक्ष परस्पर एक-दूसरे के प्रदेश में बलपूर्वक प्रवेश न करेंगे। १८३१ में रणजीतसिंह के इस प्रस्ताव को कि सिन्ध को उसके व ईस्ट इण्डिया के बीच बाँट लिया जाय, अस्वीकार कर दिया गया। तब भी १८३२ में अमीरों को विवश किया गया कि अंग्रेजी व्यापार के लिए सिन्ध नदी का मार्ग दे दें, परन्तु उन्होंने अंग्रेजी सेना को अपने प्रदेश में से होकर जाने से मना कर दिया। १८३४-३६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रणजीतसिंह को चेतावनी दी कि वह सिन्ध से दूर ही रहे यद्यपि वे स्वयं सिन्ध में अपना पैर जमाने लगे थे। १८३८ में अंग्रेजों ने सिन्ध के अमीरों को विवश किया कि वे हैदराबाद में अंग्रेजों का प्रतिनिधि (Resident) रखें। १८३९ में अफगान युद्ध आरम्भ होने पर १८३२ की सन्धि तोड़कर अंग्रेज सेना ने सिन्ध के प्रदेश में से होकर प्रस्थान किया। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने अमीरों को विवश किया कि वे शाहशुजा की शेष वृत्ति की एक बड़ी भारी रकम उसको दें, यद्यपि शाहशुजा ३० वर्ष से देश से निकाला हुआ था और १८३३ में उसने अमीरों को वृत्ति देने से छूट दे दी थी। यह रकम बलपूर्वक अमीरों से वसूल की गई और १८३९ में एक और सन्धि के द्वारा सिन्ध में अंग्रेजी सेना रखी गई, जिसके व्यय के लिए अमीरों को तीन लाख रुपया वार्षिक देना तय हुआ। युद्ध के दरम्यान उन पर यह दोषारोपण किया गया कि उन्होंने अंग्रेजी सेना के बढ़ने में बाधा डाली। इन दोषारोपणों की जाँच की गई और अन्त में निर्णय ब्रिटिश रेजिडेण्ट ऊट्राम द्वारा न दिया जाकर सर चार्ल्स नेपियर द्वारा दिया गया जो १८४२ में सिन्ध आया था। उसने अमीरों को अपराधी ठहराया। उसने एक और सन्धि की जिसके अनुसार अमीरों से तीन लाख रुपये वार्षिक के बजाय उनसे प्रदेश का एक भाग माँगा। इसके अतिरिक्त अमीर अपनी मुद्रा अंकित नहीं करवा सकते थे और सिन्धु नदी में अंग्रेजों के जो जहाज चलते थे उनके लिए उनको ईंधन देना पड़ता था। सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर तो कर दिये गये परन्तु सिन्ध में रोष फैल गया। मियानी तथा हैदराबाद की लड़ाइयों में अमीर की सेनाएँ १८४३ में पराजित हुईं। सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। अंग्रेजों की सिन्ध-विजय ने 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ कर दी।

ग्वालियर के हालात : मरहठों की तीसरी लड़ाई के पश्चात् दौलतराव सिन्धिया मरहठा सरदारों में सबसे अधिक शक्तिशाली हो गया था और उसका राज्य खूब फैल गया था तथा उसके पास एक उत्तम सेना थी। १८२७ में उसकी मृत्यु हो गई और उसका दत्तक पुत्र जनकाजी गद्दी पर बैठा। १८४३ में जनकाजी की मृत्यु हो गई। उसकी विधवा रानी ने अंग्रेजों की अनुमति से एक पुत्र गोद लिया, परन्तु चूंकि वह केवल आठ वर्ष का था अतएव एक संरक्षक रखना था जो उसके स्थान पर शासन करे। रानी अपने प्रिय पात्र दादा खासजी को इस पद के लिए चाहती थी जबकि एलनबरा ने जनकाजी के चाचा की नियुक्ति कर दी। इससे दरबार में षडयन्त्र होने लगे और संरक्षक को ग्वालियर से निकाल दिया गया।

ग्वालियर की सेना काबू से बाहर होती जा रही थी और सम्भव था कि यह सिक्खों की सेना से मिल जाती जो रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् काफी शक्तिशाली हो गई थी। अंग्रेजों की सेना ने ग्वालियर के विरुद्ध प्रस्थान कर दिया और ग्वालियर की सेना को महाराजपुर तथा पुन्यार के स्थानों में दिसम्बर १८४३ में परास्त किया। ग्वालियर को ब्रिटिश राज्य में नहीं मिलाया गया परन्तु उसकी स्वाधीनता छीन ली गई। वहाँ की सेना पहले से एक-तिहाई कर दी गई। शासन-प्रबन्ध करने वालों की काउन्सिल बना दी गई। १८४४ में बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स ने एलनबरा को वापस बुला लिया।

सर हेनरी हार्डिज (१८४४-४८)

सिक्खों की पहली लड़ाई : रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् पंजाब में जो घटनाएँ हुई उनसे इंग्लैंड तथा भारत दोनों के अंग्रेज अधिकारियों को स्पष्ट दिखाई देने लगा कि अंग्रेजों व सिक्खों का युद्ध होकर ही रहेगा। सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में मिलाने के बाद केवल पंजाब ही स्वतन्त्र राज्य रह गया था जो अंग्रेजों के भारतीय राज्य में शामिल नहीं था। ब्रिटिश राज्य को भारत में बढ़ाने की जिस नीति का अनुसरण पिछले वर्षों में किया गया था उसी नीति का अब फिर अनुसरण किया गया, जिससे सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी राज्य फैल जाए। इसके लिए एक ऐसे व्यक्ति की खोज थी जिसमें सैनिक कुशलता तथा राजनीतिक दोनों का समावेश हो। इसके लिए हेनरी हार्डिज, जो बाद में लार्ड हार्डिज बना, उपयुक्त समझा गया।

पंजाब की परिस्थिति : १८३६ में रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का खड्गसिंह गद्दी पर बैठा, परन्तु शासन की बागडोर वास्तव में ध्यानसिंह और गुलाबसिंह नामक दो डोगरा भाइयों के हाथ में थी। पंजाब के राजमहलों में शीघ्रातिशीघ्र विद्रोह होने लगे तथा वहाँ स्थायी अराजकता फैल गई। परिस्थिति राज्य के काबू से बाहर होती जा रही थी। सुरक्षित तथा बलवान खालसा सेना पाँच व्यक्तियों की पंचायत अथवा समिति के अधीन मनमानी करने लगी। सेना के समर्थन के लिए भिन्न-भिन्न प्रतिद्वन्द्वी खड़े हो गए। खड्गसिंह की मृत्यु हो गई और रणजीतसिंह का एक अन्य पुत्र शेरसिंह उत्तराधिकारी हुआ। १८४३ में शेरसिंह का वध कर दिया गया। रणजीतसिंह का एक और पुत्र दलीपसिंह महाराज बना और ध्यानसिंह का पुत्र हीरासिंह वजीर हुआ। दलीपसिंह की माँ रानी जिन्दन अपने प्रियपात्र लालसिंह की सलाह से राज्य-कार्य संभालने लगी।

सिक्खों की सेना में ९० हजार सुशिक्षित सैनिक तथा ५०० बन्दूकें थीं। इस भाँति वह सेना बड़ी शक्तिशाली थी। इस सेना पर काबू रखना कठिन हो रहा था। १८४३ में शेरसिंह ने आकलैण्ड से अपनी ही सेना पर नियन्त्रण रखने के लिए सहायता माँगी। राज्यकार्य के प्रबन्धक तथा उसके सलाहकार सिक्ख सेना से भय खाते थे और अंग्रेज भी उससे डरते थे। पंजाब की अराजकता को देखकर अंग्रेजों को

लालच हुआ कि वे समस्त भारत पर अपनी विजय को पूर्ण करें। दो बड़ी-बड़ी सेनाएं, जो सीमान्त प्रदेश के दोनों छोरों पर थीं, १८४५ में परस्पर लड़ पड़ीं। अंग्रेज तथा सिक्ख दोनों बेचैनी से समय व्यतीत कर रहे थे। अंग्रेज इसलिए भयभीत थे कि पंजाब की सेना बड़ी शक्तिशाली थी, जिस पर राज्य का नियन्त्रण था और इसलिए भी कि कहीं सतलज के पूर्व के सिक्ख सैनिक भी पंजाब की सेना में न जा मिलें। सिक्ख इस बात से क्रुद्ध थे कि अंग्रेजों ने अपनी सेना फीरोजपुर व लुधियाना में ८,००० से ४०,००० कर ली थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों के सिन्ध विजय कर लेने पर सिक्खों को समुद्र के लिए कोई मार्ग न रह गया था। एलनबरा ने ग्वालियर के साथ जो व्यवहार किया था उससे भी सिक्खों के मन में बेकली थी। सिक्ख सेना ने १३-१२-१८४५ को सतलुज पार कर लिया और सिक्खों की पहली लड़ाई शुरू हो गई। कई स्थानों पर भयंकर युद्ध हुए। सिक्खों की सेना को मुदकी, फिरोजशाह, अलीवाल और सोबराव नामक स्थानों पर पराजय मिली। फरवरी १८४६ में युद्ध समाप्त हो गया। अंग्रेजी सेना ने लाहौर को प्रस्थान किया और लाहौर के दरबार से सन्धि की गई। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों के राज्य की सीमा व्यास तक बढ़ा दी गई, अर्थात् सतलज और व्यास के बीच का प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। सिक्ख या तो १½ करोड़ रुपये युद्ध का हर्जाना दें अथवा काश्मीर का प्रदेश और ५० लाख रुपये दें। लाहौर दरबार ने दूसरी शर्त स्वीकार की। कम्पनी ने तब काश्मीर गुलाबसिंह के हाथों एक करोड़ में बेच दिया। सिक्खों की सेना घटाकर २०,००० पैदल और १२,००० घुड़सवार कर दी गई। अंग्रेजों का एक प्रतिनिधि लाहौर में रहे और सर हेनरी लारेंस को इस पद पर नियुक्त किया गया। अंग्रेजी सेना लाहौर में वर्ष के अन्त तक रहेगी।

पंजाब की अवस्था असन्तोषजनक थी क्योंकि लालसिंह तथा डोगरा सरदार के परस्पर वैमनस्य के कारण दरबार में षड्यन्त्र रचे जा रहे थे। दरबार ने अंग्रेजों से प्रार्थना की कि वे वर्ष के अन्त होने पर अपनी सेना लाहौर से न हटाएँ। दिसम्बर १८४६ में एक और सन्धि तैयार की गई, जिसके अनुसार शासन-प्रबन्ध के लिए ८ सरदारों की एक काउन्सिल बनाई गई और अंग्रेजों ने अपनी सेना ८ वर्ष के लिए लाहौर में रखनी स्वीकार कर ली, जिसके व्यय के लिए दरबार ने २२ लाख रुपये वार्षिक देना मंजूर किया। सर हेनरी लारेंस, जो प्रबन्धकारिणी काउन्सिल का प्रधान था, पंजाब का वास्तविक शासक बन गया। अंग्रेजों का शासन और सुधार सरदारों को पसन्द नहीं था। उनमें असन्तोष फैल गया। अगस्त १८४७ में रानी जिन्दन को लाहौर से हटा लिया गया। १८४८ में सर हेनरी लारेन्स इंग्लैंड चला गया और उसी के साथ लार्ड हार्डिंज भी।

हार्डिंज का अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध : हार्डिंज के शासन-काल में ही भारत में रेल निकालने की योजना बनाने के लिए पहला कदम उठाया गया। गंगा की बड़ी नहर निकालने की योजना बनाई गई। हार्डिंज ने एक सूचना निकाली कि सरकारी पद

उन्हीं लोगों को दिये जाएँ, जो अंग्रेजी पढ़े हों। उसने शिक्षा को प्रोत्साहन दिया और सती-प्रथा तथा शिशु-हत्या को भारतीय राज्यों में रोक दिया गया, उड़ीसा में जो मानव-बलि दी जाती थी, वह बन्द कर दी गई।

लार्ड डलहौज़ी (१८४८-१८५६)

लार्ड हार्डिंज के बाद लार्ड डलहौज़ी गवर्नर-जनरल हुआ। उसकी आयु उस समय ३५ वर्ष की थी तथा वह बहुत उग्र स्वभाव का व साम्राज्यवादी था। उसके शासनकाल में जो घटनाएँ हुईं उनका एक कारण उसका चिड़चिड़ा स्वभाव भी था, जो सदा अस्वस्थ रहने के कारण हो गया था। ज्योंही वह भारत में आया, शीघ्र ही उसको सिक्खों से दूसरी लड़ाई लड़नी पड़ी। उसके समय में भारत में अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ बहुत फैल गईं—कुछ तो युद्ध में जीते हुए प्रदेशों को मिला लेने के कारण और कुछ प्रदेशों पर शान्तिपूर्वक ही कब्जा कर लेने के कारण।

सिक्खों की दूसरी लड़ाई : उसके कारण : पहली लड़ाई में सिक्खों की सेना पराजित हो गई थी, परन्तु उनका पूर्णतया दमन नहीं हुआ। बहुत-सी झपटें तो अनिश्चित ही नहीं थीं। सिक्ख सैनिकों का यह सोचना स्वाभाविक था कि उनकी पराजय के कारण उनके जनरलों की अयोग्यता व उनकी सरकार की अकर्मण्यता आदि थे। राज्य-प्रबन्ध-काउन्सिल के प्रधान सर हेनरी लारेंस का उद्धत व्यवहार सिक्ख सरदारों व पंजाब के लोगों को पसन्द नहीं था। लारेंस तथा काउन्सिल के अन्य सदस्यों में अनबन थी। सिक्खों ने रणजीतसिंह के अधीन थोड़े ही काल में अपना राज्य काफी बढ़ा लिया था और वे हाल में ही खोई हुई स्वाधीनता और खोये हुए प्रदेश पुनः पाने के लिए इच्छुक थे।

सिक्खों की दूसरी लड़ाई का कारण मुल्तान के गवर्नर मूलराज का विद्रोह था। मूलराज के ऊपर लाहौर दरबार का बहुत-सा रुपया शेष था और जब उससे हिसाब माँगा गया तो उसने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। लारेंस ने मुल्तान में एक सिक्ख गवर्नर नियुक्त किया और उसको ऐन्यु और ऐण्डरसन नामक दो अंग्रेज अफसरों की रक्षा में मुल्तान भेजा। ये दोनों अफसर मुल्तान पहुँचते ही मार डाले गये और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। लैफ्टीनेण्ट एडवर्ड्स ने एक सेना इकट्ठी करके मूलराज को मुल्तान तक खदेड़ा, परन्तु मुल्तान में उनका दुर्ग इतना दृढ़ था कि एक छोटी-सी सेना से उस पर आक्रमण नहीं किया जा सकता था। लाहौर से एडवर्ड्स की सहायता के लिए सेना भेजी गई, किन्तु सिक्ख सैनिक मूलराज से मिल गए। सिक्ख हर जगह शस्त्रों से सुसज्जित थे, अतएव युद्ध की पूरी तैयारी की गई। डलहौजी ने युद्ध में सिक्खों से पूरा बदला लेने का इरादा किया। अफ़गानों ने सिक्खों का साथ दिया। रामनगर का युद्ध निर्णयकारी नहीं हुआ, परन्तु उसके बाद ही मुल्तान पर अधिकार कर लिया गया। तब जलियाँवाला का युद्ध हुआ, उसमें भी किसी की हार-जीत निश्चित न हो सकी। किन्तु इसके बाद जो गुजरात का युद्ध हुआ (१८४९) वह निर्णयकारी हुआ। सिक्ख सेना का दमन कर दिया गया और उसने आत्म-

समर्पण कर दिया। अंग्रेजों की सेना समस्त पंजाब में घुस गई। उन्होंने पेशावर पर अधिकार कर लिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया। महाराजा दलीपसिंह को पेन्शन दी जाने लगी। जबकि उन्होंने अपना व अपने वंशजों का अधिकार पंजाब की गद्दी से उठा लिया।

सिक्खों की पराजय के कारण : रणजीतसिंह की मृत्यु के दस वर्ष के अन्दर ही जो सिक्खों के राज्य का पतन हो गया उसके अनेक कारण थे। रणजीतसिंह बहुत प्रतिभाशाली था, परन्तु उसके उत्तराधिकारी अति सामान्य व्यक्ति थे। पंजाब जैसे लड़ाकू प्रदेश पर नियन्त्रण रखने में वे सर्वथा असमर्थ थे। देश में दलबन्दी होने लगी। जाट सरदार डोगरा राजाओं के विरुद्ध थे। पंजाब में कोई नेता न रहा। इसका शासन और आर्थिक व्यवस्था दिनोंदिन बिगड़ते चले गये और उनके साथ-साथ सैनिक योग्यता भी कम होती गई। अंग्रेजों की सुशिक्षित, नियन्त्रित सेना व भारी तोपखाने के सम्मुख सिक्ख सेना न ठहर सकी। वह अपने अफसरों और नायकों के विश्वासघात का भी शिकार हो रही थी। इसके अतिरिक्त भारत में अंग्रेजी राज्य बड़ा शक्तिशाली हो गया था, अतएव उसने पंजाब के विरुद्ध अनेक साधन जुटा लिए थे। पंजाब की बहुसंख्यक जातियाँ भी सिक्खों की दुर्बलता का एक कारण बनी। सिक्खों का राज्य चूंकि बहुत ही शीघ्र फैला था, अतएव उसको इतना समय नहीं मिला कि वे अपनी जड़ें गहरी जमा सकें व सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त कर सकें।

पंजाब का ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाना तथा उसका बन्दोबस्त

डलहौजी को जो सलाह दी गई थी इसके विपरीत उसने समस्त पंजाब को अंग्रेजी शासन में मिलाने का निश्चय किया। पूर्ण साम्राज्यवादी होने के कारण वह भारत में अंग्रेजी राज्य की सीमाओं को स्वाभाविक सीमाओं तक पहुँचाने का इच्छुक था। मार्च १८४९ में पंजाब को नियमपूर्वक अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। महाराजा दलीपसिंह की पैन्शन ५०,००० पौंड नियत की गई। पंजाब के लिए तीन कमिश्नरों का एक बोर्ड नियुक्त किया गया, जिसमें सर हैनरी लारेंस, जान लारेंस एवं चार्ल्स मेन्सल थे। बोर्ड का कार्य तीन भागों में बांटा गया अर्थात् राजनीतिक, आय और न्याय सम्बन्धी। खालसा सेना भंग कर दी गई और उसके कुछ सैनिकों को अंग्रेजों की भारतीय सेना में भर्ती कर लिया गया। प्रजा की भलाई के कार्य किये गए, सड़कें बनवाई गईं तथा नहरें खोदी गईं। भूमि का लगान घटा दिया गया।

बर्मा की दूसरी लड़ाई : अंग्रेजों ने भारत के उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य की सीमा फैलाने के बाद पूर्व में फैलाई। डलहौजी ने बर्मा के साथ जो व्यवहार किया उससे उसकी साम्राज्य की उत्कृष्ट भूख प्रत्यक्ष दिखलाई देती है। बर्मा की पहली लड़ाई के बाद बहुत से अंग्रेज व्यापारी बर्मा के स्वतन्त्र राज्य में बस गए थे। ये व्यापारी बर्मा के लगाये हुए करों को बड़ा कठोर समझते थे। उन्होंने १८५१

में डलहौजी से सहायता की प्रार्थना की। डलहौजी ने इतनी जल्दबाजी से काम लिया कि तुरन्त एक युद्ध-पोत बर्मा भेजा कि वह बर्मा के स्वतन्त्र राजा से कहे कि वह अपने को दुरुस्त करे। इस पोत के कप्तान ने बर्मा के राजा का पोत रोक लिया और बर्मा के बन्दरगाह को बन्द कर देने की घोषणा कर दी। फलस्वरूप उस पर बमबारी की गई। डलहौजी ने हर्जाने के स्वरूप १,००,००० पौंड बर्मा से माँगे, वरना युद्ध की धमकी दी। १८५२ में युद्ध आरम्भ हो गया। पीगू के प्रदेश पर जल व थल से आक्रमण हुआ और अंग्रेजों ने उसके मुख्य-मुख्य नगरों पर अधिकार कर लिया, जिनमें रंगून भी था। लड़ाई बन्द कर दी गई और पीगू का प्रदेश अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। इस भाँति समस्त निम्न बर्मा अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया। ऊपरी बर्मा, बर्मा वालों के पास ही रहा, परन्तु समुद्र से उनका सम्बन्ध टूट गया।

डलहौजी ने शेष भागों को अंग्रेजी राज्य में शान्तिपूर्ण ढंग से मिलाया, जिनको दो श्रेणियों में बांट सकते हैं: (१) लैप्स (Lapse) की नीति द्वारा जो प्रदेश मिलाये गये, अथवा (२) कुशासन के कारण जिन प्रदेशों को मिलाया गया। इन प्रदेशों को डलहौजी ने इसलिए अंग्रेजी राज्य में मिलाया क्योंकि उसको विश्वास था कि अंग्रेजी शासन भारतीय शासन से श्रेष्ठ है। डलहौजी को यदि किसी भी प्रदेश को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का अवसर मिलता था तो वह उसे काम में लाने में कभी नहीं चूकता था।

लैप्स की नीति (Doctrine of Lapse) : यह नीति यह सोचकर बनाई गई थी कि यदि कोई आश्रित राजा निःसन्तान मर जाय तो उसका राज्य अंग्रेजी राज्य में मिल जाय। दत्तक पुत्र लेने की प्रथा के कारण इस नीति में विघ्न उपस्थित हुआ। समस्त हिन्दू, जिनमें राजा भी शामिल हैं, यह आवश्यक समझते हैं कि उनकी अन्तिम दाह-क्रिया उनके पुत्र द्वारा ही सम्पादित की जाय और यदि उनके सन्तान नहीं होती तो वे किसी को गोद ले लेते हैं। दत्तक पुत्र को पिता की निजी सम्पत्ति पर अधिकार होता है परन्तु राज्य का अधिकार मिलना दूसरी बात है, क्योंकि इसमें लाखों मनुष्यों का हिताहित निहित होता है। १८१८ से पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत की शासक नहीं थी, अतएव वह भारतीय राज्यों के उत्तराधिकार-सम्बन्धी मामले में हस्तक्षेप नहीं करती थी। १८१८ और १८३४ के बीच कम्पनी ने आश्रित राज्यों में दत्तक पुत्र की प्रथा को स्वीकार कर लिया। १८३४ में कम्पनी ने यह प्रस्ताव पास किया कि गोद लेने की क्रिया कम्पनी की दया पर निर्भर है न कि अधिकार के तौर पर, अतएव दत्तक पुत्र लेने से पूर्व कम्पनी की अनुमति लेना आवश्यक था। १८४१ में कम्पनी ने निश्चय किया कि गोद का अधिकार स्वीकार नहीं किया जायगा, क्योंकि ब्रिटिश राज्य के बढ़ाने के प्रत्येक अवसर का स्वागत किया जायगा।

लैप्स की नीति से जिन प्रदेशों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया :

डलहौजी ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने का इच्छुक था, अतएव उसने निश्चय किया कि वह किसी राजा को दत्तक पुत्र लेने की अनुमति नहीं देगा और इस भाँति उन रियासतों को अपने साम्राज्य में मिला लेगा, जैसे (१) हैदराबाद जो विशेष तौर पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर निर्भर था, (२) ऐसी रियासतें, जैसे नागपुर, जिनको विजय कर लेने पर भी वापस दे दिया गया था, (३) ऐसी रियासतें, जैसे मैसूर और सतारा, जिनको पार्लियामेंट के अनुसार स्थापित किया गया था। लैप्स की नीति के अनुसार डलहौजी ने सतारा को १८४८ में, जैतपुर को १८४९ में, सम्भलपुर को १८४९ में, बघाट को १८५० में, उदयपुर को १८५२ में, झाँसी और नागपुर को १८५४ में ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

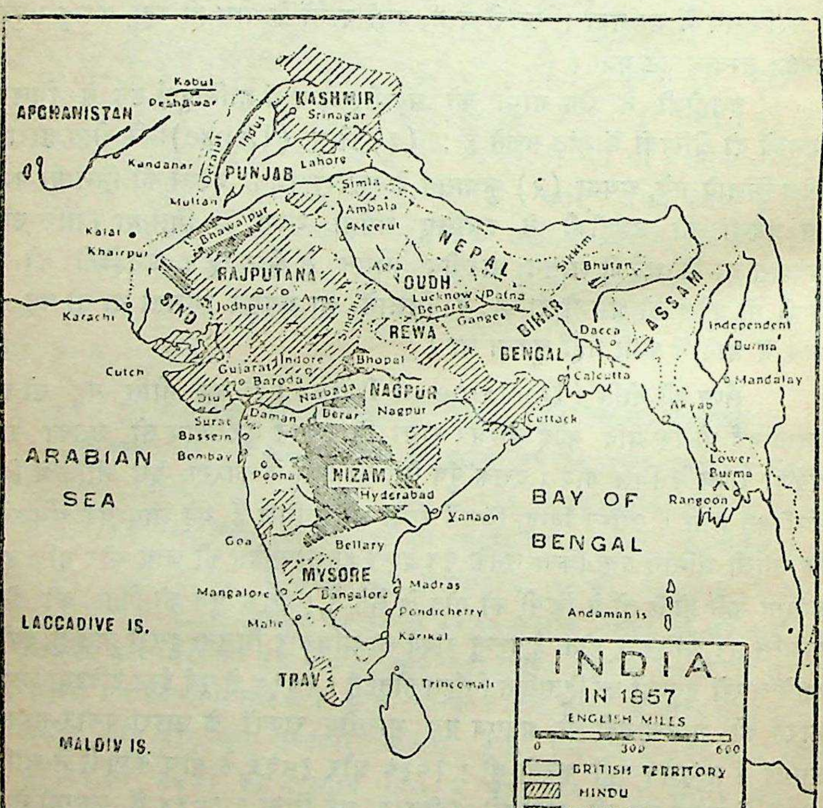
Kabul
Peshawar
AFGHANISTAN
KASHMIR
Srinagar
Indus
Derajat
Kandahar
PUNJAB
Lahore
Simla
Multan
Ambala
Meerut
Kalat
Bhawalpur
Khairpur
NEPAL
Sikkim
Bhutan
RAJPUTANA
Agra
OUDH
ASSAM
SIND
Ajmer
Lucknow
Patna
Karachi
Jodhpur
Benares
Ganges
BIHAR
Dacca
Independent
Burma
REWA
BENGAL
Cutch
Gujarat
Indore
Bhopal
Calcutta
Mandalay
Baroda
Narbada
NAGPUR
Diu
Akyab
Surat
Daman
Berar
Nagpur
Cuttack
Bassein
ARABIAN
SEA
Bombay
Poona
NIZAM
Hyderabad
Lower
Burma
BAY OF
BENGAL
Rangoon
Yanaon
Goa
Bellary
MYSORE
Mangalore
Bangalore
Madras
Pondicherry
Andaman is
LACCADIVE IS.
Mahe
Karikal
TRAV
Trincomali
MALDIV IS.
INDIA
IN 1857
ENGLISH MILES
0
300
600
BRITISH TERRITORY
HINDU
MAHOMEDAN

अवध को ब्रिटिश राज्य में मिलाना : बक्सर की लड़ाई के बाद अवध का प्रदेश नवाब वजीर को दे दिया गया था। १८०१ में बेलेज़ली ने अवध से सहायक सन्धि की थी, जिसके अनुसार उसको आन्तरिक स्वतन्त्रता मिली हुई थी, परन्तु उसकी सुरक्षा का भार कम्पनी पर था। १८१९ में हेस्टिंग्स ने नवाब को बादशाह की उपाधि दी थी। बादशाह का शासन ठीक नहीं था। दरबार में भोग-विलास की अनेक सामग्रियाँ इकट्ठी की गई थीं, जिनको पूरा करने के लिए बेचारी प्रजा

को सताया जाता था। १८३१ व १८४७ में अवध को चेतावनियाँ दीं गईं थीं। स्लीमैन तथा ऊट्राम ने जब अवध की कुशासन की बहुत शिकायत की तो १८५६ में डाइरेक्टरों की कोर्ट ने अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेने की आज्ञा भेज दी। इस प्रकार कम्पनी और अवध में संधियाँ हुई थीं उन सबको तोड़ दिया गया।

डलहौज़ी ने केवल उन्हीं प्रदेशों को ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं मिलाया जिनका कि ऊपर वर्णन हो चुका है, वरन् बहुत सी नाममात्र की रियासतों को समाप्त कर दिया। १८५३ में जब कर्नाटक का नवाब मरा तो वहाँ की नवाबी तोड़ दी गई। जब तंजौर का राजा मरा और कोई पुत्र नहीं छोड़ा तो तंजौर के राजा की उपाधि छीन ली गई। १८५३ में जब पेशवा बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हो गई तो ८०,००० पौंड की वार्षिक-वृत्ति उसके दत्तक पुत्र नाना साहब को नहीं दी गई। डलहौजी ने जब मुगल साम्राज्य को भी अंग्रेजी राज्य में मिलाना चाहा तो डाइरेक्टरों की कोर्ट ने अनुमति नहीं दी।

अन्तर्देशीय शासन : डलहौज़ी के समय में ही भारत में सर्वप्रथम रेलवे लाइन डाली गई तथा समस्त भारत के लिए डाक का टिकट २ पैसे नियत किया गया। भारत के भिन्न-भिन्न भागों में सेना व प्रजा के हित के लिए तारघर खोले गए। डलहौजी ने सैनिक बोर्ड के स्थान पर पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट खोला। सड़कें बनवाई गईं व सिंचाई के विभाग में वृद्धि की गई। १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा-सम्बन्धी एक लेख प्रकाशित किया, जिसको भारतवर्ष पर लागू किया गया, जिसमें विविध श्रेणी के स्कूलों की पूरी व्याख्या थी और उच्चकोटि की शिक्षा-संस्थाओं का नियन्त्रण सीधा सरकार के जिम्मे हो गया तथा उसी से सहायता प्राप्त होने लगी।

१८५३ का चार्टर बदल गया : ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर इससे पूर्व निश्चित समय के लिए बदल जाता था। १८५३ में चार्टर २० वर्ष के नियत समय के लिए नहीं बदला गया वरन् वह पार्लियामेंट की मर्जी पर छोड़ दिया गया। १८५३ के चार्टर से कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स में परिवर्तन किया गया। डायरेक्टरों की संख्या २४ से घटा कर १८ कर दी गई। इनमें से ६ की नियुक्ति इंग्लैंड का बादशाह करता था, जिससे उसको भारतीय समाचारों का ज्ञान होता रहे। सिविल सर्विस पद की प्रतियोगिता में सर्वसाधारण बैठ सकते थे। बंगाल को प्रथक् प्रान्तीय सरकार बनाने का अधिकार दिया गया। गवर्नर-जनरल की काउन्सिल के सदस्य बढ़ाकर १२ कर दिए, जिससे वे कानून आदि बना सकें।

डलहौजी ने १८५६ में भारत छोड़ा, जबकि एक तूफान उठना आरम्भ हो चुका था, जिसने अगले वर्ष बड़ा भयंकर रूप धारण किया और जिसका बहुत-कुछ उत्तरदायित्व उस पर था।

लार्ड डलहौजी १८५७ के गदर के लिए कहाँ तक उत्तरदायी था ? डलहौजी ने १८५६ में भारत छोड़ा और १८५७ में गदर हुआ। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं

कि लोग एक-दूसरे में घनिष्ट सम्बन्ध समझते हैं। कहा जाता है कि डलहौजी की उपेक्षा तथा दुर्व्यवहार की नीति गदर का कारण थी। यह जोरों से कहा जाता है कि लार्ड डलहौजी किसी-न-किसी बहाने देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की जल्दी में था। सारा-का-सारा देश हड़प कर लेने की उसकी इस नीति से ही लोगों में कटुता और निराशा बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप १८५७ का गदर हुआ। डलहौजी ने पंजाब को जीता और अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया। द्वितीय युद्ध के पश्चात् १८५२ में बर्मा के समूचे निचले भाग को भी उसने हथिया लिया। Lapse की नीति द्वारा उसने १८४८ में सतारा, १८४९ में जयपुर और सम्भलपुर, १८५० में बघाट, १८५२ में उदयपुर, १८५३ में झाँसी और १८५४ में नागपुर पर कब्जा कर लिया। इसके अलावा उसने १८५४ में बरार और १८५६ में अवध के राज्य पर भी कब्जा कर लिया। अवध के अपहरण से देशी राजाओं में बड़ी निराशा फैल गई। हर-एक को अपनी सुरक्षा के लिए भय होने लगा। कोई भी राज्य किसी भी समय छीना जा सकता था। राज्य छिन जाने का यही सर्वसाधारण भय था, जिससे देशी राज्य संगठित होकर, अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए कटिबद्ध हो गए। जिन राज्यों में ब्रिटिश साम्राज्य को मिला लिया गया था उनकी सेना के टूटने से ऐसे बेकार सैनिकों की संख्या अवश्य बढ़ गई। सभी अंग्रेजी के विरुद्ध लड़ाई में भाग लेने के लिए बहुत उत्सुक थे। झांसी की रानी ने प्रलय मचा दी। नाना साहब, जिनकी पेन्शन डलहौजी ने रोक दी थी, अंग्रेजी कम्पनी का परम शत्रु बन गया और देश के कोने-कोने में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने हेतु संगठन करने के लिए घूमने लगा।

डलहौज़ी के ही काल में रेल, तार, डाक आदि का निर्माण हुआ, और १८५४ में वुड ने शिक्षा की जो योजना बनाई थी उसी के अनुसार भारतवासियों में शिक्षा का प्रचार किया जाने लगा। लोग इन नवीन कानूनों से बहुत बिगड़े और शिकायत करने लगे कि इन सबका मुख्य प्रयोजन भारतीयों का धर्म नष्ट करना है। यह सच है कि ये सब सुधार अच्छे उद्देश्य को लेकर किए गये थे, किन्तु भारतवासियों को डलहौज़ी के सुधारों में श्रद्धा न थी, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे उसे साम्राज्यवादी समझकर उसकी निन्दा करते थे। यह भी कहा जाता है कि बहुत से योरपीय सैनिक क्रीमिया के युद्ध में भाग लेने के लिए भारत से चले गए, तो भी डलहौज़ी ने भारतीय और अंग्रेज सैनिकों का अनुपात ठीक बनाये रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस क्षेत्र में अपनी निष्क्रियता के कारण डलहौज़ी की निन्दा की जाती है। उसे चाहिए था कि वह और भर्ती करता जिससे कि दोनों का ठीक संतुलन बना रहता। परन्तु डलहौज़ी ने ऐसा कुछ नहीं किया।

हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि जहाँ तक अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का प्रश्न था डलहौज़ी निर्दोष था, क्योंकि वह अवध को हथियाने के पक्ष में न था, किन्तु उसकी राय को कम्पनी के डायरेक्टरों ने नहीं माना और उसे

अवध पर कब्जा कर लेने का आदेश दिया। तो भी डलहौजी को जो १८५७ के विद्रोह के लिए दोषी ठहराया गया है, उससे वह पूर्णरूप से मुक्त नहीं किया जा सकता। उसे भारतवासियों पर भरोसा न था और वह उनके साथ अच्छा व्यवहार न करता था। साथ ही डलहौजी ने ऐसी परिस्थिति पैदा करदी थी कि उसके बाद आने वाले गवर्नर-जनरल को कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा।

Questions

1. Explain the policy of Wellesly and state thesteps that he took to consolidate the British power in India.
   वेलेज़ली की नीति की समीक्षा करो और बताओ कि उसने भारत में अंग्रेजों की शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए क्या कदम उठाया।
2. Give an account of the reforms of Lord William Bantink.
   विलियम बैंटिक के सुधारों का वर्णन करो।
3. Write brief notes on the following:—
   (a) Dupleix, (b) Permanent Settlement of Bengal.
   निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो :—
   (क) डूप्ले, (ख) बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त।
4. Discuss the causes of the First Burmese War.
   बर्मा के प्रथम युद्ध के कारणों की समीक्षा करो।
5. What led to the downfall of the Marhatta Empire in India.
   भारत में मरहठा साम्राज्य का पतन क्यों हुआ ?
6. State and discuss the Afghan Policy of Lord Auckland.
   लार्ड आक़लैंड की अफ़गान-नीति बताओ तथा उसकी आलोचना करो।
7. Write a note on the Doctrine of Lapse and its application by Dalhousie.
   लैप्स की नीति पर टिप्पणी देते हुए बताओ कि डलहौज़ी ने इस पर किस प्रकार अमल किया।

अध्याय २६

१८५७ का विद्रोह

लार्ड केनिंग (१८५६-६२)

गदर : लार्ड डलहौज़ी के बाद लार्ड केनिंग गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ जो कि एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ का बेटा था। भारत में पदार्पण करते ही शीघ्र ही केनिंग को पामर्स्टन की उग्र विदेशी-नीति के कारण दो विदेशी युद्धों में भाग लेना पड़ा इनमें से एक फारस का युद्ध था (१८५६)। १८५५ में तेहरान में अंग्रेज मंत्री को निकाल दिया गया था तथा १८५६ में फ़ारस ने हिरात पर घेरा डाल दिया था। अंग्रेज सेना ने फ़ारस की खाड़ी में घुसकर बुशायर पर अधिकार कर लिया तथा फ़ारस को हरा दिया। इसके फलस्वरूप फ़ारस ने सन्धि कर ली। हिरात को खाली कर दिया तथा वायदा किया कि भविष्य में कभी अफ़गानों की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करेगा। चीन में १८५६ से १८६० तक युद्ध होता रहा। इन दोनों युद्धों में अंग्रेजों को भारत से बहुत सी सेना भेजनी पड़ी। यह बात किसी अंश तक ग़दर का कारण बनी। केनिंग ने दोस्तमोहम्मद से १८५७ में सन्धि कर ली जैसी १८५५ में डलहौज़ी ने की थी और अमीर को भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने से मना कर दिया।

गदर—उसका रूप : १८५७ में जो अशान्ति फैली तथा जो ग़दर के नाम से मशहूर है, उसके विषय में अनेक मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह केवल सैनिकों का विद्रोह था तथा किसी पूर्व षड्यन्त्र के फलस्वरूप नहीं था, और कुछ विद्वानों का मत है कि यह विदेशी शासकों के विरुद्ध राष्ट्रीय जागृति थी, अर्थात् यह स्वतंत्रता-संग्राम था। सर जेम्स ऊट्राम का विश्वास है कि यह मुसलमानों का षड्यन्त्र था जिन्होंने हिन्दुओं की शिकायतों से सुअवसर उठाना चाहा था। यथार्थ में दोनों ही मत अत्योक्तिपूर्ण हैं और वास्तविकता दोनों मतों के बीच में स्थित है। विप्लव की उत्पत्ति वास्तव में सेना से ही हुई, परन्तु हुई ऐसे समय में जब सर्वत्र असन्तोष की लहर फैली हुई थी, अतएव इनमें नाना साहब तथा नव-जाग्रत मुगलों ने योग देकर उसको राष्ट्रीयता का रूप दे दिया। सहारनपुर, मुजफ्फ़रनगर आदि स्थानों में तो लोगों ने सिपाहियों से पहले ही विद्रोह शुरू कर दिया था। उन्होंने धर्म परिवर्तन के भय से वैसा किया था। जहाँ मुसलमानों का विशेष जोर था, खास तौर से बरेली में, इसने ईसायत के विरुद्ध जहाद का रूप धारण किया।

यह इतनी दूर-दूर तक फैल गया था कि इसको केवल सैनिकों का ही विद्रोह नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसको राष्ट्र की स्वाधीनता की लड़ाई भी नहीं कह सकते, क्योंकि जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग तटस्थ रहा था और सिक्ख, अफ़गान, गोरखे तथा देशी राजा इससे अलग रहे। नर्वदा के दक्षिण में इसका प्रभाव नगण्य था।

इसके कारण : ग़दर के अनेक कारण थे और एक दूसरे से सम्बन्धित थे। उन सबको पाँच शीर्षकों में बाँट सकते हैं—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सैनिक।

(क) राजनीतिक : डलहौज़ी की जो युद्ध द्वारा, लैप्स की नीति द्वारा व कुशासन के बहाने से राज्य बढ़ाने की जो उग्र-नीति थी, उससे सर्वत्र लोगों में आतंक छा गया। मुगल बादशाहों व शाहज़ादों के साथ जो उसका बर्ताव, उनको दिल्ली में हटाकर अवध भेजने का विचार, अवध के नवाब-वजीर को सिंहासन से उतारना, नाना साहब की पेन्शन बन्द करना, छोटी-मोटी रियासतों को खत्म कर देना आदि बातों के कारण देश में अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष फैल गया। मुग़ल व मरहठे दोनों सोचते थे कि अंग्रेजों ने उनके साम्राज्य का विनाश किया है और दोनों ही अपना अपना राज्य पाने के लिए पुनः लालायित थे।

(ख) सामाजिक व आर्थिक : बहुत राज्यों के ब्रिटिश साम्राज्य में मिल जाने के कारण अनेक भारतीय अधिकारी अपनी जीविका से हाथ धो बैठे तथा बेकार हो गए, यद्यपि वे चतुर और अनुभवी थे। इसके अतिरिक्त विजय करने के बाद जब अंग्रेजों ने भूमि का बन्दोबस्त बनाया तो ज़मींदारों के अधिकारों को रैयत के लिए छीन लिया गया। इनाम कमीशन (Inam Commission) ने बम्बई में लगभग २०,००० जागीरों का अपहरण कर लिया। बड़े-बड़े राजा और अमीर निर्धन हो गए, अतएव अंग्रेजों के प्रति उनका वैमनस्य स्वाभाविक था। यह बात अवध में विशेष तौर पर लागू थी। अनेक राज्यों को जीतकर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेने के बाद भारतीय सेनाओं को भंग कर दिया गया, जिनसे अनुभवी व महत्वाकाँक्षी सैनिक बेकार हो गए।

(ग) धार्मिक : हिन्दू व मुसलमान दोनों के दिलों में इस संदेह ने घर कर लिया था कि अंग्रेज उनके प्राचीन रीति-रिवाजों को तोड़कर उनको ईसाई बनाना चाहते हैं। अनेक कार्य ऐसे थे जिनको भारतीय अपने धर्म पर सीधा वार समझते थे, जैसे ईसाई मत के प्रचारकों की हलचलें, सरकार की उनके साथ खास रियायतें, १८३४ के बाद से अंग्रेजी शिक्षा का विशेष प्रचार, अंग्रेजों द्वारा प्राचीन रिवाजों, जैसे सती, बाल-हत्या, विधवा-विवाह आदि, के विरुद्ध चेष्टा, 'शैतानी' रेलों व तार-घरों का बनाना तथा जो लोग धर्म-परिवर्तन करके ईसाई हो जाते थे उनका अपने पूर्वजों की सम्पत्ति पर अधिकार आदि।

(घ) सैनिक : गदर का सबसे महत्वपूर्ण सैनिक कारण यह था कि फ़ारस और चीनी युद्ध के कारण भारतीय सेना में अंग्रेजों की संख्या बहुत ही कम रह गई

थी। सेना में ६ भारतीय सैनिकों के पीछे एक अंग्रेज सैनिक होता था। इलाहाबाद व कलकत्ता के बीच अंग्रेजों की केवल एक पल्टन थी। सेना से नियंत्रण उठ गया था। गदर के पहले सेना में १३ वर्ष में चार बार विद्रोह हो चुका था। बंगाल की सेना में उच्च जाति के सैनिकों की बहुतायत थी और नियंत्रण शिथिल था, क्योंकि एक स्थान की पल्टन में स्थानीय सैनिक ही होते थे। जब भारत से बाहर जाने के लिए सेना के भारतीय सैनिकों को विवश किया गया तो उच्च जातीय हिन्दू, जैसे ब्राह्मण और राजपूत, सोचने लगे कि समुद्र-पार ले जाकर अंग्रेज उनका धर्म भ्रष्ट करना चाहते हैं। पंजाब को छोड़कर कहीं भी सेना व सामग्री को उचित अनुपात में नहीं रखा गया था। इलाहाबाद तथा दिल्ली जैसे महत्वपूर्ण नगरों के दुर्गों में केवल भारतीय सैनिक रखे गए थे। चर्बी लगे हुए कारतूस मिलने पर हिन्दू व मुसलमान दोनों कुपित हुए क्योंकि उनको सन्देह था कि चर्बी गाय व सूअर की थी।

विद्रोह की घटनाएँ : भारतीय सेना में उसी प्रकार घृणा थी जैसे समस्त भारतीय जनता में ब्रिटिश सरकार के प्रति गहरी आशंका व घृणा के भाव फैले हुए थे। यह विद्रोहाग्नि कहीं-कहीं १८५७ के आरम्भ में ही भड़क उठी थी। बंगाल के बहरामपुर नगर में १९वीं भारतीय पदाति सेना ने विद्रोह कर दिया था। फिर २९ मार्च को ३४वीं पदाति सेना के सिपाही मंगल पांडे ने एक अंग्रेज अफ़सर पर हमला किया। अन्य सिपाहियों ने भी उसके साथ सहानुभूति दिखलाई और उस पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। मंगल पांडे को सैनिक न्यायालय के द्वारा फाँसी दी गई, किन्तु इस घटना से भारतीय सेना में अंग्रेजों के विरुद्ध आग भड़क उठी।

इस घटना के बाद भी ब्रिटिश शासकों ने भारतीय सेना को संतुष्ट करने का कोई विशेष प्रयत्न न किया। इस समय लार्ड केनिंग ब्रिटिश सरकार की ओर से हिन्दुस्तान का गवर्नर-जनरल था। उसे भारतीय वायुमण्डल तथा तत्कालीन स्थिति का बहुत कम ज्ञान था। इस कारण जो आवश्यक कार्य सेना के असंतोष का समाधान करने के लिए किए जा सकते थे, न किए गए। विद्रोह की तैयारी बहुत दिनों से की जा रही थी और मई सन् १८५७ के अन्त में इस संग्राम को आरंभ करने का निर्णय किया गया था। परन्तु कुछ आकस्मिक कारणों से वह पहले ही आरम्भ हो गया। २३ अप्रैल को मेरठ में भारतीय घुड़सवार सेना के ८५ सिपाहियों ने उनके नए कारतूसों को लेने से इन्कार कर दिया। उनको सैनिक न्यायालय ने १० साल की सख्त सजा दी और यह हुक्म ९ मई को सुनाया गया। इस पर इन लोगों को बेड़ियाँ पहनाकर जेल में बन्द कर दिया गया। १० मई के प्रात: काल मेरठ की समस्त भारतीय सेना ने विद्रोह कर दिया। इसके साथ शहर की जनता ने भी सहयोग दिया। जहाँ-कहीं अंग्रेज अथवा ईसाई दीख पड़े, सबको तलवार के घाट उतारा और फिर ये सब लोग दिल्ली की तरफ रवाना हुए। दिल्ली पहुँचकर इन्होंने बादशाह बहादुरशाह को अपना नेता तथा स्वतंत्र भारत का सम्राट् घोषित किया और शहर के अंग्रेज व

ईसाइयों को नष्ट करना आरंभ किया। यहाँ की भारतीय सेना भी इन लोगों के साथ मिल गई। बचे-खुचे अंग्रेज तथा उनकी सेनाएँ दिल्ली से जान बचाकर इधर-उधर भागों और भारतीय सेना ने दिल्ली शहर पर कब्जा कर लिया। इसके बाद धीरे-धीरे देश के कोने-कोने में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी जिससे अंग्रेजों के पैर उखड़ गए। पंजाब के फीरोजपुर, फिल्लौर, अम्बाला आदि शहरों में भी सेनाओं ने विद्रोह कर दिये, किन्तु सिक्ख तथा गुरखा सेनाओं ने अंग्रेजों का साथ न छोड़ा और उनको पूरी सहायता दी। पंजाब में अंग्रेज तैयारी करके दिल्ली की ओर बढ़े, क्योंकि वे समझते थे कि दिल्ली का वापस लेना सबसे अधिक आवश्यक बात है। दिल्ली में हिन्दुस्तानी सेना का संगठन समुचित न था। जो सेनाएँ जगह-जगह से विद्रोह करके दिल्ली में पहुँचीं वे परस्पर एकता करके लड़ाई न कर सकीं। दूसरे, इन लोगों ने शहर के बाहर पहाड़ियों पर अधिकार न किया और उन्हें शत्रु के लिए खाली छोड़ दिया। शहर के पूर्व में जमुना की सावधानी से रक्षा न की गई ताकि अंग्रेजी सेना उस ओर से शहर में घुसने न पाए। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज सेनाएँ पंजाब तथा मेरठ आदि से आ कर एकत्रित हो गई और दिल्ली की ओर बढ़ीं। तो भी हिन्दुस्तानी सेना ने उनसे तीन-चार मोर्चे बड़े जबरदस्त लिए, यद्यपि अन्त में उनकी हार हुई। ३० मई सन् '५७ को गाज़ियाबाद के निकट हिंडन नदी के तट पर, जो दिल्ली से लगभग १० मील पर है, एक घमासान युद्ध हुआ और इसमें क्रांतिकारियों ने बड़े अद्‌भुत शौर्य का परिचय दिया, जिसकी प्रशंसा शत्रु ने भी की। इस युद्ध में दोनों दलों में किसकी जीत हुई, यह कहना कठिन है क्योंकि ब्रिटिश सेना ने इस रास्ते से दिल्ली पहुँचने का विचार छोड़कर जमुना के किनारे उत्तर की तरफ कोई २५ मील चलकर बागपत के निकट दरिया को पार करने का निश्चय किया। हिन्दुस्तानी सेना को शायद इसकी खबर न मिली। किन्तु दिल्ली से गाजियाबाद तक की भूमि क्रान्तिकारियों के हाथ में ही रही।

शहर की रक्षा करने के लिए क्रान्तिकरियों ने कई स्थानों पर अपने मोर्चे बना लिए थे। बादली की सराय पर, जो दिल्ली से लगभग ८ मील उत्तर में है, अपना मोर्चा जमा लिया था। किन्तु यहाँ ८ जून को उन पर पंजाब से आई हुई अंग्रेजी सेना ने आक्रमण करके उन्हें पीछे हटा दिया और आगे बढ़कर पहाड़ी पर अधिकार कर लिया। बादली की सराय के युद्ध में हिन्दुस्तानी सेना की हार हुई और वे अंग्रेजों को आगे बढ़ने से न रोक सके। पहाड़ी के मुख्य-मुख्य नाकों पर अंग्रेजों ने अपने मोर्चे बनाकर शहर की तरफ गोलाबारी करने के लिए तोपें चढ़ा दीं। इसके बाद लगभग ३ महीने तक दोनों में लड़ाइयाँ होती रही और वे एक-दूसरे पर छापा मारने की कोशिश करते रहे। हिन्दुस्तानी सेना ने कई बार अंग्रेजों पर भयानक आक्रमण किए और उनको बहुत क्षति पहुँचाई। अन्त में २० सितम्बर तक लगभग सारे शहर पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया और ब्रिटिश सैनिक हडसन ने २३ तारीख को बादशाह और उसके लड़कों को पकड़ लिया। बादशाह को क़ैद में रखा गया और लड़कों को गोली मार कर वध कर दिया।

जब मेरठ में ये घटनाएँ हो रही थीं देश में अन्य स्थानों पर भी विद्रोह होने लगे। कानपुर में ४ जून को भारतीय सेनाओं ने विद्रोह किया और सरकारी खजाने को लूटकर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। लखनऊ में पहले से ही असंतोष खुले रूप में प्रकट हो रहा था। हिन्दुस्तानी सेनाओं ने अप्रैल मास में ही विद्रोह कर दिया था और अवध के चीफ़ कमिश्नर हेनरी लारेंस को उन्हें नौकरी से निकाल देने पर विवश होना पड़ा था। इसी प्रकार सीतापुर, आजमगढ़, फैजाबाद, बनारस व सुल्तानपुर आदि स्थानों पर भी हिन्दुस्तानी सेनाओं ने विद्रोह कर दिए। इसी प्रकार आगरा, ग्वालियर तथा झाँसी आदि नगरों में व समस्त मध्य भारत में विद्रोह उठ खड़े हुए। मध्य भारत और मालवा के नीमच आदि स्थानों से सेनाएँ दिल्ली की ओर चल पड़ीं। पूर्वी प्रदेशों में बिहार तथा दक्षिण में हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत विद्रोह आरम्भ हो गए। नर्मदा के उत्तर में भी अधिकांश छावनियों के भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज अफ़सरों को मार डाला। कानपुर में नाना साहब क्रान्तिकारियों के नेता बन गए और उनको पेशवा घोषित किया गया। लखनऊ में क्रान्तिकारियों ने नगर पर अधिकार कर लिया, परन्तु छावनी पर अंग्रेजी सेना का अधिकार बना रहा और बाद में सहायक सेना आने पर उन्होंने पुनः लखनऊ पर कब्जा कर लिया। बरेली क्रान्तिकारियों के हाथ लग गया था, परन्तु कुछ समय के पश्चात् उनके हाथों से निकल गया। १८५८ तक अवध में सभी विद्रोहियों का सफ़ाया हो चुका था। बम्बई से एक सेना आई, जिसने मध्य भारत में युद्ध किया और कालपी पर अधिकार कर लिया। इसके बाद अंग्रेजों ने झाँसी पर अधिकार कर लिया। परन्तु झाँसी की रानी और ताँत्या टोपे निकल भागे। दोनों ने मिलकर ग्वालियर में अंग्रेजों से युद्ध किया। रानी युद्ध करती हुई वीरगति को प्राप्त हुई परन्तु ताँत्या टोपे पुनः बच गया। अंग्रेजों ने जरनल निकलसन के अधीन दिल्ली का घेरा डाल दिया तथा सिक्खों और अफगानों की सहायता से उस पर सितम्बर १८५७ में अधिकार कर लिया। मुगल बादशाह और शहजादे बन्दी हुए। शहजादों का वध करवा दिया गया और बादशाह को रंगून भेज दिया गया। १८५९ तक गदर पूर्ण-रूप से समाप्त हो गया। हैदराबाद के सर सालारजंग और सिन्धिया के प्रयत्नों से दक्षिण में गदर नहीं फैला।

ग़दर की असफलता : ग़दर का आरम्भ बहुत जोरदार था, परन्तु उसका दमन कर दिया गया। इसकी विफलता के अनेक कारण थे। देशी राजा अधिकाँश में अंग्रेजों की ओर रहे जिससे गदर सर्वव्यापी न होकर स्थानीय ही बना रहा। अफ़गान तथा गोरखों ने ग़दर में भाग नहीं लिया। दक्षिण भारत, मध्य, तथा पूर्वी बंगाल ग़दर से अप्रभावित रहे। विप्लवकारियों के लिए कोई एक विशेष स्थान नहीं था जहाँ मिलकर संगठित कार्यवाही करते तथा झाँसी की रानी को छोड़कर उनका कोई योग्य नेता नहीं था जो उन्हें सफलता के पथ पर ले जाता। उन्होंने रेल व तार का उपयोग नहीं किया। अतएव उनकी प्रगति धीमी व अव्यवस्थित थी। अंग्रेजों का तोपखाना विप्लवकारियों के तोपखाने से कहीं श्रेष्ट था। अंग्रेजी सेना में अनेक

योग्य सेनानायक व जनरल थे, जैसे लारेंस, ऊट्राम तथा हैवलाक इत्यादि। विप्लवकारी हिन्दुओं व मुसलमानों तथा मुगलों और मरहठों के पुराने वैमनस्य के कारण अलग अलग रहे और अधिक काल तक श्रेष्ठ तथा सुव्यवस्थित अंग्रेजी सरकार के आगे नहीं टिक सके, जिनके पास भारत जैसे विशाल देश के अनेक साधन प्राप्त थे।

ग़दर के परिणाम : ग़दर का सबसे पहला यह परिणाम हुआ कि १८५८ में पार्लियामेंट ने एक एक्ट बनाकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल तोड़ लिए। भारत का शासन भारतीय अंग्रेजी सरकार के हाथों से निकलकर इंगलैंड के बादशाह के हाथों में आ गया। गवर्नर-जनरल को वायसराय की भी उपाधि दी गई तथा उसका उत्तरदायित्व ब्रिटिश पार्लियामेंट के विदेश मन्त्री पर पड़ा। बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के अधिकार भारत के विदेश-मन्त्री तथा १५ सदस्यों की इण्डिया काउन्सिल को दे दिए गये। इन पन्द्रह सदस्यों में कम-से-कम आठ ऐसे होते थे जो भारत में कर्मचारी रह चुके हों।

नवम्बर १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा निकाली जो भारतीय जजों व शासकों के लिए थी, जिसमें धार्मिक सहिष्णुता का आश्वासन दिया गया था तथा सबके साथ समान व्यवहार किया जाय, इस सिद्धान्त का अंग्रेजी राज्य में पालन किया जायगा। केवल उन लोगों को छोड़कर जिन्होंने भयंकर अपराध किए थे, समस्त राजद्रोहियों को क्षमा कर दिया जायगा। जिन लोगों को जो अधिकार व सुविधाएँ मिली हुई हैं व जिन लोगों से जो संधियाँ की हुई हैं उनको सुरक्षित रखा जायगा। इसके अतिरिक्त जो लोग जिस पद के लिए शिक्षित, योग्य व विश्वास पात्र होंगे उनको वह पद देते समय जाति, रंग व धर्म का कोई विचार नहीं किया जायेगा। घोषणा में यह भी कहा गया है कि ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने की कोई भावना नहीं रखी जायेगी और वायदा किया कि भारतीय शासकों के अधिकारों, गौरव व सम्मान की रक्षा की जायगी।

भारत सरकार ने स्पष्ट कर दिया कि उसने लैप्स की नीति को त्याग दिया है। भारतीय शासकों को दत्तक पुत्र लेने की सनदें प्रदान की गईं। भारतीय रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं मिलाया जायगा, परन्तु उनके अधिकार सीमित कर दिए व उनकी स्पष्ट व्याख्या की गई। वे शासक बिना ब्रिटिश सरकार की अनुमति के किसी भी विदेशी राजा से सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। उनकी सैनिक शक्ति कम कर दी गई।

१८६० में दण्ड विधान (Penal Code) और १८६१ में दीवानी और फौजदारी कार्यवाही-विधान पास होकर कानून बने। १८६१ के इण्डियन हाई कोर्ट ऐक्ट ने सुप्रीम कोर्ट व सदर अदालत को तोड़ दिया और उनके स्थान पर हरेक प्रेसीडेन्सी में हाई कोर्टों की स्थापना हुई। १८६१ के 'दि इण्डियन काउन्सिल ऐक्ट' के अनुसार कार्यकारिणी सभा (Executive Council) में पाँचवाँ सदस्य बढ़ाया गया तथा नियम-निर्माण-सभा (Legislative Council) में कम-से-

कम छः और अधिक-से-अधिक १२ सदस्य बढ़ाये गये जिनमें कम-से-कम आधे सदस्य गैर-सरकारी होते थे जिनको गवर्नर-जनरल नियुक्त करता था। अन्य प्रान्तों में भी लेजिस्लेटिव काउन्सिलें बनीं। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गये। १८६२ में केनिंग भारतवर्ष से वापस लौट गया।

Question

Discuss the causes of the Indian Mutiny. Why did it fail?

सन् १८५७ की क्रान्ति के कारण लिखो और यह भी बतलाओ कि वह क्यों असफल रही?

अध्याय २७

हिन्द और अफगानों के सम्बन्ध

लार्ड एलगिन प्रथम (१८६२-६३)

लार्ड एलगिन ने मार्च १८६२ में भारत के गवर्नर-जनरल का पद सँभाला। वह अनुभवी शासक था क्योंकि इससे पूर्व वह कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था। १८६३ में दिल की धड़कन बन्द हो जाने से उसकी मृत्यु हो गई। उसके थोड़े-से शासन-काल में केवल एक ही महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेश में बहाबियों ने सिर उठाया जो मुसलमानों का एक कट्टर वर्ग था। फलस्वरूप उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में उम्बेयला के मोर्चे में उनको दबा दिया गया।

सर जॉन लारेंस (१८६४-६९)

लार्ड एलगिन की मृत्यु के पश्चात् मद्रास के गवर्नर ने गवर्नर-जनरल के पद पर उस समय तक काम किया जब तक कि इंगलैंड से नया व्यक्ति नहीं आया। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में जागृति तथा हिन्द व भूटान की सीमा पर होने वाली गड़बड़ ने इंगलैंड के अधिकारियों के मन में यह विश्वास जमा दिया कि भारत में ऐसे सुदृढ़ गवर्नर-जनरल की नियुक्ति करनी चाहिए जो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तथा वहाँ के लोगों से भली-भाँति परिचित हो। उन्होंने जॉन लारेंस को इस पद के लिए चुना, जिसके शासन-काल में साम्राज्य में भूटान को छोड़कर पूर्णरूप से शान्ति बनी रही।

भूटान युद्ध : बंगाल की उत्तरी सीमा पर भूटान एक छोटा-सा पर्वतीय राज्य है। भूटानियों ने दवाड़ पर आक्रमण किया जोकि हिमालय की उपत्यका में भूटान के दक्षिण में एक लम्बी-सी पट्टी है और जिस पर अंग्रेज अपना आधिपत्य बताते थे। भूटान के राजा ने मिस्टर ऐश्ले ईडिन (Mr. Ashley Eden) को उड़ा लिया जिसको अंग्रेजों ने उसके पास सीमा पर आक्रमण करने के प्रश्न पर बातचीत करने के लिए भेजा था। लारेंस ने एक पल्टन भेजी, जिसने भूटान के दो महत्वपूर्ण गढ़ों पर अधिकार कर लिया। १८६५ में भारत व भूटान में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार भूटान ने ५,००० पौंड वार्षिक धन के बदले में दवाड़ छोड़ना स्वीकार किया।

उड़ीसा का दुर्भिक्ष : १८६५ में वर्षा न होने से चावल की फसल मारी गई, जिसके फलस्वरूप १८६७ में उड़ीसा में दूर-दूर तक दुर्भिक्ष फैल गया। लगभग

१० लाख मनुष्य भूख और रोग से काल-कवलित हो गये। बाढ़ आ जाने से लोगों की विपत्ति और भी बढ़ गई। बंगाल की सरकार, जिसका प्रधान लारेंस था, जनता के उन प्रयत्नों पर निर्भर रही जो उड़ीसा में खाद्य-सामग्री पहुँचाने में कर रहे थे। यातायात के साधन अच्छे नहीं थे और बिना सरकार की सहायता और ठीक व्यवस्था के पीड़ितों को उचित सहायता नहीं पहुँच सकती थी। कुछ समय पश्चात् लारेंस ने अकाल पीड़ितों को सहायता पहुँचाने के लिए उचित साधनों से काम लिया और तरह-तरह के सार्वजनिक कार्य खोल दिये। लारेंस ने अकाल की जिस नीति को अपनाया वह सैद्धान्तिक रूप से बिल्कुल ठीक थी। उसने जो सार्वजनिक कार्य खोले वे भविष्य में उत्पत्ति के साधन बन सकते थे। उनको खोलने के लिए प्रजा से ऋण लिया। लारेंस की अकाल-नीति में बाद में 'फैमिन इंश्यौरेंस फण्ड' भी शामिल हो गया तथा इसी फण्ड से रेल व नहरों की रक्षा होने लगी।

काश्त में सुधार : पजाब के अनुभव के कारण लारेंस ने इस बात का विशेष प्रयत्न किया कि जमींदारों से किसानों के हितों की रक्षा की जाय। १८६६ में अवध के लिए टेनैन्सी ऐक्ट पास किया गगा, जिसके द्वारा काश्तकारों के हितों की रक्षा ताल्लुकेदारों से की गई। पंजाब टेनैंसी ऐक्ट यद्यपि बाद में पास हुआ था परन्तु वह लारेंस के काल में ही लिखकर तैयार हो गया था।

हिन्द-अफगान सम्बन्ध—तटस्थता की नीति

प्रथम अफगान युद्ध के बाद दोस्तमोहम्मद के तख्त पर बैठ जाने तथा रूस और ब्रिटेन के सम्बन्ध अच्छे हो जाने के कारण कुछ समय के लिए भारत और अफगानिस्तान के सम्बन्ध सुधर गये थे। दोस्तमोहम्मद यद्यपि पेशावर को पाने का बहुत इच्छुक था तथापि उसने भारतीय विप्लव में कोई भाग नहीं लिया और बिल्कुल तटस्थ बना रहा। किन्तु भारतीय अंग्रेजों ने अपना व्यवहार वैसा नहीं रखा। १८६२ में दोस्तमोहम्मद ने जब हिरात पर आक्रमण किया तो लार्ड एलगिन ने उसकी इस कार्यवाही को पसन्द नहीं किया और अपने राजदूत को काबुल से वापस बुला लिया। अमीर दोस्तमोहम्मद की मृत्यु १८६३ में हो गई। उसी वर्ष जॉन लारेंस भारत का गवर्नर-जनरल होकर आया। उसने अफगानों के साथ नई नीति अपनाई, जिसके अनुसार उसने अफगानों से मित्रता तो बनाये रखी, परन्तु उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया।

सर जॉन लारेंस की अफगानिस्तान के विषय में नीति को निपुण अकर्मण्यता का नाम दिया जाता है। इसका अर्थ है कि सर जॉन लारेंस नहीं चाहता था कि अफगानिस्तान के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप किया जाय। उसका मत था कि अफगानों को स्वतन्त्रता इतनी प्रिय है कि वे किसी बाहरी व्यक्ति का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप अफगानों में क्रोध और विद्रोह की भावना पैदा कर देगा। लारेंस चाहता था कि भारत सरकार अफगानिस्तान के घरेलू मामलों में कभी हाथ न डालने की नीति अपनाए। यदि वहां गृह-युद्ध होता है तो भारत सरकार

को किसी भी दल का साथ देने से कोई मतलब नहीं। सबसे अच्छा यह है कि उनको उन पर ही छोड़ दिया जाय। जो व्यक्ति विजयी हो भारत सरकार उसी को शासक समझे। और उसको उसी समय तक शासक समझा जाय जब तक कि उसके हाथ में सत्ता हो, और जब कोई दूसरा व्यक्ति उसे हटाकर स्वयं शासक बन जाय तो उसे ही शासक समझा जाय। परन्तु यदि कोई बाहरी शक्ति अफगानिस्तान पर आक्रमण करे तो भारत सरकार अफगानिस्तान की सहायता कर सकती है। उस हालत में अफगान भारत सरकार के कार्य की प्रशंसा करते। किन्तु ज्योंही बाहरी खतरा टल जाय तो उसे चाहिए कि वह तुरन्त वहाँ से वापस आ जाय।

सर जॉन लारेंस ने यह भी बताया कि अफ़ग़ानिस्तान में राज्य के जो युद्ध होते हैं उनमें यदि भारत सरकार ने किसी एक दल का साथ दिया और वह दल पराजित हो गया तो कुछ-न-कुछ कठिनाई अवश्य उत्पन्न होगी। उस अवस्था में भारत सरकार का शत्रु अफ़ग़ानिस्तान की राजगद्दी पर होगा जो परिस्थिति भारत सरकार के लिए सुखद न होगी। मान लो यदि वह दल ही विजय हो जिसकी सहायता भारत सरकार ने की थी, फिर भी अफगानिस्तान में बहुत से व्यक्ति ऐसे भी होंगे जो अंग्रेजों का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करेंगे और जो चाहेंगे कि अपते देश से अंग्रेज़ों के प्रभाव को नष्ट कर दिया जाय।

सर जॉन लारेंस की नीति थी, "अफ़गानिस्तान के वास्तविक शासक से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना और उसके घरेलू झगड़ों में दखल न देना। इस उपाय से हम अपना प्रभाव अफ़गानिस्तान में कहीं अधिक बनाये रख सकते हैं, इसकी अपेक्षा कि हम वहाँ अपनी सेना भेजें। यह आकस्मिकता तो सबके अन्त में ही सोची जा सकती है. क्योंकि ऐसा करने से अफ़गानिस्तान के समस्त फिरके संगठित होकर हमारे विरुद्ध हो जायेंगे, जिससे हमें बड़ी आर्थिक हानि पहुँचेगी। इसके अतिरिक्त जहाँ तक कूटनीति और केवल कूटनीति का सम्बन्ध है, हमें भरसक ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे अफगानिस्तान हमारी ओर बना रहे। मेरी राय में, हमें उनसे युद्धात्मक और रक्षात्मक सन्धि नहीं करनी चाहिये, जैसा कि वे बहुत काल से चाहते रहे हैं, क्योंकि इसके लिये यह तर्क दिया जा सकता है कि उस अवस्था में हम बाध्य होंगे कि यदि वह अपने पड़ौसी देश पर आक्रमण करे तो हम उसे ऐसा करने से रोकें और यदि अन्य देश उस पर आक्रमण करे तो हम उसकी रक्षा करें, जबकि हमारे लिये यह जानना असम्भव होगा कि किसकी शिकायत ठीक है। इस प्रकार हम कभी भी किसी दल को प्रसन्न न रख सकेंगे और हमको अफ़गानों का उस हालत में भी समर्थन करना पड़ेगा जबकि वे स्वयं दोषी हों।"

सर जॉन लारेंस ने ऊपर कही हुई नीति का अफ़ग़ानिस्तान में अक्षरशः पालन किया। दोस्तमोहम्मद १८६३ में मर गया और अपने पीछे १६ लड़के छोड़ गया, जिनमें राजगद्दी के लिये युद्ध छिड़ गया। दोस्तमोहम्मद शेरअली को युवराज चुन गया था। अतः उसने भारत सरकार से अपने प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध सहायता

माँगी। जान लारैंस ने शेरअली को अफगानिस्तान का शासक स्वीकार कर लिया, किन्तु उसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया। यद्यपि वह शेरअली से सहानुभूति रखता था किन्तु उसने न तो धन दिया और न सैनिक। जब अफ़जलखाँ काबुल का स्वामी बन गया तो लारैंस ने उसे हिरात और कन्धार का भी शासक मानने से इन्कार कर दिया। १८०८ में घटनाएँ शेरअली के हित में हो गईं। अफ़जलखाँ मर गया और आजमखाँ भाग गया। अफ़ग़ानिस्तान के लोगों ने शेरअली को अपना वास्तविक और जायज़ शासक मान लिया। उस समय लारैंस ने उसे शासक स्वीकार कर लिया और केवल बधाइयाँ ही नहीं भेजीं अपितु उसे शस्त्र भी भेजे। अंग्रेजों की मित्रता के चिह्न-रूप उसे ६ लाख रुपये भी भेंट में दिये गए। लारैंस ने इंग्लैंड की सरकार से आज्ञा लेकर शेरअली से मिलने का स्थान और समय भी निश्चित कर लिया, किन्तु अमीर से मिल सकने से पूर्व ही वह भारत छोड़कर इंगलैंड चला गया।

अफ़ग़ानिस्तान के विषय में जान लारैंस की नीति का अनुसरण उसके अनुगामी लार्ड मेयो और लार्ड नार्थब्रुक ने भी किया। जब लार्ड लिटन ने इसके विरुद्ध नीति अपनाई तभी विनाशकारी परिणाम भुगतने पड़े।

दोस्तमोहम्मद का उत्तराधिकारी कौन बने इस प्रश्न को उसके सम्बन्धियों पर ही छोड़ दिया और जान लारैंस ने कहा कि जो भी व्यक्ति गद्दी पर बैठ जायगा उसी को अमीर स्वीकार किया जायगा। १८६८ में शेरअली अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को हटाकर जब तख्त पर बैठा तो सर जान लारैंस ने उसको अमीर स्वीकार किया तथा उसको भेंट में कुछ धन और शस्त्र भेजे। तटस्थता की नीति से यह तात्पर्य नहीं था कि अफ़ग़ानिस्तान की ओर से बिल्कुल उदासीन रहा जायगा। जान लारैंस यद्यपि अमीर से किसी सहायक सन्धि के बन्धन में नही फँसना चाहता था किन्तु अपनी मर्ज़ी से वह रूस तथा फ़ारस के विरुद्ध उसको सहायता दे सकता था।

लार्ड मेयो (१८६९-७२)

लार्ड मेयो, जो सर जॉन लारैन्स के बाद भारत का गवर्नर-जनरल बना, बड़ा अनुभवी शासक था और आयरलैंड का मुख्य सचिव रह चुका था। वह बड़ा मिलनसार, हँस-मुख, परिश्रमी और योग्य था और वध होने से पूर्व अपने ३ वर्ष के शासन-काल में उसने भारत के अंग्रेजी राज्य को विदेशों से सुरक्षित बनाने के प्रयत्न किये। उसने अन्दरूनी शासन में सुधार किये।

भारत व अफ़ग़ानिस्तान : लारैन्स की नीति को अफ़ग़ानिस्तान ने स्वार्थपूर्ण समझा और वह नीति थी भी ऐसी ही, जिससे दोनों देशों में मित्रता नहीं बढ़ सकती थी। अमीर शेरअली के इस विचार तथा भ्रम को मिटाने के लिए लार्ड मेयो ने उसको आमन्त्रित किया जो अंग्रेजों से इस बात पर बहुत अप्रसन्न था कि उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान में उसको उसके प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध सहायता नहीं दी थी। मेयो ने मार्च १८६९ में अम्बाला में एक निजी सभा बुलाई और इसमें शेरअली को भी

बुलाया। यद्यपि लार्ड मेयो ने उसके साथ स्थायी सन्धि नहीं की कि बाहरी आक्रमण होने पर उसकी मदद करेगा, परन्तु उसको धन व हथियार देकर प्रसन्न कर दिया।

भारत व रूस : ऊपर कहा जा चुका है कि प्रथम अफ़गान युद्ध के बाद रूस तथा ब्रिटेन के सम्बन्ध कुछ काल के लिए सुधर गये थे, किन्तु क्रीमियन युद्ध (१८५४-५६) की घटनाओं के फलस्वरूप दोनों देशों के सम्बन्ध टूट गये। रूस को योरुप में बढ़ने से ब्रिटेन व उसके मित्र-राष्ट्रों ने रोक दिया, अतएव उसका प्रतिशोध लेने के लिये वह मध्य एशिया में तुर्की राज्यों को जीतता हुआ और उनको अपने राज्य में मिलाता हुआ भारत की ओर बढ़ने लगा। इससे भारत में अधिकारियों को विशेष चिन्ता होने लगी।

मेयो और देशी राज्य : राजपूताना की अलवर रियासत में युवा राजा के कुशासन के कारण वहाँ के लोगों को बहुत दुःख व अत्याचार सहने पड़े। लार्ड मेयो ने महाराज को विवश किया कि वह राज्य-प्रबन्ध एक सभा को सौंप दे। लार्ड मेयो को काठियावाड़ की अनेक छोटी-छोटी रियासतों की समस्याएँ भी सुलझानी पड़ीं जिससे देशी राजाओं और उनके शासन में सुधार हो सके। लार्ड मेयो ने अजमेर में एक कालिज भारतीय राजकुमारों व सरदारों के पुत्रों की शिक्षा के लिये खोला। १८६९ में महारानी विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑफ़ एडिनबरा भारत पधारे, जिससे इंगलैंड के बादशाह के सम्बन्ध देशी राजाओं व भारत की प्रजा से सुदृढ़ हों। बाद में इंगलैंड के अन्य राजकुमारों ने भी इस उदाहरण का अनुकरण किया।

मेयो के आर्थिक सुधार : जिस समय लार्ड मेयो ने अपना पद सँभाला उस समय सरकार की आर्थिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। फ़िज़ूलखर्ची तथा अपव्यय के कारण बजट में सदा घाटा रहता। सरकारी आय की अपेक्षा सरकारी व्यय अधिक था को प्रजा से ऋण लेकर पूरा किया जाता था। लार्ड मेयो ने आय तथा व्यय को समान करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने आय-कर तथा नमक-कर बढ़ा दिये। उसने सेना तथा सार्वजनिक कार्य-विभाग का व्यय कम कर दिया और हरेक विभाग पर जोर दिया कि वह किफायत से काम ले और अपव्यय को रोके। उसने सरकारी आय बढ़ाने के लिए सरकारी रेलें चालू कीं।

उसका सबसे महत्वपूर्ण सुधार आर्थिक विकेन्द्रीकरण था। १८६८ तक प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार से निश्चित रकम मिला करती थी जिसमें बचत करने का प्रयत्न वह कभी नहीं करती थी, क्योंकि बचत का रुपया केन्द्रीय सरकार के पास उलटा चला जाता था। इस अपव्यय को रोकने के लिए और प्रांतीय सरकारों को अपने आय-व्यय के मामलों में किसी हद तक जिम्मेदार बनाने के लिए लार्ड मेयो ने विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर प्रांतीय ठेका प्रणाली अपनाई। इस प्रणाली के अनुसार प्रांतीय सरकार को भूमि-कर तथा अन्य आय की एक नियत प्रतिशत रकम पाँच वर्ष के लिए निर्धारित की जाने लगी। जो भी बचत करती अपने पास रख सकती थी और वह अपने आय-व्यय के लिए जिम्मेदार थी। शिक्षा, पुलिस, सड़क

और इमारत आदि के लिए कुछ रकम इकट्ठी दी जाती थी जिसे प्रांतीय सरकारें इच्छानुसार व्यय कर सकती थीं।

शासन-सुधार : लार्ड मेयो ने भारत की केन्द्रीय सरकार की शासन-प्रणाली को सात विभागों में बाँटकर बड़ा सुधार किया। ये सात विभाग थे—विदेशी, देशीय, सार्वजनिक कार्य, भूमि-कर, कृषि तथा व्यापार, नियम-निर्माण और सेना-विभाग, इन विभागों को सुप्रीम काउन्सिल के सदस्यों को सौंप दिया गया, जिसका सभापति गवर्नर-जनरल होता था। मेयो ने रेलों, सड़कों तथा नगरों को भी उन्नत बनाया। बंगाल में अनेक प्रारम्भिक शिक्षा-स्कूल खोले गये।

उसका वध : जिस समय लार्ड मेयो अण्डमान द्वीप की जेलों और उनके दण्ड-विधान का मुआयना कर रहा था तो एक अपराधी पठान ने उसका २४ जनवरी १८७२ को वध कर दिया।

State Museum Library 6719

लार्ड नार्थब्रुक (१८७२-७६)

लार्ड नार्थब्रुक ने भारत के गवर्नर-जनरल का पद मई, १८७२ में संभाला। उसके शासन में पूर्ण शान्ति रही। उसका ध्यान रूस तथा अफ़गानिस्तान की ओर अधिक रहा।

रूस और अफ़गानिस्तान : मध्य एशिया में रूस को बढ़ता हुआ देखकर शेरअली चिन्तित हुआ और उसने अपना राजदूत जुलाई, १८७३ में नार्थब्रुक के पास भेजा। अमीर अंग्रेजों से पूरा आश्वासन पाना चाहता था कि यदि रूस अथवा उसका कोई आश्रित राज्य अफ़गानिस्तान पर आक्रमण करे तो वे आवश्यकता पड़ने पर उसकी धन व जन से सहायता करें। नार्थब्रुक का मत था कि यदि ब्रिटिश सरकार इस आवश्यकता को ठीक समझे तो सहायता देनी चाहिए, परन्तु ब्रिटेन की लिबरल गवर्नमेंट ने उसे ऐसा आश्वासन देने से रोक दिया। इससे शेरअली को बड़ी निराशा हुई। इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने रूस से बातचीत आरम्भ कर दी, जिसके फलस्वरूप रूस ने अफ़गानिस्तान से उत्तरी सीमा को ओक्सस नदी तक स्वीकार किया तथा अफ़गानिस्तान स बदख्शाँ और बाखान के दावे को मान लिया (१८७३)। ब्रिटिश सरकार ने १८७४ में अफ़गानिस्तान के लिए एक विशेष मिशन भेजना चाहा, परन्तु नार्थब्रुक ने इस विचार का विरोध किया।

गायकवाड़ बड़ौदा : १८७० में मल्हारराव बड़ौदा का गायकवाड़ बना। उसके ऊपर कुशासन, निर्दयता और फिजूलखर्ची का अपराध लगाया गया। ब्रिटिश रैज़िडेन्ट कर्नल फायरे तथा उसके सम्बन्ध बिगड़ गए। १८७४ में उस पर कर्नल फायरे को विष देने का अपराध लगाया गया। गायकवाड़ को बंदी किया गया तथा उस पर जो अभियोग लगाया गया उसकी जाँच के लिए एक कमीशन बैठा जिसमें ३ अंग्रेज व ३ हिन्दुस्तानी सदस्य थे तथा जिसका सभापति बंगाल का प्रधान जज था। अभियोग की सत्यता पर कमीशन के सदस्यों में मतभेद था। मल्हारराव को गद्दी से उतारकर उसके एक सम्बन्धी सयाजीराव को गायकवाड़ बनाया गया।

१८७३-७४ में बिहार तथा बंगाल के कुछ भागों में अकाल पड़ा। सर रिचर्ड टेम्पल की अध्यक्षता में तुरन्त ही अकाल-पीड़ितों को सहायता भेजी गई जो उस सहायता से द्रुत तथा कहीं श्रेष्ठ थी जो उड़ीसा के अकाल के समय भेजी गई थी। प्रिन्स ऑफ वेल्ज, जो बाद में सम्राट एडवर्ड सप्तम बने, १८७५-७६ में भारत पधारे। १८७६ में नार्थब्रुक वापस चला गया, जिसका एक कारण यह भी था कि अफ़ग़ान-नीति के विषय में तथा मानचैस्टर से जो वस्त्र भारत में आये उस पर आयात-कर लगे, इन दोनों बातों में उसका व ब्रिटिश सरकार का मतभेद था।

लार्ड लिटन (१८७६—८०)

लार्ड नार्थब्रुक भारत के गवर्नर-जनरल के पद से उस समय रिटायर हुआ जबकि ब्रिटेन की कन्जरवेटिव गवर्नमेंट रूस के इरादों की ओर से चिन्तित हो रही थी जो वह टर्की व अफ़ग़ानिस्तान के विरुद्ध बना रहा था। प्रधान-मंत्री डिज़रायली ने लार्ड लिटन को भारत के गवर्नर-जनरल के पद के लिए चुना। लिटन ने अपना पद अप्रल,१८७६ में संभाला और जून,१८८० तक इस पद पर रहा। इंगलैंड में रूस तथा अफ़ग़ानिस्तान के विरुद्ध जो मिनिस्ट्री थी, लिटन उसके हाथों का खिलौना था। लिटन का आन्तरिक शासन तथा विदेश-नीति साम्राज्यवादी टोरियों के समान थी।

भारत-साम्राज्य : १८५८ में भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर इंग्लैंड के बादशाह के हाथ में चला गया था। पार्लियामेंट ने एक ऐक्ट बनाया जिसके अनुसार ब्रिटेन के राजा को अन्य उपाधियों के साथ-साथ कैसरे-हिन्द की उपाधि भी दी गई। १ जनवरी, १८७७ को दिल्ली में एक दरबार किया गया जिसमें रानी विक्टोरिया को भारत-साम्राज्ञी घोषित किया गया।

१८७६-७८ का अकाल : १८७६ में वर्षा न होने से दक्षिण भारत में १८७६-७८ में भीषण अकाल पड़ा। उसका असर मैसूर, दक्खन तथा बम्बई और मद्रास प्रांतों पर विशेष पड़ा। बाद में यह मध्य प्रांत, संयुक्त प्रांत तथा पंजाब के कुछ भागों में भी फैल गया। फलस्वरूप एक दुर्भिक्ष-सभा बनी, जिसका सभापति जनरल स्ट्रेची (General Strachey) था। यद्यपि सरकार ने बहुत धन व्यय किया और अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए नए विभाग खोले, तो भी ठीक प्रबन्ध न होने के कारण अनेक व्यक्ति भूखे मर गए विशेष करके मद्रास प्रांत में।

वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट : लिटन के गवर्नर-जनरल काल में अन्तर्राष्ट्रीय दुर्भावनाएँ बढ़ने लगीं, विशेषकर रूस व अफ़गानिस्तान के विचार ब्रिटेन की ओर से बहुत दूषित हो गए। रूस और टर्की के बीच योरुप में युद्ध हो रहा था तथा भारत की सीमा पर दूसरा अफ़गान युद्ध हो रहा था। लिटन को जान पड़ा कि भारत में वर्नाक्यूलर समाचार-पत्र सबके-सब गैर-जिम्मेदार व रूस के तरफदार थे। वे पत्र सहज में ही प्रजा को सरकार के विरुद्ध भड़का सकते थे। उनको रोकने के लिए १८७८ में वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट पास हुआ। इस ऐक्ट से जिलाधीश अथवा

मजिस्ट्रेट को अधिकार मिल गया कि यह वर्नाक्यूलर समाचार-पत्र के संपादक से लिखित ले सकता था कि वह अपने समाचार-पत्रों में विरोधी समाचार न छापेगा अथवा अपने समाचारपत्रों को प्रकाशित करने से पूर्व वह उसके प्रूफ उस अफ़सर की मंजूरी के लिए दे देगा। इस ऐक्ट से भारत में बहुत रोष फैल गया, क्योंकि इसके अनुसार अंग्रेजी समाचार-पत्रों के साथ पक्षपात किया गया था। बाद में लार्ड रिपन ने इस ऐक्ट को रद्द कर दिया।

अन्य योजनाएँ : १८७७-७६ के बीच लार्ड लिटन ने अर्थ-प्रणाली में मेयो के किये हुए विकेन्द्रीकरण में एक कदम और आगे बढ़ाया। लिटन ने व्यय के कई विभागों के लिए नियत रकम निर्धारित की और आय के कई विभाग प्रान्तीय सरकार को सौंप दिए, जैसे चुंगी और लायसैंस-कर। किन्तु शर्त यह थी कि यदि इन विभागों की आय में वृद्धि होगी तो उसे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों सरकारों में बाँट लिया जायगा। उसने नमक पर चुगी हटाकर नमक-कर में सुधार किया। वह आयात-कर का विरोध करता था क्योंकि इससे लंकाशायर के कपड़े के व्यापार पर बुरा असर पड़ता था।

लिटन और अफ़गानिस्तान : जब लार्ड लिटन ने अफ़गानिस्तान के अमीर शेरअली को यह आश्वासन देने से इन्कार कर दिया कि वह रूस के आक्रमण करने पर उसकी सहायता करेगा तो वह बहुत निराश हो गया। वह अंग्रेज़ों से इसलिए भी अप्रसन्न था कि उन्होंने सीस्तान को उसमें तथा फारस दोनों में बाँट दिया था, तथा उसके चहेते बेटे अब्दुल्लाजान को गद्दी का उत्तराधिकारी मानने से इन्कार कर दिया था। शेरअली रूस को ब्रिटेन से अधिक शक्तिशाली समझने लगा था और भय था कि कहीं वह भागे हुए अफ़गान शहजादे अब्दुर्रहमान को उसके विरुद्ध खड़ा न कर दे। इसलिए अमीर ने ब्रिटेन की अपेक्षा रूस से मित्रता जोड़ना ठीक समझा। ब्रिटिश सरकार तथा लिटिन दोनों ने निश्चय कर लिया था कि वे अमीर को रूस के काबू में जाने से रोकेंगे तथा ऐसा प्रयत्न करेंगे जिससे अमीर ब्रिटेन व भारत को हानि न पहुँचा सके। लिटन ने चाहा कि अफ़गानिस्तान को कई राज्यों में विभक्त कर दिया जाय।

क्वेटा पर अधिकार : इस दृष्टि से कि अमीर डरकर अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ले, अथवा आवश्यकता पड़ने पर अफ़गानिस्तान पर हमला करना आसान हो जाय, कलात के खान से मिलकर अंग्रेज़ों ने १८७६ में क्वेटा पर अधिकार कर लिया। इससे अंग्रेज़ों का बोलन के दर्रे तथा कंधार की सड़क पर काबू हो गया। शेरअली इस बात से बहुत अप्रसन्न हुआ।

दूसरा अफ़गानिस्तान युद्ध : १८७८ में जब योरुप में रूस और ब्रिटेन के सम्बन्ध खराब हो गए, तो रूस ने अपना राजदूत अफ़गानिस्तान भेजा जिसका अमीर ने बड़ा स्वागत किया। ब्रिटिश सरकार तथा लिटन दोनों की राय हुई कि अंग्रेज़ों का राजदूत भी काबुल भेजा जाय, परन्तु अमीर ने यह प्रस्ताव अस्वीकार किया। लिटन ने इसको अंग्रेजों का अपमान समझा और अमीर के विरुद्ध युद्ध की घोषणा

कर दी। दूसरा अफ़गान युद्ध २१ नवम्बर, १८७८ को आरम्भ हुआ। जनरल ब्राउन राबर्ट्स तथा बिडल्फ एक ही समय में भिन्न-भिन्न दिशाओं से अफ़गानिस्तान की ओर बढ़े। शेरअली रूस भाग गया। याकूबखाँ अमीर बन गया जिसे लिटन ने स्वीकार किया। उसने १८७९ में अंग्रेज़ों के साथ गंडमक (Gandmak) में संधि की, जिसके अनुसार उसने स्वीकार किया कि उसकी विदेश-नीति पर भारत सरकार का नियंत्रण रहे, काबुल में अंग्रेज़ी रेज़िडेंट रहे तथा पिशन का ज़िला अंग्रेज़ों को दिया जाय जिससे भारत में आने वाले दर्रों पर अंग्रेजों का नियन्त्रण रह सके। इसके बदले में उसे छः लाख रुपए वार्षिक भत्ता दिया गया।

अंग्रेजों के हक में यह समझौता बुरा नहीं हुआ। उनको दर्रों व अफ़गानिस्तान की विदेश-नीति पर नियंत्रण प्राप्त हो गया। केविगनरी (Cavignari) को काबुल में अंग्रेज रेजीडेंट नियुक्त किया गया। वह पुरुषार्थी तो था, परन्तु चतुर न था। वह जुलाई १८७९ में काबुल पहुँचा। अंग्रेजों के प्रति अफगानों की भावना अच्छी न थी और केविगनरी का सितम्बर १८७९ में वध कर दिया गया। अंग्रेजों की सेना ने पुनः शीघ्र ही काबुल और कंधार पर अधिकार कर लिया। याक़ूब ने अंग्रेजों से दगा की। अब्दुर्रहमान, जिसको देश से निकाल दिया गया था, अफ़गानिस्तान लौट आया। लगभग उसी समय इंगलैंड की कन्ज़रवेटिव गवर्नमेंट ने त्याग-पत्र दे दिया था। अतएव लार्ड लिटन ने भी अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। लार्ड रिपन भारत आया और उसने अब्दुर्रहमान से सुलह कर ली। अंग्रेजी सेना अफ़गानिस्तान से हटा ली गई।

दूसरा अफ़गान युद्ध अंग्रेजों की उग्र नीति के कारण हुआ, जिसके लिए ब्रिटेन की सरकार व लार्ड लिटन दोनों समान रूप से उत्तरदायी हैं। अंग्रेजों को कोई अधिकार नहीं था कि वे एक स्वतंत्र राज्य में बलपूर्वक अपना राजदूत रखते व उसकी विदेश-नीति पर नियंत्रण रखते। प्रथम अफगान युद्ध के दुष्परिणामों को अंग्रेज भूल गए और इस दूसरे युद्ध के भी वैसी ही भयंकर परिणाम निकले।

लार्ड लिटन की अफ़गान-नीति की आलोचना

लार्ड लिटन की अफ़गान नीति की बड़ी निन्दा की गई है। कुछ लोगों के मत से द्वितीय अफ़गान युद्ध का आरम्भ अंग्रेजों ने किया था जिसमें उनका उद्देश्य असफल रहा। ग्लैडस्टन ने कहा है, "हमने भूल से १८३८ में अफ़गानिस्तान से युद्ध किया। गलती मनुष्य से ही होती है और क्षम्य है, किन्तु हमने दुबारा भी वैसे ही गलती की जिसका हमारे पास कोई उत्तर नहीं है। यद्यपि कल्पनातीत और अधिक-से-अधिक चेतावनी दी गई, तो भी यह गलती की गई और वह भी बड़े-से बड़े अधिकारियों द्वारा। कहावत है कि इतिहास अपने को दोहराता है और उसमें ऐसे उदारहण कम ही मिलेंगे जिनमें दो घटनाओं में इतनी समानता हो जितनी दोनों अफ़गान युद्धों में है।"

डिजरायली और सेलिसबरी दोनों में से किसी ने भी चैम्बरलैन को अफ़गा-

निस्तान भेजने का समर्थन नहीं किया था। डिज़रायली के शब्दों में, "लिटन की नीति उन हालातों के अनुकूल थीं जिनमें रूस हमारा आक्रान्ता था, किन्तु रूस हमारा आक्रान्ता नहीं है वरन् उसने द्वेष से नीचता का व्यवहार किया है। यदि लिटन चुप रहता और मेरी आज्ञा का पालन करता तो मुझे सन्देह नहीं कि रूस की राय मानकर शेरअली भी मूर्खता न करता।" सेलिसबरी के विचार से लिटन ने ब्रिटिश सरकार का कहना आरम्भ से ही नहीं माना था। वह केवल भारत की ही बात सोचता था और उसी दृष्टिकोण से ब्रिटिश की वैदेशिक नीति को चलाता था। उसने दो बार घरेलू सरकार की आज्ञा का उल्लंघन किया। ब्रिटिश सरकार के बार-बार मना करने पर भी आज्ञा की अवज्ञा की और वह भी उसके बिलकुल स्पष्ट आदेशों की।

तो भी द्वितीय अफ़गान युद्ध के अंग्रेजों के लिए अच्छे परिणाम भी हुए। रूस का पिट्ठू, शेरअली राज्य से निकाल दिया गया और अंग्रेजों का मित्र अब्दुर्रहमान गद्दी पर बैठा। काबुल में जो रूस का प्रभाव था उसे रोक दिया गया। कलात का खान ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में आ गया। क्वेटा ब्रिटिश सरकार के ही अधीन रहा।

Questions

1. Describe the North-west frontier policy from Lawrence to Lytton.
   लारैंस से लेकर कर्जन तक की उत्तर-पश्चिमी सीमा-नीति का वर्णन करो।
2. How did the Central Asian Policy of Russia affect the relations between British-India and Afghanistan.
   रूस की मध्य-एशियाई नीति से ब्रिटिश भारत और अफ़गानिस्तान के सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ा ?
3. What were the constitutional implications of the Govt. of India being assumed by the Crown ?
   भारतीय शासन का इंगलैंड के राजा के अधीन चला जाना क्या वैधानिक महत्त्व रखता है ?

अध्याय २८

राष्ट्रीयता और प्रतिनिधि शासन

लार्ड रिपन

अप्रैल १८८० में इंगलैंड के चुनाव में लिबरल गवर्नमेंट की बहुमत से जीत हुई और ग्लैस्टन ने जो सरकार बनाई उसकी नीति पहली सरकार से प्रायः सभी बातों में भिन्न हुई।

नये भारत-सचिव लार्ड हार्डिगटन ने लिटन की नीति की बड़ी निन्दा की, अतएव उसने वायसराय के पद से त्याग-पत्र दे दिया। उसके बाद लार्ड रिपन वायसराय हुआ जो ग्लैडस्टन के पक्ष में था। उसने सामाजिक सुधार के लिए बड़े उत्साह से कार्य किया। वह अनाचार से घृणा करता था।

रिपन और अफ़गास्तिान : इंगलैंड की लिबरल सरकार ने रिपन को सलाह दी कि वह अफ़गानिस्तान के साथ लिटन की उग्र नीति को छोड़ दे, अफ़गानिस्तान से अपना कब्जा हटा ले और उसके साथ पुनः मित्रता स्थापित कर ले। इसी नीति का पालन करते हुए रिपन ने अब्दुर्रहमान को काबुल का अमीर मान लिया, किन्तु उससे वचन ले लिया कि अंग्रेजों के अतिरिक्त वह किसी विदेशी राजा से सम्बन्ध स्थापित न करे। जब तक वह अपने वचनों का पालन करता रहेगा, अंग्रेज सदा विदेशी हमलों के समय उसकी मदद करते रहेंगे। पिशन और सीबी के जिले अंग्रेजों ही के पास रहे, परन्तु उन्होंने अफ़गानिस्तान में कहीं भी अपना रैजीडैंट नहीं रखा। इसी बीच अयूबखाँ अब्दुर्रहमान के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और एक अंग्रेजी पल्टन को मैवन्द नाम स्थान पर हराया, परन्तु रावर्ट्स ने उसको कंधार के समीप पराजित कर दिया। अन्त में अब्दुर्रहमान ने अयूबखाँ पर विजय पाई और वह समस्त अफ़गानिस्तान का स्वामी हो गया। रिपन ने अफगानिस्तान से समस्त अंग्रेजी सेना हटा ली। द्वितीय अफ़गान युद्ध से ब्रिटिश भारत को बहुत लाभ पहुँचा। कलात का खान अंग्रेजों की सुरक्षा में आ गया। बिलोचिस्तान का नया प्रान्त बना जिसे भारत साम्राज्य में शामिल किया गया। क्वेटा को सैनिक आधार समझकर सदा रक्षा की गई तथा बोलन का दर्रा भी सुरक्षित कर लिया गया। रूस का खतरा सदा के लिए दूर हो गया।

अफ़गान समस्या को सुलझाने के अतिरिक्त रिपन को विदेश-नीति पर अधिक ध्यान नहीं देना पड़ा। उसने अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक सुधार किए और दूसरे वायसराय के विपरीत उसने स्थानीय स्वराज्य स्थापित करना चाहा। अब तक

भारत का शासन केवल ऐसे अंग्रेज अधिकारियों द्वारा होता रहा था जिनको भारत से कोई दिलचस्पी नहीं थी, किन्तु अब अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी राज्य-कार्य में भाग लेने के इच्छुक होने लगे थे और प्रतिनिधि सरकार बनाने का स्वप्न देखने लगे थे, जिसकी शिक्षा उन्होंने जे० एस० मिल (John Stuart Mill) जैसे पश्चिमी लेखकों से पाई थी।

रिपन भारतीयों के उन विचारों से सहमत था, अतएव उसने अपनी सहानुभूति का प्रमाण देने के लिए व्यावहारिक कदम उठाने का निश्चय किया। भारत के बहुत से अंग्रेज अफ़सर उसके विचारों और कार्यों का विरोध करने लगे और बड़ी आशंका करने लगे, परन्तु लार्ड नार्थब्रुक ने वायसराय की नीति का समर्थन किया। कुछ भी हो, उस दिशा में जो लोगों के विचारों में प्रगति हो रही थी उसको अधिक समय तक नहीं रोका जा सकता था। इसमें सन्देह नहीं कि उसके बहुत से विरोधियों का उद्देश्य बुरा नहीं था। उनको भय था कि कहीं रिपन की योजना से शासन-प्रबन्ध बिगड़ न जाय। किन्तु रिपन ने अपनी योजना को कार्यान्वित करते हुए उत्तर दिया कि वह जो कार्य करने जा रहा था, शासन में सुधार करने के लिए नहीं था, वरन् लोगों को शासन शिक्षा देने के लिए था।

चुंगी तथा भूमि-कर नीति : जहाँ तक चुंगी तथा भूमि-कर नीति का सम्बंध है वह बहुत भाग्यशाली था, क्योंकि सर जॉन स्ट्रैची के प्रयत्न से आय बहुत बढ़ गई थी और बजट में बराबर बचत हो रही थी। सरकार को अब अवसर मिल गया कि नार्थब्रुक तथा लिटन की खुले व्यापार की नीति अपनाई जाय। १८८२ में पदार्थों के मूल्यों के हिसाब से जो आयात-कर लगे थे, तोड़ दिये गए। केवल नमक, शराब और स्प्रिट पर टैक्स बना रहा, परन्तु नमक पर टैक्स कम कर दिया गया।

रिपन की जो भूमि-कर नीति थी उसे दुर्भाग्यवश भारत-सचिव ने स्वीकार नहीं किया। उसका विचार था कि जिन प्रदेशों का सर्वे (Survey) हो चुका हो और भूमि-कर नियत हो गया हो, उसको उस समय तक नहीं बढ़ाया जाय जब तक कि वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने के कारण उसका बढ़ाना अनिवार्य न हो जाय।

स्थानी स्वायत्त-शासन : रिपन ने जो अर्थ-विभाग तथा शासन का विकेन्द्रीकरण किया उससे जनता को इतना धन प्राप्त हो गया जिससे वे अपना स्थानीय कार्य व चुंगी आदि सरलतापूर्वक चला सकें। आरम्भ में तहसील अथवा ताल्लुके को शासन की सबसे छोटी इकाई बनाया गया। इसके बाद छोटे-बड़े लोकल बोर्डों की स्थापना हुई, जिनके पास जनता के छोटे-मोटे कार्यों के लिए फण्ड भी होता था और उनसे बड़ी संस्थाओं को शिक्षा तथा सार्वजनिक कार्य सौंप दिए गए। निर्वाचन की नीति चालू की गई और बहुत से बोर्डों का चेयरमैन बजाय नामजद होने के चुना जाने लगा।

वर्नाक्यूलर प्रेस एकट का रद्द होना : वर्नाक्यूलर प्रैस ऐक्ट, जिसे लार्ड लिटन

ने चालू किया था, हटा दिया गया और सब समाचार-पत्रों को एक जैसी स्थिति दे दी गई ।

हण्टर कमीशन : सर विलियम हण्टर की अध्यक्षता में २० सदस्यों का एक कमीशन बैठा, जिसने बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की सिफारिशों की जाँच की । इसके फलस्वरूप प्राइमरी व सैकण्ड्री स्कूलों की संख्या बढ़ाई गई ।

मैसूर की वापसी : एक नीति, जिसका फैसला लार्ड लॉरैंस व सर एस० नार्थकोट ने १४ वर्ष पूर्व किया था, १८८१ में प्रयोग में लाई गई, अर्थात् मैसूर की वापसी । १८३१ में जिस राजा को विलियम बैंटिक ने गद्दी से उतार दिया था उस का दत्तक पुत्र वयस्क हो चुका था, अतएव उसको बड़े धूमधाम से पुनः मैसूर की राजगद्दी पर बिठाया गया तथा राजा के अधिकार दिए गए । इसमें सन्देह नहीं कि उस पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगा दिये गए, जिससे ५० वर्ष में मैसूर में जो शासन-सुधार किये गए थे, वे कायम रह सकें ।

फैक्ट्री के मजदूरों का कानून : १८८१ में पहले-पहल इस दशा में कदम उठाया गया । उस एक्ट के अनुसार फैक्ट्री में काम करने वाले अल्पायु बच्चों के कार्य करने के घंटे सीमित कर दिये गए, देखभाल के लिये इन्सपेक्टर नियुक्त किये गए, तथा अन्य सुधार भी किये गये ।

इलबर्ट बिल पर वाद-विवाद : फौजदारी मुकद्दमों की सुनवाई के लिये रंग-भेद को मिटाकर रिपन की सरकार को एक परिस्थिति का सामना करना पड़ा । १८७३ में जो क्रिमिनल प्रौसीजर कोड (Criminal Procedure Code) बना उसमें यह लिखा था कि अंग्रेज अपराधियों के मुकद्दमों का निर्णय अंग्रेज मजिस्ट्रेट ही कर सकता है । १८८३ तक अनेक भारतीय कर्मचारी सेशन जज अथवा मजिस्ट्रेट बनने के योग्य हो गए थे, अतएव सी० पी० कोड में अंग्रेज व भारतीयों के बीच जो अन्तर रखा गया, वह बहुत अवाँछनीय समझा गया । मिस्टर इलबर्ट ने सरकार में एक बिल पेश किया कि रंग-भेद के आधार पर जो भारतीय न्यायाधीशों के द्वारा योरुपवासियों के अभियोग सुनने पर प्रतिबन्ध लगाया था उसको हटा दिया जाय । भारत में जो योरुप-निवासी थे उन्होंने इस बिल का बहुत विरोध किया, जिसके फलस्वरूप रंग-भेद के कारण अंग्रेज व हिन्दुस्तानियों के दिलों में परस्पर बुरी भावनायें फैलने लगीं । लार्ड रिपन का एक तरह से उसके देशवासियों ने जो भारत में रहते थे, अपमान किया तथा उसकी आलोचना की । अन्त में एक मध्यम उपाय सोचा गया, जिसके अनुसार अंग्रेज अपराधियों के न्याय के लिए एक जूरी बैठे, जिसमें कम-से-कम आधे सदस्य योरुप निवासी हों । क्योंकि यह सुविधा केवल अंग्रेजों को दी गई कि उनका निर्णय जूरी द्वारा हो, इसलिये स्पष्ट है कि सरकार को झुकना पड़ा । समझौता तो केवल अपनी इज्जत बचाने के लिये उपाय-मात्र था ।

लार्ड रिपन को, जिसने १८८४ में त्याग-पत्र दे दिया भारतीय लोग अपना हितैषी और शुभचिन्तक समझते थे ।

लार्ड डफ़िन

इसके बाद १८८४ में लार्ड डफ़िन आया जो भारत-सचिव के नीचे १८६४-६६ में काम कर चुका था, बाद में कनेडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था और रूस, टर्की तथा मिश्र के कूटनीतिक पदों पर कार्य कर चुका था। अत्युत्तम वक्ता, सुन्दर आकृति, चतुर तथा बुद्धिमान् होने के कारण वह इस पद के सर्वथा योग्य था। इलबर्ट बिल के समय में जो वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ तथा लोगों के मन में जो मैल छा गया था, उसको मिटाने के लिये उसने अति नम्र और तटस्थता की नीति का पालन किया। वयोवृद्ध होने के कारण वह बड़ी चतुरता से नई-नई समस्याओं के अनुकूल कार्य करता रहा, और अपनी कोई नीति नहीं चलाई। वह सुदक्ष तथा सहिष्णु था, परन्तु अपने पद-भार से श्रांत था, अतएव इस वायसराय ने शासन को उसी रफ्तार से चलने दिया, जैसा कि वह चलता आ रहा था और अपने पद के पांच वर्षों के बजाय चार वर्षों को आनन्द के साथ बिताना चाहा।

अफ़गानिस्तान : अफ़गानिस्तान में अब्दुर्रहमान अपनी शक्ति और स्थिति को दृढ़ बना रहा था। उसने भीषण युद्ध के बाद देश में अमन-चैन कायम कर दिया था। इसी बीच रूस दक्षिण की ओर फैलता जा रहा था और १८७६ में उसने खोकंद ले लिया था। लड़ाकू टेक्के टरकोनियनों ने आरम्भ में कुछ सफलता पाई थी, परन्तु १८८१ में वे पराजित हुए और उनका प्रदेश जार के रूस का एक अंग बन गया। तीन वर्ष पश्चात् मर्व पर अधिकार कर लिया गया। यह स्थान अफ़गानिस्तान की सीमा के इतना समीप था कि अंग्रेजों का धैर्य जाता रहा और उनके हृदय में ज़ार के इरादों का भय भर गया। सम्भव था कि कोई दुर्घटना घटती परन्तु भाग्यवश जो कुछ हुआ अच्छा ही हुआ। रूस के इस प्रस्ताव को रिपन ने मान लिया कि एक मिला-जुला कमीशन बैठे जो अफ़गानिस्तान की उत्तरी सीमा निश्चित कर दे। नये वायसराय के आने के एक माह पूर्व इस कमीशन के सदस्य ईरानी सीमा पर सरख्स नामक स्थान में मिले। रूसी तथा अफ़गान दोनों इस सिद्धांत पर विश्वास करते थे कि 'जो चीज जिसके कब्जे में है ९० प्रतिशत उसी की है' और दोनों इस प्रयत्न में लगे थे कि किसी-न-किसी भाँति अपनी सीमाएँ जहाँ तक हो सके, बढ़ा लें। दोनों देशों की सीमाओं की विवादग्रस्त रेखा ओक्सस और हरीरुद नदियों के बीच पड़ती थी तथा पंचदेह का जिला दोनों देशों के झगड़ों की जड़ था, जो मुरगाँव और कुछ नदियों के संगम पर था तथा मर्व से १०० मील की दूरी पर था। कमीशन के सदस्यों को पूर्णाधिकार प्राप्त थे तथा उन पर वायसराय का नियंत्रण नहीं था तथा जिन पर सीधा ब्रिटेन और रूस की सरकारों का नियंत्रण था। डफ़िन को अब्दुर्रहमान के हितों की चिन्ता थी जबकि अब्दुर्रहमान दोनों देशों की ओर से शंकित था कि वे उसके राज्य का भाग दबाना चाहते हैं। कर्कश और क्रोधी रूसी जनरल बड़ा तनुक-मिज़ाज था। जो अफ़गान सेना पंचदेह में पड़ी हुई थी उसको उसने बाहर निकल जाने की आज्ञा दी और कहा कि यदि उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया जायगा

तो वह कठोर दण्ड देगा। भयानक परिस्थिति और भी भयानक हो गई। एक ओर तो ज़ार की सेना अफ़गानिस्तान की ओर बढ़ने लगी और दूसरी ओर वायसराय अपनी सेना क्वेटा में इकट्ठी करने लगा कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो वह अफ़गानिस्तान की ओर बढ़कर हिरात की रक्षा कर ले जो पंचदेह से १२० मील दक्षिण में था। सर्वत्र यह धारणा हो रही थी कि पंचदेह की घटना से विश्व-व्यापी युद्ध फैल जायगा। कंजरवेटिव पार्टी शोर मचा रही थी कि बड़ी कार्यवाही करनी चाहिये और मि० ग्लैडस्टन ने परिस्थिति को देखकर १ करोड़ दस लाख पौंड मांगे जिसे पार्लियामेंट ने मंजूर कर दिया।

किन्तु वायसराय की कूटनीति तथा अमीर की समझदारी से आया हुआ तूफान टल गया। अमीर वायसराय से मिलने रावलपिंडी गया और उसने लड़ने से साफ इन्कार कर दिया और कहा कि युद्ध से उसका देश नष्ट हो जायगा। उसने यह भी कहा कि वह पंचदेह का इलाका छोड़ने के लिए तैयार है यदि उसे जुलफिकार दे दिया जाय जो ८५ मील पश्चिम में था। अब्दुर्रहमान ने अपनी समझदारी व धैर्य से युद्ध को टाल दिया।

इस प्रकार सीमा निर्धारित करने वाले कमीशन ने फिर अपना कार्य आरम्भ कर दिया। सर पीटर लम्सडन को वापस बुला लिया गया था और उसके स्थान पर सर वैस्ट रिजवे काम कर रहा था। अन्त में बड़े झंझट के बाद कमीशन के सदस्य इस बात पर सहमत हुए कि दोनों देशों की सीमा पैरोपैमीसस पर्वत-श्रेणी के उभरे भाग से लगाकर ऑक्सस नदी की नीची घाटी तक बने, किन्तु हरेक बात की विस्तृत व्याख्या निर्णय करनी शेष रही। अन्त में काफी वाद-विवाद के बाद रूस, इंगलैंड, अफ़गानिस्तान और भारत सरकार एक समझौते पर पहुँच गये, जिसको १८८७ में सैंट पीटर्सबर्ग की सभा में पक्का कर दिया गया। रिजवे ने बयान दिया था कि अमीर को आय तथा प्रदेश आदि किसी बात की भी हानि नहीं उठानी पड़ी थी और यह बड़ी सफलता थी कि रूस की सीमा हिरात की ओर निर्धारित की गई थी, यद्यपि यह रेखा सुदूर-पूर्व में पामीर की ओर थी। यह सीमा उस समय तक रही जबकि १८९५ में अंग्रेज व रूसियों के बीच एक सभा हुई।

पंचदेह युद्ध की आशंका के कारण भारतीय नरेशों की सेनाओं के बहुत से अफसर रूस के विरुद्ध लड़ने के लिये सरकारी नौकरी में भर्ती हो गये। इन अफसरों ने सरकारी सेवा के लिये पल्टनें बना ली, जिनका व्यय देशी राजा देते थे और युद्ध के अतिरिक्त ये पल्टनें कमाण्डर-इन-चीफ के अधीन नहीं होती थीं। उनका प्रयोग सर्वप्रथम १८९३ में हेन्जा की लड़ाई में किया गया था। अंग्रेजी व हिन्दुस्तानी दोनों प्रकार की सेनाओं में अधिक सैनिक भर्ती किये गये। युद्ध की तैयारी में जनता का २० लाख रुपया व्यय हो गया।

यद्यपि वायसराय की मिलनसारी व चतुराई व्यर्थ नहीं की गई, तो भी वह अमीर पर अधिक प्रभाव न डाल सका जो बड़ा प्रत्यक्षदर्शी, दृढ़ निश्चयी, देशभक्त और धीर था तथा उसका व्यक्तित्व ऊँचा, व्यवहार उत्तम तथा कुछ-कुछ मजाकिया

था। उसको अपने मन पर पूर्ण काबू था, जो गोरे गवर्नर की चुपड़ी-चुपड़ी बातों में बिलकुल नहीं आया जबकि उसने अमीर से कहा था कि हिरात के कमजोर दुर्ग को दृढ़ बनाने के लिए अंग्रेज इंजीनियर बुलाये जाएँ और उत्तर दिया था कि इस कार्य से देश-भक्त अफगान रुष्ट होंगे क्योंकि इसे वे अपनी स्वाधीनता में हस्तक्षेप और अपने देश के लिये अपमान समझेंगे। कुछ भी हो, जब रावलपिंडी में परस्पर मिलने के बाद दोनों शासक पृथक् हुए तो उनके हृदयों में परस्पर सद्भावना थी, एक-दूसरे के लिये सम्मान था।

बर्मा : बर्मा में जो घटनाएँ हो रही थीं उन्होंने वायसराय का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। १८२६ में अराकान व तनासेरम और १८५२ में पेगू का प्रान्त बर्मा की क्रमशः पहली और दूसरी लड़ाई के बाद अंग्रेजी राज्य में मिला लिये गए थे, परन्तु अपर बर्मा अभी स्वतन्त्र था, जो ईर्ष्या के कारण अपने देश में अंग्रेजों को व्यापारिक सुविधायें नहीं दे रहा था। १८७८ में निर्दयी और अत्याचारी थीबो उस देश का राजा था, जिसने अंग्रेज प्रतिनिधि के साथ ऐसा बुरा व्यवहार किया कि अगले वर्ष ही वह वहाँ से चला आया। सन्धि की वार्ता असफल रही। लोअर बर्मा में जो अंग्रेज व्यापारी थे, वे इस बात के लिए जोर देने लगे कि युद्ध द्वारा थीबो का राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया जाय। थीबो ने फ्रांस, जर्मन और इटली से व्यापारिक समझौता करके इस अग्नि में और भी आहुति डाल दी। यद्यपि उसे ऐसा करने का पूर्ण अधिकार था, परन्तु इससे युद्ध की आग भड़क उठी। १८८५ में फ्रांस से एक राजदूत आया, जो माण्डले में एक बैंक खोलना चाहता था। थीबो की सरकार ने अंग्रेजों की एक फर्म पर बड़ा भारी जुर्माना करके समस्त अंग्रेजों को और भी उत्तेजित कर दिया, जिसके फलस्वरूप भविष्य में युद्ध हुआ। वायसराय ने थीबो सरकार से प्रार्थना की कि उक्त कम्पनी के निर्णय पर पुनः विचार किया जाय, परन्तु उसके इन्कार करने पर भारत सरकार ने बड़ी-कड़ी शर्तें रखकर अन्तिम चेतावनी दी। वे शर्तें यह थीं—अंग्रेजों को उसके प्रदेश में से होकर चीन से व्यापार का अधिकार मिलना चाहिए, माण्डले में अंग्रेजों का प्रतिनिधि स्वीकृत करना चाहिए और जब तक वह न पहुँच जाय, तब तक अंग्रेज कम्पनी के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की जानी चाहिए और बर्मा को योरुप के अन्य देशों से कोई स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं जोड़ने चाहिये। बर्मा सरकार ने उत्तर दिया कि जब तक उन शर्तों में काफी सुधार नहीं किया जायगा, वे मंजूर नहीं की जायेंगी। बस तुरन्त ही जनरल परेण्डरगास्ट (Prenbergast) के अधीन एक छोटा-सा जहाजी बेड़ा भेजा गया जो इरावदी नदी में होकर पहुँच गया। अचानक आक्रमण से घबराकर बिना लड़े ही बर्मा ने आत्म-समर्पण कर दिया। १ जनवरी १८८६ को उनका देश, जो क्षेत्रफल में फ्रांस से भी बड़ा तथा चालीस लाख संख्या वाला था, अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया।

किन्तु लड़ाई ऊपरी तौर पर ही समाप्त हो गई थी। दो वर्ष तक अंग्रेजों पर बराबर छापामार हमले होते रहे और वहाँ की भूमि छापामार लड़ाई के अनुकूल

होने के कारण अनेक अंग्रेजों की जानें चली गईं। अन्त में अशान्तिपूर्ण क्षेत्र में छोटे-छोटे किलों का जाल-सा पूर दिया गया और शीघ्र चलने वाली सेना को उस प्रदेश से काफ़ी दूर रखा गया। यातायात के आधुनिक साधनों के खुल जाने से धीरे-धीरे बन्दोबस्त का कार्य चलता रहा, देश के राजनीतिक विभाग इकाई के रूप में बनते गए, भूमि-कर वसूल होने लगा तथा शान्ति और नियन्त्रण स्थापित होने लगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं अपर बर्मा को अपने राज्य में मिलाकर अंग्रेजों ने ऐसा कार्य किया था कि अपने बचाव के लिए उनके पास कोई सैद्धान्तिक उत्तर न था। उनकी सारी कार्यवाही मनमानी और अनाचारपूर्ण थी। यद्यपि यह ठीक है कि उनको उत्तेजित किया गया था जिससे उनके कार्य का थोड़ा-बहुत समाधान हो सकता है। वास्तव में अंग्रेजों की सम्पूर्ण कार्यवाही इस उद्देश्य को लेकर थी कि जिससे अपर बर्मा को कोई अन्य योरोपियन देश अपने अधिकार में न कर ले।

चीन बर्मा और तिब्बत पर अपना प्रभुत्व समझता था, और शीघ्र ही अंग्रेजों ने चीन से तिब्बत को एक व्यापारिक मिशन भेजने की अनुमति ले ली थी। किन्तु दलाई लामा के अनुयायी इस मिशन का स्वागत नहीं करना चाहते थे। फलस्वरूप १८८६ में यह मिशन भेजना स्थगित कर दिया गया जिससे भविष्य में कोई लाभ नहीं समझा गया। इस मिशन के रुक जाने से चीन ने बर्मा से अपना प्रभुत्व हटा दिया और उस देश पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। तब भी लासा के सम्बन्ध में कठिनाई बनी ही रही, क्योंकि प्रस्तावित मिशन का मार्ग रोकने के लिये तिब्बत-निवासी सिक्किम में घुस गये, जो उनकी सीमा पर स्थित था तथा अंग्रेजों की सुरक्षा में था और लिंगतू एक दुर्ग में बना लिया। १८८८ में अंग्रेजी सेना ने अन्तिम बार तिब्बत वालों को सिक्कम से धकेल कर उनके देश तक भगा दिया।

भारत में राष्ट्रीय जागृति का विकास

१. भारत में राष्ट्रीय जागृति का विकास जो गत सौ वर्षों में हुआ है वह भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस जागृति के कारण नीचे दिये जाते हैं। अपनी मातृ-भूमि के प्रति प्रेम तथा स्वतन्त्रता-संग्राम की भावना जो लोगों के हृदय में जागृत हुई उसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद का बहुत-कुछ हाथ है। इसने विविध प्रान्तों के लोगों को संगठित कर दिया और उनको सिखलाया कि वे भारत को एक राष्ट्र समझें।

२. भारतीय प्रेस और साहित्य ने भी लोगों के हृदय में राष्ट्रीयता की भावनाएँ जगाने में वहुत-कुछ हाथ बँटाया। 'दि इण्डियन मिरर', 'दि बोम्बे समाचार', 'दि केसरी', 'दि हिन्दू', 'दि अमृत बाज़ार पत्रिका', 'दि पेट्रियोट' तथा 'दि बंगाली' आदि पत्रों ने शिक्षित लोगों पर बड़ा प्रभाव डाला। नवीनचन्द्र सेन, दीनबन्धु

मित्रा, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और रमेशचन्द्र दत्त जैसे लेखकों ने लोगों के विचारों को बहुत-कुछ प्रभावित किया। टैगोर और बंकिमचन्द्र ने राष्ट्रीय गीत और कविताएँ लिखीं।

३. संचार और परिवहन के साधनों में सुधार से भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत-कुछ सहारा मिला। नेतागण प्रायः परस्पर मिलते थे और जन-साधारण में उनके सम्पर्क से राष्ट्रीय जागृति को प्रोत्साहन मिला।

४. भारतवासियों ने जब योरुप के देशों का भ्रमण किया तो उनका दृष्टि-कोण बदला। उन्होंने योरुप से राष्ट्र-प्रेम और स्वतन्त्रता का पाठ सीखा। यदि जर्मनी और इटली जैसे देश स्वतन्त्र हो सकते थे तो भारत क्यों न उनका अनुकरण करे? मानवीय अधिकार और स्वतन्त्रता के विचारों का प्रभाव भारतवासियों पर पड़ा। नवयुवक भारतवासियों के मस्तिष्क में पश्चिमी शिक्षा का नशा घर कर गया। उनके दृष्टिकोण में एकदम परिवर्तन हो गया।

५. देवेन्द्रनाथ टैगोर, राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द जैसे धार्मिक तथा सामाजिक सुधारकों ने प्राचीन भारत के गौरव की प्रशंसा की और लोगों से कहा कि एक बार पुनः वे अपने अतीत के गौरव को लौटा लायें। दयानन्द सरस्वती ने घोषणा की कि भारत भारतीयों के लिए है। श्रीमती एनीबेसैन्ट ने अपने लेखों और जीवन के कार्यों द्वारा राष्ट्रीयता के विकास में बहुत सहायता पहुँचाई।

६. भारत में प्राचीन साहित्य को एशियाटिक सोसायटी तथा रानाडे, मैक्समूलर, कौलब्रुक, आर० जी० भंडारकर और हरप्रसाद शास्त्री जैसे विद्वानों ने सजीव बनाया। उन्होंने संस्कृत भाषा को गौरवान्वित किया और लोगों के हृदय में अपने अतीत के प्रति अभिमान और भविष्य के प्रति विश्वास उत्पन्न किया।

७. लोगों को आर्थिक कष्ट होने लगे। उनमें से बहुत से बेरोजगार हो गए। देश का धन अंग्रेजों के काम आने लगा। अंग्रेज पदाधिकारी, जो भारत में काम करते थे, देश की अपार सम्पत्ति खींच रहे थे। अंग्रेजों की आवश्यकताओं को अनुचित महत्व दिया जाता था। इससे भारतीयों का अर्थ-संकट बढ़ता गया। अंग्रेज भारतीय चरित्र की निन्दा करते थे और अभिमानी थे। वे भारतीय धार्मिक रीति-रिवाजों और उत्सवों का मखौल उड़ाते थे।

८. ब्रिटिश सरकार ने जो अत्याचार व पूर्ण दमन की नीति अपनाई उससे देश में असंतोष और भी बढ़ गया। १८५७ की क्रांति में दोनों पक्षों के अनेक व्यक्ति मारे गये थे। किन्तु विद्रोह दब जाने पर अंग्रेजों ने निरपराध और निर्दोष भारतीयों से बदला निकाला। भारतीय इस कारण भी असंतुष्ट थे कि शासन-प्रवन्ध में उन्हें उच्च पद न मिलते थे और देश के विधान-मण्डल से उन्हें दूर रखा जाता था।

९. अंग्रेजी भाषा ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बढ़ाने में सहायता दी।

अंग्रेजी भाषा के माध्यम से मद्रासी, बंगाली और पंजाबी विचार-विनिमय कर सकते थे और यह शिक्षित लोगों के लिए सारे देश की भाषा बन गई।

१०. लार्ड लिटन की अफ़गान-नीति, वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट और आर्म्ज ऐक्ट ने राष्ट्रीय आन्दोलन की गति तीव्र की। उसने १८७७ में दिल्ली का दरबार किया जबकि दक्षिण भारत में भीषण अकाल पड़ा हुआ था। सूती कपड़े से जो आयात-कर हटा लिया गया उससे भी भारतीयों की अप्रसन्नता बढ़ी, क्योंकि यह अंग्रेजी कपड़ा-उत्पादकों को सहायता देने के लिए हटाया गया था।

११. तनाव के वातावरण तथा सरकार की दमनकारी नीति के फलस्वरूप सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में लोगों ने इण्डियन नेशनल कान्फ्रेंस की स्थापना की जो इण्डियन नेशनल कांग्रेस की पुर्व सूचना थी, जिसकी स्थापना एक अंग्रेज नागरिक ए० ओ० ह्यूम ने १८८५ में की थी जिसे सर्व-सम्पति से कांग्रेस का पिता माना जाता है। आरम्भ में इसके संस्थापक का उद्देश्य भारत के नेताओं को संगठित करना था, जिससे वे देश की सामाजिक समस्याओं पर वाद-विवाद कर सकें। किन्तु ह्यूम के प्रारम्भिक विचारों को बदलने के लिए लार्ड डफ़रिन उत्तरदायी है। वह चाहता था कि भारतीय राजनीतिज्ञ सरकार को उसके शासन के दोष बताएँ और उनमें सुधार के सुझाव रखें। कांग्रेस का काम था भारतीय अशान्ति को शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक धारा में बहाकर सरकार के सम्मुख रखना और आतंक (Terrorism) को रोकना।

लार्ड लैन्सडौन

सन् १८८८ के खतम होने से कुछ ही पहले लार्ड लैंसडौन भारत का वायसराय बना। पद सँभालते ही उसे मुद्रा-सम्बन्धी विचित्र परिस्थिति का सामना करना पड़ा जो सारे संसार में चाँदी का मूल्य गिर जाने के कारण बिगड़ गई थी। नई खानों की खोज होने के कारण चाँदी का उत्पादन बहुत मात्रा में बढ़ गया, जिससे इस धातु का मूल्य गिर गया। तब से योरुप के अधिकांश देशों में चाँदी केवल सांकेतिक मुद्रा रह गई। सोने की मुद्रा वाले देशों की अवस्था पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु चाँदी की मुद्रा वाले देशों की आर्थिक दशा बिगड़ गई, विशेषकर भारत जैसे देश की, जिसको विदेशों का बहुत-सा ऋण चुकाना था। सार्वजनिक सूद, विदेशी पूँजी जो-जो भारत में लगी थी उसका सूद, पैंशनें और इण्डिया आफिस का व्यय आदि की रकम। भारत को सब-की-सब इंगलैंड को स्वर्णमुद्रा में अदा करनी थी। प्रतिवर्ष ऋण बढ़ता चला गया, जिसका एक कारण तो विनिमय-दर का गिरना था और दूसरा था अपर बर्मा की विजय तथा तरह-तरह के सार्वजनिक कार्यों के व्यय का भार। रुपया जो आरम्भ में २ शि० ३ पैंस के बराबर माना जाता था, कई वर्ष तक २ शिलिंग के बराबर बना रहा। १८७३ से इसका मूल्य गिरने लगा। १८८५ के बाद इसका मूल्य तेजी से गिरा और पांच वर्ष में इसका मूल्य केवल १ शि० ४ पैं० रह गया। कुछ समय के लिए इसके मूल्य में कुछ वृद्धि अवश्य हुई, परन्तु

१८९२ में इसका मूल्य न्यूनतम अर्थात् १३ पैंस रह गया।

उपर्युक्त अंकों से यह सरलता से नहीं समझा जा सकता कि देश के ऊपर कैसा आर्थिक संकट आकर पड़ा था। इसका अर्थ है कि २० वर्ष के समय में (१८७३-९२) भारत को अपना ऋण चुकाने के लिए १८७३ की रकम से ड्योढ़ी रकम की जरूरत थी और दोनों समय के मूल्यों का अन्तर ६,०००,००० पौंड हो गया था और जब १८९२ में रुपये का मूल्य सबसे कम हो गया था लगातार ऋण की बाकी निकलते रहने के कारण जिन विदेशियों ने अपनी पूँजी भारत में लगा दी थी उनका विश्वास उठता जा रहा था और व्यापार ठप्प होता जा रहा था। फलस्वरूप सार्वजनिक कार्यों का व्यय घटा दिया गया। भारत का ऋण सोने-चाँदी में न चुकाकर पदार्थों के द्वारा चुकाया जाता था, अतएव उसको चुकाने के लिए १८७३ की अपेक्षा दुगने पदार्थ निर्यात करने की आवश्यकता थी।

ऐसी अवस्था में टैक्सों का बढ़ाया जाना अवश्यम्भावी था। अवाँछित टैक्स फिर लगाया गया और नमक-कर बढ़ा दिया गया। इन सब उपायों के होते हुए भी कमी पूरी न हो सकी और सरकार दिवालिया बनती गई—यहाँ तक कि भारत सरकार ने इंग्लैण्ड की सरकार से १८९२ में मुद्रा में कुछ परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया। मुद्रा-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सभा जो १८९२ में बूशल में हुई थी वह सोने-चाँदी का अनुपात निर्धारित करने में सफल नहीं हुई। १८९३ से पूर्व कोई भी व्यक्ति टकसाल में मुद्रा ढलवा सकता था। परन्तु इसके बाद टकसाल बन्द कर दी गई, जिससे अन्त में सोने की मुद्रा प्रचलित हो सके। और सोने की मुद्रा अथवा सोने के बदले में एक पौंड के बदले में १५ रु० की दर से रुपये दिए जाने लगे। इन उपायों से भी रुपयों का मूल्य गिरने से नहीं रुका, किन्तु अन्त में १८९५ में मूल्य का गिरना रोक दिया गया।

मणिपुर और कलात : आसाम में एक छोटी-सी पहाड़ी रियासत मणिपुर थी, जिसकी राजगद्दी के लिए परस्पर अपने-आपको उत्तराधिकारी कहने वालों में झगड़ा हुआ। फलस्वरूप वहाँ बड़ी अशान्ति फैल गई। अन्त में वायसराय ने वहाँ हस्तक्षेप करने का निश्चय किया, क्योंकि वह सरकार का कर्त्तव्य समझता था कि जो रियासतें अंग्रेजों की रक्षा में हैं उनके उत्तराधिकारी का वह निर्णय करे। आसाम के चीफ-कमिश्नर को ४०० सिपाहियों के साथ मणिपुर भेजा गया कि वह सेनापति से, जिसने राज्य पर अधिकार जमा लिया था, विद्रोह के कारण पूछे। चीफ़-कमिश्नर ने सेनापति को बन्दी बनाना चाहा, परन्तु राज्य के लोगों ने उसके प्रयत्न को विफल कर दिया। कुछ युद्ध हुआ और एक सभा बुलवाई गई, जिसमें उस चीफ़-कमिश्नर व उसके तीनों साथियों को बड़ी निर्दयता से छलपूर्वक मार डाला गया। उसके निम्न अधिकारी बड़ी शर्म से पीछे लौट गए। मणिपुर ने पूर्वी बंगाल की सीमा पर आक्रमण किया किन्तु उनको पीछे हटा दिया गया। बाद में अंग्रेजी सेना ने मणिपुर की राजधानी इम्फाल पर अधिकार कर लिया और वध करने वालों को व इनके नेता सेनापति को फाँसी दे दी। एक अल्पवयस्क राजा को गद्दी पर बिठा कर इसके वयस्क

होने तक प्रबन्ध अंग्रेजी रेज़िडेण्ट को सौंप दिया गया। अंग्रेजों के इस प्रतिनिधि ने मणिपुर से दासता बन्द कर दी। उधर सुदूर पश्चिम में कलात के खान ने कई खूनी अपराध किए, यहाँ तक कि अपने मंत्री व उसके पिता-पुत्र दोनों का वध कर डाला। कलात के खान को तख्त से उतार दिया गया और स्थानीय मुखियाओं की अनुमति से उसके बेटे को गद्दी पर बिठाया गया।

उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी सीमाएँ : लैंसडौन का शासन-काल उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की हलचलों से ओत-प्रोत रहा, क्योंकि तत्कालीन घटनाएँ योरुप के राज्याकाँक्षी देश रूस, फ्रांस व इंगलैंड और साथ-ही-साथ चीन भी अपनी सीमाओं को भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैलाकर ऐसे केन्द्र तक पहुँचाने के प्रयत्न में थीं जहाँ उन सब देशों की सीमाएँ परस्पर मिल जायँ। अपने अधिकृत देशों से परे जो वे अपना प्रभाव फैला रहे थे वह शासन के लिए नहीं था वरन् अन्य शक्तियों को वहाँ अधिकार जमाने से रोकनें के लिए था। अतएव अंग्रेजों का प्रभाव सिक्किम तथा चटगाँव के उत्तर-पूर्व में लूशाई की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। चीन का उससे भी पूर्व इरावदी के पार शान रियासतें और बर्मा की पूर्वी सीमा की रियासत में फैला हुआ था।

अफ़गानिस्तान से सम्बन्ध : अफ़गानिस्तान से अंग्रेजों के सम्बन्ध बनते-बिगड़ते जा रहे थे। लार्ड मेयो के सम्बन्ध अमीर शेरअली से बहुत अच्छे थे, परन्तु उसका उत्तराधिकारी लार्ड नार्थब्रुक वैसे सम्बन्ध न रख सका। इसी प्रकार लार्ड डफ्रिन ने अफ़गानिस्तान से जो दृढ़ सम्बन्ध बनाए थे वे उसके उत्तराधिकारी की उपेक्षा के कारण अच्छे न रहे क्योंकि वह मिलनसार न था। जब अमीर अब्दुर्रहमान के पास गर्वपूर्ण तथा धृष्ट पत्र अंग्रेजों द्वारा भेजे गये, जिनमें वे उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहते थे, तब वह बहुत क्रुद्ध और उत्तेजित हुआ और दोनों देशों में परस्पर सहानुभूति जाती रही।

अफ़ग़ानिस्तान व भारत के बीच लगभग २५,००० वर्ग मील का ऐसा प्रदेश था जिसमें कई फिरके के लोग रहते थे और वहाँ किसी का राज्य न था। उग्र विचारों के फौजी अफ़सर बहुत दिनों से जोर दे रहे थे कि इस प्रदेश पर रेल आदि द्वारा युद्ध-कौशल से अधिकार कर लिया जाय। किन्तु इस नीति में बहुत व्यय की आवश्यकता थी तथा इससे अमीर और भी बहुत अप्रसन्न होता। उस समय जो कमांडर-इन-चीफ़ लार्ड राबर्ट्स था उसने बड़ी सावधानी से इस दिशा में कदम बढ़ाया परन्तु इससे अब्दुर्रहमान बहुत विचलित हुआ। यह कदम झगड़ा पैदा उत्पन्न करने वाला और उद्धत था। युद्ध-कालीन रेलवे-लाइन्स को बोलन दर्रे तक बढ़ा दिया गया और समस्त सीमा पर काफ़ी चहल पहल दिखाई देने लगी।

काश्मीर : काश्मीर की घटनाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं। महाराजा प्रताप-सिंह १८८५ में गद्दी पर बैठे थे। उनको तीन ही वर्ष बीते थे कि लार्ड डफ्रिन ने अंग्रेज रेजिडेंट को बुलाकर उसको आन्तरिक मामलों में अधिक हस्तक्षेप करने के लिए कहा। अगले वर्ष ही किसी अज्ञात कारण से, जिसका आज तक पता नहीं

महाराजा को गद्दी से उतार दिया गया और शासन-प्रबन्ध रेजिडेंट के अधीन एक काउन्सिल को सौंप दिया गया। इस पर १८९० में इंगलैंड की पार्लियामैंट में 'काम रोको' प्रस्ताव पास हो गया और किसी-न-किसी प्रकार १५ वर्ष के बाद महाराजा को पुनः उसका राज्य सौंपा गया।

ईशाक़खाँ का विद्रोह : अफ़ग़ानिस्तान में ईशाकखाँ ने जो विद्रोह खड़ा कर दिया उसके फलस्वरूप अमीर को अफ़ग़ानिस्तान और तुर्किस्तान की सीमा पर दो वर्ष (१८८८-९०) तक व्यस्त रहना पड़ा। अतएव ड्यूरैंड मिशन को रोक दिया गया जो अमीर के भय को दूर करने के लिए भेजा जाने वाला था और इसके फलस्वरूप अंग्रेजों व अफ़गानों के सम्बन्ध खराब हो गए। १८८९ में एक अंग्रेज अफसर को गिलगित भेजा गया जो वहाँ के निवासियों के उस निराधार और काल्पनिक भय को दूर करे जो रूस की सीमा-विस्तार की नीति के कारण वहाँ फैला हुआ था।

हुंजा तथा नागर जातियों के स्थानीय निवासी अंग्रेज अफ़सरों का वहाँ आना पसन्द नहीं करते थे, अतएव उन्होंने गिलगित पर आक्रमण किया किन्तु उनको पीछे हटा दिया गया। गिलगित सैनिक दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वह चित्राल की छोटी-छोटी रियासतों के मार्ग में पड़ता है जहाँ पर हिन्दूकुश के सबसे नीचे और सरलता से पार किए जाने वाले दर्रे हैं। १८९२ में मेतर (चित्राल के राजा की यह परम्परागत उपाधि थी) की मृत्यु हो जाने पर उसके बेटे को राजगद्दी पाने में कठिनाई उठ खड़ी हुई। यह साधारण-सा बहाना पाकर अगले वर्ष डा० रिचर्डसन को अंग्रेजों का प्रतिनिधि बनाकर वहाँ भेजा गया। इन सब कार्यवाहियों से अफ़ग़ानिस्तान के अमीर का सन्देह स्वतः ही बढ़ गया और अंग्रेजों के प्रति उसकी भावना बिगड़ गई। अब्दुर्रहमान ने स्वयं कहा कि दोनों देशों में युद्ध छिड़ने की नौबत आ गई है। सौभाग्य से दुर्घटना होते-होते बच गई। १८९२ में लार्ड राबर्ट्स को बड़ी मूर्खता से अफगानिस्तान का राजदूत चुना गया क्योंकि वह प्रसिद्ध उग्रवादी था। द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध में उसकी कार्यवाहियों से काबुल के अधिकारी-वर्ग प्रसन्न न थे। अफ़गान शासन ने बड़ी चतुरता से उससे मिलने से यह बहाना बनाकर इन्कार कर दिया कि वह अस्वस्थ था और हज़रा जिले में विद्रोह हो रहा था। वह वायसराय के बदल जाने के बाद उससे मिलेगा। अगला राजदूत सर मौंटीमर ड्यूरैंड कुशलतापूर्वक २ अक्तूबर को काबुल पहुँचा और वहाँ डेढ़ महीने रहा, जिसके बीच उसने सब झगड़े निपटा दिए और दोनों पक्षों में भली भाँति फैसला हो गया कि वह सीमा पर बसी हुई वजीरी व अफरीदी जातियों अथवा स्वात, दीर, चित्राल आदि में हस्तक्षेप नहीं करेगा और जो नई चमन रेलवे लाइन बनी थी उस पर से अपने समस्त अधिकार उठा लेगा, जिसके बदले में उसकी सीमा पर स्थित कुछ जिले मिल गए तथा उसकी १२ लाख रुपये की वार्षिक सहायता को बढ़ाकर ड्योढ़ा कर दिया गया। उसको युद्ध का समान स्वतंत्रतापूर्वक मंगाने का

अधिकार दिया गया। यह सब-कुछ मिल जाने से वह सन्तुष्ट हुआ। उसने स्वयं यह कहा था, "मैंने अंग्रेजों की मित्रता से जो कुछ खोया उससे अधिक पा लिया है।" यद्यपि उसने वह शब्द और भी जोड़ दिए थे, "इस मित्र ने रूस की अपेक्षा अधिक प्राप्त किया है।" अमीर ने इंगलैंड जाने का वायदा किया था परन्तु बीमार होने के कारण नहीं जा सका। १८९५ में उसने अपने बेटे नसरुल्लाखाँ को इंगलैंड भेजा, किन्तु वह अपने पिता की इच्छा को अंग्रेजों से पूरी न करा सका कि उसका प्रतिनिधि अंग्रेजों के दरबार में रहे।

१८९३ में लार्ड लैंसडौन के चले जाने पर लार्ड एलगिन ५ वर्ष के लिए वायसराय हुआ, जिसका पिता ३० वर्ष पूर्व इसी पद पर रह चुका था।

इस अध्याय में कुछ सामाजिक और शासन-सम्बन्धी सुधारों का वर्णन किया जायगा, जिनके पूरा होने पर रिपन-लैंसडौन-डफ्रिन काल में एक-दो वायसराय के शासन-काल से अधिक समय लगा। लार्ड डफ्रिन के काल में तीन बड़े कृषि-सम्बन्धी सुधार हुए —१८८५ का बंगाल टेनैन्सी बिल और अवध व पंजाब में भी उसी प्रकार के कानूनों का बनाना। इनमें से पहला १८५९ के बंगाल के लगान कानून का बहुत विस्तृत रूप था। इस कानून से किसानों का अपनी भूमि पर अधिकार अधिक सुरक्षित हो गया उनको सरल और अनुचित वेदखली से त्राण मिल गया। इसके अतिरिक्त किसान आसामी जमींदारों के पारस्परिक झगड़े सरलता से तय होने लगे। इस साहसी तथा उदार योजना के विषय में, जो किसानों के हित के लिए बनाई गई थी, जमींदारों ने बड़ा शोर मचाया कि लार्ड कार्नवालिस के १७९३ के स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध है। वायसराय ने इन योजनाओं का उत्तर दिया कि उस योजना से केवल वही सुधार किए गए हैं जिन्हें कार्नवालिस स्वयं करना चाहता था। अवध के कानून ने जो लगभग इसी आधार पर बना था, उन किसानों को सुरक्षा प्रदान की जिन्हें लारैंस का १८६८ का कानून सुरक्षित नहीं कर सकता था। कुछ ऐसे नियम भी बनाए गए कि जिन किसानों को वेदखल किया जाय उनको कुछ एवज़ दिया जाय। १८८७ में लगभग ऐसा ऐक्ट ही बना जिससे पंजाब की रैयत को लाभ पहुँचा।

फैक्ट्री ऐक्ट : लार्ड लैंसडौन का फैक्ट्री ऐक्ट १८८१ के बने हुए ऐक्ट की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ था। इस ऐक्ट के द्वारा फैक्ट्री में काम करने वाली स्त्रियों के काम के घण्टे नियत कर दिए गए, यहाँ काम करने वाले बच्चों की आयु में संशोधन हुआ कि अमुक आयु से कम के बच्चे फैक्ट्री में काम नहीं करेंगे और वे दिन-भर में केवल सात घंटे काम करेंगे और रात्रि में काम नहीं करेंगे। फैक्ट्री में काम करने वालों को सप्ताह में एक दिन की छुट्टी अवश्य दी जायगी।

रजामन्दी की आयु का कानून : उसी वायसराय ने लड़कियों की रजामन्दी की आयु दस से बढ़ाकर बारह कर दी। शीघ्र ही लोगों ने शोर मचाया कि महारानी विक्टोरिया की १८८५ की घोषणा के विरुद्ध उनके धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप

किया जा रहा है, किन्तु वायसराय अपने निश्चय पर दृढ़ रहा और शिकायतों की परवाह नही की।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस : १८८५ में बम्बई में इण्डियन नेशनल काँग्रेस का बड़ा महत्वपूर्ण पहला जलसा हुआ। उस समय कौन कह सकता था कि यह छोटी-सी संस्था इतनी महान् तथा शक्तिशाली बन जायगी। इसका आरम्भ अत्यन्त साधारण था। यह केवल शिक्षित स्वतन्त्र विचारकों के लिए एक साधन-मात्र थी जो प्रतिनिधि सरकार बनाने का कोई साधन खोजना चाहते थे और चाहते थे कि भारतीयों को भी अपने देश में ऊँचे-ऊँचे पद प्राप्त हों। जिस समय इस संस्था का जन्म हुआ उस समय कांग्रेस को जो नेशनल (राष्ट्रीय) नाम दिया गया उस पर बहुत कुछ ऐतराज किए गए और सरकारी काउन्सिलों में इस संस्था के विषय में कहा गया है कि इसके सदस्यों की स्थिति विचित्र थी क्योंकि कहने को तो ये बेचारे किसानों के प्रतिनिधि कहलाते थे। परन्तु स्वयं पश्चिमी शिक्षा को पाए हुए कतिपय अमीर घरानों के लोग थे। यह संस्था राजाओं और मुसलमानों की प्रतिनिधि नहीं थी।

काउन्सिल ऐक्ट १८९२ : लार्ड डफ़िन ने स्वीकार किया कि काँग्रेस की आकांक्षाएँ उचित थीं और लिटन के शब्दों को दुहराते हुए उससे प्रस्ताव किया कि ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही अपनी सदिच्छा से जो कुछ संभव हो सकेगा कांग्रेस को अवश्य देगी और उत्तेजकों से १० या १५ वर्ष के लिए कोई समझौता करेगी परन्तु, इस बीच में उनको उत्तेजना बन्द कर देनी चाहिए। उसने अपनी योजनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया और अगले वायसराय ने उनमें कुछ संशोधन करके इण्डियन काउन्सिल ऐक्ट पास किया (१८९२)। नियम-निर्माण-सभाओं को बड़ा कर दिया। बड़ी काउन्सिल में १० से १६ सदस्य बढ़ाये गये, जिनमें अधिक-से-अधिक ६ सरकारी सदस्य हो सकते थे और बीस-बीस सदस्य बम्बई व मद्रास काउन्सिलों में बढ़ाये जिनमें से अधिक-से अधिक ९ सरकारी सदस्य हो सकते थे। गैर-सरकारी सदस्यों को म्युनिस्पैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, यूनिवर्सिटी आदि संस्थाएँ नामजद करती थीं, यद्यपि उस समय तक निर्वाचन-प्रणाली प्रारम्भ नहीं हुई और काउन्सिलों में सरकारी सदस्यों का बहुमत था, फिर भी उनका कार्य-क्षेत्र बढ़ा दिया गया था, बजट पर बहस होती थी तथा अधिकारियों से उनके कार्य के विषय में प्रश्न किये जा सकते थे। यह एक महत्वपूर्ण सुधार था कि भारतीय लोग शासकों के सम्पर्क में आने लगे थे, यद्यपि स्वराज्य अभी दूर था।

सेवाएँ : १८८६-८७ में एक पब्लिक सर्विस कमशीन ने सिविल सर्विस में काफी सुधार किया, जिसके फलस्वरूप १८९१ में स्टैच्युटरी सिविल सर्विस (Statutory Civil Service) तोड़ दी गई और उसको तीन भागों में विभक्त किया गया—(१) इण्डियन सिविल सर्विस, (२) प्रान्तीय तथा (३) निम्न पद। इनमें से दो भारतीयों के लिए बिलकुल खुले हुए थे और प्रथम के लिए भारतीय इंग्लैंड

में होने वाली प्रतियोगिता में भाग ले सकते थे। प्रान्तीय नौकरियाँ या तो पद में तरक्की द्वारा, नामज़दगी से अथवा परीक्षा द्वारा दी जाती थीं। १८९३ में हाउस आफ़ कामन्ज़ (House of Commons) ने उदारता से सहानुभूति दिखाते हुए एक प्रस्ताव पास किया, जो ऐक्ट न बनने के कारण निष्फल रहा, कि सिविल सर्विस की परीक्षा इंग्लैंड व भारत में साथ-साथ हो सकेगी।

Questions

1. Narrate briefly the main stages of the rise of the nationalist movement in India.
भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का जिस क्रम से अभ्युदय हुआ उसका संक्षेप में वर्णन करो।
2. Describe the religious and social reform movements during the 16th century.
१६ वीं सदी में जो धार्मिक व सामाजिक आन्दोलन हुआ उसका वर्णन करो।
3. Outline the main reforms of Lord Ripon.
लार्ड रिपंन के मुख्य-मुख्य सुधारों की रूपरेखा लिखो।
4. Trace the growth of Local Self-government in India upto 1921.
भारत में १९२१ तक स्थानीय स्वायत्त-शासन के विकास का क्रमशः वर्णन करो।
5. Discuss the circumstances that led to the foundation of the Indian National Congress.
किस परिस्थिति के फलस्वरूप कांग्रेस की नींव पड़ी, उसकी विशद् रूप से विवेचना करो।

अध्याय २९

लार्ड एल्गिन

तूफान आने से पूर्व जो शान्त वातावरण हो जाता है, उसी के समान लार्ड एल्गिन का शासन दो वर्ष तक बिलकुल घटना हीन बना रहा । उसका शासन सावधानी व संशय को लिए हुए था और उसमें आत्म-विश्वास की कमी थी । उसके सबसे पहले बजट में काफ़ी कमी थी, जिसके फलस्वरूप सूती कपड़े को छोड़ कर सभी पदार्थों पर ५ प्रतिशत आयात-कर लगा दिया गया । सूती वस्त्रों पर आयात-कर न लगाने के कारण भारत के कपड़े की मिलों को बड़ा धक्का पहुँचा, अतएव उनके मालिकों ने इसका बहुत विरोध किया । एक वर्ष के अनन्तर सूती वस्त्रों पर भी आयात-कर लगा दिया गया किन्तु इससे कोई अन्तर नही पड़ा, क्योंकि इसके साथ-ही-साथ भारत के बने कपड़े पर उतना ही टैक्स लगा दिया गया । बहुत वाद-विवाद होने के पश्चात् १८९६ में दोनों प्रकार के करों को घटाकर ३$\frac{१}{२}$ प्रतिशत कर दिया गया । इसी बीच १८९५ में रुपये का मूल्य, जो १३ पैंस हो गया था, बढ़कर १६ पैंस हो गया, जिसका कारण था चाँदी के आयात पर प्रतिबन्ध तथा अन्य कारण था टकसालों का बन्द होना ।१८९५ में सेना में महत्वपूर्ण सुधार का मानचित्र कार्यान्वित हुआ जो १६ वर्ष से विचाराधीन था तथा जिसके विषय में कलकत्ता और लन्दन में सलाह-मशवरा हो रहा था । तीन प्रान्तीय सेनाओं व तीन कमांडर-इन-चीफों के स्थान पर केवल एक कमांडर-इन-चीफ तथा चार लैफ्टिनैंट-जनरल बंगाल, बम्बई, मद्रास तथा उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश व पंजाब की संयुक्त सेना के लिए नियुक्त किये जाने लगे । इस सुधार का सबसे बड़ा महत्व यह है कि तीन सेनाओं के स्थान पर समस्त भारत की एक सेना बन गई ।

उसी समय ओपियम (अफ़ीम) कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई । अफ़ीम एकाधिकार केवल सरकार को था, जिसके ग़ाजीपुर व पटना में कारखाने थे और यह पदार्थ बड़ी मात्रा में चीन भेजा जाता था, जिससे भारत सरकार को बहुत आय होती थी । शेष अफ़ीम भारत में खाई जाती थी । इंग्लैंड में उदार हृदय लोगों का सदा से यह विचार रहा था कि अफ़ीम का उत्पादन अनुचित और पापपूर्ण है, क्योंकि अफ़ीम खाने से व्यक्ति के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है । कमीशन ने इस व्यवसाय का भारत की आर्थिक दशा के आधार पर बहुत-कुछ पक्ष लिया और इसको उचित बताया । किन्तु बाद में शुरूआत करने के लिए १९०८ में चीन से

कहा गया कि अफ़ीम का निर्यात भविष्य में कम कर दिया जायगा ।

१८९६ में संयुक्त प्रान्त, मध्य भारत, बरार, बंगाल के कुछ भाग, मद्रास, बम्बई, राजपूताना और बर्मा में अकाल फैल गया, जिसका कारण था कि १८९५ में वर्षा कम हुई और १८९६ में तो बिलकुल ही नहीं हुई । केवल ब्रिटिश भारत में ही ७½ लाख आदमी काल के ग्रास बन गए । इसके पचगुने लोगों को ५५ लाख पौंड व्यय करके १८९७ में सहायता पहुँचाई गई । उत्तर-पश्चिमी प्रांत में (पहले उत्तर प्रदेश का यही नाम था) अकाल-पीड़ितों को सबसे अधिक सहायता पहुँचाई और मध्य प्रान्त के लोगों को सबसे कम ।

इससे भी अधिक विपत्ति आने वाली थी । अगस्त १८९६ में सर्वप्रथम बम्बई में प्लेग फैली । प्लेग की गांठ बगल में उठती थी जो आरम्भ में सामान्य जान पड़ती परन्तु बाद में घातक सिद्ध होती । प्लेग अकाल से भी अधिक भीषण और स्थायी होती है, यद्यपि इससे मरे लोगों की संख्या घटती-बढ़ती रहती है । चीन से जो अनाज आया सम्भवतः उसमें इस रोग से पीड़ित चूहे यहां आये, जिनके द्वारा भारत में यह महामारी फैली । भय के मारे छः माह में लगभग ४ लाख लोग बम्बई छोड़कर बाहर चले गये । इस महामारी से बचने के लिए वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया गया । यह साधन धर्मान्ध भारतीयों को पसन्द नहीं आये, क्योंकि वे अपने घरों में पर्दा भी चाहते थे । १८९७ में एक भारतीय सिविल अफ़सर तथा एक सैनिक अफसर का पूना में वध कर दिया गया, जिसको प्लेग के काम पर नियुक्त किया गया था और दूसरे वर्ष के आरम्भ होते ही बम्बई में भयंकर झगड़ा-फिसाद हो गया । वर्नाक्यूलर समाचार-पत्रों में उत्तेजित समाचारों द्वारा इस फ़िसाद को और भी भड़काया गया, अतएव उत्तेजना फैलाने वाले लेखों के लिए कानून को और भी सख्त कर दिया गया । १८९८ में सरकार ने अनुभव किया कि कठोरता से काम नहीं चलेगा, अतएव उसने स्थानीय रीति-रिवाजों को ध्यान में रखकर प्लेग से बचाने का कार्य नरम रीति से करना आरम्भ किया, जिसका परिणाम बड़ा लाभदायक निकला । अतएव सरकार को सामान्य लाभों से ही सन्तुष्ट होना पड़ा, बजाय अपने आरम्भिक उपचार के, जिससे प्लेग के फोड़ों को तुरन्त और पूर्णरूप से मिटाया जा सकता था ।

उत्तर-पश्चिमी सीमा : उत्तर-पश्चिमी सीमा पर १८९३ में सर मौंटीमर ड्यूरैंड के समझौते के अनुसार चित्राल अंग्रेजों के प्रभावित क्षेत्र में शामिल हो गया था । अब अंग्रेजों ने अपना प्रतिनिधि-मण्डल गिलगित में भी रखा, जिसकी एक सैनिक चौकी चित्राल के मस्तूज में बनाई गई । जनवरी १८९५ में जब चित्राल के मेहतर का वध हुआ और अंग्रेजों का प्रतिनिधि चित्राल पहुँचा तो यहाँ के विद्रोहियों ने उसको मस्तूज लौट जाने के लिए कहा और जब उसने लौटने से इन्कार कर दिया तो घेरा डाल दिया गया । सर आर० लो० के आधीन १५,००० सैनिक भेजे गए, किन्तु अन्त में कर्नल कैली २२० मील लम्बे उजाड़ तथा शत्रुओं से पूर्ण प्रदेश में होता हुआ और १३,००० फुट ऊँचे दर्रे को पार करता हुआ ५०० सैनिकों की छोटी-सी सेना

की सहायता के लिए पहुँच गया जो छः सप्ताह से भी अधिक समय से घेरे में पड़ी थी। लार्ड एल्गिन की राय थी कि चित्राल को अधिकार में रखा जाए, परन्तु लार्ड रोजबरी की लिबरल सरकार ने निश्चय किया कि नैतिक सिद्धान्त के अनुसार उस देश को खाली कर दिया जाय। इससे पूर्व कि इस निर्णय पर अमल किया जाय लार्ड सैलिसबरी की नई सरकार बनी, जिसका मत भिन्न था। उसने आज्ञा दी कि अंग्रेजों की सीमा से चित्राल तक एक फौजी सड़क बनाई जाय और उसकी रक्षा के लिए दुर्गों में सेना रखी जाय। इस नीति-परिवर्तन से इंगलैंड में भीषण वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ।

चित्राल पर अधिकार कर लेने के कारण उत्तर-पश्चिमी सीमा की समस्त जातियों में रोष फैल गया, जिसके और भी कारण थे, अर्थात् इससे पूर्व अंग्रेज बराबर अपनी सीमाओं को बढ़ाते जा रहे थे, जिसके विरूद्ध मुल्ला लोग बड़ी जोशीली वक्तृता दे रहे थे और अंग्रेज लोग टर्की के सुलतान को, जो मुसलमानों का खलीफ़ा था, बुरा-भला कह रहे थे क्योंकि उसने आर्मीनियनों के साथ बुरा बर्ताव किया था।

कबायली प्रदेश में जून १८९७ में युद्ध छिड़ गया, जिसमें टोची की घाटी में अंग्रेजों के एक एजेण्ट के दल पर हमला हुआ। अगले मास स्वात वालों ने अंग्रेजों के दुर्ग चकदारा और मलाकन्द पर भयंकर हमला किया, अगस्त में मोहम्मदों ने पेशावर तक आक्रमण किया। इसके पश्चात् अफ़रीदियों और उर्कजइयो ने राज-विद्रोह किया। समस्त कबायली प्रदेश में रोष फैला हुआ था और सर बी० ब्लड को विद्रोह का दमन करने के लिए मलाकन्द के विरुद्ध भेजा गया। उसने घोर युद्ध के बाद मलाकन्द को जीत लिया। १८९८ के आरम्भ में अफ़रीदियों के प्रदेश में युद्ध करने के लिए सर डब्ल्यू० लौकहर्ड की अधीनता में ३५,००० सैनिक भेजे गए। अफ़रीदी बड़ी वीरता और धैर्य से लड़े और छापामार नीति को अपनाया और शत्रु को बहुत हानि पहुँचाई, किन्तु उनको कड़ी फौजी कार्यवाही द्वारा अच्छा सबक दिया गया। वैसी कड़ी फौजी कार्यवाही ग़दर के बाद से तब तक कभी नहीं की गई थी।

Question

Describe the main events during the Governor-Generalship of Lord Elgin.

लार्ड एल्गिन के समय की मुख्य घटनाओं का वर्णन करो।

अध्याय ३०

लार्ड कर्ज़न

लार्ड कर्ज़न, जिसने पूर्वी देशों का काफी भ्रमण किया था और जो बहुत दिनों से भारत का वायसराय बनने का स्वप्न देख रहा था तथा इस पद के लिए सर्व प्रकार तैयार था, जनवरी १८९९ में इस पद पर नियुक्त हुआ। उसकी आयु ४० वर्ष की थी और उसने एशिया के विषय में अनेक उपयोगी पुस्तकें लिखी थीं। उसने शासन के प्रत्येक विभाग में जो अपने व्यक्तित्व की छाप लगाई उससे सिद्ध है कि उसकी भारतीय समस्याओं का कितना वृहन ज्ञान था। उसका राजनीतिक विपक्षी लार्ड मोरले भी उसकी प्रशंसा किये बिना न रह सका कि जिस चतुरता और परिश्रम से लार्ड कर्ज़न ने उच्चादर्शों को सामने रखकर भारत का शासन-प्रबन्ध किया, उतना दृढ़ और श्रेष्ठ प्रबन्ध उससे पूर्व किसी भी वायसराय ने नहीं किया था। वह बड़ा हठी वायसराय था और लोक-प्रिय बनने का इच्छुक नहीं था। वह बड़ा जबरदस्त परिश्रमी था और अपने अधीनस्थ लोगों से बड़े ऊँचे कार्य की आशा रखता था। महत्वाकांक्षी और तीव्र था, स्वेच्छाचारी तथा कठोर था, अत्यन्त प्रवीण था तथा डफ्रिन और नार्थब्रुक की भाँति आराम पसन्द और शक्की शासक न होकर उसके बिलकुल विपरीत था। उसकी आलोचना करने वाले अनेक थे परन्तु वह उनको प्रसन्न करने की परवाह न करता था। निःसन्देह ही उसका शासन-प्रबन्ध सबसे विचित्र और पृथक् था और उसको अद्भुत सफलता मिली।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की नीति

कबायली क्षेत्रों के सम्बन्ध में क्या नीति अपनाई जाय इस विषय में विद्वानों के दो मत थे। एक के विचार में परिणामों की चिन्ता छोड़कर ब्रिटिश सरकार को उचित था कि वह समस्त कबायली क्षेत्रों की विजय कर ले। ऐसे विचार वाले लोग 'अग्रग्रामी' कहे जाते थे। दूसरे मत के लोगों का कहना था कि 'सिन्धु के इसी पार (Back to the Indus)।' इस मत के लोगों के अनुसार ब्रिटिश सरकार को चाहिए था कि वह कबायली क्षेत्रों से वापस लौटकर सिन्धु नदी को अपनी सीमा बना ले। लार्ड कर्ज़न ने दोनों मतों की अवहेलना की और दोनों के मध्य का मार्ग अपनाया, यद्यपि पार्लियामेंट में यह अग्रगामियों में गिना जाता था। वह न तो कबायली क्षेत्रों के उन स्थानों से हटना चाहता था जो अंग्रेजों ने ले लिए थे और न

यह चाहता था कि तोप-तलवार के ज़ोर से शेष कबायली प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया जाय।

लार्ड कर्ज़न ने अंग्रेजी सेना को कबायली क्षेत्रों से धीरे-धीरे पीछे हटने की आज्ञा दी, और उन क्षेत्रों में अंग्रेजी सेना के स्थान पर अंग्रेज अफसरों के अधीन और शिक्षित करके कबायली सैनिक रखे। सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण दरगाई, जमरूद थाल तक रेलवे लाइन खोली गई। कबायली क्षेत्रों में आयात होने वाले शस्त्रों की सीमा निर्धारित कर दी। उन क्षेत्रों के लोगों को चेतावनी दी गई कि भारत सरकार उनकी स्वतन्त्रता का आदर करेगी, किन्तु भारत-भूमि पर उनका उपद्रव सहन न किया जायगा। कबायली आक्रमणों से भारतीयों की रक्षा के लिए एक विशेष पुलिस भर्ती की गई। इस पुलिस को आज्ञा दी गई थी कि वह आक्रान्ताओं का पीछा करने के लिए सदा सावधान रहे। कबायली क्षेत्र में नई सड़कें बनाना आवश्यक था, क्योंकि ये सड़कें उनका पीछा करने के लिए चाहिए थीं। कबायलियों को कुछ धन कमाने का अवसर देने के लिए उनको कबायली क्षेत्रों में सड़कें बनवाने और उनकी मरम्मत आदि के ठेके दिये गये।

कबायली प्रदेशों से जो भारतीय सेना हटा ली गई थी उसको कबायली प्रदेश की सीमाओं पर बनाई गई छावनियों में रखा गया। आवश्यकता पड़ने पर इन सैनिकों को तुरन्त युद्ध-भूमि पर भेजा जा सकता था।

लार्ड कर्ज़न ने इसमें और भी परिवर्तन किया। उसने अलग एक उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश बनाया, जिसका क्षेत्रफल लगभग ४०,००० वर्ग मील था। इसे एक चीफ-कमिश्नर के अधीन रखा जिसकी नियुक्ति सीधी भारत सरकार से होती थी। इससे पूर्व यह समस्त क्षेत्र पंजाब सरकार के अधीन था, और भारत सरकार को विवश होकर प्रत्येक कार्यवाही पंजाब सरकार के द्वारा करनी पड़ती थी, जिसके फलस्वरूप काम बहुत में विघ्न और विलम्ब होता था। क्योंकि कबायली क्षेत्रों की समस्या बहुत गम्भीर समझी गई इसलिए १९०१ में इस नये प्रदेश का निर्माण किया गया।

लार्ड कर्ज़न ने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त नीति के सम्बन्ध में स्वयं कहा है, "यदि किसी को उत्तर-पश्चिमी सीमान्त योजना की सफलता के विषय में, जिसे बने १० वर्ष हो गये, कभी संदेह भी रहा होगा तो अब यह अवश्य दूर हो गया होगा, और मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में हम ऐसी योजनाओं के सम्बन्ध में नहीं सुनेंगे कि कबायली प्रदेशों में बढ़कर उनको सीमान्त प्रदेश में मिलाया जाय और कबायली प्रदेश में मार्ग बनाये जाएँ।

अफ़ग़ानिस्तान : अफ़ग़ानिस्तान के साथ बिगड़े हुए सम्बन्ध को सुधारा गया। अमीर अब्दुर्रहमान ने अपनी कठिनता से वश में आने वाली प्रजा पर पूर्ण नियन्त्रण रखा। योग्य और दूरदर्शी अमीर की मृत्यु १९०१ में हो गई। उसके बाद उसका बेटा हबीबुल्ला तख्त पर बैठा। उसके तख्त पर बैठते समय पूर्ण शान्ति रही

जो अफगानिस्तान के लिए विचित्र बात थी। हबीबुल्ला के संबध अंग्रेजों से मित्रता पूर्ण न थे। दोनों पक्षों में सामान्य-सी बात पर मतभेद यह था कि अंग्रेजों की सन्धि स्वर्गीय अमीर के साथ व्यक्तिगत थी और दुबारा बननी चाहिए अथवा यह दोनों देशों के बीच थी। थोड़े समय तक अंग्रेज और अफगानिस्तान के बीच उदासीनता का भाव रहा और नये अमीर ने अपना भत्ता तक नहीं लिया। १९०४ में लार्ड ऐम्टहिल (Lord Ampthill) ने, जो वायसराय के स्थान पर काम कर रहा था, सर लूईडेन (Sir Louis Dane) के अधीन अफगानिस्तान को एक मिशन भेजा, जिसको आदेश मिला था कि वह काबुल को कुछ विशिष्टाधिकार प्रदान करे और हबीबुल्ला से सम्राटपन (His Majesty) के दाँवे को स्वीकार करे और अब्दुर्रहमान के साथ जो सन्धि की गई थी उसको जिस भांति हबीबुल्ला कहे उस प्रकार मान ले। इस पर अमीर ने अपना बकाया भत्ता लेना स्वीकार कर लिया।

फारस की खाड़ी : अब हम अपना ध्यान उन हालतों और नीति पर देंगे जिनका सम्बन्ध फारस की खाड़ी से था जो कि सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजों के अन्वेषण और व्यापार का मुख्य क्षेत्र रहा था। अंग्रेजों ने खाड़ी से समुद्री डाकुओं को मार भगाया था और उस पर नियन्त्रण तथा अमन-चैन रखा था और उनका दावा था कि अदन से पूर्व उस खाड़ी के समस्त तट पर उनका अधिकार है और उस समुद्र-तट पर उन्होंने किसी भी देशवासी को अधिकार नहीं करने दिया। १८९२ के बाद से ईर्ष्यालु योरोपीय देश फ्रांस, रूस तथा जर्मन आदि उस प्रदेश में बड़ी कूटनीतिक हलचलों में व्यस्त थे। ओमान के सुल्तान ने अंग्रेजों के साथ जो गुप्त संधि की थी उसको तोड़ दिया और १८९८ में फ्रांसीसियों को एक स्थान दे दिया जहाँ पर जहाज कोयला लेते थे और उनको मस्कत के समीप दुर्ग बनाने का अधिकार दे दिया। अगले वर्ष उसने यह अधिकार छीन लिया, क्योंकि वायसराय ने वहाँ एक छोटा-सा जहाजी बेड़ा भेज दिया था जिसने सुल्तान को बमबारी की धमकी दी थी। इसके बाद ब्रिटेन व फ्रांस में बातचीत हुई, जिसमें फ्रांस ने इस बात को मान लिया कि १८९२ की संधि के अनुसार न इंगलैंड और न फ्रांस को हक था कि वह ओमान के किसी भी प्रदेश पर अधिकार करे। रूस ने इसी प्रकार फारस की खाड़ी के प्रवेश-द्वार के उत्तरी तट पर कोल-स्टेशन प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उसको विफल कर दिया गया। १८९९ में कोवीत के शेख मुबारिक ने टर्की के विरुद्ध अंग्रेजों से सहायता मांगी और उनको वचन दिया कि वह किसी देश को भी अपने प्रदेश न देगा। १९०० में जर्मनी ने उससे बर्लिन-बगदाद रेलवे का अन्तिम स्टेशन बनाने के लिए जगह माँगी, परन्तु उसने अंग्रेजों को जो वचन दिया था उसके अनुसार जर्मनी की मांग को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार अंग्रेजों का मार्ग साफ हो गया और १९०३ में ब्रिटिश विदेश-मन्त्री लार्ड लैन्सडौन ने अपनी प्रसिद्ध घोषणा निकाली कि यदि कोई भी देश फारस की खाड़ी में जहाजी बेड़ा रखेगा अथवा उसके तट पर क़िलाबन्दी करेगा तो इसका अर्थ होगा ब्रिटेन के हितों की हत्या, और अपने हितों

की रक्षा के लिए ब्रिटेन से जो भी उपाय काम में लाए जा सकेंगे वह उनका प्रयोग करेगा।

विश्व में जो महान् आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था कुछ-कुछ उसके फलस्वरूप ही यह घोषणा की गई थी। घटनाओं का क्रम कुछ ऐसा चल रहा था कि उत्तरी फारस पर रूस का राजनीतिक व व्यापारिक नियन्त्रण बराबर बढ़ता जा रहा था। वास्तव में बात तो यह है कि रूस ने फारस को हड़प लिया होता यदि दक्षिण फ़ारस में अंग्रेजों का प्रभाव काम न कर रहा होता। लैन्सडौन की घोषणा होते ही तुरन्त लार्ड कर्ज़न ने फारस की खाड़ी का दौरा किया और बड़े-बड़े नगरों व बन्दरगाहों पर अंग्रेजों के एलची रख दिये गए। सर हेनरी मैकमेहन ((Sir Henry McMahon) की अधीनता में सीमा निर्धारित करने के लिए एक मिशन सीस्तान भेजा गया और अन्त में क्वेटा से नुश्की तक रेलवे लाइन डालने की योजना तैयार हुई। यह योजना साम्राज्यवादी कर्जन की अनेक योजनाओं में से एक थी। यद्यपि उसकी कार्यवाहियों का बहुत-कुछ विरोध किया गया क्योंकि उनसे उत्तेजना फैलने का भय था, किन्तु लार्ड कर्जन की शान्त तथा शीघ्र कार्यवाही ने अंग्रेजों की इस प्रतिष्ठा की महान् खतरे से रक्षा की कि फारस की खाड़ी में अंग्रेज ही सबसे अधिक शक्तिशाली थे।

तिब्बत : अंग्रेज व तिब्बत के सम्बन्ध १७७४ से आरम्भ हुए जब वारेन हेस्टिंग्स ने जार्ज़ बोग्ले (George Bogle) को ताशी लामा के पास भेजा। अंग्रेजी राजदूत का विशेष स्वागत हुआ। इसी भाँति १७८३ में सेमुएल टर्नर (Samuel Turner) को वहाँ भेजा गया परन्तु उसका विशेष स्वागत नहीं हुआ। १८८५-८६ में चीन को इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वह अंग्रेजों को एक व्यापारिक मिशन लासा भेजने की अनुमति दे दे। १८८७ में तिब्बत की सेना ने सिक्किम पर आक्रमण किया जो अंग्रेजों की सुरक्षा में था किन्तु उनको पीछे खदेड़ दिया गया, जिसमें उनको बड़ी हानि उठानी पड़ी। १८९० में अंग्रेजों व चीनियों की एक सभा ने तिब्बत और सिक्कम की सीमा निश्चित कर दी और उन सभी मामलों को तय कर दिया जो दोनों के हितों में थे। इस सभा ने जो कमिश्नर नियुक्त किए थे, वे १८९३ में सब बातों पर सहमत हुए और यातुंग में एक व्यापारिक मंडी खोली गई, किन्तु यथार्थ में उस मंडी से कोई व्यापार नहीं किया गया। जिस समय कर्ज़न वायसराय हुआ था उस समय इस असन्तोषजनक परिस्थिति में दुहरा परिवर्तन हो रहा था। एक तो तिब्बत से चीनियों का प्रभाव घटता जा रहा था क्योंकि तिब्बत वाले चीनी आधिपत्य का विरोध करने लगे थे और रूस का स्वागत करने लगे थे, जिससे वह चीन से संतुलन में ठहर सके। दूसरे, दलाई लामावयस्क हो चुका था जो प्रायः वहाँ बहुत कम हो पाता था। उसने आक्रमण करके वहाँ की प्रतिनिधि सरकार को मार भगाया और अपने महान् व्यक्तित्व और आत्म-शक्ति का प्रदर्शन किया। इसी बीच डोरजीफ़ (Dorjieff) नामी मंगोलवासी ने तिब्बत

की सरकार में ऊँचा पद पा लिया । उसको इस कार्य के लिए लगाया गया कि वह धार्मिक कार्यों के लिए रूस जाकर उन असंख्य बौद्धों से धन इकट्ठा करे जो ज़ार के भक्त थे । उसने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं के आरम्भ होने तक लासा और रूस के कई चक्कर किए और कई बार ज़ार से जा मिला । समाचार-पत्रों में इस व्यक्ति की कार्यवाहियों के विषय में बतलाया गया कि रूस, तिब्बत में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था जबकि वास्तव में तिब्बत ज़ार से मित्रता जोड़ने के प्रयत्नों में लगा हुआ था । यद्यपि रूस के विदेश-मन्त्री ने इस बात का आश्वासन दिया था कि डोरजीफ़ कोई राजनीतिक महत्व नहीं रखता था और उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि यदि धार्मिक मिशन पर कोई दूत उसके पास आये तो वह उससे न मिले। तो भी भारत सरकार बहुत चिंतित हो उठी थी । भारत सरकार ने ऐसा अनुभव किया था कि दलाई लामा पूर्ण रूप से रूस की नीति पर कार्य कर रहा था और चालाक डोरजीफ़ ने उसको विश्वास दिला दिया था कि चीनी प्रभुत्व से मुक्ति पाने के लिए रूस से मित्रता जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है । चूंकि तिब्बत की राष्ट्रीय सभा में कुछ लोग इस नीति के विरुद्ध थे, अतएव कुछ तो यहाँ तक सोचते थे कि दलाई लामा ने रूस से मित्रता जोड़ने की नीति में भारत से भी शत्रुता मोल ले ली है । कहा जाता है कि वह सिक्किम की सीमा तक घुस गया था और गियागोंग में चुंगी की चौकी बनाई थी और सीमा के लिये लगाये हुये कतिपय खम्भों को भी तुड़वा डाला था और उसके देश से यातुंग जाने वाली जो केवल एक ही सड़क थी उसको रोक दिया था । इन्हीं सब कारणों से लार्ड कर्जन ने लन्दन के विदेश-मन्त्री से प्रार्थना की थी कि तिब्बत में एक मिशन भेजा जाय । १९०२ में इंगलैंड के विदेश-मन्त्री लार्ड लैन्सडोन को ज्ञात हुआ कि तिब्बत के विषय में चीन और रूस में कोई समझौता हो गया है । तब उसने रूस के राजदूत से कहा कि लासा भारत की सीमा के बिल्कुल निकट है जबकि ज़ार की सीमा उस से एक हजार मील अधिक दूर है, अतएव यदि तिब्बत में रूसी हलचल देखी गई तो ब्रिटेन को भी वहाँ कोई बड़ी कार्यवाही करनी पड़ेगी । कर्ज़न को यकीन था कि यदि तिब्बत रूसी नियन्त्रण में आ गया तो समस्त पूर्वी देशों में ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को घोर धक्का पहुँचेगा । ब्रिटेन की सरकार समय टालने में विश्वास करती थी । इसी बीच रूसी राजदूत ने विश्वास दिलाया कि भारत सरकार की आशंका निराधार है और रूस तिब्बत को चीन साम्राज्य का ही अंग समझता है और यही चाहता था कि वह उसी का अंग बना रहे । कलकत्ता, लन्दन, पीकिंग, सेंट पीटर्सबर्ग, लासा में क्या खूब गोलमाल, मतभेद तथा भ्रम आदि फैले हुए थे ।

सुदक्ष वायसराय ने इसके बाद ब्रिटिश सरकार को सुझाव दिया कि सिक्किम की सीमा से १५ मील उत्तर में स्थित खम्बाजोग नामक स्थान पर चीन और तिब्बत के साथ कुछ निर्णय किया जाय । ब्रिटिश सरकार ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और एक मिशन को जुलाई १९०३ में खम्बाजोग भेजने की अनुमति दे दी कि वह जाकर तिब्बत से उन संधियों के पालन के लिए कहे जो १८९० और १८९३

में भारत व तिब्बत के बीच में व्यापार करने के लिए चीन के साथ की गई थी। तिब्बत वालों का यह शर्त लगाना कि सभा तिब्बत की सीमा के १५ मील अन्दर न होकर सीमा पर ही होनी चाहिए, अनुचित न था। यंग हस्बैंड ने (जो मिशन का अध्यक्ष था) उनकी इस प्रार्थना को बिल्कुल ठुकरा दिया। इसके बाद एक लम्बे समय तक कोई फैसला नहीं हुआ और इसी बीच तिब्बत ने अपनी सेना खम्बाजोग के आस-पास इकट्ठी कर ली और लन्दन ने स्वीकृति दे दी कि ब्रिटिश सेना ज्ञान्त्से (Gyantse) पर पहुँच जाय। यह देखकर रूसी राजदूत ने लैंसडौन से एतराज किया, परन्तु उसने यह कहकर उसके एतराज को टाल दिया कि अंग्रेजों का तिब्बत की सीमा में प्रवेश करने का कोई विचार नहीं है।

इसके फलस्वरूप ३१ मार्च, १६०४ में गुरु नामक स्थान में अंग्रेजी सेना और लासा के सैनिकों में मुठभेड़ हुई, जो कि अवश्यम्भावी थी। लासा की सेना न तो शस्त्रों से भली-भाँति सुसज्जित थी और न ही उसका नेतृत्व योग्य सेनापति द्वारा हुआ था। वास्तव में यह हत्याकाण्ड था, क्योंकि इसमें तिब्बत वालों के ७०० सैनिक हताहत हुए थे, जबकि अंग्रेज का एक भी सैनिक नहीं मरा। यंग हस्बैंड १० दिन बाद ज्ञान्त्से पहुँचा परन्तु दलाई लामा ने उससे मिलने से इन्कार कर दिया। इस पर ब्रिटिश कैबिनेट ने लासा तक बढ़ने की आज्ञा दे दी। इसके बाद पुनः युद्ध हुआ और तिब्बत की बुरी तरह पराजय हुई—उस तिब्बत की जो इतनी ऊँचाई पर है तथा अटूट बरफ की चट्टानों से चारों ओर से सुरक्षित है—दलाई लामा को हार माननी पड़ी। अब ब्रिटिश कमाण्डर की बारी थी कि उसने दूसरी जगह सभा करने से इन्कार कर दिया। वरन् अपने पसन्द के स्थान लासा में ही सब बातों का निर्णय करने के लिए सभा करनी चाही। उस महान् गुप्त तथा गम्भीर लासा को अन्य लोगों ने ३ अगस्त को देखा। वहाँ का शासक, जो देवता के समान माना जाता था, रूस की सम्भावित सहायता न पहुँचने से हताश होकर तीन सप्ताह पूर्व ही सर्वाधिकार रीजेंट के हाथों में सौंपकर राजधानी से भाग गया था। भूटान का प्रधान मन्त्री और नेपाल के प्रतिनिधि भी लासा में थे। इन ऊँचे पदाधिकारियों से एक संधि पर हस्ताक्षर कराए गए जो ७ सितम्बर १६०४ को लिखी गई तथा जिसकी शर्तें थीं कि यातुंग, ज्ञान्त्से और गरटोक में अंग्रेजों को मण्डियाँ बनाने का हक हो, उनको भारत और तिब्बत के बीच व्यापार का ठेका मिले और ज्ञान्त्से में अंग्रेजों का व्यापारिक प्रतिनिधि रहे जो आवश्यकता पड़ने पर लासा भी जा सके। तिब्बत पर ७५ लाख रुपया जुर्माना किया गया जिसको वह एक लाख रुपया वार्षिक किश्त में चुकाए। जब तक ये किश्तें पूरी न हो जाएँ तब तक भूटान और सिक्किम के बीच की चुम्बी घाटी अंग्रेजों के अधिकार में रहे। इसके अतिरिक्त तिब्बत की विदेश-नीति पर अंग्रेजों का नियंत्रण रहे।

इन शर्तों को बनाते हुए यंग हस्बैंड ने लंदन की उन हिदायतों को स्पष्ट रूप से तोड़ा था जिनमें उसको कहा गया था कि वह युद्ध-पूर्ति की रकम उतनी ही लगाए

जिसे लासा ३ वर्ष में सरलता से चुका सके और तिब्बत में अंग्रेजों का कोई प्रतिनिधि नहीं रखा जाय। वायसराय ने अपने दूत के कार्य का पक्ष लिया। भारत-सचिव का कुपित होना स्वाभाविक ही था। इस सन्धि में परिवर्तन किया गया तथा उसकी भारी शर्तों को उतना ही नरम किया गया जैसी कि उसने पहले ही हिदायतें भेजी थीं।

कर्जन के विरोधियों ने उसके कार्य की निन्दा करते हुए कहा था कि उसने एक दुर्बल और स्वतन्त्र राज्य में अधिकार और विनाशकारी हस्तक्षेप किया था। इसके विपरीत उसके प्रशंसकों ने उसकी नीति की सराहना करते हुए कहा था कि वायसराय ने दृढ़तापूर्वक तिब्बत के शत्रुतापूर्ण इरादे को, जिसे उसने बड़ी चतुरता से छिपाया हुआ था, कुचल दिया, अन्यथा तिब्बत की शत्रुता की भावना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए अहितकर होती। इसमें सन्देह नहीं कि कर्जन को तिब्बत के मामले में हस्तक्षेप करने अथवा अपने देश की सरकार को उग्र नीति ग्रहण करने के लिए विवश करने का कोई नैतिक अधिकार न था, परन्तु फिर भी लासा की चढ़ाई की योजना खूब बनी थी और उसमें बड़ी शानदार सफलता मिली।

कर्जन का आन्तरिक शासन : १८९९-१९०० का सूखा बड़ा विकट था और साथ-साथ ही देश में हैजा और मलेरिया भी बड़े जोर से फैल गये। पंजाब और बम्बई के बीच के पाँच लाख वर्गमील क्षेत्र वाले व छः करोड़ जनसंख्या वाले प्रदेश में ये तीनों विपत्तियाँ टूट पड़ी थीं और केवल ब्रिटिश साम्राज्य में ही दस लाख मनुष्य काल के ग्रास बन गये थे, जबकि ६० लाख पौंड से भी अधिक धन अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए व्यय किया गया था। प्लेग बजाय दूर होने के बराबर भयंकर रूप धारण करती चली गई और जब तक कर्ज़न वायसराय रहा तनिक भी कम न हुई। उसके शासन-काल के अन्तिम वर्ष में केवल इसी महामारी के कारण दस लाख मनुष्य मर गये।

परन्तु देश की आर्थिक दशा में काफी सुधार होने लगा था और १८९९ के बाद से बजट में बचत की रकम बराबर बढ़ती गई, अतएव सितम्बर १८९९ में भारत में गिन्नी का चलन होने लगा जिसका मूल्य १५ रुपये था। चाँदी से मुद्रा अंकित करने से जो लाभ होता था वह सोने के रूप में सुरक्षित रखा जाता था और वायसराय के पद-त्याग के समय इस सुरक्षित सोने का मूल्य ९० लाख पौण्ड से कुछ ही कम था।

कर्ज़न के शासन-काल में शासन-प्रणाली में पूर्णरूप से परिवर्तन हो गया था। लार्ड कर्जन ने दावा किया था कि उसने बुराइयों को दूर कर दिया था, अव्यवस्था को मिटा दिया था, देश को उन्नतिशील बनाया था और रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया था। बहुत से विभागों की जाँच कमीशन द्वारा की जाती और उसकी रिपोर्ट पर तुरन्त कार्यवाही की जाती। पुराने नियम उस समय अनुपयोगी हो चुके थे परन्तु स्वभावतः ही सुधार कभी लोकप्रिय न बन सके। फिर नई भूलें हुईं। किन्तु सुधारों के परिणाम अच्छे ही निकले। पुलिस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में पुलिस की

अयोग्यता, उसके भ्रष्टाचार तथा अत्याचार की बड़ी निन्दा की और १९०५ में पुलिस विभाग में महत्त्वपूर्ण सुधार किये गए, किन्तु फिर भी वह विभाग बहुत असन्तोषजनक बना रहा ।

भूमिकर : भूमिकर में भी सुधार हुआ । इसका शासन मृत तथा यंत्रवत् हो गया था और बड़ी कठोरता से इसे वसूल किया जाता था । जोश में आकर कहीं-कहीं लोगों से अधिक कर भी वसूल कर लिया जाता था । दिसम्बर १९०० में ११ अवकाश-प्राप्त आई० सी० एस० अफसरों ने, जिनमें से एक भारतीय भी था, भारत-सचिव के पास एक स्मरण-पत्र भेजा जिसमें रैयत के ऊपर न्याय की प्रार्थना की गई थी और आय के विभिन्न विभागों के लिए पृथक्-पृथक् प्रतिशत अंशों का सुझाव पेश किया गया था । इनके व अन्य आलोचकों के उत्तर में कर्जन की सरकार ने १९०२ में एक प्रस्ताव द्वारा इस प्रश्न के महत्त्व को स्वीकार कर लिया था और अप्रत्यक्ष रूप से सावधानी के साथ कुछ वचन भी दिये थे तथा साथ-साथ ही अपनी नीति का समर्थन भी किया था । परन्तु तो भी स्मरण-पत्र की माँगों को पूरा करने के लिए किसी हद तक उपाय भी किया था जिसको भारतीय आई० सी० एस० मि० आर० सी० दत्त ने स्वीकार किया । नई नीति के द्वारा भूमिकर उगाहने में कुछ लचक लाई गई थी और जिन स्थानों पर भूमि-कर घटाना जरूरी था वहाँ पर उसको घटाया भी गया था ।

कर्जन की सरकार ने आय-प्रणाली में जो बुराइयाँ थीं उनको दूर करने का प्रयत्न किया और किसानों की स्थिति में कई प्रकार से सुधार भी किया, जैसे 'पंजाब भूमि विक्रय कानून' का पास करना । यह भी निर्णय किया कि लगान अच्छी-बुरी फसल के अनुसार घटाया-बढ़ाया जाय (लगान को अगली फसल पर वसूल करने व छूट करने का प्रस्ताव, १९०५) । गाँवों में कोआपरेटिव बैंकों का खोलना जो किसानों को कम सूद पर रुपया दे और एक सरकारी कृषि-विभाग खोलना जिसमें प्रयोगालय थे, प्रयोग के लिए खेत थे और एक अन्वेषक संस्था थी जो वैज्ञानिक तरीकों की खोज करके भारतीय किसानों को उत्साहित करे कि वे कृषि में उनका प्रयोग करें ।

सेना : सेना विभाग में भारतीय पलटनों को पुनः शस्त्रों से सुसज्जित किया गया, तोपखाने में अच्छी बन्दूकें रखी गईं और यातायात के साधनों में पूर्ण परिवर्तन कर दिया गया । १९०१ में इम्पीरियल केडिट कोर्स (Imperial Cadet Corps) की स्थापना की गई जिसमें अमीरों व राजकुमारों को सैनिक शिक्षा दी गई । भारतीय सैनिकों ने चीन के बौक्सर (Boxer) विद्रोह में सुमालीलैंड के युद्ध में, जो मुल्लाओं के विरुद्ध हुआ था, दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेजों के युद्ध में, तथा नैटाल की रक्षा में अद्भुत वीरता का प्रदर्शन किया था ।

रेलें : रेलों पर बहुत व्यय किया गया और अन्य कार्यों के साथ-साथ ६००० मील नई रेलवे लाइन डाली गई । सिंचाई के लिए उसने कोई नीति नहीं बनाई, किन्तु उसने प्रचलित विभाग को ही सुधारा और उसके लिये एक निश्चित कार्यक्रम

तैयार किया और अलग आर्थिक फंड बनाया जिससे वह विभाग सुचारु रूप से कार्य करता रहे। लार्ड कर्जन ने व्यापार तथा उद्योग का नया विभाग खोला। उसका सबसे अच्छा कार्य यह था कि उसने प्राचीन इमारतों और खण्डहरों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। प्राचीन खण्डहरों व स्मारकों की देखभाल करने के लिए एक 'प्राचीन स्मारक रक्षा विभाग' खोला गया।

शिक्षा : लार्ड कर्जन ने एक शिक्षा कमीशन नियुक्त किया जिसमें केवल अंग्रेज थे, जिसकी रिपोर्ट बड़ी असन्तोषजनक थी। उसने उच्च शिक्षा-प्रणाली को निर्जीव तथा दूषित बतलाया। और कर्जन ने भी ठीक ही कहा है कि 'उस समय की शिक्षा-प्रणाली पश्चिमी सभ्यता की केवल बाहरी रूप-रेखा बनाती थी।' इसलिये १९०४ में भारतीय विश्वविद्यालयों का अधिनियम पास हुआ। इस अधिनियम ने विश्वविद्यालयों की शासी निकायों (governing bodies) का पुनर्निर्माण किया, जिससे भविष्य में विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ (examining bodies) रह जायँ। सीनेट में कम-से-कम ५० और अधिक-से-अधिक १०० सदस्य निश्चित किये गए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के निर्वाचित सदस्यों (fellows) की संख्या २० तथा बम्बई और मद्रास की पन्द्रह-पन्द्रह निश्चित हुई। सिण्डीकेट में विश्वविद्यालयों के अध्यापकों का प्रतिनिधित्व होने लगा। विश्वविद्यालय से सम्बन्ध जोड़ने (affiliation) की शर्तें साफ-साफ निर्धारित की गईं जिसका अक्षरशः पालन करना अनिवार्य था। शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय ने प्रोफेसरों और लेक्चरारों की नियुक्ति अपने हाथ में ले ली। अनुसंधान कार्य के लिए भी उपबन्ध बनाया गया।

लोकमत ने १९०४ के विश्वविद्यालय अधिनियम की अतिशय निन्दा की। लोगों ने कहा कि इसके अनुसार विश्वविद्यालय भी सरकारी संस्थाएँ बन गईं, जिनके अधिकांश सदस्यों की मनोनीत नियुक्ति भारत सरकार द्वारा होती थी। स्कूलों और कालिजों के हाथों में नौकरशाही की हथकड़ियाँ पड़ गईं। सीनेट और सिण्डीकेटों में योरोपियनों की ही भरमार हो गई। फ्रेज़र के मतानुसार, "भारत के शिक्षितों को पूर्ण विश्वास था कि उक्त अधिनियम पास करने में वायसराय का अभिप्राय विश्वविद्यालय प्रणाली पर गहरी चोट पहुँचाना था।"

१९०४ में प्राचीन स्मारकों की रक्षा के लिए भी अधिनियम पास हुआ, इसका उद्देश्य प्राचीन ऐतिहासिक भवनों को सरकार की सुरक्षा में लाना था जिससे कोई व्यक्ति उनको नष्ट न कर दे। लार्ड कर्जन ने इसी उद्देश्य से आर्किओलोजी के डाइरेक्टर-जनरल की नियुक्ति की।

वायसराय तथा राष्ट्रीय दल में परस्पर सहानुभूति का न होना दुर्भाग्य की बात थी। वह व्यवस्था का बड़ा भक्त था और लोगों में योग्यता देखने का अभिलाषी था।

बंग-भंग : एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के अवसर पर दिल्ली में पहली

जनवरी १९०३ को बड़ी धूम-धाम से दरबार हुआ। इसके १५ मास बाद कर्ज़न का शासन-काल बढ़ा दिया गया और वह विश्राम करने के लिए कुछ मास के लिए विलायत चला गया। मद्रास के गवर्नर ऐम्प्टहिल ने नौ मास तक उसके पद पर कार्य किया। दिसम्बर १९०४ में कर्जन भारतवर्ष लौट आया और शीघ्र ही उसने भारत की बड़ी-बड़ी जटिल समस्याओं को हल करना शुरू किया। उनमें से एक समस्या वंग-भंग की भी थी जो काफी अप्रिय बनी। बंगाल की जनसंख्या लगभग ८ करोड़ थी जो यूनाइटेड किंगडम की जनसंख्या से दुगुनी थी, अतएव अकेला गवर्नर उसका प्रबन्ध करने के लिए असमर्थ समझा गया। उसको गंगा-पार पूर्व का प्रदेश बंगाल से पृथक् करना पड़ा। यातायात के साधन ठीक न होने से इस भाग का प्रबन्ध बिगड़ गया था। दूसरे इस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति भी ठीक नहीं थी और जमींदार प्रायः दूर रहते थे। वहाँ सामाजिक कुरीतियाँ भी फैली हुई थीं और सर्वत्र अराजकता ही फैली हुई थी। वहाँ न कोई अपराधी को पकड़ने वाला था और न कोई दण्ड देने वाला ही था।

अतएव रोग उस अवस्था तक पहुँच गया था कि उसका इलाज करना आवश्यक हो गया था और अन्य लोगों की आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुए बड़ी सावधानी के साथ कार्य सम्पादित किया गया, अर्थात् पुराने बंगाल के १५ जिलों को लेकर पूर्वी बंगाल प्रान्त बनाया गया और शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उसको आसाम व चटगाँव के साथ मिला दिया गया। कर्जन की इस योजना के बनते ही बंगाल में ऐसा जबर्दस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जैसा कदाचित् वहाँ पहले कभी भी नहीं उठा था। अंग्रेज इतिहासकारों का कहना है कि यह आंदोलन चन्द स्वतन्त्र विचार वाले लोगों का उठाया हुआ था, जिनकी दिलचस्पी भारतीय प्रेसों तथा कलकत्ता बार (Calcutta Bar) में थी। कर्ज़न की उस नीति को जिसके द्वारा उसने शासन-प्रबन्ध को सुचारु रूप से संचालन के लिए प्रांतों की सीमाओं में कुछ उलट-फेर किया था, जोश में भरे हुए मतवाले बंगालियों ने बहुत अहितकर समझा। उनका विचार था कि इस भाँति ब्रिटिश सरकार ने संगठित बंगालियों को दुर्बल बनाने के लिए, जिससे उनकी एकता जाती रहे, जान-बूझकर बंगालियों के रीति-रिवाजों, उनके इतिहास और उनकी भाषा पर बड़ा विषैला आघात किया है। भारत के नरमदलीय नेताओं ने सुझाव पेश किया कि बंगाल के गवर्नर की एक प्रबन्धकारिणी सभा बने, जैसी कि बम्बई व मद्रास में बनी हुई थी। उनका यह सुझाव बहुत ठीक था, परन्तु वायसराय ने उसको मंजूर नहीं किया, क्योंकि वह एक दृढ़ शासन पद्धति चाहता था, जबकि उसके विरोधी विकेन्द्रीकरण के इच्छुक थे। कर्जन अपने निश्चय में दृढ़ रहा और १९०५ में बंगाल के टुकड़े कर दिये और आन्दोलन की कुछ परवाह न करते हुए उसको अनुचित और भ्रममूलक बतलाया।

भारत में वापस आते ही कर्ज़न के सम्मुख एक दूसरी कठिनाई यह उपस्थित हुई कि सैनिक शासन के विषय में उसके तथा कमांडर-इन-चीफ़ के बीच काफी मतभेद हो गया। लार्ड किचनर ने भी कर्ज़न की ही भांति बड़ी दृढ़ता एवं उत्साह

से सैनिक शासन में बड़े सुधार किये थे। वायसराय की काउन्सिल के एक सदस्य के अधीन सेना का शासन-प्रबन्ध होता था, जबकि कमांडर-इन-चीफ सेना का मुख्य अफसर होता था, जिससे सैनिक प्रबन्ध धीमा और कष्टदायक था। किचनर को इसी प्रकार के द्वैध प्रबन्ध पर एतराज था। कमांडर-इन-चीफ शासन-प्रबन्ध में इतना व्यस्त रहता था कि सुप्रीम गवर्नमेंट के सम्पर्क में नहीं आ पाता था। किचनर काउन्सिल के सैनिक सदस्य को प्रबन्ध में रोड़ा समझता था और चाहता था कि समस्त सैनिक मामलों में कमांडर-इन-चीफ के सर्वाधिकार सुरक्षित रहें। वायसराय तथा उसकी काउन्सिल ने इस माँग का कड़ा विरोध किया, जिनका विचार था कि कमांडर-इन-चीफ मनमानी करने लगेगा। निःसन्देह ही किचनर की माँग न्यायोचित थी, परन्तु भारत के अधिकारी वर्ग ने वायसराय का पक्ष लिया। इंगलैंड की सरकार बड़ी संकट में पड़ी, क्योंकि उन दोनों महान् और लोकप्रिय उत्तराधिकारियों में से एक-न-एक त्याग-पत्र की धमकी दे रहा था। उसने दोनों में समझौता कराने का प्रयत्न किया, परन्तु दोनों में से कोई पक्ष संतुष्ट न हो सका। ब्रिटेन की सरकार ने तय किया कि सहायक विभाग, जो पूर्णतः सेना से सम्बन्धित नहीं है, सेना को रसद देने वाले सदस्य के अधीन रहे और कमांडर-इन-चीफ केवल विशुद्ध सैनिक शासन-विभाग को चलावे। शुरू-शुरू में वायसराय तथा कमांडर-इन-चीफ दोनों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया, क्योंकि दोनों ने इसका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया, जो नितान्त स्वाभाविक था। इंगलैंड की सरकार ने इस माँग को अस्वीकार किया कि वायसराय इस सदस्य को नामजद करे, जो सेना को रसद दे और भारत-सचिव ने एक विचार-शून्य सन्देश भेज दिया कि अगले सदस्य की नामजदगी के लिये लार्ड किचनर की अनुमति ले ली जाय। लार्ड कर्ज़न ने विचार किया कि ब्रिटिश कैबिनेट ने सैनिक सलाहकार चुनने के लिए उसको एकाधिकार नहीं दिया है, अतएव उसने अगस्त १९०५ में त्याग-पत्र दे दिया और यद्यपि उससे त्याग-पत्र वापस लेने के लिये कहा गया, परन्तु वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। कर्ज़न के पश्चात् दूसरा लार्ड मिन्टो गवर्नर-जनरल बना, जो पहले मिन्टो का पोता था और जो १०० वर्ष पूर्व गवर्नर-जनरल रह चुका था। कर्जन के चरित्र पर राय देना सरल नहीं है। संभवतः भारत में जो अशान्ति उसके शासन-काल में बनी रही, उसका कारण यह था कि उसकी उत्कट आत्मा बिना विश्राम लिये सर्वत्र व्यस्त और कार्यशील दृष्टिगोचर होती थी।

Question

Write a short note on the various measures adopted by Lord Curzon in the sphere of internal administration.

लार्ड कर्ज़न के आन्तरिक शासन-सम्बन्धी विभिन्न कार्यों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो।

अध्याय ३१

लार्ड मिन्टो

मार्ले और मिन्टो की नीति : लार्ड कर्जन के जाते ही एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। इसका कारण यह था कि उस समय इंगलैंड में जो सरकार बनी वह बहुत शक्तिशाली, उदार तथा पूर्ण थी। नये भारत-सचिव जॉन मारले को अपने पद तथा कर्त्तव्य का अच्छा ज्ञान था और उसने निश्चय कर लिया था कि वह भारत के विधान में वास्तविक तथा प्रचुर मात्रा में सुधार करेगा। वह नये वायसराय के साथ काफी सम्पर्क रखता था और दोनों लगभग एक ही समय में अपने-अपने पदों पर आसीन हुए और एक ही समय उससे अलग हुए। अन्य वायसराय अथवा भारत-सचिवों की भाँति वे दोनों सिविल सर्विस की सलाह पर निर्भर नहीं थे और इसीलिये सर वेलेन्टायन चिरोल ने लिखा है कि अधिकतर जो सुधार हुये, वे उन दोनों राजनीतिज्ञों के विचार के ही फलस्वरूप थे, जिनको भारत का ज्ञान स्पष्टतः बहुत ही कम था। इंगलैंड में नई सरकार बन जाने से वायसराय तथा भारत-सचिव दोनों के सम्मुख जटिल समस्याएँ आईं जिनमें से एक वह थी जो कर्ज़न और किचनर के मतभेद के कारण पैदा हो गई। उस समय से कमांडर-इन-चीफ काउन्सिल का सामान्य सदस्य हो गया और सेना-विभाग उसके अधीन रहा। दूसरा सदस्य सेना को रसद पहुँचाने का जो नया विभाग बना, उसकी देखभाल करने लगा। इस प्रकार का प्रबन्ध न शासन की दृष्टि से ही ठीक था और न आर्थिक बचत की दृष्टि से। अतएव इसको १९०७ में हटा दिया गया। इस भाँति किचनर के विचार की अन्त में विजय हुई, किन्तु यह विजय अधिक काल तक न रही, क्योंकि १९१९ में शासन तथा प्रबन्ध दोनों कर्त्तव्य एक व्यक्ति के हाथ में आ जाने के कारण, जिसको बहुत ही कार्य-व्यस्त रहना पड़ता था, प्रथम विश्व-युद्ध काल में मेसोपोटामिया में यातायात तथा चिकित्सा का प्रबन्ध टूट गया था। इसके बाद जो जाँच कमीशन बैठा, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि युद्धकाल एक ही व्यक्ति कमाण्डर-इन-चीफ और सैनिक सदस्य का काम ठीक तरह से नहीं निभा सकता है।

वंग-भंग के कारण जो आन्दोलन उठा था, वह भी अभी समाप्त नहीं हुआ था। इसके कारण पूर्वी बंगाल और आसाम के प्रथम लैफ्टिनेंट गवर्नर सर जे० बेम्पफाइल्ड फुलर (Sir J. Bampfylde Fuller) को त्याग-पत्र देना पड़ा, क्योंकि वायसराय ने उससे प्रार्थना की थी कि वह अपनी उस सिफारिश को वापस

ले ले, जिसमें उसने पटना के उन दो स्कूलों को कलकत्ता विश्वविद्यालय से पृथक करने के लिये कहा था, जिनके विद्यार्थियों ने उसकी इस आज्ञा की अवहेलना की थी कि उनको राजनैतिक सभाओं में भाग नहीं लेना चाहिये। इसमें वायसराय का विचार यह था कि इस सिफारिश के फलस्वरूप विश्वविद्यालय के कार्यकर्त्ताओं में बड़ी गर्मागर्म बहस उठ खड़ी होगी, जोकि देश की इस अशान्तिपूर्ण अवस्था में बहुत ही अवांछनीय होगी।

अंग्रेजी-रूसी षड्यन्त्र : विदेशी मामलों में सबसे बड़ा काम था १९०७ में अंग्रेजों व रूसियों की गोष्ठी, जिसमें अफ़गानिस्तान, फारस तथा तिब्बत के प्रश्नों को हल किया गया। अफगानिस्तान के विषय में इस सभा ने लगभग उसी स्थिति को स्वीकार किया जो उस समय थी। ब्रिटेन तथा रूस दोनों ने प्रतिज्ञा की कि वे इस राज्य के किसी भी प्रदेश पर कब्जा नहीं करेंगे और रूस इस बात के लिये राजी हो गया कि वह अपने प्रतिनिधि अफ़गानिस्तान नहीं भेजेगा और उस देश से जो भी राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करेगा, वह ब्रिटेन के द्वारा करेगा। अंग्रेज और अफ़गान व्यापारियों को बराबर सुविधायें निर्दिष्ट की गई और यह कहा गया कि वह समझौता उस समय लागू होगा, जब ब्रिटेन और अमीर की स्वीकृति लेकर रूस को सूचित कर दे, परन्तु अमीर ने स्वीकृति नहीं दी।

फ़ारस की समस्या : इस सभा की सबसे बड़ी महत्ता यह थी कि इसने फारस के जटिल प्रश्न को हल कर दिया था, क्योंकि १९०५ से १९१० के बीच फारस के टुकड़े हो रहे थे और वहाँ बड़ी गड़बड़ी फैली हुई थी। रूस तथा ब्रिटेन दोनों इस बात पर राजी हो गये कि सम्पूर्ण फारस स्वतन्त्र रहेगा और उसकी एक सीमा निर्धारित कर दी जायगी, जिसमें रूस तथा ब्रिटेन का पृथक-पृथक प्रभाव रहे। किसी क्षेत्र में अन्य पक्ष अपने या अपनी प्रजा के लिए कोई भी राजनीतिक अथवा व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, जैसे रेलवे लाइन बनाना, बैंक खोलना, तारघर तथा सड़कें बनाना इत्यादि। रूसी क्षेत्र फारस का उत्तरी भाग रहा और अंग्रेजों का क्षेत्र उसका दक्षिणी-पूर्वी भाग। कुछ आलोचकों का मत है कि अंग्रेजों का क्षेत्र रूसी क्षेत्र की अपेक्षा बहुत छोटा था, परन्तु उस समय की परिस्थितियों को देखते हुये ऐसा होना जरूरी था। इस भाँति कूटनीति द्वारा योरुप की दो महान् शक्तियों के बीच १९०७-१० के बीच युद्ध होते-होते बच गया, क्योंकि फारस में उस समय विद्रोह और अशान्ति फैली थी और परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि एक-न एक देश को अवश्य हस्तक्षेप करना पड़ता।

चीन और तिब्बत : तिब्बत पर चूंकि चीन का अधिकार था, अतएव लासा की सन्धि (१९०४) के विषय में चीन की स्वीकृति अपेक्षित थी। आख़िरकार १९०६ में पीकिंग में एक शर्तनामा पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अनुसार ब्रिटेन को बाध्य किया गया कि वह न तो तिब्बत को अपने राज्य में मिलाये और न इसके आन्तरिक मामलों में दखल दे। अन्य विदेशी शक्तियों के सम्बन्ध में चीन पर भी ऐसे ही प्रतिबन्ध लगा

दिये गए। भारत-सचिव झुक गया और प्रत्येक मामले को जल्द-से-जल्द तय कर दिया और भारत-सरकार की यह सम्पत्ति स्वीकार कर ली कि युद्ध की क्षति-पूर्ति—तिब्बत की बजाय चीन करे और वार्षिक किस्त, बजाय २५ के केवल ३ हों। १९०८ में चुम्बी घाटी से ब्रिटिश सेना हटा ली गई। यद्यपि वायसराय का मत था कि तिब्बत ने व्यापारिक मंडियों के विषय में समझौता तोड़ दिया था। १९०७ में ब्रिटेन व रूस का जो समझौता हुआ, उसमें निर्णय हुआ कि दोनों देश तिब्बत के किसी भी भाग को जीतने व उसकी स्वतन्त्रता छीनने का प्रयत्न न करें और वे उससे जो भी सम्बन्ध रखें, वे चीन के द्वारा रखें और अपने प्रतिनिधि तिब्बत न भेजें। इसके बाद दलाई लामा को गद्दी से उतार दिया गया और प्राय: समस्त तिब्बत पर चीनी रेजीडेंटों का प्रभुत्व हो गया, जो अंग्रेजों से स्पष्टत: द्वेष रखते थे। १९१० में दलाई लामा दार्जिलिंग पहुँचा और उन विदेशियों से चीन के विरुद्ध सहायता माँगी, जिनसे वह घृणा करता था। यथार्थ में उसको कोई विशेष सहायता नहीं मिली। इसी बीच चीन ने अपने पक्ष के किसी व्यक्ति को दलाई लामा बनाया। इस भाँति लार्ड कर्ज़न के तिब्बत विजय के समस्त प्रयत्न निष्फल हो गए और समस्त तिब्बत अनाचारी चीनियों के हाथ चला गया।

भारतीय राजनीतिक आन्दोलन : इसी अर्से में भारत में राजनीतिक आंदोलन जोर पकड़ता गया और समस्त भारत में फैल गया तथा लोगों में विद्रोह की अग्नि भड़कने लगी। आन्दोलन करने वालों में कुछ नरम दल के थे और कुछ गरम दल वाले। ये लोग स्पष्ट तथा ऊँची आवाज में कह रहे थे कि उनको भारत के शासन में काफी भाग मिलना चाहिये। जापान द्वारा शक्तिशाली रूस के हार जाने का समाचार पूर्व में बिजली की भाँति फैल गया। भारत में जो व्यापक आन्दोलन फैला हुआ था उसके तीन मुख्य कारण थे—(१) कर्जन के कठोर और मनमाने शासन के विरुद्ध विद्रोह, (२) हिन्दू तथा मुसलमान नेताओं के परस्पर मेल से काँग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति और (३) ब्रिटिश पार्लियामेंट में उदारदलीय सरकार बन जाने से लोगों में आशा का बढ़ना। नरमदलीय नेताओं में बड़े-बड़े योग्य व्यक्ति थे, जैसे आर० सी० दत्त, गोखले और सर एस० सिन्हा। किन्तु गर्म दल वालों ने बड़ा भयंकर उपद्रव और हत्याकांड फैलाया। पंजाब में बड़े भयानक दंगे हुए और सूरत कांग्रेस (१९०७) में सभापति चुनने के लिये दोनों दलों में बड़ा संघर्ष हुआ क्योंकि पंजाब के दंगों में भाग लेने के कारण गर्मदल के नेता को काँग्रेस से पृथक कर दिया गया था। यह आन्दोलन बड़ी तेजी से चलता रहा, जिसके फलस्वरूप अनेक उपद्रव और हत्याकांड हुए। इन आन्दोलनों को दबाने के लिए लार्ड मॉरले को विशेष नियम बनाने पड़े। उसने तथा वायसराय ने निर्णय किया कि दमन और उसके साथ-ही-साथ कुछ विशिष्टाधिकार देने की मिली-जुली रीति ग्रहण की जाय। परिणाम यही हुआ जो स्वाभाविक था अर्थात् उन दोनों पर दोनों ओर से वार होने लगे, क्योंकि एक ओर तो उनकी नीति विद्रोह बढ़ाने वाली थी, दूसरी ओर

प्रतिक्रिया करने वाली थी । सम्राट् एडवर्ड सप्तम ने भारत में अंग्रेजी राज्य के पचासवें वर्ष के उत्सव के अवसर पर जो सन्देश भेजा, उसमें उसने वायदा किया कि भारत के विधान को और भी उन्नत बनाया जायगा और फरवरी १९०९ में इन्डियन काउन्सिल ऐक्ट पास हुआ, जिसके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रबन्धकारिणी और नियम निर्माण करने वाली काउन्सिलों के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई और कुछ प्रबन्धकारिणी काउन्सिलों का निर्माण किया गया और नामजदगी के साथ-साथ निर्वाचन प्रणाली भी चलाई गई । यह ऐक्ट एक प्रकार से पार्लियामेंट द्वारा भारत-सचिव को अनुमति थी कि वह जैसा उचित समझे वैसा ही विधान बनाए । नियम निर्माण सभा में सदस्यों की संख्या प्रायः सर्वत्र शत-प्रतिशत बढ़ा दी गई तथा कहीं-कहीं इससे भी अधिक और पहली ही बार भारतीयों को केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रबंधकारिणी सभाओं तथा इन्डिया काउन्सिल में लिया गया । यद्यपि भारतीयों को काफी विशिष्टाधिकार दिए गए तो भी नेशनल कॉंग्रेस को उनसे सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि वह भारत में ब्रिटेन जैसी संसद प्रणाली बनाने की इच्छुक थी । उसने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की खास तौर से आलोचना की थी, जिसके कारण लोगों के हितों में एकरूपता होनी असम्भव थी ।

मारले-मिन्टो सुधार केवल एक अर्द्धयोजना थी । उसके १० वर्ष के परिश्रम के बाद मॉन्टेगू-चैम्सफोर्ड के सुधार हुए । पहले सुधारों की निन्दा हुई क्योंकि उनके कारण काउन्सिलों में संघर्ष बढ़ गए थे और उनमें सबसे बड़ी खराबी यह थी कि उनकी जिम्मेदारियाँ बहुत कम दी गई थीं जिससे वे सरकार की आलोचना तो काफी कर सकते थे परन्तु देश को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता था ।

लार्ड हार्डिज और लार्ड चेम्सफोर्ड

दूसरे वायसराय लार्ड हार्डिज के समय में तिब्बत की राजनीतिक अवस्था में और भी परिवर्तन हुए क्योंकि चीन में विद्रोह फ़ैल गया । १९११ में लासा में जो चीनी सेना थी उसका वेतन तथा रसद पीकिंग ने बन्द कर दिये थे अतएव उन्होंने ग़दर फैलाया तथा स्थानीय कोष को लूट लिया, परन्तु अन्त में उनको तिब्बत वालों ने मार भगाया । इससे देश से निकाले हुए दलाई लामा को पुनः लासा लौटने और शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया । एक समझौता हुआ जिसके अनुसार चीनी प्रतिनिधि का शासन पर कोई नियंत्रण नहीं रहा और पीकिंग के एक आदेश द्वारा दलाईलामा को शासन के सर्वाधिकार सौंप दिए गये । १९१२ में बराबर अफवाहें उड़ती रहीं कि चीन पुनः तिब्बत को जीतने की तैयारी कर रहा है, अतएव अंग्रेजों ने अपना प्रतिनिधि-मंडल भेजा कि वे नहीं चाहते कि तिब्बत चीन के आश्रय में रहे । भारत-सचिव के सभापतित्व में भारत में चीन-तिब्बत की एक सभा बैठी जिसमें १९१३-१४ में वह प्रश्न हल किया गया । इसी बीच एक और जटिल प्रश्न सामने आया, क्योंकि अंग्रेजों के स्वतन्त्र उपनिवेशों में विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका में जो भारतीय आकर बस गये थे उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाने लगा । १९१३ में

दक्षिणी अफ्रीका ने अन्य देशों से आने वाले लोगों के विषय में एक कड़ा नियम पास किया और भारतीयों को औरेंज फ्री स्टेट में व्यापार करने, खेती करने तथा अचल सम्पत्ति रखने से रोक दिया गया। इससे वहाँ के भारतीयों में बड़ा रोष फैला, जिसके विरुद्ध गाँधीजी को संघर्ष करना पड़ा और उसी के फलस्वरूप उनको तथा अन्य नेताओं को जेल जाना पड़ा। वहाँ हड़तालें हुईं और सैनिक मुठभेड़ें हुईं जिनमें अनेक जानें गईं। लार्ड हार्डिंज ने अफ्रीका में भारतीयों के असहयोग आंदोलन की सराहना करके और दक्षिणी अफ्रीका के कानून को कठोर और अनुचित बताकर अपने-आपको बड़ा लोकप्रिय बना लिया। उसने एक जाँच कमेटी बिठाने की माँग की। जाँच कमेटी बनाई गई और उसने भारतीय नेताओं को जेल से मुक्त करवाया तथा एक ऐक्ट पास किया जो यद्यपि पूर्णरूप से संतोषजनक नहीं था तो भी गाँधीजी ने स्वयं भी उसको दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों की स्वतन्त्रता के लिए मैगनाकार्टा (Magna Carta) कहा था।

किन्तु केनेडा और ब्रिटिश कोलम्बिया वाले दक्षिणी अफ्रीका की अपेक्षा भी एशिया से लोगों के आने के और भी अधिक विरुद्ध थे इसके फलस्वरूप अभागी कोमागाते मारू (Komgata Moru) दुर्घटना हुई। यह जहाज प्रतिरोध प्रदर्शन के रूप में ३०० भारतीयों को लेकर वेन्कूवर (Vancouver) के लिए चला था। उसको प्रवेश करने के रोक दिया गया। और वह कुछ झगड़े के बाद कलकत्ता लौट आया जहाँ पुलिस से उनका संघर्ष हुआ।

अभिषेक दरबार : १९१० में एडवर्ड सप्तम के बाद जार्ज पंचम इंगलैंड का बादशाह बना और यह निश्चय हुआ कि १९११ में भारत में भी अभिषेक दरबार किया जाय। यह दरबार दिल्ली में १२ दिसम्बर को हुआ जिसमें लगभग १ लाख मनुष्य इकट्ठे हुए। बादशाह ने भारतीयों को अनेक विशिष्टाधिकार देने की घोषणा की, जैसे—(१) भारतीयों को विक्टोरिया-क्रास दिया जाने लगा, (२) कई महत्वपूर्ण महान् परिवर्तन हुए, जैसे कलकत्ता की बजाय दिल्ली राजधानी बनी, और (३) बंगाल के जो टुकड़े किये गये थे उनको पुनः मिलाकर एक ही प्रान्त बना और वहाँ के शासन-प्रबन्ध के लिए गवर्नरों की काउन्सिल स्थापित की गई। अतएव दिल्ली का दरबार केवल रंग-बिरंगा दृश्य नहीं था, वरन् भारत के बीसवीं सदी के इतिहास में एक महान् अवसर था।

प्रथम विश्व युद्ध : प्रथम विश्व-युद्ध १९१४ में आरम्भ हो गया। यद्यपि जर्मनी ने टर्की को अपनी ओर मिला लिया था, तो भी भारतीय मुसलमान राजभक्त बने रहे और मित्र-राष्ट्रों की ओर से कन्धे-से-कन्धा मिलाकर फ्रांस, फ्लैन्डर्स, मेसोपोटामिया और अनेक रक्तपातपूर्ण रणक्षेत्रों में लड़े। प्रथम विश्व-युद्ध के कतिपय परिणाम ध्यान देने योग्य हैं।

साधारण-सा एक परिणाम तो यह हुआ कि धन की आवश्यकता के कारण वस्त्रों पर निर्यात-कर बढ़ाकर ७½ न्यूनतम कर दिया गया। यह यद्यपि अनिच्छा-

पूर्वक लागू किया गया था, परन्तु इससे भारत के इस उद्योग को संरक्षण मिला जिससे भारत की एक पुरानी शिकायत दूर हो गई। दूसरा परिणाम यह हुआ कि प्रथम बार भारतीयों को साम्राज्य की सर्वोच्च काउन्सिल में लिया गया, उदाहरणतया १९१७ में जो लन्दन में इम्पीरियल वार-काँफ्रेंस हुई तथा उसके बाद जो संधि-विषयक कांफ्रेंस हुई, उसमें महाराजा बीकानेर तथा सर सत्येन्द्र सिन्हा ने भाग लिया। १९१८ में सर सत्येन्द्र सिन्हा को भारत का उप-सचिव बनाया गया और उन्हें अंग्रेजी लार्ड की उपाधि दी गई। वह प्रथम भारतीय थे जिनको लार्ड की उपाधि दी गई थी।

Question

What were the salient features of the Minto-Morley Reforms ?

मिन्टो-मॉरले सुधार की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं ?

अध्याय ३२

धार्मिक और सामाजिक उन्नति

धार्मिक उन्नति : उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में विशेष उन्नति हुई । इस सम्बन्ध में राजा राममोहनराय का नाम प्रमुख है उनको ठीक ही आधुनिक भारत का पिता कहा गया है । उन्होंने १८२८ में 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की और हिन्दू धर्म के कठमुल्लापन को दूर करके उसे वर्तमान समय की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने की चेष्टा की । उन्होंने मूर्तिपूजा की निन्दा की, जाति-पाँति के बन्धनों को ढीला किया तथा लोगों को विश्व-प्रेम का पाठ सिखाया । वह हिन्दू-मत छोड़ कर ईसाई-मत के पक्ष में न थे, वरन् हिन्दू-मत को इतना उदार और विस्तृत बनाना चाहते थे कि उसमें पश्चिम के नवीन विचारों का समावेश हो जाय । राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा को मिटाने के लिए बहुत कुछ कार्य किये, जिसके अनुसार अनेक स्त्रियों को उनके पति की चिता के साथ जीवित जला दिया जाता था । लोगों ने इस सुधार का बहुत विरोध किया, किन्तु राजा राममोहनराय और विलियम बैंटिक अपने उद्देश्य में सफल हुए । सती होना अवैध माना गया और नियम भंग करने वालों को दण्ड मिलने लगा ।

राजा राममोहनराय की मृत्यु के उपरान्त महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने **ब्रह्मसमाज** के कार्य को चलाया । श्री केशव ने १८७२ के विवाह-सम्बन्धी अधिनियम के पास करवाने में विशेष रूप से भाग लिया । उन्होंने ईसाइयों और वैष्णवों की शिक्षाओं पर जोर दिया । उनके समय में ब्रह्मसमाज में फूट पड़ गई । इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मसमाज पश्चिमी विचारों के प्रति हिन्दुओं की भावनाएँ बदलने के लिए उत्तरदायी हैं ।

१८४६ में महाराष्ट्र में **ब्राह्मण-सभा** की स्थापना हुई । यह सभा अधिक काल तक न चली । डाक्टर आतमाराम ने **प्रार्थना-समाज** खोला । इस समाज ने मजदूरों के लिए रात्रि-स्कूल खोले और बालिकाओं की शिक्षा पर जोर दिया । इसने एक अनाथालय और एक आश्रयालय खोला । दलित जातियों को उठाने के लिए इस समाज ने उन लोगों का एक मिशन बनाया । आर० जी० भण्डारकर 'और जस्टिस रानाडे प्रार्थना-समाज के सदस्य थे । रानाडे ने दक्खन एजुकेशन सोसायटी स्थापित की । गोखले ने सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी स्थापित की ।

उत्तर प्रदेश में १८७५ में थियोसोफीकल सोसायटी की स्थापना हुई । श्रीमती

ऐनीबेसैन्ट के शब्दों में इसका भारत में यह उद्देश्य था, "इसका कार्य भारत में पहले प्राचीन हिन्दू तथा पारसी धर्म को तथा लंका और बर्मा में बौद्ध-धर्म को पुनर्जीवित करना, दृढ़ बनाना और ऊँचा उठाना है। यह अपने साथ एक नूतन आत्मसम्मान, अतीत पर गर्व, भविष्य में विश्वास और इनके फलस्वरूप होने वाली देश-भक्ति की लहर तथा राष्ट्र का पुनर्निर्माण लाया है।"

रामकृष्ण परमहंस की पुण्य स्मृति में स्वामी विवेकानन्द ने १८९६ में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इस मिशन ने समस्त भारत में बहुत-कुछ जन-हितैषी कार्य किये। इसने बहुत से औषधालय, अनाथालय तथा स्कूल खोल रखे हैं। देवसमाज की स्थापना १८८७ में सत्यानन्द अग्निहोत्री ने की, जिसका मुख्य कार्यालय १९४७ में भारत विभाजन तक लाहौर में था। इसने कुछ स्कूल चलाये।

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में **आर्यसमाज** ने बहुत कुछ काम किया। इस समाज की स्थापना १८७५ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की जो, संस्कृत के धुरन्धर विद्वान और वेदों के पूर्ण ज्ञाता थे। लोगों तक अपना संदेश पहुँचाने के लिए उन्होंने बहुत यात्रा की। वे भारत के अतीत गौरव को पुनर्जीवित देखना चाहते थे। 'वापस वेदों पर चलो' (Back to the Vedas) उनका नारा था, और उनको विश्वास था कि वेद ज्ञान की खान हैं।

कुछ समय पश्चात् आर्यसमाज में फूट पड़ी और इसके दो टुकड़े हो गये। एक गुरुकुल शाखा, जिसका नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द ने किया और दूसरी डी० ए० वी० कालिज शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। गुरुकुल शाखा ने हरिद्वार के समीप गुरकुल काँगड़ी की स्थापना की और डी० ए० वी० शाखा ने अनेक स्कूल व कालिज खोले, विशेषकर पंजाब और उत्तर प्रदेश में। आर्य समाज ने महिलाओं तथा अछूतों को उठाने, विधर्मियों को शुद्ध करके हिन्दू बनाने तथा फैलाने का कार्य पर्याप्त मात्रा में किया है।

आरम्भ से ही मुसलमान अपने अंग्रेज शासकों से अलग रहे। फलस्वरूप वे बहुत पिछड़ गए। **सर सैयद अहमद खां** ने उनके दृष्टिकोण को एक दम बदल दिया। अलीगढ़ में एम० ए० ओ० कालिज खोला गया जो बाद में विकसित होकर अलीगढ़ विश्वविद्यालय बन गया। मुसलमान पश्चिमी साहित्य और विज्ञान पढ़ने लगे। पंजाब में मिर्जा गुलाम अहमद ने जो अहमदिया आन्दोलन चलाया उसका भी कुछ हाल देना जरूरी है। मिर्जा ने कादियान वंश में जन्म लिया था और कट्टर रूढ़िवादी विचारों के थे। पर्दे की प्रथा को हटाने का उसने बड़ा विरोध किया तलाक और वहु-विवाह के बारे में उसने इस्लामी कानून का समर्थन किया। बाद में कादियान आन्दोलन भी कई शाखाओं में बँट गया।

सिक्खों ने भी अपनी अवस्था में सुधार करने के प्रयत्न किये। अमृतसर में मुख्य खालसा दीवानी और खालसा कालिज की स्थापना हुई। सिक्खों ने गुरुद्वारों

पर से महंतों का नियन्त्रण हटाने के सफल प्रयत्न किये। पारसियों ने भी अपने समाज में सुधार करने के लिए सभाएँ खोलीं।

आधुनिक शिक्षा का आरम्भ : उन्नीसवी शताब्दी में अनेक उच्चवर्गीय हिन्दू ईसाई बन गये। ईसाइयों ने केवल हिन्दुओं को ईसाई ही नहीं बनाया, अपितु शिक्षा प्रसार में भी बहुत-कुछ कार्य किया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत में सर्वप्रथम शिक्षा-प्रसार का श्रेय ईसाइयों को ही है। इस सम्बन्ध में केरी (Carey), डफ (Duff), ग्रांट (Grant), मार्शमैन (Marshman) और डाक्टर फोरमैन (Dr. Forman) विशेषतौर से उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक उन्नति के विषय में यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि राजाराममोहनराय और विलियम बैंटिंक के प्रयत्नों से देश में सती-प्रथा अवैध हो गई थी। कट्टर हिन्दुओं ने इसका कड़ा विरोध किया और सरकार को तंग करने की धमकियाँ भी दीं, किन्तु यह सुधार सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया और सति-प्रथा, जिसे ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए चलाया था, हिन्दू-समाज से हटा दी गई। सती के साथ-ही-साथ शिशु-वध की कुप्रथा का भी अन्त हो गया। बहु-विवाह और कुलीनपने के विरुद्ध भी आवाज उठाई गई और १८७२ में देशी विवाह अधिनियम (Native Marriage Act) पास हुआ। बाल-विवाह रोक दिये गए। इस सम्बन्ध में आर्यसमाज में बहुत काम हुआ। १८८१ में जो अधिनियम पास हुआ उसके अनुसार विवाहोपभोग की आयु १० से बढ़ाकर १२ कर दी गई। विधवा-विवाह के लिए भी आन्दोलन उठा। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए जबर्दस्त आन्दोलन चलाया और इस कार्य में उन्हें आर्य-समाज़ तथा ब्रह्मसमाज से भी सहायता मिली। अन्त में विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार मिल गया। स्त्रियों की शिक्षा के लिए बहुत-से स्कूल और कालिज खुले। स्त्रियों के लिये कुछ मैडिकल कालिज भी खुले।

इसी प्रकार दलित जातियों की अवस्था को सुधारने के लिए भी बहुत-कुछ किया गया। १९०६ में डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन सोसायटी की स्थापना हुई। आर्य समाज ने इस क्षेत्र में बहुत कुछ कार्य किया। महात्मा गाँधी ने अपना बहुत-सा अमूल्य समय हरिजनों की सेवा में व्यतीत किया। भारत के नए विधान में छूआछूत को मिटा दिया गया है और निश्चय किया गया है कि हरिजनों को यह अवसर दिया जाय कि वे समाज में अपना स्तर ऊँचा कर सकें और आर्थिक स्थिति सँभाल सकें।

Question

Give a brief account of the social reform movement initiated by Raja Ram Mohan Roy and the part played by reformers who followed him.

राजा राममोहनराय ने जिस सामाजिक सुधार आन्दोलन का श्रीगणेश किया उसका संक्षिप्त हाल बताओ तथा उसके अनुयायी सुधारकों ने इस कार्य में कितना योग दिया, उसका वर्णन करो।

अध्याय ३३

महात्मा गाँधी और स्वराज्य के लिए संघर्ष

गाँधी युग---ब्रिटिश सरकार का नीतिपरिवर्तन--

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् भारतवर्ष का इतिहास महात्मा गाँधी के सुयोग्य और उत्साहपूर्ण नेतृत्व में स्वराज्य के लिए लम्बा और अन्त में सफल संघर्ष का इतिहास है। ब्रिटिश सरकार और उसके मित्र राष्ट्रों ने घोषणा की थी कि वे आत्म-निर्णय के सिद्धान्त की रक्षा और संसार को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने के लिए युद्ध कर रहे थे। भारतवासियों ने, जिन्होंने इस श्रेष्ठ उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अपना रक्त बहाया था, होमरूल माँगा। अंग्रेज अधिक समय तक उनकी इस माँग की उपेक्षा न कर सके। उन्होंने अनुभव किया कि ब्रिटिश साम्राज्य के हित के लिए भी भारत के शासन में सुधार होना आवश्यक है। भारत की माँग को संतुष्ट करने के लिए और भारतीयों ने विश्व-युद्ध में मित्र राष्ट्र की जो महान् सेवाएं की थीं, उनको मान्यता देने के लिए, भारत-सचित्र श्री मॉटेगू ने २० अगस्त १९१७ को हाउस ऑफ कामन्स में भारत के प्रति अपनी नीति की घोषणा की। वह नीति यह थी कि शासन के हर विभाग से भारतीयों का सम्पर्क बढ़े और धीरे-धीरे स्वायत्त संस्थाओं का विकास हो, जिससे कि भारत के ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ण इकाई बने रहने के साथ-साथ भारतवासियों को उत्तरदायी शासन का ज्ञान हो जाय।

मान्टेगू : इस घोषणा को कार्यान्वित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने निर्णय किया कि मॉन्टेगू को भारत भेजा जाय, ताकि वे भारत सरकार के साथ परामर्श करके भारत में वैधानिक सुधार के लिए अन्य आवश्यक जाँच-पड़ताल करके अपनी सिफारिशें दें। वह १९१७ में भारत आए और उन्होंने चेम्सफ़ोर्ड के साथ, 'जो उस समय यहाँ का वायसराय था, देश-भर का दौरा किया और उन्होंने विभिन्न दलों द्वारा सुधार के लिए रखे गए सुझावों पर मनन की परस्पर चर्चा की और तब एक रिपोर्ट पेश की जो मॉन्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधार के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रिपोर्ट के आधार पर एक बिल तैयार करके ब्रिटिश पार्लियामेंट में पेश किया गया। पार्लियामेंट की संयुक्त समिति द्वारा उस बिल में कुछ संशोधन होने के बाद यह बिल १९१९ में पास होकर अधिनियम बना।

१९१९ का अधिनियम

१९१९ का अधिनियम इस बात पर आधारित था कि अनुत्तरदायी निरंकुश

सरकार के स्थान पर उत्तरदायी सरकार निर्मित हो, किन्तु धीरे-धीरे और विभिन्न स्तरों पर। इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय सरकारों में भारतवासियों को थोड़े-बहुत अधिकार दिये गए, परन्तु केन्द्र का उत्तरदायित्व उन्हें नहीं सौंपा गया। भारत के राजस्व तथा उसके शासन-सम्बन्धी समस्त कार्यों पर भारत-सचिव का ही संचालन निर्देशन तथा नियंत्रण बना रहा। ब्रिटिश संसद का नियंत्रण केवल दो बातों में कुछ ढीला कर दिया गया। एक तो हस्तान्तरित विषय प्रान्तों मंत्रियों के अधीन हो गए, जो प्रान्तीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे, और दूसरे भारत-सरकार की वित्त-नीति (Transferred Subjects) में केन्द्रीय विधान-मंडल का भी हाथ हो गया,किन्तु गवर्नर-जनरल का अनुमोदन जरूरी रहा। भारत-सचिव की राज्य-परिषद कायम रही, जिसमें आठ से लेकर बारह तक सदस्य होते थे। किन्तु भारत-सचिव का वेतन इंगलैंड के राजस्व में से दिया जाने लगा और वह अन्याय, जो १७९३ से चला आ रहा था, दूर हो गया। भारत-सचिव के कार्यों में कुछ कमी की गई, जिन्हें भारत का एक हाई कमिश्नर नियुक्त करके उसको सौंपा गया, जिसे भारत-सरकार से निर्देश मिलते थे। हाई कमिश्नर के अधीन स्टोर-विभाग और लन्दन में भारतीय विद्यार्थियों का विभाग हो गये।

उपर्युक्त नीति के अनुकूल ही इस अधिनियम से वायसराय की कार्यपालिका परिषद् में भारतीय सदस्यों की संख्या एक से तीन कर दी यद्यपि यह परिषद् अनुत्तरदायी ही बनी रही, जिसे तोड़ा नहीं जा सकता था। गवर्नर-जनरल का यह अधिकार बना रहा कि विशेष और असाधारण परिस्थितियों में परिषद् की बात को टाल दे। केन्द्रीय विधान-मंडल में दो गृह हुए-उच्च गृह का नाम राज्य-परिषद् रखा गया और निम्न गृह का विधान-सभा। परिषद् में ६० सदस्य थे, ३३ निर्वाचित और २७ मनोनीत (नामज़द), जिनमें सरकारी पदाधिकारियों की संख्या २० से अधिक नहीं हो सकती थी। इसका दृष्टिकोण प्रायः अनुदार था। विधान सभा में १४५ सदस्य थे, १०४ निर्वाचित तथा ४१ मनोनीत, जिनमें सरकारी पदाधिकारियों की संख्या अधिक-से-अधिक २६ हो सकती थी। इन परिषदों के अधिकार बढ़ाये गए। कुछ सीमा के अन्दर वे विधान पास कर सकते थे प्रस्ताव तथा स्थागित करने के प्रस्ताव पेश कर सकते थे और वे बजट के अंश पर मत दे सकते थे। गवर्नर-जनरल विधान सभा के निर्णयों को अपने विशेषाधिकार (वीटो) द्वारा रद्द कर सकता था और अध्यादेश (आर्डिनेंस) भी निकाल सकता था। विधान परिषद् की अवधि ३ वर्ष तथा राज्य-परिषद् की ५ वर्ष नियत की गई।

प्रान्तीय क्षेत्र में द्वन्द प्रभुत्व डाइआर्की अथवा द्वैध शासन का सिद्धान्त लागू किया गया। प्रान्तीय विषयों को सुरक्षित (Reserved) तथा हस्तान्तरित (Transferred) दो भागों में बाँटा गया। सुरक्षित विषयों में कानून और व्यवस्था, न्याय, वित्त-भूमि-राजस्व, सिंचाई आदि सम्मिलित थे। हस्तान्तरित विषयोंके अन्तर्गत कृषि, उद्योग, सहकारिता, शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि

थे। सुरक्षित विषयों का प्रबन्ध राज्यपाल अपनी कार्यपालिका परिषद् की सहायता से करता था, जो प्रान्तीय विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी न होकर गवर्नर-जनरल व भारत-सचिव के द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी थी। हस्तातरित विषय राज्यपाल के अधीन थे, जिनका प्रबन्ध प्रान्तीय विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्रीगण करते थे। कार्यपालिका परिषद् के सदस्यों की संख्या भिन्न-भिन्न प्रान्तों में २ से ४ तक थी। उनमें आधे आई० सी० एस० के उच्चाधिकारी थे, शेष गैर-सरकारी भारतीयों में से चुने जाते थे। कार्य-पालिका परिषद् के सदस्यों के निर्णय राज्यपाल के लिए बाधित न थे। विधान-परिषद् बहुमत द्वारा मंत्रिमंडल को तोड़ सकती थी। किन्तु कार्यपालिका को नहीं जिसकी अवधि ब्रिटिश सम्राट् द्वारा नियत थी।

१९१९ के अधिनियम ने म्युनिसिपैलिटी तथा जिला-बोर्ड आदि स्थानीय संस्थाओं को अधिकार सौंप दिये। उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होने लगा और उनका चेयरमैन गैर-सरकारी सदस्य होने लगा। मताधिकार विस्तृत कर दिया गया। सब दलों के राजीतिज्ञों ने १९१९ के सुधारों को अपूर्ण और निराशाजनक समझा। सुधार के प्रश्न पर भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस दो भागों में बँट गई। नर्म दल वालों ने सुधारों का समर्थन किया और वे काँग्रेस से अलग हो गए। उन्होंने एक नई संस्था बनाई जिसका नाम नेशनल लिबरल फैडरेशन रखा। काँग्रेस ने विधान-परिषद् का बहिष्कार किया और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सरकार के विरुद्ध देश-व्यापी संग्राम छेड़ दिया।

महात्मा गाँधी : महात्मा गाँधी में पूर्व और पश्चिम की सभ्यता का सर्वोतम सम्मिश्रण था। वह महात्मा, सुधारक, राजनीतिज्ञ, आदर्शवादी क्रान्तिकारी और महान् संगठन-कर्ता थे तथा और भी अनेक गुण एक ही व्यक्ति में निहित थे। उनके जीवन का पहला क्रियात्मक भाग दक्षिण अफ्रीका में व्यतीत हुआ, जहाँ उन्होंने अपने सत्याग्रह के सिद्धान्त की घोषणा की थी तथा उसका प्रयोग किया था। वे १९१५ में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे और उन्होंने गोपालकृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरु माना। प्रथम विश्व-युद्ध में उन्होंने भारत सरकार की ओर सहयोग किया। उस समय उन्हें ब्रिटिश सरकार की भलमनसाहत में बड़ा विश्वास था। किन्तु युद्ध के बाद भारत में जो घटनाएँ हुईं उनसे उनका भ्रम दूर हो गया। प्रथम महायुद्ध समाप्त हो जाने पर इण्डियन नेशनल काँग्रेस ने माँग की कि भारतीयों को स्वशासन के अधिकार दिए जायँ। इसके बजाय भारत सरकार ने उन्हें रौलट ऐक्ट दिया।

युद्ध समाप्त होने से पूर्व १९१७ में भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की जिसका नाम रौलट ऐक्ट कमेटी था। इसका काम था देश में होने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलनों व सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्रों के रूप व विस्तार की जाँच-पड़ताल करके उसकी रिपोर्ट भारत सरकार को पेश करना, तथा उन आन्दोलनों व षड्यत्रों

के विरुद्ध उचित कार्यवाही कर सकने के लिए आवश्यक प्रस्ताव सम्मुख रखना। समिति ने दो प्रकार के विशेष विधानों की सिफारिश की जो गैर-सरकारी सदस्यों के विरोध के बावजूद भी पास हो गये। इन अधिनियमों के बनाने का उद्देश्य था, भारत सरकार को वह शक्ति प्रदान करना जिससे देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन कर सके। किसी भी व्यक्ति को केवल सन्देह पर बिना अभियोग चलाए नजरबन्द कर दे या संक्षिप्त अभियोग लगाकर सजा दे सके।

जलियानवाला बाग

इन अधिनियमों के पास हो जाने से महात्मा गाँधी के दिल को बड़ा धक्का पहुँचा। उन्होंने इनके विरोध में ६ मार्च १९१९ को हड़ताल की घोषणा की। इस हड़ताल की सफलता आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय थी। इसके बाद गुजरात, पंजाब तथा अन्य स्थानों में दंगे-फिसाद उठ खड़े हुए। १३ अप्रैल को अमृतसर में जो दुर्घटना हुई, उस पर सहज ही में विश्वास नहीं किया जा सकता। जलियानवाला बाग में बीस हजार शान्त और निःशस्त्र नर-नारियों पर जनरल डायर ने गोली चलाने की आज्ञा दे दी, जबकि उनको इसके पूर्व तितर-बितर होने की चेतावनी भी दी गई थी। भारत सरकार ने स्वयं स्वीकार किया कि इस दुर्घटना में ३७९ व्यक्ति मारे गये और १२०० आहत हुए। १५ अप्रैल को लाहौर, अमृसर तथा पंजाब के अन्य जिलों में मार्शल ला जारी किया गया। बड़ी संख्या में लोग बन्दी बनाए गए। लोगों को अमानुषिक दण्ड दिये गए, सरे-आम कोड़े लगाये गये और अमृतसर के एक बाजार से जो लोग गुजरते थे उन्हें पेट के बल चलाया जाता था।

इन दुर्घटनाओं से देश में बड़ा रोष फैल गया। लोगों ने सरकार से माँग की कि उन व्यक्तियों को कड़ा दण्ड दिया जाय, जो इन अमानुषिक कार्यों के लिए उत्तरदायी थे। भारत सरकार ने लोगों के आँसू पोंछने के लिए एक कमेटी नियुक्त की, जिसने यह रिपोर्ट दी कि जनरल डायर का कार्य केवल उसके निर्णय में एक जबरदस्त भूल थी और उसने आवश्यक सीमाओं का कुछ उल्लंघन कर दिया, जितना परिस्थितियों पर काबू पाने के लिए जरूरी न था। सरकार ने डायर के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की और भारत-सचिव मॉन्टेगू ने इस दुर्घटना के सम्बन्ध में यह बयान दिया—"जनरल ने जो कुछ किया, वह केवल ईमानदारी से उद्देश्य की पूर्ति तथा कर्त्तव्यपालन की प्रेरणा से किया। महात्मा गाँधी, जो पहले नरमदल के थे, इस दुर्घटना को देख कर क्रान्तिकारी बन गए। उन्होंने सोचा कि जो सरकार इतनी जबरदस्त भूल को क्षमा कर सकती है वह अवश्य ही दुष्ट प्रकृति की है।

असहयोग आन्दोलन

अंग्रेजों के विरुद्ध इस संग्राम में मुसलमानों ने हिन्दुओं का साथ दिया। युद्ध के बाद टर्की के साथ जो व्यवहार किया गया उससे भारत के मुसलमान चिढ़ गए। मुसलमान नेताओं—मुहम्मदअली, शौकतअली और अबुलकलाम आजाद आदि ने—मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध टर्की की सहायता के लिए खिलाफत आन्दोलन चलाया। गाँधी

जी ने इसे हिन्दू-मुस्लिम एकता का अच्छा अवसर समझा। उन्होंने खिलाफ़त का साथ दिया। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलाया और उसका नेतृत्व किया।

१९१९ में कांग्रेस की अमृतसर में जो बैठक हुई उसमें उसने मॉन्टेगू-चेम्सफोर्ड के सुधारों को अयोग्य, असन्तोषजनक और निराशाजनक बतलाया। १९२० में खिलाफत कमेटी ने सरकार को सूचना दी कि यदि टर्की के खलीफ़ा के विरुद्ध जो दुर्व्यवहार किया गया था उसको न सुधारा गया तो असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया जायगा। सितम्बर १९२० में कलकत्ता में कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसमें गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन की नीति को स्वीकार किया गया, यदि सरकार पंजाब और खिलाफत के साथ किये गये व्यवहारों का प्रतिकार न करे। अन्त में १९२० में काँग्रेस का जो वार्षिक अधिवेशन नागपुर में हुआ उसमें गाँधीजी के असहयोग के प्रोग्राम को स्वीकार किया गया। इस प्रोग्राम का आधार था उपाधियों को त्याग देना, काउन्सिलों तथा स्थानीय संस्थाओं से पृथक् हो जाना, सरकारी स्कूलों व कालिजों से नाम कटा देना, न्यायालय में अभियोग चलाना, विदेशी वस्त्रों को त्यागकर स्वदेशी वस्त्रों को धारण करना आदि। अब भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य में रहकर स्वशासन की माँग नहीं कर रहे थे, वरन् नियंत्रण में रहते हुए शान्तिपूर्ण उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। काँग्रेस की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और महात्मा गाँधी का उसका प्रधान संचालक चुना गया था। सहस्रों लड़के लड़कियों ने स्कूल और कालिज छोड़ दिए, वकीलों ने न्यायालय छोड़ दिए, बहुत से लोग जेल गए। जब प्रिन्स आफ वेल्स बम्बई में जहाज से उतरे तो हड़ताल मनाई गई। फरवरी १९२२ में गाँधीजी ने नए वायसराय लार्ड रेडिंग (Reading) (१९२१-२६) को अन्तिम सूचना दी कि जबरदस्त राजाज्ञा भंग आन्दोलन (Civil Disobedience Movement) आरम्भ किया जायगा।

किन्तु ५ फरवरी १९२२ को उत्तर प्रदेश के चौरी चौरा नामक स्थान पर एक हिंसात्मक काँड हो गया। किसानों की एक भीड़ ने पुलिस चौकी में आग लगा दी जिसमें पुलिस के २२ सिपाही मारे गए। भीड़ के इस हिंसात्मक कार्य से महात्मा जी इतने क्षुब्ध हुए कि उन्होंने तत्काल ही इस आन्दोलन को बन्द कर दिया। १९२२ में उन्हें बन्दी बना लिया गया और ६ वर्ष का दण्ड दिया गया, किन्तु १९२४ में उन्हें छोड़ दिया गया।

जब सत्याग्रह आन्दोलन बन्द हो गया तो श्री चितरंजनदास और पंडित मोतीलाल नेहरू मैदान में आए। उन्होंने विधान-सभाओं के बहिष्कार में कुछ उपयोगिता न समझी और विधान को नष्ट करने के लिए ही केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं में भाग लेने का समर्थन किया। इस प्रकार काउन्सिलों में भाग लेने के प्रश्न पर काँग्रेस वालों में मतभेद था, किन्तु सितम्बर १९२३ में जो काँग्रेस का

विशेष अधिवेशन दिल्ली में हुआ, उसमें यह निर्णय किया गया कि कांग्रेसी कौन्सिलों के चुनाव लड़ सकते हैं।

देसी रियासतें : शनैः-शनैः ब्रिटिश सरकार का रवैया देसी राजाओं के प्रति बदलता गया। वेलेज़ली से पूर्व अंग्रेजों की नीति देसी रियासतों की ओर से तटस्थ रही। जब वेलेज़ली ने सहायक संधियाँ कीं तो ये राज्य स्वतन्त्र इकाई बने रहे, किन्तु अंग्रेज उनमें कुशासन को रोकने के लिए हस्तक्षेप कर सकते थे। गदर के बाद देसी रियासतों की संधि इंगलैंड के बादशाह से थी। चूँकि देसी राजाओं ने युद्ध में महान् सेवाएँ की थीं, अतएव इनकी स्थिति अब साम्राज्य में बराबर के साझी के समान हो गई। यह स्थिति दो बातों से दृढ़ बनाई गई, एक तो रियासतों में सरकारी सेना रखकर और दूसरे १९२१ में एक सलाह देने वाली सभा द्वारा जिसे चेम्बर ऑफ प्रिंसेज (Chamber of Princes) कहा जाता था और उसका सभापति वायसराय होता था।

भारत सरकार ने देशी राजाओं के साथ जो पृथक् पृथक् संधियां की थीं उनकी ओर ध्यान न देकर वह सबके साथ समान व्यवहार करने लगी और उसके आन्तरिक मामलों में दखल देने लगी। लार्ड रेडिंग ने बरार के कारण निज़ाम से जो वर्ताव किया उससे राजाओं में खलबली फैल गई। देशी राजाओं के बेचैनी का कारण यह भी था कि भारत सरकार में भारतीयों की संख्या बढ़ती जा रही थी। और वह प्रजातन्त्र बनती जा रही थी। यह स्पष्ट करना आवश्यक था कि उनकी स्थिति भारत सरकार के साथ कैसी थी और सम्राट् के साथ कैसी। इसको हल करने के लिए १९२७ में बटलर कमेटी नियुक्त हुई, जिसने सिफारिश की कि भारत सरकार, जो सर्वोच्च है, संधियों के बावजूद भी सर्वोच्च ही रहेगी और यह सर्वोच्च अधिकार बिना देशी राजाओं की अनुमति के उस भारत सरकार को नहीं दिया जायगा जिसकी ज़िम्मेदारी भारतीय नियम-निर्माण-सभा पर हो।

मूडीमैन कमेटी : मॉन्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधार ऐसे समय में हुये थे जबकि भारत में बड़ा असन्तोष और अशान्ति फैली हुई थी और उन सुधारों को उचित अवसर नहीं मिला था। भारत की जो सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था इण्डियन नेशनल काँग्रेस थी उसने असहयोग कर रखा था। इसकी स्वराज्य पार्टी शाखा ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन में सरकार का बड़ा विरोध किया। बंगाल और मध्य प्रदेश में तो विरोध इतना बढ़ गया था कि वहाँ के गवर्नरों को शासन की बागडोर अपने हाथ में लेनी पड़ी। यह स्पष्ट हो गया था कि द्वैध शासन सफल नहीं हुआ था। लार्ड रेडिंग के सहानुभूतिरहित शासन से देश में असंतोष फैला हुआ था, जिसने कड़ा विरोध होने पर भी नमक-कर को लागू रखा था।

लोग ली कमेटी की सिफारिशों से भी असंतुष्ट थे, जो इस बात की विरोधी थी कि भारतीयों को उच्च पद दिए जायँ, विशेष करके सेना विभाग में। देशभर में माँग उठी कि विधान फिर से बनाया जाय और सुधारों के कार्यों की जाँच की जाय। इस पर मूडीमैन कमेटी की नियुक्ति की गई जिसका अध्यक्ष अलैक्ज़ैण्डर मूडीमैन

बना जो उस समय भारत सरकार का गृह-मंत्री था। उस कमेटी की रिपोर्ट १९२५ में प्रकाशित हुई। यह रिपोर्ट सर्व-सम्मति से नहीं थी। बहुमत की रिपोर्ट यह थी कि शासन में थोड़े-बहुत परिवर्तन किए जाएँ। अल्पमत की रिपोर्ट सर तेजबहादुर सप्रू और मुहम्मदअली जिन्ना आदि ने पेश की थी। इसने बतलाया कि द्वैध शासन की प्रणाली नितान्त असफल रही, और जब तक शासन में आमूल परिवर्तन न किया जायेगा, वह भारत के लिए अनुकूल न होगा। केन्द्रीय विधान सभा में सरकारी विरोध के होते हुए भी प्रस्ताव पास हुआ कि आगे न होने वाले राजनीतिक सुधारों पर विचार करने के लिए गोलमेज कान्फ्रेंस बुलाई जाय।

साईमन कमीशन : १९१९ के अधिनियम में एक धारा थी कि १० वर्ष बीतने पर एक कमीशन नियुक्त किया जायगा जो सुधारों की कार्यवाही की जाँच-पड़ताल करेगा। यह कमीशन १९२९ में नियुक्त होना था, परन्तु भारतीय जनता के जोर देने पर १९२७ में सर जॉन साईमन के नेतृत्व में नियुक्त किया गया। इस कमीशन के सभी सदस्य गोरी जाति के थे। उनमें एक भी भारतीय न था। भारतवासियों ने इस कमीशन का बहिष्कार किया, और जब वह भारत आया तो काले झंडों से उसका स्वागत हुआ। केवल मद्रास के एक दल और कुछ मुस्लिम संस्थाओं ने इसका स्वागत किया। सरकार ने प्रदर्शनियों को सेना द्वारा तितर-बितर कर दिया। लाला लाजपतराय के ऊपर, जो लाहौर में एक प्रदर्शन का नेतृत्व कर रहे थे, लाठी प्रहार हुआ और उनके साथ बड़ी निर्लज्जता का व्यवहार किया गया। इसके कुछ ही महीनों बाद इस चोट के कारण उनकी मृत्यु हो गई। १९३० में साईमन रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसने सिफारिश की कि प्रान्तों से द्वैध शासन खत्म करके स्वायत्त-शासन जारी किया जाय, किन्तु राज्यपाल के अधिकार भी और बढ़ा दिये जाएँ। केन्द्रीय कार्यपालिका पूर्ववत् अनुत्तरदायी ही बनी रहे। इसने यह योजना भी रखी कि समस्त भारत का एक संघ बने। प्रत्येक राजनीतिक क्षेत्र में साईमन के प्रस्तावों की आलोचना की गई। तत्कालीन भारत-सचिव लार्ड बर्किनहैड ने रायल कमीशन में भारतीयों का न लिया जाना न्यायोचित बतलाते हुए भारतीयों को चुनौती दी कि वे सर्वमान्य विधान पास करें। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने इस चुनौती को स्वीकार किया और १९२८ में एक सर्वदलीय आन्दोलन बुलाया। इसने डोमीनियन स्टेट्स के सिद्धान्त पर आधारित भारत के लिए एक विधान का मसविदा पेश किया जो सब दलों को मान्य था। कांग्रेस इस शर्त पर इस विधान को मानने के लिए तैयार थी कि अंग्रेज ३१ दिसम्बर १९२९ तक भारत को डोमीनियन स्टेट्स प्रदान कर दें। लार्ड इर्विन ने ३१ दिसम्बर १९२९ को एक अस्पष्ट घोषणा की कि भारत का अन्तिम उद्देश्य डोमीनियन स्टेट्स प्राप्त करना है। इससे काँग्रेस को सन्तोष नहीं हुआ और उसने लाहौर अधिवेशन (१९२९) में, जिसके पण्डित जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष थे, पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया।

असहयोग व सिवलि नाफरमानी : इसी बीच इंग्लैंड में मेक्डोनल्ड की लेबर (श्रम) सरकार बनी। इसने निर्णय किया कि भारत के भावी विधान पर बातचीत

करने के एक लिए गोलमेज़ कान्फ्रेंस बुलाई जाय । लार्ड इर्विन (१९२६-३१) उस समय भारत के वायसराय थे। कांग्रेस ने इस कान्फ्रेंस का बहिष्कार किया। क्योंकि इसमें भारत को डोमीनियन स्टेट्स देने का आश्वासन नहीं दिया गया था। महात्मा गांधी ने सरकारी आज्ञा-भंग आन्दोलन आरम्भ कर दिया और नमक कानून तोड़ने के लिए डंडी की प्रसिद्ध यात्रा की। यह आग सारे देश में फैल गई और आज्ञा-भंग आन्दोलन सारे देश के कोने-कोने में फैल गया। महात्मा गाँधी के बन्दी होते ही कांग्रेस ने अपने असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम में विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर धरना देना, विदेशी कपड़ों को जलाना, चर्खा चलाना इत्यादि सम्मिलित कर लिये। राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए वायसराय ने कई आध्यादेश निकाले, किन्तु वह लोगों के उत्साह का दमन न कर सके। सहस्रों नर-नारी सहर्ष जेल गए। महात्मा गाँधी के अनुयायियों ने अहिंसात्मक संग्राम जारी रखा।

तो भी नवम्बर १९३० में प्रथम गोलमेज़ कान्फ्रेंस बुलाई गई जिसमें ब्रिटिश भारत से ५७ और देशी राज्यों से १३ प्रतिनिधि शामिल हुए। कांग्रेस ने अपना प्रतिनिध नहीं भेजा। इस कांफ्रैंस के अन्त में ब्रिटिश प्रधान-मंत्री ने घोषणा की कि यदि विधान-मंडल संघीय आधार पर निर्मित हो तो ब्रिटिश कार्यपालिका का विधान मंडल के प्रति उत्तरदायित्व का सिद्धान्त मानने को प्रस्तुत होगी। महात्मा गांधी को द्वितीय गोलमेज़ कान्फ्रेंस में सम्मिलित करने के लिए भारत में बहुत से प्रयत्न किये गए कि कांग्रेस और सरकार में परस्पर कोई समझौता हो जाये। सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीयुत जयकर के बड़े प्रयास से लार्ड इर्विन और महात्मा गाँधी के बीच एक समझौता हो गया। सारे राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये गए और महात्माजी ने द्वितीय गोलमेज़ कान्फ्रेंस में भाग लेना स्वीकार कर लिया।

द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस १४ सितम्बर तथा १ दिसम्बर १९३२ के बीच में हुई जबकि परिस्थितियाँ तनिक भी अनुकूल नहीं थीं। लेबर सरकार ने त्यागपत्र दे दिया था, और एक राष्ट्रीय सरकार पदस्थ हुई थी जिसके रेमज़े मैक्डोनल्ड नाम-मात्र के प्रधान थे और जिनमें अधिकतर संख्या टोरियों (अनुदार दल) की थी। कान्फ्रेंस निर्णय पर नहीं पहुँची। भारत के अल्पसंख्यकों ने अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने की जबरदस्त माँग की। मैक्डोनल्ड ने स्पष्ट कर दिया कि यदि भारत के समस्त दलों में कोई समझौता न हुआ तो वह इस समय में अपना मनमाना निर्णय देगा। अगस्त १९३२ में उसने अपना साम्प्रदायिक निर्णय सुना दिया। इस निर्णय के अनुसार स्थानों (सीटों) का निर्णय इस प्रकार हुआ—साधारण ७०५, दलित जातियाँ ७१, पिछड़े हुए क्षेत्र ७०, सिक्ख ३५, मुसलमान ४८९, भारतीय ईसाई २१, ऐंग्लो-इण्डियन १२, योरोपियन २५, वाणिज्य और व्यवसाय ५४, जमींदार ३५, विश्वविद्यालय ८ और श्रम ३८। इस निर्णय ने अनुसूचित जातियों के पृथक् निर्वाचन द्वारा हिन्दुओं में फूट डलवा दी। महात्मा गाँधी ने पृथक् निर्वाचन के विरोध में आमरण अनशन का व्रत किया। भारत के नेताओं ने उनके जीवन को बचाने के लिए आपसी समझौते

द्वारा उस निर्णय को हल्का करना चाहा। डाक्टर अम्बेदकर और राजा ने पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर किये जिसे भारत सरकार ने मान लिया। पूना पैक्ट ने साधारण निर्वाचित स्थानों में दलित जातियों के लिए विविध प्रान्तों में इस भांति स्थान नियत किये—मद्रास ३०, बम्बई और सिंध १५, पंजाब ८, बिहार-उड़ीसा १८, मध्य प्रदेश २०, आसाम ७, बंगाल ३०, संयुक्त प्रान्त २०।

१९३२ में तीसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस बुलाई गई, किन्तु इसमें कांग्रेस ने भाग नहीं लिया क्योंकि उसके बहुत से नेता जेलों में थे। भारत सरकार ने एक श्वेत पत्र (White Paper) निकाला जिसमें भारतीय विधान सम्बन्धी सुधारों के विषय में ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव थे। पार्लियामेंट की एक संयुक्त समिति ने इस रिपोर्ट की जाँच-पड़ताल की और अपनी रिपोर्ट तैयार की, जिसके आधार पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में इण्डिया गवर्नमेंट बिल पेश हुआ जो बाद में पास होकर अधिनियम बना।

प्रान्तों में द्वैध-शासन प्रणाली संतोषजनक कार्य न कर सकी थी, अतः अब उसे समाप्त कर दिया गया। इस प्रणाली की असफलता के कई कारण थे। द्वैध-शासन का सिद्धान्त ही दोषपूर्ण था। शासन को दो भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र भागों में बाँट देना प्रशासन के व्यवहार तथा सिद्धान्त के विरुद्ध है। राज्य एक शरीर के सदृश है जिसके अवयव अलग-अलग नहीं किये जा सकते। तो भी १९०९ के अधिनियम के अनुसार शक्तियों का जिस भाँति बँटवारा किया गया था, वह सबसे बुरा था। मद्रास के एक राजनीतिज्ञ ने जैसा कि कहा है, "जिस मन्त्री के अधिकार में कृषि-विभाग था उसे सिंचाई-विभाग से कोई सम्बन्ध न था। विकास-विभाग के मन्त्री के अधीन जंगलात न थे। उद्योग-मन्त्री का कारखानों, वायलर्स, बिजली, जल-शक्ति, खानों तथा श्रम पर कोई नियंत्रण न था, जो कि सब रक्षित विषय थे। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि वह प्रणाली ठीक तौर से कार्य नहीं कर सकी।"

मंत्रियों के अधीन हस्तांतरित विषय होते थे तथा कार्यपालिका के सदस्यों के अधीन रक्षित विषय। किन्तु दोनों पक्षों में सहयोग न था। फलस्वरूप उनमें खूब संघर्ष होता था। एक-दूसरे का सहयोग तो दूर रहा वे जनसाधारण में खुले आम एक-दूसरे की निन्दा तक करने में न चूकते थे। इनके परस्पर के संघर्ष से शासन के काम में बड़ी रुकावट पड़ती थी। राज्यपाल प्रायः कार्यपालिका परिषद् (Executive Council) का पक्ष लेते थे। यही नहीं, मन्त्रीगण परस्पर भी लड़ते-झगड़ते थे। उनमें सम्मिलित उत्तरदायित्व नाम के लिए भी न था। वे एक टीम की भाँति मिलकर कार्य न कर सकते थे। इसका एक कारण यह भी था कि राज्यपाल अपनी इच्छानुसार किसी मंत्री को नियुक्त कर सकता था और उसे निकाल सकता था। प्रान्तों में दल-प्रणाली विकसित न हुई थी। फलस्वरूप मंत्रियों को किसी का भी समर्थन प्राप्त न था। राज्यपाल को किसी के भी विरोध का भय न था। मंत्री ऐसे जीव समझे जाते थे जो उस समय तक दफ्तर में काम करते थे जब तक वे गवर्नर की इच्छानुकूल कार्य करते रहें, और जिस समय उनकी नीति उसके द्वारा ठीक न समझी जाती, वे निकाल बाहर किये जाते थे। मंत्रीगण ऐसी

संस्था की सहायता पर निर्भर रहते थे जो उनका नाम निर्देशन करती थी तथा राज्यपाल के आदेशानुसार कार्य करती थी।

स्थायी पदाधिकारी मंत्रियों के मार्ग में और भी कठिनाइयाँ उत्पन्न करते थे। उनकी नियुक्ति, वेतन; पदच्युति तथा स्थानान्तरण भारत-सचिव के हाथ में था। मंत्रियों के अधीन हस्तान्तरित विभागों में काम करते हुए भी वे लोग सीधे भारत-सचिव के नियंत्रण में होते थे। उनके विभागों में बहुत से महत्वपूर्ण पद आई० सी० एस० (I. C. S.) के लिए सुरक्षित थे और इस मामले में मंत्रियों का हाथ बिल्कुल न था। सदा ही मंत्रियों और उनके अधीन पदाधिकारियों में विरोध की संभावना बनी रहती थी। विभागों के स्थायी मुख्याधिकारियों को आज्ञा थी कि वे मंत्रियों के पीठ पीछे भी सीधे राज्यपाल से मिल सकते थे और अपने विभाग के समस्त रहस्यों को उसके सम्मुख खोल सकते थे। इस तरह की कार्यवाही मंत्रियों को बड़ी हीन स्थिति में डालने वाली थी।

वित्त-विभाग कार्यपालिका के एक ऐसे सदस्य के अधीन होता था जो प्रायः आई० सी० एस० होता था। अतः उसे उन भारतीयों की भावनाओं तथा आवश्यकताओं से कोई सहानुभूति नहीं होती थी जिनके प्रतिनिधि यह मंत्री होते थे। कार्यपालिका के सदस्य हस्तांतरित विषयों की अपेक्षा सुरक्षित विषयों की ओर अधिक ध्यान देते थे। जब कभी कोई मन्त्री किसी योजना का सुझाव रखता तो उसे प्रायः यही उत्तर मिलता था कि उसके लिए धन नहीं है। राष्ट्र-निर्माण विभाग मंत्रियों को सौंप दिए गए थे जिनको सदा धन का अभाव ही बना रहता था—केवल इस बहाने पर कि कोष में उन कामों के लिए रुपया न था। वित्त-विभाग के सम्मुख मंत्रियों की हीनावस्था का दिग्दर्शन चिन्तामणि के इन शब्दों में भलीभाँति होता है, "मैं बिना किसी अतिशयोक्ति के कहने को यह तैयार हूँ कि युक्त प्रान्त के दोनों मंत्रियों का यह साधारण अनुभव था कि वित्त-विभाग के सम्मुख पहुँचते ही उन्हें बड़ी कठिनाइयों के साथ युद्ध करना पड़ता था। उन्हें प्रायः राज्यपाल के पास जाना पड़ता, प्रायः राज्यपाल उनका पक्ष नहीं लेता था और अन्त में प्रायः उनका उद्देश्य तभी सफल होता था जब वे अपना काम सरकार की मर्जी पर छोड़ देते थे।" द्वैध-शासन एक अधकचरी प्रणाली थी, अतः भारतवासी उसे सुचारु रूप से न चला सके। इन परिस्थितियो में द्वैध-शासन-प्रणाली असफल हो गई।

भारत सरकार अधिनियम १९३५ (Government of India Act, 1935) १९३५ के अधिनियम के दो मुख्य भाग थे। प्रथम भाग में आयोजित भारतीय संघ का वर्णन था, जिसमें ब्रिटिश भारत के ११ प्रान्तों का एक संघ बनाया जाना था। जो देशी राज्य चाहें उस संघ में सम्मिलित हो सकते थे, किन्तु शर्त यह थी कि वे राज्य की कम-से कम आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हों। उनके लिए आयोजित संघीय विधान के उच्चगृह में आधे स्थान निर्धारित किए गए। इस अधिनियम के अनुसार केन्द्र में द्वैध-शासन स्थापित किया गया। सुरक्षित विषयों में—जैसे रक्षा, वैदेशिक कार्य, धार्मिक विषय और कबायली क्षेत्रों

का शासन गवर्नर-जनरल के अधीन रहा, और अपनी सहायता के लिए वह अधिक-से-अधिक तीन मन्त्रियों की नियुक्ति कर सकता था। वे मन्त्री उस के प्रति उत्तरदायी थे, संघीय-विधान के प्रति नहीं। अन्य विषयों का शासन गवर्नर-जनरल को मंत्रियों की सलाह से करना था जो केन्द्रीय विधान के प्रति उत्तरदायी हों। निम्नलिखित मामलों में गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व थे जिनको वह अपनी स्वेच्छा और बुद्धि से चलाता। वह मन्त्रियों से सलाह ले सकता था, किन्तु उनकी सलाहें उसे बाध्य नहीं कर सकती थीं। वे मामले थे : (१) यदि भारत की शान्ति को कोई खतरा हो तो उसे रोकना, (२) संघीय सरकार की आर्थिक स्थिरता को सुरक्षित रखना, (३) अल्पसंख्यकों के उचित अधिकारों की रक्षा करना, (४) पब्लिक सर्विस के सदस्यों के उचित हितों की रक्षा करना, (५) प्रान्तीय अधिकारों की रक्षा और (६) व्यापारिक भेद-भाव की रोक-थाम आदि। गवर्नर-जनरल ६ मास के लिए कोई अध्यादेश लागू कर सकता था और विशेष परिस्थितियों में विशेष अधिकारों को काम में ला सकता था। धारा १३ के अन्तर्गत वह विधान को स्थगित कर सकता था और शासन का अधिकार अपने हाथ में ले सकता था। जब उसे केवल अपने विवेक से शासन करना पड़ता तो वह भारत-सचिव के परामर्शों के अनुसार काम करता था, और उसी के नियंत्रण में रहता था।

संघीय विधान में दो गृह होते थे—राज्य परिषद् और लोक-सभा। राज्य परिषद् में २६० सदस्य थे जिनमें से १५६ प्रान्तों में भेजने थे और १०४ को देशी राज्यों के प्रान्तों के सदस्यों का निर्वाचन करना होता था और सभी राज्यों के परिषद् अपने-अपने शासकों द्वारा नामजद होते थे। लोक-सभा के ३७५ सदस्यों में से १२५ स्थान देशी राज्यों के लिये नियत थे और शेष ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के लिए। बिलों पर मनन करने और पास करने के सम्बन्ध में दोनों गृहों को समान अधिकार प्राप्त थे, परन्तु आर्थिक बिलों को केवल लोक-सभा ही गवर्नर-जनरल की सिफारिश पर पेश कर सकती थी। भारत के समस्त व्यय की लगभग ४० प्रतिशत राशि पर मत नहीं लिए जाते थे। यह राशि निम्न मदों पर होती थी—(१) गवर्नर जनरल और उसके कर्मचारियों का वेतन और भत्ता, (२) ऋण की अदायगी, (३) मन्त्रियों, सभासदों, आर्थिक सलाहकारों, मुख्य आयुक्तों, महाधिवक्ता और न्यायाधीश का वेतन और भत्ता, (४) गवर्नर-जनरल के विशेष अधिकारों, जैसे सुरक्षा, वैदेशिक कार्य, चर्च सम्बन्धी मामले और कबायली क्षेत्र सम्बन्धी बातों के लिए व्यय।

देशी राजाओं और मुस्लिम-लीग के विरोध के कारण प्रस्तावित संघ और संघीय कार्यपालिका नहीं बने। प्रान्तों से द्वैध-शासन समाप्त कर दिया गया और वहाँ स्वायत्त शासन लागू हुआ, अर्थात् प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार निर्मित हुई। प्रान्तीय शासन सर्वसाधारण के नियंत्रण में आ गया, क्योंकि स्थानीय विधान-मंडल द्वारा निर्वाचित सदस्यों में से ही राज्यपाल मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। किन्तु राज्यपाल को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। कुछ परिस्थितियों में वह विधान-

मण्डल द्वारा पास किये बिलों को अस्वीकृत कर सकता था। उसको अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार था, यदि विधान-मंडल की बैठक न हो रही हो। कुछ विषयों में वह किसी समय भी अध्यादेश निकाल सकता था। राज्यपाल अधिनियम भी जारी कर सकता था और धारा ९३ के अनुसार समस्त शासन को अकेले अपने हाथ में ले सकता था, यदि विधान-मण्डल असफल होता दिखाई दे। राज्यपाल अपने इन अधिकारों का प्रयोग गवर्नर-जनरल और ब्रिटिश सरकार के आदेशानुसार और उसके नियन्त्रण में रहकर ही कर सकता था, अर्थात् उसे अपने विशेषाधिकारों को प्रयोग में लाने के लिए गवर्नर-जनरल और ब्रिटिश सरकार की हिदायतों पर काम करना पड़ता था।

कांग्रेस का पद ग्रहण करना

प्रथम अप्रैल १९३७ को प्रान्तों में नया विधान लागू किया गया। कांग्रेस ने इस विधान को विफल बनाने के उद्देश्य से प्रान्तीय विधान-मण्डलों में प्रवेश करने का निर्णय किया। ग्यारह में से छः प्रान्तों में उन्हें अत्यधिक बहुमत मिला। राज्यपालों ने बहुमत वाले दलों के नेताओं को निमन्त्रित किया कि वे अपने-अपने प्रान्तों में मंत्रिमंडल बनायें। जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत न था, उन्होंने इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया, परन्तु कांग्रेस ने कहा कि वह उस समय तक पद ग्रहण नहीं करेगी जब तक उसको यह आश्वासन न मिल जाय कि राज्यपाल उनके विधान सम्बन्धी कार्यों में अपने विशेषाधिकारों द्वारा रुकावट न डालेंगे। राज्यपालों ने ऐसा आश्वासन देना अस्वीकार कर दिया और कुछ मास के लिए मध्यकालीन मन्त्रिमण्डल की रचना हुई। तो भी गवर्नर-जनरल, राज्यपाल, भारत-सचिव तथा ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों ने इस गत्यवरोध (Deadlock) को दूर करने का प्रयत्न किया। तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने खुले आम कांग्रेस को आश्वासन दिया कि राज्यपाल उनके दैनिक प्रान्तीय शासन में बाधा न डालेंगे, इस पर कांग्रेस ने सात प्रान्तों में अपना मन्त्रिमण्डल बनाया (बम्बई. मद्रास, युक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश)। १९३८ में कांग्रेस सिन्ध और आसाम के मिले-जुले मन्त्रि-मण्डल में सम्मिलित हो गई। इस प्रकार बंगाल और पंजाब को छोड़कर समस्त प्रान्त कांग्रेस के नियन्त्रण में आ गये।

कांग्रेस जितने काल तक पदस्थ रही उसने कृषि-सम्बन्धी कानून, कृषि-सुधार, ग्राम-विकास, शिक्षा-प्रचार और नशाबन्दी के कार्य-क्रम को आगे बढ़ाया। वायसराय के आश्वासन के बावजूद कांग्रेसी मन्त्रि-मंडलों का राजनीतिक बन्दियों को छोड़ने के प्रश्न पर गवर्नरों से मतभेद हो गया। किन्तु इसमें गवर्नर को झुकना पड़ा और कांग्रेस सरकारें उस समय तक सुचारु रूप से कार्य करती रहीं जब तक कि सितम्बर १९३९ में योरुप में युद्ध न छिड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Questions

1. Examine the constitutional position and powers of the central legislature under the Act of 1919.
   १९१९ के अधिनियम के अधीन केन्द्रीय परिषद् की सत्ता और वैधानिक स्थिति की समीक्षा करो।
2. Carefully examine the functions of the federal court established under the Act of 1935.
   १९३५ के अधिनियम के द्वारा फेडरल कोर्ट के जो कार्य निर्धारित किए गए थे उनकी सावधानी से समीक्षा करो।
3. Outline briefly the political developments which resulted in the Government of India Act of 1935.
   राजनीतिक परिस्थिति की जिस प्रगति के कारण १९३५ का अधिनियम बना, उसका संक्षिप्त वर्णन करो।

अध्याय ३४

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय स्वाधीनता

सितम्बर १९३९ में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया जिसमें ब्रिटेन ने भारत को भी आश्रित देश (dependency) होने के नाते शामिल कर लिया। भारत सरकार ने बिना विधान-मंडलों या जनता की प्रतिनिधि संस्थाओं की सम्मति लिए भारत को युद्ध में भाग लेने वाला देश घोषित कर दिया। कांग्रेस ने सरकार से माँग की कि वह युद्ध के उद्देश्यों को बतलाए और यह भी कि क्या स्वतन्त्रता और स्वशासन के जो सिद्धांत अंग्रेज तथा मित्रराष्ट्र योरुप में लागू करना चाहते थे, वे भारत पर भी लागू होंगे या नहीं। २३ नवम्बर १९३८ को कांग्रेस कार्यकारिणी ने इलाहाबाद में प्रस्ताव पास किया था कि कांग्रेस ऐसे युद्ध में सम्मिलित न होगी जो साम्राज्यवादी उद्देश्यों को लेकर लड़ा जाएगा, और जिसका ध्येय भारत में साम्राज्यवाद की जड़ें मजबूत करना होगा। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की माँग का कोई सन्तोषजनक उत्तर न दिया और भारतीयों के हाथ में शक्ति सौंपने या जनता की इच्छानुसार भारत का विधान बनाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने केवल इतना अस्पष्ट उत्तर दिया कि युद्ध के पश्चात १९३५ के अधिनियम में जनता की राय से कुछ संशोधन कर दिये जायेंगे। इस पर आठ प्रान्तों के काँग्रेसी मंत्री-मंडलों ने नवम्बर १९३९ में इस्तीफा दे दिया और धारा ९३ के अन्तर्गत उन प्रान्तों का शासन गवर्नरों ने अपने हाथ में ले लिया। केवल पंजाब, बंगाल और सिंध की सरकारें पूर्ववत् कार्य करती रहीं। अनेक वामपक्षी राष्ट्रीय नेता, जैसे सुभाषचन्द्र बोस आदि का मत था कि ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन छेड़ दिया जाय। किन्तु गाँधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस के बहुमत ने धैर्य और प्रतीक्षा का मार्ग अनुसरण किया।

अगस्त १९४० की घोषणा

अधिकांश प्रान्तों में संविधान के टूट जाने तथा भारत की सीमाओं पर संकट के बादल मँडराने से देश में राजनैतिक अशान्ति फैल गई। समस्त राजनीतिक दलों ने यह माँग की कि चाहे देश की कठिन वैधानिक समस्याओं का निबटारा युद्ध के बाद हो, किन्तु केन्द्र में एक राष्ट्रीय सरकार का निर्माण तत्काल हो जाना चाहिए। अगस्त १९४० में गवर्नर-जनरल और भारत-सचिव ने एक घोषणा की कि "इंगलैंड का चरम लक्ष्य युद्ध के पश्चात् जितनी शीघ्र सम्भव हो

भारत को डोमीनियन स्टेट्स देना है। नया संविधान बनाने का उत्तरदायित्व मुख्यत: भारत की जनता पर ही होगा। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन के साथ लम्बे सम्बन्ध द्वारा जो जिम्मेदारियाँ ब्रिटेन पर आ गई हैं और जिन्हें हिज मैजेस्टी की सरकार टाल नहीं सकती, उन जिम्मेदारियों को पूरा करना भी ब्रिटेन सरकार के लिए जरूरी होगा।" गवर्नर-जनरल ने भारतीय हितों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने के लिए एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल का विस्तार करने का प्रस्ताव रखा।

इस घोषणा से लोग उत्साहित न हुए। कांग्रेस ने घोषणा की कि वह उस समय तक संतुष्ट न होगी जब तक भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता न मिल जाय। मुस्लिम लीग को हिन्दुओं के बहुमत से आशंका थी, इसलिए उसने भारत के विभाजन की मांग की। युद्ध में ब्रिटेन की हारों से उस पर एक महान् संकट आ पड़ा था, किन्तु उस विषम स्थिति में भी ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस से समझौता करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। विन्सटन चर्चिल ने ब्रिटिश सरकार की ओर से ९ सितम्बर १९४१ को अपने एक भाषण में घोषणा की कि एटलांटिक चार्टर भारत, बरमा तथा अंग्रेजी साम्राज्य के अन्य भागों पर लागू न होगा, जिसके अनुसार जनता को अपनी शासन-प्रणाली स्वेच्छा से चुनने का अधिकार था। किन्तु जब ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने पर्ल हार्बर पर अचानक आक्रमण करके अमरीकी वायुयान सैनिक अड्डे को तहस-नहस कर दिया और १९४२ में सिंगापुर भी अंग्रेजों के हाथ से निकल गया, तो ब्रिटेन ने भारत की ओर कोई नई नीति अपनाने की आवश्यकता महसूस की। इस आपत्तिकाल में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं को अपनी ओर करने और युद्ध में अधिकाधिक भाग लेने के लिए तत्पर करने के लिए सर स्ट्रेफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा।

क्रिप्स का प्रस्ताव : सर स्ट्रेफोर्ड क्रिप्स मार्च १९४२ में भारत पहुँचा। वह उस ब्रिटिश सरकार के, जिसका प्रधान चर्चिल था, प्रस्ताव लेकर आया था। उन्होंने एक संविधान सभा बनाने का प्रस्ताव रखा जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। इस संविधान सभा द्वारा बना हुआ संविधान ब्रिटिश सरकार को मान्य होगा और उसे लागू करने का उत्तरदायित्व उसने अपने ऊपर लिया। उन्होंने कहा कि जो संविधान भविष्य में बनेगा वह समस्त भारतीय संघ का होगा। भारत को डोमीनियन स्टेट्स दिया जायगा और यदि वह चाहे तो अपने को कामनवैल्थ से पृथक् रख सकेगा। क्रिप्स की घोषणा में यह भी कहा गया था कि ब्रिटिश भारत का कोई भी प्रान्त यदि संघ से अलग रहना चाहे तो वह वैसा भी कर सकता था। वह अपना पृथक् संविधान बना सकता था और ब्रिटेन से अलग सन्धि कर सकता था। देशी राज्यों को पूर्ण अधिकार थे कि संघ में सम्मिलित हो या न हो। युद्ध काल तक के लिए भारत में एक लोकप्रिय अल्पकालीन सरकार बनाई जाती जो युद्ध में पूर्णरूप से सहायता देती। युद्धकाल तक ब्रिटिश सरकार का भारत के शासन और सुरक्षा पर पूर्ण नियंत्रण रहेगा।

क्रिप्स के प्रस्तावों से कांग्रेस सहमत न हुई। महात्मा गाँधी ने इस घोषणा

की तुलना पोस्ट डेटेड यानी ऐसे चैक से की जिसकी अदायगी की तारीख बाद में रखी गई हो । प्रान्तों को संघ में सम्मिलित न होने की जो छूट दी गई, वह मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को प्रोत्साहन देना था । कांग्रेस एक अन्य सिद्धान्त के भी विरुद्ध थी कि देशी राज्यों के प्रतिनिधि निर्वाचित व्यक्ति न होकर नरेशों द्वारा नामजद व्यक्ति हों । मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स के प्रस्तावों को नहीं माना, क्योंकि प्रस्तावों में भारत के विभाजन के सिद्धान्त का जिक्र न था और संविधान सभा में मुसलमानों के स्थान केवल २५ प्रतिशत थे ।

अगस्त प्रस्ताव : क्रिप्स मिशन की असफलता से भारतीयों को बड़ी निराशा हुई । ८ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बम्बई में प्रसिद्ध 'भारत छोंड़ो' प्रस्ताव पास कर दिया, जिसमें माँग की गई कि अंग्रेज भारत छोड़ दें और लोगों को आदेश दिया कि वे एक बड़े पैमाने पर अहिंसात्मक जन-युद्ध शुरू करें । भारत सरकार ने तत्परता से काम लिया, और महात्मा गाँधी तथा कांग्रेस के चोटी के नेताओं को पकड़ लिया । इसके फलस्वरूप देश में बड़ी जबरदस्त गड़बड़ फैल गई, जिसने बिहार तथा युक्त प्रान्त के पूर्वी जिलों में भीषण रूप धारण कर लिया । सरकार ने इस आन्दोलन को दबाने में बड़ी सख्ती से काम लिया । इन गड़बड़ों में सरकारी अनुमान के अनुसार २५० रेलवे स्टेशन और ५०० डाकघर नष्ट कर दिये गए और लगभग ९०० सरकारी अफसर मारे गये । महात्मा गाँधी ने अपने को इस हिंसा से पृथक् रखा और ३० फरवरी १९४३ से तीन सप्ताह का उपवास किया । यद्यपि उनका जीवन उस समय बहुत संकट में था तो भी वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने उन्हें जेल से छुटकारा नहीं दिया । वायसराय की कार्यपालिका के सदस्य श्री अणे, नलिनीरंजन सरकार तथा सर होमी मोदी ने सरकार की इस हठधर्मी के विरुद्ध अपनी भावना प्रकट करने के लिए कार्यपालिका से इस्तीफा दे दिया । गाँधीजी को १९४४ में छोड़ा गया । जिस समय भारत में इस प्रकार निराशा का वातावरण छाया हुआ था, उसी समय विदेशों में भारत का वीर सपूत नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, भारत के इतिहास का एक भव्य पृष्ठ लिख रहा था । नेताजी ने आजाद हिन्द फौज का निर्माण किया । उनका उद्देश्य इस आजादी की सेना को लेकर भारत में प्रवेश करना और अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति करना था ।

राजाजी का सूत्र (फारमूला): इसी बीच में जिन्ना अलग एक मुस्लिम राज्य अर्थात् पाकिस्तान बनाने की मांग पर अड़ा हुआ था । राजगोपालाचार्य ने कांग्रेस और लीग में सहयोग करने के लिए, लीग की पाकिस्तान की मांग के अधार पर एक नया सूत्र (फारमूला) तैयार किया । महात्माजी ने, जो ६ मई, १९४४ को मुक्त हो चुके थे, जिन्ना के सम्मुख इस फारमूले को रखा । इस फारमूले की मुख्य-मुख्य शर्तें थीं—(१) केन्द्र में एक अल्पकालीन राष्ट्रीय सरकार के बनाने में मुस्लिम लीग काँग्रेस का साथ दे, (२) युद्ध समाप्त होने पर उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व में बहुसंख्यक मुस्लिम क्षेत्रों में वहाँ के निवासियों का मत लिया जाय कि वे पृथक् मुस्लिम राज्य बनाने के इच्छुक हैं या नहीं, (३) विभाजन की सूरत में सुरक्षा, यातायात

आदि जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों का ही नियन्त्रण रहे और (४) दोनों दलों पर ये शर्तें तभी लागू हों जब अंग्रेज भारत की पूर्ण सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंप दें।

जिन्ना ने इस प्रस्ताव को इस कारण अस्वीकार कर दिया कि उनके मत से मुस्लिम-बहुमत क्षेत्रों में गैर-मुसलमानों को मतदान में भाग नहीं लेना चाहिए था। इसके अतिरिक्त उन्होंने सुरक्षा आदि के सम्मिलित नियन्त्रण की शर्त को भी ठुकरा दिया।

वेवल योजना

अक्तूबर १९४३ में लार्ड वेवल को भारत का वायसराय नियुक्त किया गया। १९४५ में उसने वैधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास किया। मार्च १९४५ में वह राजनीतिक समझौते के बारे में सलाह करने के लिए लन्दन गया। १४ जून, १९४५ को लन्दन से लौटने पर उसने रेडियो पर भाषण देते हुए कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को तुरन्त मुक्त करने की घोषणा की और एक अल्पकालीन राष्ट्रीय सरकार बनाने की योजना रखी। इस योजना के अनुसार उसने नया संविधान बनाने तक गवर्नर-जनरल की कार्लपालिका (ऐग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल) की पुनर्रचना का प्रस्ताव रखा, जिसमें यह मान लिया गया कि गवर्नर-जनरल और कमाण्डर-इन-चीफ़ को छोड़कर, जिनका स्थान सुरक्षा सदस्य की हैसियत से बना रहेगा, कार्यपालिका के अन्य सब सदस्य भारतीय ही हों, जिनको भारत के राजनीतिक नेताओं में से नामजद किया जाय। इस सभा में समस्त मुख्य सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों में संतुलन हो तथा मुस्लिम और सवर्ण हिन्दुओं के सदस्यों की संख्या समान हो, और यह आशा की गई कि इसी प्रकार का सहयोग प्रान्तों में भी प्रदर्शित किया जाय और वहाँ भी मुख्य दलों के ससझौते के आधार पर संयुक्त उत्तरदायी सरकार बनाई जाय।

शिमला अधिवेशन

लार्ड वेवल ने महात्मा गाँधी, श्री जिन्ना तथा अन्य प्रमुख नेताओं को अपनी योजना पर बिचार करने के लिए शिमला बुलाया। यह विचार-विमर्श एक मास तक चलता रहा, किन्तु अन्त में बातचीत भंग हो गई, क्योंकि प्रमुख राजनीतिक दलों में कार्यपालिका के निर्माण पर कोई ससझौता न हो सका। कांग्रेस इस बात पर अड़ी रहीं कि कार्यपालिका के मुस्लिम सदस्यों में दो मुसलमान काँग्रेसी हों। मुस्लिम-लीग इस बात पर अड़ी रही थी कि केवल वही संस्था भारत के समस्त मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है और कांग्रेस केवल हिन्दू सदस्यों को ही कार्यपालिका में भेज सकती है। काँग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम अजाद ने वायसराय से कहा कि वह अपनी सुधार-योजना को कार्यान्वित करे, किन्तु वायसराय ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।

शिमला अधिवेशन के असफल हो जाने पर लार्ड वेवल फिर इंगलैंड गया सितम्बर १९४५ में उन्होंने फिर एक महत्वपूर्ण घोषणा की। उन्होंने कहा कि १९४५-४६ में जो आम चुनाव होने वाले थे, उनके तुरन्त बाद ही ब्रिटिश सरकार जितनी जल्दी हो सकेगा संविधायिनी सभा (कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) का निर्माण करेगी। उन्होंने यह भी सूचित किया कि ब्रिटिश सरकार ऐसी कार्यपालिका परिषद बनाने का प्रयत्न कर रही है, जिससे भारत के समस्त मुख्य-मुख्य दलों का समर्थन प्राप्त हो।

भारत में गुडविल मिशन का आगमन और कैबिनेट मिशन योजना

इसी बीच इंगलैंड में आम चुनावों के पश्चात् लेबर-सरकार सत्ता में आई जिसके प्रधान क्लिमैंट ऐटली थे। इसने निर्णय किया कि भारत में एक गुडविल मिशन भेजा जाय जो पार्लियामेंट सदस्यों का बना हो तथा जिसमें मेजर वाइट, श्री सोरेन सेन तथा कुमारी निकोलस थे। डेढ़ मास से अधिक भारत में रहकर यह मिशन इंगलैंड वापस लौटा और इसने अपनी रिपोर्ट पार्लियामेंट को पेश की। इस रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर ऐटली ने भारत को कैबिनेट मिशन भेजने का निश्चय किया, जिसमें लार्ड पैथिक लारैंस, सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स और श्रीयुत ए० वी० अलैक्ज़ैण्डर सम्मिलित थे। इसे नवीन संविधान सभा बनाने के सम्बन्ध में भारत के प्रमुख राजनीतिक नेताओं से बातचीत करने और प्रमुख दलों का समर्थन प्राप्त करके कार्यपालिका सभा स्थापित करने का कार्य सौंपा गया। यह मिशन २३ मार्च, १९४६ को कराची पहुँचा। इसने प्रमुख दलों से काफी समय तक बातचीत की किन्तु वे इस प्रश्न पर काँग्रेस और मुस्लिम लीग में कोई समझौता न करा पाए कि संविधान सभा तथा अल्पकालीन सरकार का निर्माण किस प्रकार हो। अतः कैबिनेट मिशन ने मई, १९४६ में अपने सुझाव पेश किए। सुझावों में मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग को ठुकराकर एक संघ बनाने की योजना थी, जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त तथा देशी राज्य भी सम्मिलित थे। विदेशी मामले, सुरक्षा और यातायात संघ के ही अधीन रहे तथा इन विषयों के व्यय के लिए उसे आवश्यक अधिकार प्राप्त थे। अन्य विषय स्वायत्त प्रान्तों और राज्यों के शासन के अधीन थे।

संघ में कार्यपालिका और विधानमण्डल सभाएँ थीं, जिनमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के भेजे हुए प्रतिनिधि थे। यदि संविधान सभा में कोई प्रमुख साम्प्रदायिक प्रश्न उठ खड़ा होता तो उसका निर्णय उपस्थित प्रतिनिधियों के बहुमत और दोनों प्रमुख सम्प्रदायों में से प्रत्येक के बहुमत द्वारा होता।

एक संविधान सभा निर्मित की जाती, जो भारत का नया विधान तैयार करती। इस संविधान सभा में प्रति दस लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि लिया जाता। इन प्रतिनिधियों का चुनाव विधानमण्डलों द्वारा होता। संविधान सभा के सदस्य तीन विभागों में विभक्त होते। छः हिन्दू बहुसंख्या वाले प्रान्तों (मद्रास, बम्बई, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा) का समूह 'ए' भाग था

जिसके १९० सदस्य थे। उत्तर-पश्चिम में मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों (पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, सिंध) का समूह 'बी' भाग था, और उसके ३६ सदस्य थे। आसाम और बंगाल 'सी' भाग था तथा उसके ७० सदस्य थे। मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नरों) के प्रान्त, दिल्ली, अजमेर, मारवाड़ और कुर्ग 'ए' भाग में, तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान ग्रुप 'बी' में सम्मिलित थे।

प्रत्येक भाग का अलग विधानमण्डल और कार्यपालिका थी। और प्रत्येक भाग को यह तय करना था कि कौन-कौन प्रान्तीय विषय इसके अधिकार में होंगे। केन्द्रीय संघ के विधान में एक उपबन्ध था कि दस वर्ष की अवधि के बाद कोई प्रान्त अपनी विधान-सभा के बहुमत द्वारा विधान पर पुनर्विचार करने की माँग कर सकता था।

देशी राज्यों के विषय में इस योजना ने घोषणा की कि जब भारत का नवीन विधान लागू होगा तो ब्रिटिश सरकार अपनी सर्वोच्च शक्ति (Paramountcy) का प्रयोग नहीं करेगी और देशी राज्यों ने जो अधिकार सर्वोच्च सत्ता (Paramount Power) को दे रखे थे, वे उन्हें पुनः लौटा दिए जायँगे।

कैबीनेट मिशन ने यह भी प्रस्ताव रखा कि केन्द्र में एक अल्पकालीन राष्ट्रीय सरकार की रचना हो, जिसमें सभी प्रमुख दलों के प्रतिनिधि हों।

कैबीनेट मिशन की योजना को मुस्लिम-लीग तथा कांग्रेस दोनों ने स्वीकार कर लिया। मुस्लिम-लीग ने इसे इसलिए स्वीकार किया कि इस योजना में ६ मुस्लिम प्रान्तों का अनिवार्य रूप में सम्मिलित होकर भाग 'बी' और 'सी' बनाने में पाकिस्तान का सिद्धान्त निहित था। कांग्रेस कार्यकारिणी ने इस दीर्घ-कालीन (long term) संविधान सभा का जो सुझाव रखा था, उसे तो स्वीकार कर लिया, किन्तु अल्पकालीन प्रबन्ध को अस्वीकार कर दिया। इसने यह भी कहा कि प्रान्तों का समूहीकरण (grouping) अनिवार्य (compulsory) न होना चाहिए, क्योंकि यह प्रान्तों के स्वायत्त सिद्धान्त के विरुद्ध है। मुस्लिम-लीग जिसने इस योजना को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया था, इस बात से बिगड़ उठी कि अल्पकालीन सरकार बनाने की योजना को कुछ अवधि के लिए रोक दिया गया। इसने २९ जुलाई १९४६ को दूसरा प्रस्ताव पास किया, जिसमें उसने मिशन-योजना को जो स्वीकृति दी थी, उसे वापस ले लिया। इसने निर्णय किया कि पाकिस्तान पाने की सीधी चेष्टा की जाय अथवा संविधान सभा का बहिष्कार किया जाय। इसके फलस्वरूप देश-भर में हिन्दू-मुस्लिभ दंगे शुरू हो गए जिनका आरम्भ कलकत्ता से हुआ। लार्ड वेवल ने पण्डित नेहरू के नेतृत्व में एक सरकार की रचना की, जिसमें कालान्तर में मुस्लिम-लीग भी शामिल हो गई। संविधान सभा ने ९ दिसम्बर १९४३ में अपना काय आरम्भ कर दिया।

६ दिसम्बर १९४६ का बयान

मुस्लिम-लीग ने १६ मई १९४६ के प्रस्ताव का स्पष्टीकरण चाहा। कांग्रेस

ने कहा था कि सामूहीकरण अनिवार्य नहीं है। ब्रिटिश सरकार का कहना था कि यदि इसके विपरीत कोई पारस्परिक समझौता न हो, तो किसी भी समूह का निर्णय उस समूह के प्रतिनिधियों के बहुमत द्वारा किया जाय। इसने यह भी कहा कि ब्रिटिश सरकार किसी भी विधान को देश के किसी भाग पर उसकी इच्छा के विरुद्ध आरोपित नहीं करेगी। कांग्रेस बहुत इच्छुक थी कि संविधान सभा में मुस्लिम-लीग का सहयोग प्राप्त हो। इसलिए उसने ६ दिसम्बर १९४६ की व्याख्या को स्वीकार कर लिया। किन्तु इस पर भी मुस्लिम-लीग ने संविधान सभा में भाग लेने से इन्कार कर दिया।

विभाजन और स्वतन्त्रता-माउण्टबेटन योजना

काँग्रेस संविधान सभा का कार्य करती रही, किंतु उसने उसका द्वार मुस्लिम-लीग के लिए सदा खुला रखा और उससे सहयोग की प्रार्थना की। किन्तु मुस्लिम-लीग ने ३१ जनवरी १९४७ को एक प्रस्ताव द्वारा घोषणा की कि संविधान सभा की समस्त कार्यवाही और निर्णय व्यर्थ और अवैध हैं और इस सभा को भंग कर देना चाहिए।

२० जनवरी १९४७ को श्रीयुत ऐटली ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में 'भारत-छोड़ो' बयान में कहा कि ब्रिटिश सरकार का यह दृढ़ निश्चय है कि वह सत्ता उत्तरदायी भारतीयों के हाथ में सौंपने की चेष्टा करेगी और इसकी अवधि जून १९४८ से अधिक न होगी। फरवरी १९४७ में ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि इस मामले को तुरन्त समाप्त कर देना चाहिए। वायसराय लार्ड वेवल को वापस बुला लिया गया और उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन को यह आदेश देकर भेजा कि वह भारतीय प्रश्न की समस्या को शीघ्रातिशीघ्र हल करें (२४ मार्च १९४७)।

भारत पहुँचते ही माउण्टबेटन ने घोषणा की कि कुछ महीनों में ही राजनीतिक समझौता हो जायगा। उसने भारतीय नेताओं की अनेक बैठकें बुलवाईं कि समझौते का कोई उचित ढंग निकल आए।

मई १९४७ के मध्य में वह लंदन गये और वहाँ से राय लेकर उसी मास के अन्त में भारत लौट आये। इसी बीच भारत में पंजाब और बंगाल के विभाजन का आन्दोलन बहुत जोर पकड़ गया और अन्त में दोनों सम्प्रदाय विभाजन के प्रश्न पर सहमत हो गए। ३ जून १९४७ को माण्टबेटन ने अपनी योजना प्रकट की। यह भारत के विभाजन पर आधारित थी, अर्थात् भारत का दो भागों में बाँटना निश्चित हो गया—एक भारत और दूसरा पाकिस्तान। मद्रास, बम्बई, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, बिहार और (सिलहट को छोड़कर) आसाम भारत में शामिल हुए। सिलहट के लिए मतदान लेना निश्चित हुआ। सिन्ध, बलूचिस्तान और सीमान्त प्रदेश पाकिस्तान में शामिल हुए। पंजाब और बंगाल के विधान-मण्डल निश्चय करें कि वे वर्तमान संविधान सभा में सम्मिलित होंगे अथवा अपनी पृथक् सभा बनायेंगे। देशी राज्यों के सम्बन्ध में वही बात रही जो कैबिनेट मिशन की

योजना में कहीं गई थी, अर्थात् सर्वोच्च सत्ता के समाप्त होते ही वे इच्छानुसार भारत व पाकिस्तान किसी में भी सम्मिलित हो जायँ अथवा वे इन दोनों में से किसी से भी सम्बन्ध न जोड़ें और स्वतन्त्र रहकर ब्रिटेन से अलग सम्बन्ध स्थापित कर लें।

माउण्टबेटन योजना को कांग्रेस, मुस्लिम-लीग तथा सिक्खों ने स्वीकार कर लिया। पंजाब और बंगाल के अपने-अपने विधान-मण्डलों के निर्णयानुसार दो-दो भाग बना दिए गए। पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमी पंजाब पाकिस्तान में सम्मिलित हुए, जबकि पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब भारतीय संघ में रहे। सीमा निर्धारित करने वाले कमीशनों ने दोनों देशों की सीमाएँ निर्धारित कर दीं। सिलहट पूर्वी बंगाल में मिल गया। सिन्ध, सीमान्त प्रदेश तथा बलूचिस्तान ने पाकिस्तान से, मिलने का निर्णय किया। अब संविधाल सभा के भी दो भाग होने आवश्यक हो गए, जिसमें क्रमशः भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधि हों। केन्द्रीय विधान-मण्डल तोड़ दिया गया और दो संविधान सभाएँ दो नवीन राष्ट्रों में क्रमशः केन्द्रीय विधान-मण्डल का कार्य सम्पादन करने के लिए बनीं।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम

जुलाई १९४७ में जो भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम बना, उसके अनुसार सत्ता हस्तांतरित हो गई, जिसमें यह भी कहा गया था कि १५ अगस्त १९४७ को भारत में ब्रिटिश शासन समाप्त हो जायगा और भारत तथा पाकिस्तान की स्थापना होगी। उनको पूर्ण स्वतन्त्रता होगी कि वे ब्रिटिश कामनवेल्थ से अपने को पृथक् रखें। अधिनियम में यह भी धारा थी कि ब्रिटिश सरकार सत्ता संविधान सभाओं को सौंप देगी, जिनको पूर्ण अधिकार होगा कि वे अपनी इच्छानुसार अपने-अपने राष्ट्रों का विधान निर्मित करें। भारत-सचिव और उसके परामर्शदाताओं का दफ्तर तोड़ दिया गया। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति पृथक्-पृथक् राष्ट्रों की कैबिनेट के आदेशानुसार हुई, न कि ब्रिटिश कैबिनेट के आदेशानुसार। गवर्नर-जनरल अब वायसराय के स्थान पर केवल गवर्नर-जनरल रह गया और उसके तथा गवर्नरों के विशेषाधिकार और उत्तरदायित्व समाप्त कर दिए गये। उनको अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने का अधिकार न रहा। वे केवल वैधानिक मुखिया के रूप में कार्य करते हैं। पृथक्-पृथक् राष्ट्रों की संविधान सभा द्वारा पास किये हुए नियम के सम्बन्ध में इंग्लैंड के बादशाह का अधिकार छिन गया। संक्रमण-काल में दोनों राष्ट्र और समस्त प्रान्त तथा उनके भागों का शासन भारत सरकार द्वारा पास किये हुए १९३५ के अधिनियम की धाराओं के अनुसार हुआ। उनमें समयानुसार थोड़ा-बहुत संशोधन और सुधार किया जा सकता था। जब तक नवीन पार्लियामेंट का चुनाव विचाराधीन हो, इतने समय तक दोनों राष्ट्रों की संविधान सभाएँ विधान-मण्डल का कार्य करती रहीं। दोनों राज्यों की विधान-सभाओं को अधिकार था कि वे अपने-अपने कानून बनाएँ। किसी

भी राज्य द्वारा बनाया हुआ कानून यद्यपि ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बनाये हुए कानून का विरोधी भी हो तो भी वह व्यर्थ नहीं हुआ। ब्रिटिश पार्लियामेंट का कोई भी कानून इन दोनों राज्यों में से किसी पर भी उस समय तक नहीं लागू हो सकता था, जब तक कि ये राज्य क्रमशः उसे अपने नियम का भाग न समझते। 'राज्य का विधान-मंडल सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न कानून बनाने वाली संस्था बन गई और ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा निर्मित किसी भी प्रचलित कानून को बदल सकती थी, अथवा उसमें हेर-फेर कर सकती थी। भारतीय स्वतन्त्रता-अधिनियम के अनुसार भारत एक स्वतन्त्र राज्य बन गया, और उसने अपने-आपको सम्पूर्णप्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य (Sovereign Democratic Republic) घोषित किया। १९४९ में लंदन में जो सम्मेलन हुआ उसने भारत को गणराज्य मानना स्वीकार किया और उसे छूट दी कि वह अपना सम्बन्ध कामनवैल्थ वाले देशों से बनाये रखे। भारत ने अपने राष्ट्रपति को राज्य का मुखिया माना और वह इंगलैंड के बादशाह के अधीन न रहा। कामनवैल्थ के मुखिया के रूप में ही उसका भारत में सम्बन्ध रह गया।

देशी राज्यों का भारत में सम्मिलित होना

अंग्रेजों के राज्यकाल में भारत में अनेक छोटे-बड़े देशी राज्य थे। उनमें हैदराबाद जैसे बड़े राज्य भी थे, जिसकी जनसंख्या १ करोड़ ४० लाख थी तथा बिवारी जैसे राज्य भी, जिसकी जनसंख्या केवल २७ थी। समस्त देशी राज्यों का क्षेत्रफल लगभग ७,१२,५०८ वर्गमील था। वे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में थे। बटलर-कमेटी के अनुसार इन राज्यों की संख्या ५६२ थी और मुख्यतः ये राज्य तीन श्रेणियों के थे—(१) १०९ राज्यों के शासकों को 'चैम्बर आफ प्रिन्सेज' के सदस्य होने का अधिकार प्राप्त था, (२) १२६ राज्य 'चैम्बर आफ प्रिन्सेज' में १२ निर्वाचित प्रतिनिधि भेजते थे, और (३) ३२७ जागीरों के शासकों को इस चैम्बर में कोई प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त न था। सभी शासक इंगलैंड के सम्राट् अर्थात् सर्वोच्च शक्ति के अधीन थे।

बहुत से राज्यों को लिलकुल प्रभुत्व प्राप्त न था। वे सब-के-सब अधीनस्थ राज्य थे और अन्तर्राष्ट्रीय कानून में उन्हें कोई स्थान न था। भारतीय राजाओं के परस्पर जो सम्बन्ध होते थे, उन पर इंग्लैंड के सम्राट् का पूर्ण नियन्त्रण था। वह उन राजाओं के घरेलू मामलों में न्याय और सुप्रबन्ध की दृष्टि से हस्तक्षेप कर सकता था। उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय भी सम्राट् ही करता था। इसके बदले में उन्हें सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त था, अर्थात् बाहरी आक्रमण और आन्तरिक विद्रोह होने पर अंग्रेज उनकी सहायता करते थे।

देशी राज्यों का अस्तित्व पूर्ण रूप से ब्रिटिश शक्ति के कारण था और उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त न था। देशी राज्यों की प्रजा अपने निरंकुश राजाओं के शासन के विरुद्ध थी और उनसे छुटकारा पाना चाहती थी। १९४७ के भारतीय

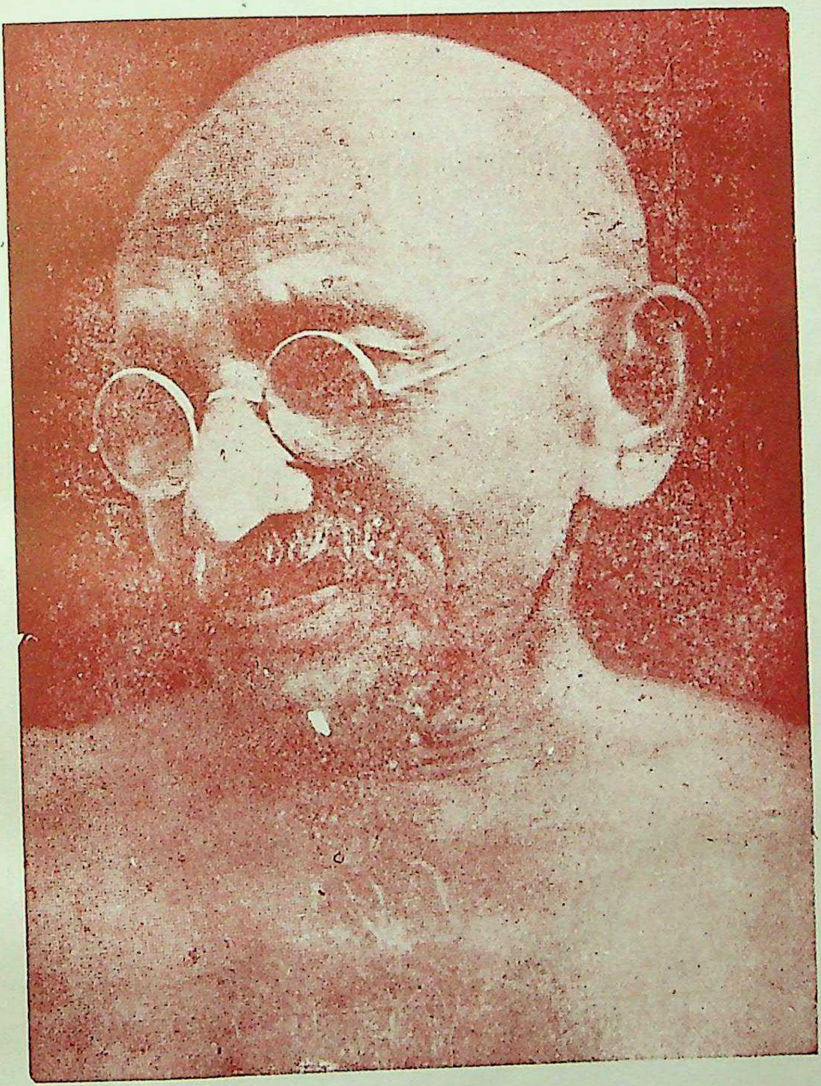

महात्मा गाँधी

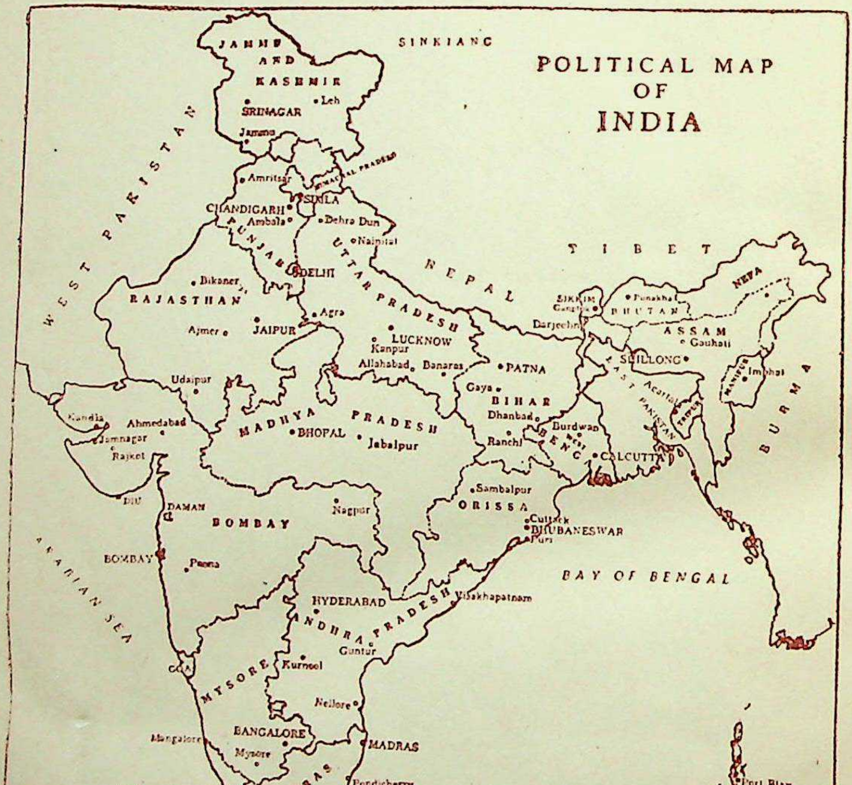
POLITICAL MAP OF INDIA
SINKIANG
JAMMU AND KASHMIR
SRINAGAR
Leh
Jammu
WEST PAKISTAN
Amritsar
HIMACHAL PRADESH
SIMLA
CHANDIGARH
Ambala
PUNJAB
Dehra Dun
Nainital
DELHI
UTTAR PRADESH
NEPAL
TIBET
Bikaner
RAJASTHAN
JAIPUR
Ajmer
Agra
LUCKNOW
Kanpur
Allahabad
Banaras
PATNA
Gaya
BIHAR
Dhanbad
Ranchi
SIKKIM
Gangtok
Darjeeling
BHUTAN
Punakha
NEFA
ASSAM
Gauhati
SHILLONG
MANIPUR
Imphal
EAST PAKISTAN
Agartala
TRIPURA
BURMA
WEST BENGAL
Burdwan
CALCUTTA
Udaipur
Kandla
Ahmedabad
Jamnagar
Rajkot
MADHYA PRADESH
BHOPAL
Jabalpur
Diu
DAMAN
BOMBAY
Nagpur
Sambalpur
ORISSA
Cuttack
BHUBANESWAR
Puri
BAY OF BENGAL
ARABIAN SEA
BOMBAY
Poona
HYDERABAD
ANDHRA PRADESH
Visakhapatnam
Guntur
Kurnool
GOA
MYSORE
Nellore
Mangalore
BANGALORE
Mysore
MADRAS
MADRAS
Pondicherry
Kozhikode
KERALA
Tiruchirapalli
Tanjore
Cochin
Madurai
LACCADIVE, MINICOY AND AMINDIVI ISLANDS
TRIVANDRUM
CEYLON
Port Blair
ANDAMAN AND NICOBAR ISLANDS

आज का भारत

स्वतन्त्रता-अधिनियम के अनुसार देशी राज्यों पर से इंग्लैंड के सम्राट् की प्रभुता समाप्त हो गई और उसी के साथ-साथ समस्त संधियाँ और समझौते भी समाप्त हो गए। इससे भारत की समस्या बड़ी जटिल बन गई। भारत सरकार ने सरदार वल्लभाई पटेल के अधीन देशी राज्य-विभाग की स्थापना की और समस्त राजाओं से अनुरोध किया कि वे भारतीय संघ में सम्मिलित होने के लिए हस्ताक्षर कर दें। सर्वप्रथम इस विभाग ने अपने अधीन केवल तीन विषय—विदेशी मामले, सुरक्षा और यातायात—रखे, किन्तु धीरे-धीरे उन सभी विषयों को अपने अधीन कर लिया, जिनका वर्णन भारतीय विधान में है, देशी राज्यों को तीन प्रकार से भारतीय संघ में शामिल किया गया। एक तो छोटी रियासतों को साथ वाले प्रांत में शामिल करके था, कुछ को केन्द्र-शासित क्षेत्र के अन्तर्गत लाकर, नहीं तो कई राज्यों को मिलाकर एक अलग इकाई बना कर। पैप्सू, राजस्थान, मध्य भारत, सौराष्ट्र और ट्रावनकोर-कोचीन राज्यों के पृथक् संघ बने। ये सब राज्य तथा काश्मीर, हैदराबाद और मैसूर भारत की अलग-अलग इकाइयों के रूप में 'बी' श्रेणी के राज्य बन गये। हिमाचल प्रदेश बिलासपुर, रामपुर, भूपाल, कच्छ तथा विन्ध्य प्रदेश का शासन केन्द्र द्वारा होता है, और इनकी गणना 'सी' श्रेणी के राज्यों में है।

काश्मीर को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में, जो भारतीय संघ में शामिल हुए हैं, वैधानिक शक्ति के विभाजन का वही सिद्धान्त लागू है, जो केन्द्र और प्रान्तों में लागू है और उनका आय-व्यय-सम्बन्धी प्रबन्ध भी भारत सरकार के अधीन है।

भारत का नवीन विधान

भारतीय-संविधान-सभा ९ दिसम्बर १९४६ को बैठी और इसने डा० राजेन्द्र-प्रसाद को अपना सभापति चुना। भारत का विधान तैयार करने में ३ वर्ष लगे और अन्त में १९४९ में वह पास हुआ। २६ जनवरी १९५० को भारत सम्पूर्ण-प्रभुता-सम्पन्न गणराज्य घोषित हुआ। भारतीय विधान संसार के समस्त विधानों से लम्बा और पूर्ण है। इसमें एक प्रस्तावना है, और यह २२ भागों में विभक्त है, जिसमें ३९५ अनुच्छेद और ८ अनुसूचियाँ हैं। इसमें आधारभूत अधिकारों की प्रणाली और राजनीति के अप्रत्यक्ष सिद्धान्त निहित हैं। यह ऊपर से संघात्मक है, किन्तु यथार्थ में एकात्मक है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक ही पूर्ण न्यायिक प्रणाली है, एक दीवानी और फौजदारी कानून है और सरकारी पद प्राप्त करने के लिए संघ तथा राज्य दोनों को समानाधिकार मिले हुए हैं। नया विधान सामाजिक स्वतन्त्रता का अग्रदूत है। इसमें धर्म, जाति, रंग और लिंग का भेद-भाव नाममात्र के लिए भी नहीं है। इसने मनुष्य-मात्र को समानाधिकार सौंपे हैं और अस्पृश्यता को मिटा दिया है। यह लोगों के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों को सुरक्षित बनाता है। धारा १२ से ३५ तक में उन अधिकारों की लम्बी सूची है, जो सब जातियों और वर्गों के लोगों को मिले हुए हैं। कोई भी नागरिक

बड़े-से-बड़े न्यायालय में अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जा सकता है। बहुसंख्यकों के अत्याचारों से अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का आश्वासन दिया गया है तथा सबकी भाषा और संस्कृति की रक्षा करने का भी आश्वासन दिया गया है। यह विधान भाषा में धर्म-निरपेक्ष अथवा लौकिक (Secular) स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करता है, यद्यपि विधान में यह शब्द कहीं नहीं है। लौकिक से तात्पर्य धर्महीन से नहीं है, इसका अभिप्राय केवल यही है कि जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है, साम्प्रदायिक या धार्मिक आधार पर एक नागरिक से दूसरे नागरिक में कोई अन्तर नहीं समझा जायगा, अर्थात् सभी नागरिक समान होंगे चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों। गैर-सरकारी नागरिक किसी भी मत को मानने में स्वतन्त्र हैं, यद्यपि किसी भी ऐसी संस्था पर, जिसको राज्य से सहायता मिलती हो कोई भी धार्मिक उपदेश बरबस नहीं थोपा जायगा।

अन्त में हमारा विधान एक संसदीय ढंग की (पार्लियामेंटरी) सरकार की स्थापना करता है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारा एक निर्वाचित राष्ट्रपति है परन्तु उसके अधिकार इंगलैंड के सम्राट् से मिलते-जुलते हैं। वास्तविक शक्ति कैबिनेट के हाथ में है, जो केन्द्रीय तथा पृथक्-पृथक् राज्यों के विधान-मण्डलों के प्रति उत्तरदायी है। भिन्न-भिन्न इकाइयाँ स्वायत्त हैं। उनको ए, बी, सी, डी चार श्रेणी के राज्यों में विभक्त किया गया है। भाग 'ए' के राज्य लगभग वही प्रान्त हैं, जो पहले ब्रिटिश भारत के थे और १९३५ के अधिनियम के अनुसार गवर्नरों के अधीन थे। पंजाब और बंगाल प्रान्तों का विभाजन कर दिया गया है। भाग 'बी' में वे देशी राज्य हैं जिन्होंने परस्पर मिलकर इकाई बना ली है और जो भारतीय संघ में सम्मिलित हो गए हैं। भाग 'सी' में वे प्रान्त हैं, जो १९३५ के अधिनियम के अनुसार चीफ़-कमिश्नरों के अधीन थे। भाग 'डी' का राज्य अंडमान-निकोबार है, जिसका शासन-प्रबन्ध राष्ट्रपति किसी पदाधिकारी को नियुक्त करके उसके द्वारा करता है।

Questions

1. Trace the history of the Indian National Congress and discuss the part played by Mahatma Gandhi in the national struggle for independence.

   कांग्रेस का क्रमागत इतिहास लिखो तथा बताओ कि राष्ट्र के स्वतन्त्रता-संग्राम में महात्मा गाँधी का कितना हाथ रहा था ?

2. Write short notes on the importance of the following dates in the history of Indian National Struggle for independence:—1885, 1905, 1909, 1920, 1929, 1936, 1942, 1946, 1947 and 1950.

   भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में निम्नलिखित तिथियों का जो महत्व है, उस पर संक्षिप्त टीका लिखो—

१८८५, १९०५, १९०६, १९२०, १९२६, १९३६, १९४२, १९४६, १९४७ और १९५०.

3. Write short notes on the following :—(a) Crip's Proposal. (b) Wavell plan. (c) Mountbatten's statement. (d) Indian Independence Act.

निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखो :—(क) क्रिप्स-प्रस्ताव, (ख) वेवल-योजना, (ग) माउण्टबेटन की घोषणा, (घ) भारत-स्वन्तत्रता अधिनियम ।

परिशिष्ट

भारतीय संविधान में संशोधन

भारतीय संविधान के बनाने वालों ने इस बात का भी ध्यान रखा था कि भविष्य में ऐसी परिस्थिति पैदा हो सकती है कि संविधान में कहीं-कहीं संशोधन करने की आवश्यकता हो। अतः संविधान के अनुच्छेद ३६८ के द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि आवश्यकता पड़ने पर संसद संविधान की किसी धारा में संशोधन कर सके। परन्तु कोई भी ऐसा संशोधन उतनी आसानी से अथवा केवल बहुमत से नहीं किया जा सकता है जिस प्रकार अन्य विधेयक संसद में रखे जाते और पास किये जाते हैं। संविधान में संशोधन करने के लिए सबसे पहले उस आयोजन के विधेयक को किसी एक सदन में प्रस्तावित करना और दोनों सदनों के समस्त सदस्यों के बहुमत से उसका पास होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि दोनों सदनों के उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से वह पास हो। इसके बाद वह राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जायेगा और उनकी अनुमति मिलने पर वह लागू हो जायगा। साथ ही संविधान के कतिपय अनुच्छेद ऐसे हैं जिनका संशोधन इस प्रकार से नहीं किया जा सकेगा।

उपर्युक्त उपबन्ध के अनुसार संविधान में कई संशोधन किये जा चुके हैं। सबसे पहला संशोधन १९५१ में किया गया था जिसके द्वारा कतिपय सामान्य संशोधन के अतिरिक्त दो नए अनुच्छेद एवं एक नई अनुसूची (९वीं अनुसूची) भी जोड़ी गई थी। इस संशोधन के मुख्य उपबन्ध इस प्रकार थे: विभिन्न राज्यों को अधिकार दिया गया कि वे अपने अन्दर किसी ऐसी जाति या वर्ग-विशेष की शिक्षा आदि का विशेष प्रबन्ध कर सकते हैं, जो सामाजिक तथा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई समझी जाय। दूसरा आवश्यक संशोधन यह था कि जमींदारी आदि संस्थाओं को समाप्त करने में संविधान के वे उपबन्ध बाधक न होंगे जो भाग ३ में दिये गए मूलाधिकार विषयक हैं।

१९५१ की जनगणना के अनुसार संसद के प्रतिनिधित्व को समुचित बनाने के अभिप्राय से १९५२ में एक संशोधन किया गया। फिर १९५४-५५ में भी संशोधन अधिनियम पास किये गये। १९५५ में दो बार संशोधन किये गए। इनमें एक अधिनियम इस उद्देश्य से बनाया गया कि अनुच्छेद में जो यह उपबन्ध किया गया था कि किसी राज्य के क्षेत्र, नाम आदि में कोई कमी-बढ़ती तथा परिवर्तन करना हो तो बिना उस राज्य की विधान सभा की अनुमति के वह परिवर्तन नहीं

किया जा सकेगा, उस उपबन्ध में यह संशोधन किया गया कि राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि राज्यों की विधान सभाओं को एक निश्चित अवधि तक अपना मत इस सम्बन्ध में दे देने का आदेश कर दे। यदि इस अवधि में राज्य की अनुमति प्राप्त न हो तो संसद को उस विषय पर विधेयक प्रस्तुत करने का अधिकार होगा।

इन संशोधनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण ७वाँ संशोधन अधिनियम था जो १९५६ में संसद द्वारा स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम को १ नवम्बर १९५६ से कार्यान्वित किया गया। इसके द्वारा भारत संघ के विभिन्न राज्यों का पुनःसंगठन किया गया। इस पुनःसंगठन के चार विशेष परिणाम हुए: (१) कतिपय नए राज्यों की स्थापना, (२) राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन, (३) अनुसूचियों के राज्यों का अन्त, तथा (४) कतिपय संघ प्रदेशों की रचना। इस संशोधन को करने के हेतु, प्रथम अनुच्छेद तथा प्रथम अनुसूची को संशोधित कग्ना आवश्यक हुआ। इसके परिणामस्वरूप अन्य कई अनुच्छेदों आदि में भी न्यूनाधिक संशोधन व परिवर्तन हुए।

राज्यों के इस पुनर्संघटन से बम्बई राज्य के मराठा व गुजरात प्रदेशों को संतोष न हुआ और बहुत समय तक उन प्रदेशों की जनता अपनी-अपनी भाषाओं के आधार पर अपने पृथक राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन करती रही। इस प्रवृत्ति को अनुचित समझकर कांग्रेस सरकार ने इसका बहुत समय तक विरोध किया और बम्बई राज्य को विभाजन से बचाने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्त में विवश होकर उस राज्य के दो टुकड़े, अर्थात् एक बम्बई प्रान्त (मराठा वाड़ा) और दूसरा गुजरात प्रान्त, करने ही पड़े। इस प्रकार १९५९ में संघ के राज्यों की संख्या में एक राज्य की बढ़ोत्तरी हुई।

पैदावार व जनसंख्या में बढ़ोतरी : गत १० वर्षों में भारत की जनसंख्या बड़े वेग से बढ़ी है। १९५१ में भारत की समूची जनसंख्या लगभग ३६ करोड़ थी जो १० वर्षों में ४३ करोड़ तक पहुँच गई है।

परन्तु इसके साथ पैदावार में बढ़ती हुई है। बहुत-सी ऊसर भूमि जिस पर पहले खेती नहीं हो सकती थी. सिंचाई इत्यादि के द्वारा उपजाऊ बना ली गई है। इसके अतिरिक्त अनेक वैज्ञानिक उपायों से भूमि की उपज को बढ़ाने के भी प्रयास किये गए हैं। इन उपायों से देश में खाद्य-पदार्थों की उपज काफी बढ़ी है, पर तब भी वह समस्त जनता का पेट भरने के लिए काफी नहीं है। अतएव बहुत सा अनाज, गेहूँ आदि आस्ट्रेलिया और अमरीका से मँगवाना पड़ता है और चावल बरमा (ब्रह्मा) से।

भारत-चीन सम्बन्ध : गत दो-तीन वर्षों में चीन की साम्राज्यवादी नीति के परिणामस्वरूप अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी हैं। १९५९ में चीन के साम्राज्यवादी राज ने तिब्बत पर एकाएक कब्जा करके अपना सैनिक शासन उस पर स्थापित कर दिया, और उस देश के प्राचीन शासक दलाई लामा को भागकर भारत में शरण

लेनी पड़ी । इस घटना के परिणामस्वरूप अन्य तिब्बती जनता भी कई हजार की संख्या में जान बचाने के लिए भागकर भारत पहुँची । भारत सरकार ने एक पड़ौसी देश के शासक व निवासी होने के नाते उन सबको शरण दी और उन पर बड़ा व्यय किया । इस पर चीन सरकार को बहुत बुरा लगा और उन्हें भारत की सीमा प्रदेशों के अन्दर चोरी छिपके घुसकर वहाँ के बहुत से भागों पर कब्जा करने का मौका मिल गया । भारत की ४०,००० वर्ग मील भूमि पर अधिकार करने का दावा चीन ने किया है । चीन सरकार ने अपने नक्शों में उत्तर-पूर्वी प्रदेश का आधा भाग और आसाम व भूटान तक का १/३ भाग अपने राज्य के अन्तर्गत दिखलाया । भारतवर्ष के प्रतिरोध पर चीन सरकार ने कोई सन्तोषजनक उत्तर न देकर बराबर उद्दण्डता से काम लिया । चीन की कम्युनिस्ट सरकार का यह सिद्धान्त है कि साम्यवादी व पूँजीवादी देशों का परस्पर संघर्ष तथा खुला युद्ध अवश्यम्भावी है और इस संघर्ष में साम्यवादी देशों का विजयी होना और पूँजीवादी देशों व सभ्यताओं का विनाश एक अटल सत्य है । चीन सरकार ने हर प्रकार से ऐसीनीति बरती कि भारत को उत्तेजना देने में अपनी तरफ कोई कसर न छोड़ी । दो वर्ष पहले चीनी सरकार ने लद्दाख के अक्सई चीन में एक लम्बी सड़क बना ली जिसे भारतीय सरकार ने इस कारण नहीं रोका कि उसका प्रयोग केवल व्यापार के लिए किया जायगा । सितम्बर १९५९ में पांच हिन्दुस्तानी परिवारों को जो ल्हासा में व्यापार करते थे, चीन सरकार ने नजरबन्द कर दिया, और अन्य हिन्दुस्तानियों की ऐसी दशा हुई कि वे जान बचाकर भागने लगे । इन सब उत्तेजनाओं के प्रति भारत सरकार का रवैया बराबर इतना शान्त, सहनशील एवं उदार बना रहा कि इसका उदाहरण इतिहास में कठिनता से मिलेगा । इस सहनशीलता का परिणाम यह हुआ कि चीन ने इसको भारत की निर्बलता समझकर इसका और भी लाभ उठाया । इस वाद-विवाद को परस्पर शान्त रीति से तय करने के लिए चीन और भारत के प्रतिनिधिमण्डलों की कई बार बैठकें हुईं और भारत के प्रतिनिधिमण्डल ने सैंकड़ों ऐतिहासिक तथा राज़नीतिक प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि जो भू-भाग चीन ने ज़बरदस्ती अपने क़ब्ज़े में कर लिये हैं वे सब भारत के हैं, पर वह अपनी हठधर्मी से नहीं हटा और न ही उन भागों को खाली करने को तैयार है ।

चीन की नयी अन्यायपूर्ण चाल : चीन सरकार अपने इस वायदे को कि जो परिस्थिति इस समय है उस को दोनों सरकारें भंग न करेंगी, तोड़ डालने में तनिक भी हिचक नहीं दिखलाती है । वह निरन्तर अपने फौजी अड्डों को भारतीय भूमि पर बढ़ाती जा रही है । यह फैलाव विशेषकर लद्दाख की उत्तर-पूर्वी सीमा पर किया जा रहा है । सबसे अधिक आपत्तिजनक व अन्यायपूर्ण कार्य चीनी सरकार ने अभी पिछले दिनों (मार्च १९६२) यह किया है कि अपने पहले अड्डों से भी आगे बढ़ कर, लद्दाख के सुमडो नगर से केवल ६ मील की दूरी पर अपना नया सैनिक अड्डा जमा दिया है । इसके विरुद्ध भारत सरकार ने १५ अप्रैल १९६२ को एक बड़ा

जोरदार प्रतिरोध-पत्र भेजा है और खुले तौर पर, चीन के इस बेशर्मी से अपने अन्तरराष्ट्रीय समझौते तथा गम्भीर प्रतिज्ञाओं का उलंघन करने पर अपना असंतोष व रोष प्रकट किया है ।

इस सम्वन्ध में एक और आवश्यक बात याद रखने की है । भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य चीन की नीति से प्रायः सहमत थे और किसी प्रकार भी चीन का विरोध या खंडन करने को तैयार नहीं थे । परन्तु उस दल में कुछ सज्जन ऐसे भी थे जो शासन सामयिक नीति की दृष्टि से यह ठीक समझते थे कि चीन की नीति और उसके अवैध कृत्यों का समर्थन न किया जाये परन्तु इन लौगों ने भी चीन का खुले तौर पर कभी विरोध या खंडन नहीं किया । इसके प्रतिकूल रूस के प्रधान मन्त्री एवं रूसी संघ सरकार की नीति चीन के बिल्कुल विरूद्ध रही । उसका मत है कि अब वह नहीं रहा जब कि समाजवादी व पूंजीवादी दलों में संघर्ष करके समाजवाद को फैलाया जा सकेगा ।

State Museum Library Lucknow 6719

राज्य संग्रहालय प्रो० बी० एन० पुरी संग्रह लखनऊ

471

State Museum Library
Lucknow

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ